हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

(सोलह भागों में)

द्वितीय भाग

नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

सं० २०२२ वि०

प्रकाशक : नागरीप्रचारिणी सभा, काशी।

मुद्रक : शंभुनाथ वाजपेयी, नागरीमुद्रण, वाराणसी।

संस्करण : प्रथम, २६०० प्रतियाँ, संवत् २०२२ वि०

मूल्य : [illegible].००

हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

द्वितीय भाग

हिंदी भाषा का विकास

प्रधान संपादक

डॉ० संपूर्णानंद

संपादक

डॉ० धीरेंद्र वर्मा

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

सं० २०२२ वि०

द्वितीय भाग के लेखक

भूमिका : डा० बाबूराम सक्सेना
डा० धीरेंद्र वर्मा
प्रथम खंड : डा० विश्वनाथ प्रसाद
डा० रमानाथ सहाय
द्वितीय खंड : डा० उदयनारायण तिवारी
तृतीय खंड : डा० हरदेव बाहरी
चतुर्थ खंड : डा० ब्रजवासी लाल श्रीवास्तव

प्राक्कथन

यह जानकर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई है कि काशी नागरीप्रचारिणी सभा ने हिंदी साहित्य के बृहत् इतिहास के प्रकाशन की सुनिश्चित योजना बनाई है। यह इतिहास १७* खंडों में प्रकाशित होगा। हिंदी के प्रायः सभी मुख्य विद्वान् इस इतिहास के लिखने में सहयोग दे रहे हैं। यह हर्ष की बात है कि इस शृंखला का पहला भाग, जो लगभग ८०० पृष्ठों का है, छप गया है। प्रस्तुत योजना कितनी गंभीर है, यह इस भाग के पढ़ने से ही पता लग जाता है। निश्चय ही इस इतिहास में व्यापक और सर्वांगीण दृष्टि से साहित्यिक प्रवृत्तियों, आंदोलनों तथा प्रमुख कवियों और लेखकों का समावेश होगा और जीवन की सभी दृष्टियों से उनपर यथोचित विचार किया जायगा।

हिंदी भारतवर्ष के बहुत बड़े भूभाग की साहित्यिक भाषा है। गत एक हजार वर्ष से इस भूभाग की अनेक बोलियों में उत्तम साहित्य का निर्माण होता रहा है। इस देश के जनजीवन के निर्माण में इस साहित्य का बहुत बड़ा हाथ रहा है। संत और भक्त कवियों के सारगर्भित उपदेशों से यह साहित्य परिपूर्ण है। देश के वर्तमान जीवन को समझने के लिये और उसके अभीष्ट लक्ष्य की ओर अग्रसर करने के लिये वह साहित्य बहुत उपयोगी है। इसलिये इस साहित्य के उदय और विकास का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विवेचन महत्वपूर्ण कार्य है।

कई प्रदेशों में बिखरा हुआ साहित्य अभी बहुत अंशों में अप्रकाशित है। बहुत सी सामग्री हस्तलेखों के रूप में देश के कोने कोने में बिखरी पड़ी है। नागरीप्रचारिणी सभा ने पिछले ५० वर्षों से इस सामग्री के अन्वेषण और संपादन का काम किया है। बिहार, राजस्थान, मध्यप्रदेश और उत्तरप्रदेश की अन्य महत्वपूर्ण संस्थाएँ भी इस तरह के लेखों की खोज और संपादन का कार्य करने लगी हैं। विश्वविद्यालयों के शोधप्रेमी अध्येताओं ने भी महत्वपूर्ण सामग्री का संकलन और विवेचन किया है। इस प्रकार अब हमारे पास नए सिरे से विचार और विश्लेषण के लिये पर्याप्त सामग्री एकत्र हो गई है। अतः यह आवश्यक हो गया है कि हिंदी साहित्य के इतिहास का नए सिरे से अवलोकन किया जाय और प्राप्त सामग्री के आधार पर उसका निर्माण किया जाय।

इस बृहत् हिंदी साहित्य के इतिहास में लोकसाहित्य को भी स्थान दिया गया है, यह खुशी की बात है। लोकभाषाओं में अनेक गीतों, वीरगाथाओं,

* बाद में यह योजना सोलह भागों तक ही सीमित कर दी गई। —'सभा०'

प्रेमगाथाओं तथा लोकोक्तियों आदि की भी भरमार है। विद्वानों का ध्यान इस ओर भी गया है, यद्यपि यह सामग्री अभी तक अधिकतर अप्रकाशित ही है। लोककथा और लोककथानकों का साहित्य साधारण जनता के अंतरतर की अनुभूतियों का प्रत्यक्ष निदर्शन है। अपने बृहत् इतिहास की योजना में इस साहित्य को भी स्थान देकर सभा ने एक महत्वपूर्ण कदम उठाया है।

हिंदी भाषा तथा साहित्य के विस्तृत और संपूर्ण इतिहास का प्रकाशन एक और दृष्टि से भी आवश्यक तथा वांछनीय है। हिंदी की सभी प्रवृत्तियों और साहित्यिक कृतियों के अविकल ज्ञान के बिना हम हिंदी और देश की अन्य प्रादेशिक भाषाओं के आपसी संबंध को ठीक ठीक नहीं समझ सकते। इंडोआर्यन वंश की जितनी भी आधुनिक भारतीय भाषाएँ हैं, किसी न किसी रूप में और किसी न किसी समय उनकी उत्पत्ति का हिंदी के विकास से घनिष्ट संबंध रहा है और आज इन सब भाषाओं और हिंदी के बीच जो अनेकों पारिवारिक संबंध हैं उनके यथार्थ निदर्शन के लिये यह अत्यंत आवश्यक है कि हिंदी के उत्पादन और विकास के बारे में हमारी जानकारी अधिकाधिक हो। साहित्यिक तथा ऐतिहासिक मेलजोल के लिये ही नहीं बल्कि पारस्परिक सद्भावना तथा आदान प्रदान बनाए रखने के लिये भी यह जानकारी उपयोगी होगी।

इन सब भागों के प्रकाशित होने के बाद यह इतिहास हिंदी के बहुत बड़े अभाव की पूर्ति करेगा और मैं समझता हूँ, यह हमारी प्रादेशिक भाषाओं के सर्वांगीण अध्ययन में भी सहायक होगा। काशी नागरीप्रचारिणी सभा के इस महत्वपूर्ण प्रयत्न के प्रति मैं अपनी हार्दिक शुभकामना प्रकट करता हूँ और इसकी सफलता चाहता हूँ।

राष्ट्रपति भवन
नई दिल्ली
३ दिसंबर, १९५७

राजेन्द्र प्रसाद

प्रधान संपादक का वक्तव्य

काशी नागरीप्रचारिणी सभा ने संवत् २०१० में अपनी हीरकजयंती के अवसर पर यह संकल्प किया था कि १६ भागों में हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास प्रकाशित किया जाय। इस कार्य की आवश्यकता और उपादेयता को देखते हुए सभा ने योजनानुसार इस कार्य को अग्रसर किया। साहित्य लौकिक वा सामाजिक विषय है। राजन्य वर्ग में ईश्वरांश की मान्यता स्वीकार करने पर भी, व्यवस्थित राजनीतिक इतिहास तक जब यहाँ कम ही लिखे गए, तब कवियों और लेखकों के इतिवृत्त भला कैसे लिखे जाते? यही कारण है कि एक सहस्र वर्षों की अविच्छिन्न परंपरा होने पर भी हिंदी साहित्य के व्यवस्थित इतिहासलेखन का कार्य अत्यंत दुस्तर रहा है। परंतु रचनाकारों के इतिवृत्त के प्रति यह उपेक्षाभाव होने पर भी उनके द्वारा रचित ग्रंथों को यहाँ देवविग्रहवत् पूज्य माना जाता रहा जिसके कारण अनेकानेक प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथ आज भी सुरक्षित हैं।

हिंदी साहित्य के इतिहासलेखन का सर्वप्रथम प्रयत्न संवत् १९३४ वि० में शिवसिंह सेंगर ने किया था, जिसमें लगभग एक सहस्र कवियों का उल्लेख है। इसके बहुत पूर्व, संवत् १८९६ में उर्दू फारसी के फ्रांसीसी विद्वान् गार्सां द तासी ने 'हिंदुस्तानी साहित्य का इतिहास' प्रकाशित कराया था। परंतु यह इतिहास मुख्यतः उर्दू कवियों का था और हिंदी के कुछ बहुत प्रसिद्ध कवियों का ही उल्लेख इसमें था। 'शिवसिंह सरोज' के बाद से लेकर अब तक समय समय पर कवियों और लेखकों की रचनाओं के संग्रह और उनका परिचय निकलते रहे हैं। सरोज के अनंतर डा० सर जार्ज ग्रियर्सन ने संवत् १९४६ (सन् १८८९) में 'अपना माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आव नार्दर्न हिंदुस्तान' कलकत्ते की एशियाटिक सोसायटी से प्रकाशित कराया जिसमें हिंदी साहित्य का सर्वप्रथम विषयविभाजन और कालविभाजन करने की चेष्टा की गई। सन् १९२० ई० अर्थात् संवत् १९७७ वि० में अंग्रेजी में एक अन्य इतिहास 'ए हिस्ट्री आव हिंदी लिटरेचर' जबलपुर मिशनरी सोसायटी के श्री एफ० ई० की ने 'हेरिटेज आव इंडिया सीरीज' में निकाला। विषय और कालविभाजन आदि के संबंध में स्वतंत्र चिंतन का इसमें अभाव है और मुख्यतः ग्रियर्सन का ही अनुगमन किया गया है। इस प्रकार के जितने भी प्रयत्न हुए उनमें सर्वाधिक सामग्री का उपयोग मिश्रबंधु विनोद में किया गया जो तीन भागों में निकाला गया और जिसमें आरंभ से लेकर समसामयिक लेखकों और कवियों तक का समावेश था।

संवत् १९८४ में जब इस सभा ने अपना हिंदी शब्दसागर निकालना पूरा किया, तब यह भी स्थिर किया गया कि इसके साथ हिंदी भाषा और साहित्य का इतिहास भी दे दिया जाय। भाषा विषयक अंश स्व० डा० श्यामसुंदरदास जी ने और साहित्य विषयक अंश स्व० पं० रामचंद्र जी शुक्ल ने प्रस्तुत किया। शीघ्र ही दोनों महानुभावों के निबंध सामान्य संशोधन परिवर्तन के पश्चात् पुस्तकाकार भी प्रकाशित हो गए।

यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि उपर्युक्त समस्त इतिहासग्रंथों में से केवल स्व० शुक्ल जी का इतिहास हिंदी साहित्य का वास्तविक इतिहास कहलाने का अधिकारी है। इसके बाद तो साहित्य के इतिहासों का ताँता सा लग गया और इस क्रम में अभी तक विराम नहीं आया है, यद्यपि इन समस्त इतिहासों का ढाँचा स्व० आचार्य शुक्ल से ही लिया गया है। लगभग ४० वर्षों तक इतिहासक्षेत्र में मार्गदर्शन करने के पश्चात् स्व० शुक्ल जी का ग्रंथ आज भी अपने शीर्षस्थान पर बना हुआ है।

इस बीच हिंदी के प्राचीन साहित्य की खोज निरंतर होती रही है और अनेकानेक महत्वपूर्ण सामग्री प्रकाश में आई है। अनेक अज्ञात कवियों और उनकी रचनाओं का तथा ज्ञात कवियों और लेखकों की अज्ञात रचनाओं का पता लगा है, जिससे साहित्य की ज्ञात धाराओं के संबंध में हमारे पूर्वसंचित ज्ञान में वृद्धि होने के अतिरिक्त कतिपय नवीन धाराओं का भी पता चला है। विभिन्न विश्वविद्यालयों में होनेवाली शोधों द्वारा भी हमारे ज्ञान की परिधि में विस्तार हुआ है। प्रस्तुत इतिहासमाला में इन समस्त नवसंचित ज्ञानराशि का समुचित उपयोग हो रहा है। विभिन्न खंडों का संकलन संपादन तत् विषयों के विशेषज्ञ विद्वानों को सौंपा गया है, जिन्होंने अपने अपने खंडों के विभिन्न प्रकरणों और अध्यायों की रचना में ऐसे लेखकों का सहयोग लिया है जिन्होंने इस क्षेत्र में विशेष अध्ययन मनन किया है। अबतक इस इतिहास के चार भाग (भाग १,६,१३ और १६) प्रकाशित हो चुके हैं। द्वितीय भाग (भाग २) आपके संमुख है। अन्य भागों के भी शीघ्र ही प्रकाशित होने की आशा है, यदि संबद्ध विद्वान् संपादकों एवं लेखकों ने अपने आश्वासन यथासमय पूरा कर देने की कृपा की। हमें विश्वास है, प्रस्तुत इतिहासमाला अपने उद्देश्यों में सफल होगी और सभा के ऐसे अन्यान्य ग्रंथों की भाँति सुदूर अनागत काल तक साहित्य के विद्यार्थियों और जिज्ञासुओं का मार्गदर्शन करती रहेगी।

राजभवन,
जयपुर

संपूर्णानंद
प्रधान संपादक,
हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

संपादकीय

नागरीप्रचारिणी सभा काशी द्वारा आयोजित हिंदी साहित्य के बृहत् इतिहास के अंतर्गत "हिंदी भाषा का विकास" शीर्षक द्वितीय भाग को लिखवाने तथा संपादित करने का उत्तरदायित्व मुझे सौंपा गया था। इस भाग की रूपरेखा बनाकर तथा इसके भिन्न भिन्न खंडों के लेखकों को निर्धारित करके कार्य का वितरण मैंने १९५८ में किया था। सौभाग्य से लगभग सभी विशेषज्ञ विद्वानों ने सहर्ष सहयोग प्रदान किया।

भूमिका का पूर्वार्ध डा० बाबूराम सक्सेना ने लिखकर भेजने की कृपा की। उत्तरार्ध मेरा लिखा है। खंड १—हिंदीध्वनियाँ तथा उनका उद्गम और विकास डा० विश्वनाथ प्रसाद के सुपुर्द किया गया था। उन्होंने इस खंड का पूर्वार्ध "हिंदी ध्वनियों का वर्णन" १९५९ में ही लिखकर भेज दिया था, किंतु बृहत् प्रयास करने पर भी "हिंदी ध्वनियों का उद्गम और विकास" तथा स्वदेशी भाषा से आगत शब्दों की ध्वनिप्रक्रिया शीर्षक उत्तरार्ध भाग पूरा करने के लिये वे समय नहीं निकाल सके। अंत में उन्हीं की देखरेख में इस अंश को डा० रमानाथ सहाय ने पूरा करने की कृपा की। बहुत विलंब हो जाने के कारण यह अंश विस्तृत नहीं हो सका है। खंड २—रूपतत्व डा० उदयनारायण तिवारी का लिखा है। खंड ३—हिंदी का शब्दसमूह और शब्दार्थ डा० हरदेव बाहरी ने लिखकर सबसे पहले मेरे पास भेज दिया था। खंड ४—वाक्य तथा हिंदी वाक्य रचना के संबंध में बहुत कठिनाई हुई। प्रारंभ में यह खंड श्री दयानंद श्रीवास्तव ने लिखना स्वीकृत किया था और उन्होंने कुछ अंश लिखकर भेजे भी थे। किंतु अंत में अनेक कारणों से इसे डा० ब्रजवासीलाल श्रीवास्तव के सिपुर्द करना पड़ा। इसका वर्तमान रूप उन्हीं का लिखा है। उपर्युक्त समस्त सामग्री को एक सूत्र में बाँधने का मैंने प्रयत्न किया है। इस उद्देश्य से जहाँ तहाँ कुछ परिवर्तन और संशोधन भी किए गए हैं, किंतु यथासंभव मूल सामग्री को ज्यों का त्यों रहने दिया गया है। इस कारण भिन्न भिन्न अंशों की सामग्री में कहीं कहीं मतभेद भी मिल सकता है—शैलीभेद तो है ही। एक प्रकार से खंड विशेष का मुख्य उत्तरदायित्व उस खंड के लेखक का है।

इसमें संदेह नहीं कि प्रस्तुत ग्रंथ के रूप में हिंदी भाषा का अध्ययन एक कदम आगे बढ़ा है। प्रत्येक खंड में उस अंश की प्रचुर मौलिक सामग्री मिलेगी। इसके अतिरिक्त हिंदी भाषा के विकास के भिन्न भिन्न अंगों से संबंधित जितने

विस्तार इस ग्रंथ में पाठकों को मिलेंगे उतने अब तक के प्रकाशित ग्रंथों में नहीं हैं। इससे ग्रंथ की उपादेयता और महत्व स्पष्ट है। किंतु हिंदी भाषा का ऐतिहासिक अध्ययन वास्तव में बहुत ही विस्तृत विषय है जिसकी पूर्ण सामग्री का संकलन तथा अध्ययन अत्यंत श्रमसाध्य और समयसाध्य है। प्रस्तुत ग्रंथ इस प्रकार के भावी विस्तृत अध्ययनों के लिये कुछ अन्य नवीन दिशाओं का निर्देश करता है तथा अनेक समस्याओं की ओर ध्यान आकृष्ट करता है। इस प्रकार इस प्रयास को प्रस्तुत विषय का एक नया पथप्रदर्शक माना जा सकता है।

मुझे अत्यंत खेद है इस कार्य को पूर्ण करने में इतना अधिक विलंब हो गया। सभा के अधिकारियों की सहनशीलता के लिये मैं अपनी ओर से तथा अपने सहयोगियों की ओर से आभार प्रदर्शन करना अपना कर्तव्य समझता हूँ।

सागर,
जून १९६१ } धीरेंद्र वर्मा

हिंदी साहित्य के बृहत् इतिहास की योजना

नागरीप्रचारिणी सभा के खोज विवरणों के प्रकाशन के साथ ही सन् १६०३ से हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन के लिये प्रचुर सामग्री उपलब्ध होनी आरंभ हुई और उसका विस्तार होता गया। धीरे धीरे अतुल संपत्ति का भंडार उपस्थित हो गया। इन उपलब्ध सामग्रियों का उपयोग और प्रयोग समय समय पर विद्वानों ने किया और सभा के भूतपूर्व खोज निरीक्षक स्व० मिश्र बंधुओं ने 'मिश्रबंधु विनोद' में सं० १६६२ वि० तक उपलब्ध इस सामग्री का व्यापक रूप से उपयोग भी किया यद्यपि उनके पूर्व भी गार्सों द तासी (सं १८६६ वि०), शिवसिंह सेंगर (सं० १६३४), डा० सर जार्ज ग्रियर्सन (सं० १६४६), और एफ० ई० की (संवत् १६७७) के क्रमशः हिंदुस्तानी साहित्य का इतिहास, शिवसिंह सरोज, माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आव हिंदुस्तान और ए हिस्ट्री आव हिंदी लिटरेचर प्रकाशित हो चुके थे, तो भी ये ग्रंथ हिंदी साहित्य के इतिहास नहीं माने जा सकते क्योंकि इनकी सीमा इतिवृत्त संग्रह की परिधि के बाहर की नहीं। निश्चय ही ग्रियर्सन का मान अधिक वैज्ञानिक कालविभाजन के कारण और मिश्रबंधु विनोद की गरिमा उसके काल विभाजन तथा तथ्य संग्रह की दृष्टि से है।

सभा ने हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन का गंभीर आयोजन हिंदी शब्द सागर की भूमिका के रूप में आचार्य रामचंद्र शुक्ल के द्वारा कराया था, जिसका परिवर्धित संशोधित रूप हिंदी साहित्य का इतिहास के रूप में सभा से सं० १६८६ में प्रकाशित हुआ। यह इतिहास अपने गुणधर्म के कारण अनुपम मान का अधिकारी है। यद्यपि अब तक हिंदी साहित्य के प्रकाशित इतिहासों की संख्या शताधिक तक पहुँच चुकी है तो भी शुक्ल जी का इतिहास सर्वाधिक मान्य एवं प्रामाणिक है। अपने प्रकाशन काल से लेकर अब तक उसकी स्थिति ज्यों की त्यों बनी हुई है। शुक्ल जी ने अपने इतिहास लेखन में सं० १६८६ तक खोज में उपलब्ध प्रायः सारी सामग्री का उपयोग किया था। तब से इधर उपलब्ध होनेवाली सामग्री का बराबर विस्तार होता गया। हिंदी का भी विस्तार दिन प्रति दिन व्यापक होता गया और स्वतंत्रता प्राप्ति तथा हिंदी के राष्ट्रभाषा होने पर उसकी परिधि का और भी विस्तार हुआ।

सं० २०१० में अपनी हीरकजयंती के अवसर पर नागरीप्रचारिणी सभा ने हिंदी शब्दसागर और हिंदी विश्वकोश के साथ ही हिंदी साहित्य

का बृहत् इतिहास की भी योजना बनाई। सभा के तत्कालीन सभापति स्व० डा० अमरनाथ जी झा की प्रेरणा से इस योजना ने मूर्तरूप ग्रहण किया। हिंदी साहित्य की व्यापक पृष्ठभूमि से लेकर उसके अद्यतन इतिहास तक का क्रमबद्ध एवं धारावाही वर्णन अद्यतन उपलब्ध सामग्री के आधार पर प्रस्तुत करने के लिये इस योजना का संघटन किया गया। मूलत: यह योजना ५ लाख ५६ हजार ८ सौ ५४ रुपये २४ पैसे की बनाई गई। भूतपूर्व राष्ट्रपति देशरत्न स्व० डा० राजेंद्रप्रसाद जी ने इसमें विशेष रूचि ली और प्राक्कथन लिखना स्वीकार किया। इस मूल योजना में समय समय पर आवश्यकतानुसार परिवर्तन परिवर्धन भी होता रहा है। प्रत्येक भाग के विलग विलग मान्य विद्वान इसके संपादक एवं लेखक नियुक्त किए गए जिनके सहयोग से इसका पहला भाग सं० २०१४ वि० में, भाग ६, २०१५ में, भाग १६, २०१७ में, एवं भाग १३ सं० २०२२ में प्रकाशित हुआ। इस योजना को सफल बनाने के लिये मुख्यतः केंद्रीय सरकार एवं मध्य प्रदेश, राजस्थान, अजमेर, बिहार, और उत्तर प्रदेश, सरकारों ने अनुदान प्रदान किए हैं।

देश के व्यस्त मान्य विद्वानों तथा निष्णात लेखकों को यह कार्य सौंपा गया था। इस योजना की गरिमा तथा विद्वानों की अति व्यस्तता के कारण इसमें विलंब हुआ। एकदशक बीत जाने पर भी कुछ संपादकों एवं लेखकों ने रंचमात्र कार्य नहीं किया। किंतु अब ऐसी व्यवस्था कर ली गई है कि इसमें और अधिक विलंब न हो। संवत् २०१७ तक इसके संयोजक डा० राजबली पांडेय थे। उसके पश्चात संवत् २०२० तक डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा रहे।

इस योजना को गति देने तथा आर्थिक बचत को ध्यान में रखकर योजना को फिर से सँवारा गया है। महामहिम डा० संपूर्णानंद जी ने इसका प्रधान संपादक होना स्वीकार कर लिया है। इसके संपादकों आदि का अद्यतन प्रारूप निम्नांकित रूप में स्थिर किया गया है।

प्रधान संपादक—माननीय श्री संपूर्णानंद जी

प्रस्तावना—देशरत्न राष्ट्रपति डा० राजेंद्रप्रसाद जी

विषय और काल	भाग	संपादक
हिंदी साहित्य की ऐतिहासिक पीठिका	प्रथम भाग (प्रकाशित)	डा० राजबली पांडेय
हिंदी भाषा का विकास	द्वितीय भाग (प्रकाशित)	डा० धीरेंद्र वर्मा

हिंदी साहित्य का उदय और विकास १४०० विक्रम तक	तृतीय भाग	पं० करुणापति त्रिपाठी सहायक सं० डा० शिवप्रसाद सिंह
भक्तिकाल (निर्गुणभक्ति) १४००-१७००वि०	चतुर्थ भाग	पं० परशुराम चतुर्वेदी
भक्तिकाल (सगुणभक्ति) १४००-१७००वि०	पंचम भाग	डा० दीनदयाल गुप्त
शृंगारकाल (रीतिबद्ध। १७००-१९०० वि०	षष्ठ भाग (प्रकाशित)	डा० नगेंद्र
शृंगारकाल (रीतियुक्त १७००-१९०० वि०	सप्तम भाग	डा० भगीरथ मिश्र
हिंदी साहित्य का अभ्युत्थान (भारतेंदुकाल) १९००-५० वि०	अष्टम भाग	डा० विनयमोहन शर्मा
हिंदी साहित्य का परिष्कार (द्विवेदीकाल) १९५०-७५ वि०	नवम भाग	श्री पं० कमलापति त्रिपाठी श्री सुधाकर पांडेय
हिंदी साहित्य का उत्कर्षकाल (काव्य) १९७५-९५ वि०	दशम भाग	श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' श्री शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र'
हिंदी साहित्य का उत्कर्षकाल (नाटक) १९७५-९५ वि०	एकादश भाग	श्री जगदीशचंद्र माथुर सहायक सं० डा० दशरथ ओझा
हिंदी साहित्य का उत्कर्षकाल (उपन्यास, कथा, आख्यायिका) १९७५-९५ वि०	द्वादश भाग	श्री कृष्णदेवप्रसाद गौड़ डा० भोलाशंकर व्यास डा० त्रिभुवन सिंह
हिंदी साहित्य का उत्कर्षकाल, (समालोचना निबंध) १९७५-९५ वि०	त्रयोदश भाग (प्रकाशित)	श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'
हिंदी साहित्य का अद्यतनकाल १९९५-२०१० वि०	चतुर्दश भाग	डा० हरवंशलाल शर्मा
हिंदी में शास्त्र तथा विज्ञान	पंचदश भाग	डा० विश्वनाथप्रसाद
हिंदी साहित्य का लोकसाहित्य	षोडश भाग (प्रकाशित)	म० पं० राहुल सांकृत्यायन

इतिहास लेखन के लिये जो सामान्य सिद्धांत स्थिर किए गए हैं वे निम्नलिखित हैं—

(१) हिंदी साहित्य के विभिन्न कालों का विभाजन युग की मुख्य सामाजिक और साहित्यिक प्रवृत्तियों के आधार पर किया जायगा।

(२) व्यापक सर्वांगीण दृष्टि से साहित्यिक प्रवृत्तियों, आंदोलनों तथा प्रमुख

कवियों और लेखकों का समावेश इतिहास में होगा और जीवन की सभी दृष्टियों से उनपर यथोचित विचार किया जायगा।

(३) साहित्य के उदय और विकास, उत्कर्ष तथा अपकर्ष का विवरण, वर्णन और विवेचन करते समय ऐतिहासिक दृष्टिकोण का पूरा ध्यान रखा जायगा अर्थात् तिथिक्रम, पूर्वापर तथा कार्य-कारण संबंध, पारस्परिक संपर्क, संघर्ष, समन्वय, प्रभावग्रहण, आरोप, त्याग, प्रादुर्भाव, अंतर्भाव आदि प्रक्रियाओं पर पूरा ध्यान दिया जायगा।

(४) संतुलन और समन्वय। इसका ध्यान रखना होगा कि साहित्य के सभी पक्षों का समुचित विचार हो सके। ऐसा न हो कि किसी पक्ष की उपेक्षा हो जाय और किसी का अतिरंजन। साथ ही साथ साहित्य के सभी अंगों का एक दूसरे से संबंध और सामंजस्य किस प्रकार से विकसित और स्थापित हुआ, इसे स्पष्ट किया जायगा। उनके पारस्परिक संघर्षों का उल्लेख और प्रतिपादन उसी अंश और सीमा तक किया जायगा जहाँ तक वे साहित्य के विकास में सहायक सिद्ध होंगे।

(५) हिंदी साहित्य के इतिहास के निर्माण में मुख्य दृष्टिकोण साहित्य-शास्त्रीय होगा। इसके अंतर्गत ही विभिन्न साहित्यिक दृष्टियों की समीक्षा और समन्वय किया जायगा। विभिन्न साहित्यिक दृष्टियों में निम्नलिखित की मुख्यता होगी –

क—शुद्ध साहित्यिक दृष्टि : अलंकार, रीति, रस, ध्वनि, व्यंजना आदि।

ख—दार्शनिक।

ग—सांस्कृतिक।

घ—समाजशास्त्रीय।

ङ—मानवतावादी आदि।

च—विभिन्न राजनीतिक मतवादों और प्रचारात्मक प्रभावों से बचना होगा। जीवन में साहित्य के मूलस्थान का संरक्षण आवश्यक होगा।

छ—साहित्य के विभिन्न कालों में उसके विभिन्न रूपों में परिवर्तन और विकास के आधारभूत तत्वों का संकलन और समीक्षण किया जायगा।

ज—विभिन्न मतो की समीक्षा करते समय उपलब्ध प्रमाणों पर सम्यक विचार किया जायगा। सबसे अधिक संतुलित और बहुमान्य सिद्धांत की ओर संकेत करते हुए भी नवीन तथ्यों और सिद्धांतों का निरूपण संभव होगा।

झ—उपर्युक्त सामान्य सिद्धांतों को दृष्टि में रखते हुए प्रत्येक भाग के संपादक अपने भाग की विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत करेंगे। संपादक मंडल इतिहास की व्यापक एकरूपता और आंतरिक सामंजस्य बनाए रखने का प्रयास करता रहेगा।

साथ ही जो पद्धति लेखन में व्यवहृत करने को निश्चित की गई वह इस प्रकार है—

(१) प्रत्येक लेखक और कवि की सभी उपलब्ध कृतियों का पूरा संकलन किया जायगा और उसके आधार पर ही उनके साहित्य क्षेत्र का निर्वाचन और निर्धारण होगा तथा उनके जीवन और कृतियों के विकास में विभिन्न अवस्थाओं का विवेचन और निदर्शन किया जायगा।

(२) तथ्यों के आधार पर सिद्धांतों का निर्धारण होगा, केवल कल्पना और संमतियों पर ही किसी कवि अथवा लेखक की आलोचना अथवा समीक्षा नहीं की जायगी।

(३) प्रत्येक निष्कर्ष के लिये प्रमाण तथा उद्धरण आवश्यक होंगे।

(४) लेखन में वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया जायगा—संकलन, वर्गीकरण, समीकरण (संतुलन) आगमन आदि।

(५) भाषा और शैली सुबोध तथा सुरुचिपूर्ण होगी।

सभा का आरंभ से ही विचार रहा है कि उर्दू कोई स्वतंत्र भाषा नहीं है, बल्कि हिंदी की ही एक शैली है, अतः इस शैली के साहित्य की यथोचित चर्चा भी ब्रज, अवधी, डिंगल की भांति, इतिहास में अवश्य होनी चाहिए। इसलिए आगे के खंडों में इसका भी आयोजन किया जा रहा है।

यह दूसरा भाग आप के संमुख है। शेष भाग के संपादन तथा लेखन कार्य में विद्वान मनोयोग पूर्वक लगे हुए हैं और यदि उन्होंने आश्वासन का पालन किया तो निश्चय ही अति शीघ्र इतिहास के सभी खंड प्रकाशित हो जायगें।

यह योजना अत्यंत विशाल है तथा अतिव्यस्त बहुसंख्याक निष्णात विद्वानों के सहयोग पर आधारित है। यह प्रसन्नता का विषय है कि इन विद्वानों का तो योग सभा को प्राप्त है ही, अन्यान्य विद्वान भी अपने अनुभव का लाभ हमें उठाने दे रहे हैं। हम अपने भूतपूर्व संयोजकों—डा० पांडेय और डा० शर्मा के भी अत्यंत आभारी हैं जिन्होंने इस योजना को गति प्रदान की। हम भारत सरकार तथा उन प्रादेशिक सरकारों के भी आभारी हैं जिन्होंने वित्त से हमारी सहायता की।

इस योजना के साथ ही सभा के भूतपूर्व संरक्षक स्व० डा० राजेंद्र प्रसाद जी, उसके भूतपूर्व सभापति स्व० डा० अमरनाथ झा तथा स्व० पं० गोविंदवल्लभ पंत की स्मृति जाग उठती है। अपने जीवन काल में, जिस भाँति उन्होंने इस योजना को चेतना और गति दी और आज उनकी स्मृति

जिस भाँति प्रेरणा दे रही है उससे विश्वास है कि यह योजना शीघ्र ही पूरी हो सकेगी।

अब तक प्रकाशित इतिहास के खंडों को त्रुटियों के बावजूद हिंदी जगत का आदर मिला है। मुझे विश्वास है कि आगे के खंडों में और भी परिष्कार और सुधार होगा। तथा अपनी उपयोगिता एवं विशेष गुण धर्म के कारण वे समादृत होंगे।

इस खंड के संपादक डा० धीरेंद्र वर्मा का मैं विशेष रूप से अनुगृहीत हूँ क्योंकि अतिव्यस्त होते हुए भी उन्होंने इस कार्य को प्राथमिकता दी।

इसके प्रधान संपादक तथा सभा के संरक्षक महामहिम डा० संपूर्णानंद जी के प्रति किसी भी प्रकार की कृतज्ञता व्यक्त करना सहज सौजन्य की मर्यादा का उल्लंघन है क्योंकि सभा में जो भी सत्कार्य हो रहे हैं उनपर उनकी छत्र छाया है। अंत में इस योजना में योगदान करनेवाले ज्ञात और अज्ञात सभी मित्रों के प्रति अनुगृहीत हूँ और विश्वास करता हूँ, उन सब का सहयोग सभा को इसी प्रकार निरंतर प्राप्त होता रहेगा।

सुधाकर पांडेय

संयोजक

बृहत् इतिहास उपसमिति,
नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

प्रस्तावना

(क) भारतीय भाषाएँ और हिंदी

भारतवर्ष में प्रधानतया आर्य, द्रविड़, मुंडा (आस्ट्री) तथा तिब्बती चीनी परिवारों की भाषाएँ बोली जाती हैं। जनसंख्या की १९५१ की रिपोर्ट के अनुसार भारत में एशिया के अन्य देशों तथा अफ्रीका और यूरोप के महाद्वीपों की भाषाएँ बोलनेवाले एक लाख से भी कम थे, और ये अधिकतर भारतीय नहीं, भारत में शासन, व्यवसाय आदि तरह तरह के कामों के लिये टिके हुए विदेशी ही थे।

तिब्बती चीनी

तिब्बती चीनी भाषाएँ बोलनेवालों की संख्या डेढ़ करोड़ से कुछ ऊपर है। इन भाषाओं का अस्तित्व प्रायः ब्रह्मदेश और तिब्बत भूटान में है। भारत में इस शाखा की भाषाएँ जहाँ तहाँ असम के उत्तरी और पूर्वी भागों में बोली जाती हैं; इनके बोलनेवाले जंगलों और पहाड़ों पर रहते हैं। इनकी संख्या लगभग ४० लाख है। इनकी बोलियों का अध्ययन हाजसन आदि विदेशी विद्वानों ने किया है। इनमें नागा बोलियाँ प्रमुख हैं। इनका विशेष विवरण ग्रियर्सन साहब के सर्वे में मिलेगा।

मुंडा

प्रशांत महासागर की 'मलाया पालीनेशिया' भाषाओं का हिंद चीन की 'मोन-ख्मेर' और भारत की 'खासी' और 'मुंडा' भाषाओं से संबंध है। मोन-ख्मेर जाति किसी समय हिंद चीन को जीतकर उसपर राज्य करती थी। अब तो थाई देश, ब्रह्मदेश और भारत के कुछ जंगली भागों में ही इसके बोलनेवाले आदिवासियों के रूप में रहते हैं। भारत में केवल असम के पूर्वी प्रदेश में इनके बोलनेवाले पाए जाते हैं और असम में ही मोन-ख्मेर भाषाओं से संबद्ध खासी भाषा खासी पहाड़ियों पर बोली जाती है। यह चारों ओर से तिब्बती चीनी से घिरी हुई है। सदियों से यह मोन-ख्मेर भाषाओं से दूर पड़ गई है, तब भी इसकी शब्दावली और वाक्यविन्यास दोनों की मोन-ख्मेर से गहरी समानता है। मोन-ख्मेर और खासी के अलावा, अपने देश के एक विस्तृत भाग के जंगली प्रदेशों में मुंडा भाषाभाषी रहते हैं। इन भाषाओं का थोड़ा अधिक विवरण देना

जरूरी है—न केवल इस दृष्टि से कि इनके बोलनेवाले पर्याप्त विस्तृत भूभाग में फैले हुए हैं, बल्कि इस विचार से भी कि इन भाषाओं का इस देश की अन्य प्रमुख (आर्य, द्रविड़) और अप्रमुख (तिब्बती चीनी) भाषाओं पर विशेष प्रभाव पड़ा है। मोन-ख्मेर, खासी और मुंडा शाखाओं को मिलाकर आस्ट्री एशियाई परिवार की भाषाएँ बोलनेवालों की संख्या अपने देश में करीब ५३½ लाख थी। जनसंख्या, साहित्य और सभ्यता की दृष्टि से आर्य (२५¾ करोड़) और द्रविड़ (७¾ करोड़) से इनकी कोई समकक्षता नहीं है।

नाम—मुंडा शब्द इस भाषापरिवार की एक भाषा मुंडारी का है और उसका अर्थ है 'मुखिया जमींदार'। मैक्समूलर ने पहले पहल इन भाषाओं को द्रविड़ परिवार से भिन्न समझा और उन्होंने ही इनको मुंडा नाम दिया। इसके पूर्व इनको कोल कहते थे। पर यह शब्द अनुपयुक्त है, क्योंकि 'कोल' जाति के अंतर्गत 'ओराओं' भी हैं जो द्राविड़ी भाषा बोलते हैं। इसके अतिरिक्त कोल शब्द का अर्थ 'सुअर' है जिसका अपने ही निजी देशवासियों के प्रति प्रयोग करना अनुचित भी है। संथाली का काल्हा (लोहार) तथा हिंदी के कोरी, कलार, क़रवल आदि इसी से संबद्ध हैं। कन्नड में इस शब्द का अर्थ 'चोर' है।

क्षेत्र—मुंडा भाषाएँ विशेष रूप से छोटा नागपुर में बोली जाती हैं। इसके अतिरिक्त मध्यप्रदेश तथा उड़ीसा के कुछ जिलों, मद्रास के कुछ भागों, तथा पश्चिमी बंगाल और बिहार के पहाड़ी और जंगली प्रदेशों में भी मुंडाभाषी रहते हैं। हिमालय की तराई में भी बिहार से लेकर शिमला पहाड़ी तक ये लोग बराबर पाए जाते हैं। मध्यप्रांत और मद्रास में इनके चारों ओर द्रविड़ भाषाएँ हैं और उत्तर भारत में आर्य। ऐसा अनुमान है कि आदि मुंडाभाषी भारत में सर्वत्र फैले हुए थे। बाद को आनेवाले द्रविड़ और आर्य जनसमुदायों ने इनको खदेड़ भगाया और उन्होंने जंगलों और पहाड़ों में शरण ली। हताश हो इन्होंने ऐसे पेशे अपनाए जिनका सभ्य समाज से संघर्ष न था। मुंडा जाति की ही शाखा 'शबर' थी जिसका उल्लेख रामायण, कादंबरी आदि ग्रंथों में मिलता है।

प्रभाव—मुंडा भाषाएँ आकृति में योगात्मक अश्लिष्ट हैं। इनकी कुछ विशेषताओं का प्रभाव आर्य और द्रविड़ भाषाओं पर स्पष्ट है। मुंडा में क्रियारूपों का बाहुल्य है। भोजपुरी, मगही और मैथिली, इन बिहारी बोलियों में क्रिया की जटिलता, मुंडा के ही प्रभाव का परिणाम जान पड़ती है। उत्तम पुरुषवाची सर्वनाम के बहुवचन के दो रूप, एक वक्ता के साथ वाच्य (मध्यम पुरुष) को शामिल करके भी, मुंडा के प्रभाव से आए जान पड़ते हैं; जैसे हिंदी की बोली में 'हम हाट जाएँगे' और 'अपन हाट जाएँगे' में भेद है और वह यह कि पहले वाक्य में हाट जानेवाले में जिससे बात कही जा रही है वह शामिल नहीं और दूसरे में वह

शामिल है। कोड़ियों में चीजों को गिनना भी मुंडा भाषाओं का ही स्पष्ट प्रभाव है।

भाषाएँ—संथाली और मुंडा भाषाओं का थोड़ा बहुत अब अध्ययन किया जा चुका है। इनके अलावा कुर्कू, सवर तथा हो आदि बोलियाँ भी हैं। शिमला की तरफ कनावरी बोली जाती है। संथाली, मुंडारी आदि चार पाँच को मिलाकर सामान्य नाम खेरवारी देते हैं। मुंडा की कुल सात बोलियाँ हैं, और समस्त आस्ट्री परिवार की इस देश में १६।

ध्वनिसमूह—मुंडा में स्वर तथा सघोष, अघोष, अल्पप्राण और महाप्राण व्यंजन मौजूद हैं। महाप्राणत्व की मात्रा आर्यभाषाओं की अपेक्षा कम मालूम पड़ती हैं क्योंकि आर्यभाषाओं के ऐसे शब्द, जिनमें महाप्राण हैं, यदि वे मुंडा में ले लिए गए हैं तो ये ही यहाँ अल्पप्राण हो गए हैं। हिंदी के सभी स्वर, स्पर्श-वर्ण (पाँचों वर्ग), य र ल व, ड, स, ह मुंडा में पाए जाते हैं। पर इनके अतिरिक्त एक प्रकार के अर्धव्यंजन क, च, त, प भी हैं जिनका उच्चारण अपने व्यंजनों से भिन्न है। इनके उच्चारण में पहले अंदर को साँस खींची जाती है, तब स्पर्श होता है और फिर स्फोट। इस स्फोट में साँस कभी कभी नासिकाविवर से भी निकल जाती है। संथाली के किसी शब्द के आदि में संयुक्त व्यंजन नहीं आता। द्वयक्षर शब्दों में यदि अंताक्षर दीर्घ और उसके पहलेवाला ह्रस्व हो तो बलाघात अंतिम अक्षर पर ही होता है, नहीं तो उसके पहलेवाले पर।

व्याकरण—संज्ञा, क्रिया आदि शब्दविभाग नहीं दिखाई पड़ता। शब्दार्थ प्रकरण के अनुकूल जान पड़ता है। संबंध तत्व का बोध अधिकतर अंतयोग और मध्ययोग से होता है, तथा अभ्यास का भी सहारा लिया जाता है। उपसर्ग भी जोड़े जाते हैं, उदाहरणार्थ अ (प्रेरणार्थक) को सैन (जाना) में जोड़कर असैन (ले जाना), इसी प्रकार अ नुं (पिलाना) प (समूहवाचक) जोड़कर मंझी (मुखिया) से मपंझी (मुखियागण), अथवा प (परस्परवाचक) जोड़कर दल (मारना) से दपल (आपस में मारना पीटना), क समभिहारार्थक) जोड़कर आलू (लिखना) से अकाल (खूब लिखना)। मुंडा के शब्द एक एक वस्तु और भाव का बोध कराने के लिये पर्याप्त हैं, परंतु सामान्य भाव का बोध करानेवाले शब्दों की कमी है।

प्रकरण से ही पदविभाग का पता चलता है। आवश्यकतानुसार एक ही शब्द संज्ञा, विशेषण, क्रिया आदि का काम दे देता है, विभक्तियों का बोध परसर्गों से कराया जाता है, लिंग का बोध मूल शब्द में पुरुषवाचक या स्त्रीवाचक शब्द जोड़कर कराया जाता है, जैसे आंडिया कूल (बाघ), एंगा कूल (बाघिन)। कोड़ा (लड़का), कूड़ी (लड़की) आदि शब्दों में लिंगभेद दिखाई पड़ता है, पर

ऐसे प्रयोगों की नितांत कमी है और स्पष्ट है कि यह आर्यभाषाओं का प्रभाव है। चेतन और अचेतन का भेद अवश्य उपस्थित है।

इन भाषाओं में तीन वचन होते हैं, खेरवारी में द्विवचन का प्रत्यय कीन् या कीङ् है और बहुवचन का को या कू, जैसे हाड् (आदमी), हाड्कीन् (दो आदमी) तथा हाड्को (कई आदमी)। परसर्ग काफी हैं ते; (को, में, करणवाचक से, रे, में बीच में), लगित, लगत (लिये). खानखाच, (से अपादानवाचक), ठानठाच (निकट)। संबंधवाचक परसर्ग, चेतन संबंधी होने पर रैन् और अचेतन होने पर अक्, अङ्, रेअक्, रेअङ् आदि होता है और हिंदी के विपरीत संबंध के अनुसार न बदलकर संबंधी के अनुसार बदलता है।

संथाली के संख्यावाची शब्द मिट (१), बारेआ (२), पैआ (३), पोनेआ (४), माड़ा (५), तरूई (६), एआए (७), इड़ाल (८), आरे (९), गैल (१०), इसि (२०) हैं। ऊपर की संख्याएँ बीसियों से गिनी जाती हैं (पोन इसि ८०, पै इसि ६०)। दस और बीस के बीच में खन (अधिक) या कम (न्यून) को जोड़कर काम चलाया जाता है, जैसे गैन खन पोनेआ (१४), बारेआ कम वरिसि (१८)।

पुरुषवाचक सर्वनामों में भी द्विवचन और बहुवचन के हम और अपन के वजन के दो दो रूप हैं। आदरवाचक (आप आदि) और संबंधवाचक (जो, जिस आदि) के वजन के सर्वनाम मुंडा भाषाओं में नहीं मिलते।

क्रिया जैसी कोई अलग चीज नहीं है। वही शब्द जो एक जगह संज्ञा-रूप आया है, अन्यत्र क्रियारूप हो सकता है। मरङ (बड़ा), हाड् अ मरङ अ (आदमी बड़ा है), हैं (हाँ) और उसमें केत परसर्ग जोड़कर हैं केत अ (हाँ कहा)। यह अ किसी क्रिया या व्यापार की भावात्मकता का बोधक है, और कुछ नहीं। क्रिया के रूप प्रत्यय जोड़कर सिद्ध होते हैं। किंतु जब तक यह अ न जुड़े तब तक क्रिया का वास्तविक अस्तित्व नहीं प्रकट होता। उदाहरण के लिये, दल् केत (मारा) का अर्थ दल् केत अ से सिद्ध होगा। संशयात्मक क्रियाओं में यह अ नहीं जुड़ता, जैसे खजुक अलो ए दग (यदि पानी न बरसे) में यह अ नहीं जोड़ा गया। सहायक क्रिया के रूप क्रियारूपों और भावात्मक अ के बीच में डाल दिए जाते हैं। धातु का अभ्यास दो तरह से किया जाता है : (क) पूरी धातु को दुबारा लाकर या (ख) धातु के प्रथम दो वर्णों को दुहराकर। प्रथम का अभिप्राय उस धातु द्वारा निर्दिष्ट क्रिया का बार बार और दूसरे का उसी क्रिया को खूब करना होता है, जैसे दल् (मारना) से दल् दल् (बार बार मारना) और ददल् (खूब मारना) विशेषकर स्वर से आरंभ होनेवाली धातुओं में या बहुचर धातुओं में क् बीच में जोड़कर समभिहार (पौनःपुन्य या भृशार्थ) का बोध

कराया जाता है, जैसे अगु (ले जाना), अवगु (बार बार ले जाना या खूब ले जाना)। परस्पर क्रिया का बोध प को बीच में जोड़कर और प्रेरणार्थक का ओची लगाकर किया जाता है। इन प्रक्रियाओं के अलावा इन भाषाओं में क्रिया का एक विशेष रूप होता है जिससे हिंदी के सुन रखो, ले रखो आदि प्रयोगों का अभिप्राय प्रकट होता है, अर्थात् ऐसी क्रिया जिसका भविष्य में कुछ काम पड़े जैसे, अजम कक् मा (सुन रखो)।

पुरुष के अनुसार क्रिया में रूपविभिन्नता नहीं होती, पर चेतन पदार्थों के विषय में पुरुषवाची सर्वनाम अंत में जोड़ दिए जाते हैं। क्रियारूप में प्रत्यय जोड़कर उन सभी कालों और वृत्तियों का बोध कराया जाता है जो प्रायः संस्कृत और हिंदी में मिलती हैं। इनके अतिरिक्त और भी कई प्रयोग हैं।

मुंडा भाषाओं में अव्यय स्वतंत्र शब्द हैं जिनका अलग ही अर्थ है, जैसे मैनखन लेकिन) का तात्विक अर्थ है 'यदि तुम कहो'।

मुंडा भाषाओं का द्राविड़ी भाषाओं से मौलिक अंतर है। द्राविड़ी में अर्धव्यंजन सी कोई चीज नहीं। संज्ञाओं का विभाजन मुंडा में चेतन अचेतन का होता है, द्राविड़ी में विवेकी अविवेकी का। मुंडा में गिनती बीस के क्रम से होती है। द्राविड़ी में आर्यभाषाओं की तरह दस के क्रम से। मुंडा में तीन वचन होते हैं, द्राविड़ी में दो। मुंडा में मध्यविन्यस्त प्रत्यय होते हैं, द्राविड़ी में नहीं।

द्राविड़ी

नाम—भारत में क्या जनसंख्या और क्या साहित्य, सभी बातों के विचार से द्राविड़ी भाषाओं का यदि गौण स्थान है तो केवल आर्यभाषाओं से। दविड़ शब्द संस्कृत द्रविड का रूपांतर है। इसी शब्द का पालि रूप दमिळ महावंश में तथा यही जैन प्राकृत ग्रंथों में मिलता है। वराहमिहिर ने द्रमिड़ शब्द का प्रयोग किया है। ग्रीक ग्रंथों में डमरिक, डिमिरिक शब्द मिलते हैं। तमिळ शब्द द्रविड़ ही का अन्य रूप है।

संबंध—द्राविड़ भाषाओं की मुंडा भाषाओं से विभिन्नता ऊपर दिखाई गई है। ये आर्यभाषाओं से भी प्रायः हरएक बात में भिन्न हैं। इनकी अश्लिष्ट योगात्मक अवस्था है। उराल अल्ताई भाषाओं में जैसी स्वर अनुरूपता मिलती है वैसी यहाँ भी दिखाई देती है, इसको मुख्य रूप से ध्यान में रखकर कुछ विद्वानों ने इनका उराल अल्ताई से परिवारसंबंध जोड़ने का प्रयास किया है। मोहन-जोदड़ो की खुदाई के बाद तो द्राविड़ी, सुमेरी और मोहनजोदड़ो की सभ्यता को

एक सूत्र में बाँधने की भी कोशिश हुई है और यह भी प्रयत्न हुआ है कि आस्ट्रेलिया की आस्ट्री भाषाओं से इनका संबंध जोड़ा जाय। इस अंतिम वाद को उपस्थित करनेवाले विद्वानों का विचार है कि प्रागैतिहासिक काल में 'लेमुरी' महाद्वीप मौजूद था जो आज भारतीय महासागर के नीचे पड़ गया है और इसी पर इस भाषासमुदाय के बोलनेवालों के पूर्वज रहते थे। यदि यह अनुमान ठीक हो तो मडागास्कर द्वीप से लेकर प्रशांत महासागर के द्वीपों तक की भाषाओं का एक ही संबंध होना समझ में आ सकता है। ऐसी दशा में उराल-अल्ताई या सुमेरी से द्राविड़ का कोई भी संबंध नहीं ठहर सकेगा और यह विचार भी युक्तिसंगत नहीं रहेगा कि आर्यों की तरह द्रविड़ जनसमुदाय भी भारत में पश्चिमोत्तर दिशा से आए और ब्राहुई भाषाभाषी उनकी अंतिम शाखा हैं। पर द्राविड़ी का आस्ट्री से संबंध होना स्वयं बालू की भित्ति पर खड़ा है क्योंकि, जैसा ऊपर दिखा चुके हैं, दोनों में काफी भिन्नता है।

भाषाएँ—द्राविड़ी की कुल १४ भाषाएँ हैं। भाषाविज्ञानी इनको चार वर्गों में बाँटते हैं : (क) द्राविड़, (ख) मध्यवर्ती, (ग) आंध्र (तेलगू) और (घ) पश्चिमोत्तरी (ब्राहुई)। नीचे प्रत्येक वर्ग की जनसंख्या दी जाती है :

वर्ग	जनसंख्या
(क) द्राविड़	४ करोड़ १५ लाख
(ख) मध्यवर्ती	३६ लाख
(ग) आंध्र	३ करोड़ ३० लाख
(घ) पश्चिमोत्तरी	२० लाख

इनका अवांतर वर्गीकरण इस तरह किया जाता है :

वर्ग	भाषा	उपभाषाएँ
द्राविड़	तमिळ	तमिळ, मलयालम
	कन्नड़	
	तुळु	
	कोडगु	
	टोडा	टोडा, कोटा
मध्यवर्ती	गोंडी	
	कुरुख	कुरुख, माल्टो
	(ओराओं	
	कूई (कंधी)	
	कोलामी	
आंध्र	तेलगू	
पश्चिमोत्तरी	ब्राहुई	

तमिळ—यह मद्रास राज्य में और सिंहल (लंका) के उत्तरी भाग में बोली जाती है। इसके उत्तर में तेलगू और पश्चिम में कन्नड़ तथा मलयालम हैं। समस्त भाषाओं में यह प्रमुख है। इसका साहित्य ८वीं सदी तक का मिलता है। बोलियों में परस्पर समानता बहुत अधिक है। स्टैंडर्ड भाषा के दो रूप हैं, शेन और कोडुन। शेन सभ्य समझी जाती है। कोडुन प्रायः बोलचाल की है। तमिल की मणिप्रवाल नाम की एक साहित्यिक शैली है, जिसमें संस्कृत शब्दों की प्रचुरता है, और साथ ही साथ तमिल शब्द भी सुंदरता से पिरोए हुए हैं। तमिळ साहित्य बहुत उच्च कोटि का है और बंगाली, हिंदी, मराठी आदि आर्यभाषाओं का समकक्ष है।

मलयालम—कुछ विद्वानों द्वारा यह तमिळ की ही एक शाखा समझी जाती है। यह तमिळ से ९वीं सदी में अलग हुई। इसका क्षेत्र भारत का दक्षिणी-पश्चिमी कोना है। लक्षद्वीप में भी यह भाषा बोली जाती है। शब्दावली संस्कृत-प्रचुर है, पर इस भाषा के मुसलमान भाषी (मोपला) इस संस्कृतबहुल भाषा का प्रयोग नहीं करते। ट्रावनकोर और कोचीन राज्यों की संरक्षा में मलयालम साहित्य खूब फूला फला और उन्नत हुआ। प्राचीनता में यह १३वीं सदी तक जाता है।

कन्नड़—यह मैसूर राज्य की भाषा है। इसमें भी पर्याप्त साहित्य है। लिपि तेलगू से मिलती है, किंतु भाषा तमिळ से। पद्य की भाषा में कृत्रिमता अधिक है। इसकी कई बोलियाँ हैं। इसके लेख पाँचवीं सदी तक के पुराने मिलते हैं। समस्त द्राविड़ी भाषाओं में ये सबसे पुराने हैं।

तुळु—का क्षेत्र बहुत सीमित है। भाषा सुथरी हुई है, पर कोई महत्वपूर्ण साहित्य नहीं है। कोडगु भाषा कन्नड़ और तुळु के बीच की है। टोडा और कोटा नीलगिरि पहाड़ पर रहनेवाले लोगों की बोलियाँ हैं।

मध्यवर्ती समुदाय की भाषाएँ प्रायः जंगलों में रहनेवाली जातियों की हैं। ये मध्यभारत में, तथा बरार से लेकर उड़ीसा और बिहार तक फैली हुई हैं। बंगाल के राजमहल जिले में भी एक जगह गंगातट पर इनके बोलनेवालों का निवास है। इन बोलियों में कोई साहित्य नहीं है। इनके बोलनेवाले सबके सब द्विभाषा-भाषी होते हैं क्योंकि आसपास के आर्यभाषाभाषियों से इनका निरंतर संपर्क रहा है। इन भाषाओं पर आर्यभाषाओं की छाप इतनी गहरी पड़ रही है कि इनमें छोटी छोटी टोलियों की बोलियाँ कुछ मर सी रही हैं और संभव है, आगे पीछे समाप्त ही हो जायँ।

गोंडी—यह मध्यवर्ती वर्ग में सबसे बड़ी है। गोंड हिंदी प्रांत में पाए जाते हैं। कुरुख (ओराओं) बोली को मूल रूप से कर्णाट प्रांत का बताया जाता

है जो बाद को बिहार, उड़ीसा में छा गई। इसी की एक बोली माल्टी है। कुरुख भाषाभाषियों का निवासस्थान वही है जो मुंडा का है। दोनों परस्पर एक दूसरे की भाषा समझते हैं, और कुछ जनसमुदाय एक को छोड़कर दूसरी बोलने लगे हैं। कूई (कंधी) का तेलगू से संबंध है, इसके बोलनेवाले उड़ीसा के जंगलों में रहते हैं। कोलामी का क्षेत्र बरार के पश्चिमी जिलों में है, और संबंध तेलगू से। यहाँ वह आर्यपरिवार की 'भीली' भाषा के संपर्क में है और लुप्त सी हो रही है।

आंध्र प्रांत की भाषा तेलगू अत्यंत महत्त्व की है। तेलगू भाषाभाषी अत्यंत वीर और सभ्य रहे हैं। मुगल राज्यकाल में बराबर ये उत्तर भारत में सैनिक रूप से आते रहे। इसी कारण हिंदी में तिलंगा शब्द सैनिक का पर्यायवाची हो गया था। द्राविड़ी भाषाओं में तेलगू बोलनेवालों की संख्या सबसे अधिक है। इस भाषा का साहित्य १०वीं सदी तक का मिलता है। इसका आधुनिक साहित्य भी बहुत अच्छा और तमिळ की टक्कर का है। संस्कृत के बहुत शब्द तेलगू में स्वाभाविक रूप से ले लिए गए हैं। इस संस्कृत शब्दावली के कारण बंगाली, हिंदी आदि आर्यभाषाओं से इसका अन्य द्राविड़ी भाषाओं की अपेक्षा अधिक घनिष्ठ संबंध हो गया है। तेलगू भाषा में बहुत माधुर्य है, इसकी तुलना में तमिळ कर्णकटु मालूम होती है।

बलोचिस्तान के बीच में चारों ओर से ईरानी भाषाओं से और एक कोने में सिंधी से घिरी हुई द्राविड़ी परिवार की ब्राहुई भाषा है। इसके बोलनेवाले सभी मुसलमान हैं। मातृभाषा की विभिन्नता के कारण उनके शादी ब्याह आदि सामाजिक व्यवहारों में कोई अंतर नहीं पड़ता, परिणामस्वरूप ब्राहुई भाषाभाषी ईरानी भाषा (बलोची या पश्तो) भी मातृभाषा सरीखी बोलते हैं। इस भाषा का इस परिस्थिति में टिकी रह जाना आश्चर्य की बात है।

लक्षण—द्राविड़ी परिवार की भाषाओं के उच्चारण में शब्द के अंतिम व्यंजन के उपरांत एक अतिलघु अकार जोड़ दिया जाता है। तमिळ में क, श, त, प, ड़ के उपरांत अतिलघु उकार सुन पड़ता है। कन्नड़ और तेलगू में सभी शब्द स्वरांत होते हैं और अंतिम व्यंजन के बाद उ बोला जाता है। किंतु बोलचाल की तेलगू और कन्नड़ में यह नहीं सुनाई पड़ता, जैसे, साहित्यिक तेलगू गुर्रमु (घोड़ा) बोलचाल तेलगू में गुर्रम्। इन भाषाओं में उराल-अल्ताई भाषाओं की सी स्वर अनुरूपता भी पाई जाती है। सभी भाषाओं में और विशेषतया तमिळ में यह प्रवृत्ति है कि किसी शब्द के आदि में सघोष व्यंजन नहीं आ सकता, किंतु शब्द के मध्य में अकेला आनेवाला व्यंजन सघोष होना चाहिए। इसी प्रवृत्ति से सं० दंत तमिळ में तंदम् हो जाता है। यही प्रवृत्ति तिब्बती चीनी में भी पाई जाती है।

संज्ञाओं का विभाग विवेकी और अविवेकी में किया जाता है। अथवा इन्हीं को उच्चजातीय और नीचजातीय कह सकते हैं। आवश्यकता होने पर पुंलिंग स्त्रीलिंग का भेद नर और मादा के बोधक शब्दों को जोड़कर दिखाया जाता है। अन्यपुरुषवाची सर्वनामों में ही पुं० स्त्री० भेद पाया जाता है और वे विशेषणों तथा संज्ञाओं में लिंगभेद करने के लिये जोड़े जाते हैं। ब्राहुई में लिंग-भेद नहीं पाया जाता।

. दो वचन होते हैं। विभक्तियाँ परसर्ग जोड़कर बनती हैं किंतु ये परसर्ग संज्ञा के विकारी रूपों के अनंतर आते हैं, अविकारी के बाद नहीं। विशेषणों के रूप चलते हैं। गणना आर्यभाषाओं की तरह दस पर निर्भर है। कुछ विद्वानों का मत है कि भारत में जो सोलह पर निर्भर (रुपए आने की) गिनती पाई जाती है, वह भी द्रविड़स्रोत की है।

उत्तमपुरुषवाची सर्वनाम में हम और अपन के वचन के दो रूप बहुवचन में होते हैं। संबंधवाची सर्वनाम नहीं होता। कुरुख के ये सर्वनाम हैं : एन् (मैं), एम् (हम), नीन् (तू), नीम् (तुम), तान् (स्वयं एकवचन), ताम् (स्वयं बहुवचन)।

बहुत से शब्द संज्ञा और क्रिया दोनों होते हैं, जैसे, ता० कोन (राजा), कोन एन (मैं राजा हूँ)। कर्मवाच्य के अलग रूप नहीं होते। सहायक क्रिया से उनका बोध कराया जाता है। क्रिया के रूपों में पुरुष का बोध कराने के लिये पुरुषवाची सर्वनाम जोड़े जाते हैं। काल होते हैं, निश्चित और अनिश्चित, निश्चित भूत और निश्चित भविष्य तथा अनिश्चित वर्तमान या अनिश्चित भविष्य। क्रिया के निषेधात्मक रूप भावात्मक से भिन्न होते हैं। तिङ्न्त रूपों की जगह कृदंत रूपों का अधिक प्रयोग होता है।

प्रभाव—भारत में आर्यों के आने के समय यहाँ मुंडा और द्रविड़ पहले से ही बसे हुए थे। प्रोफेसर चटर्जी के मत के अनुसार मुंडा जाति के लोग काश्मीर तक फैले हुए थे। यह काश्मीर के और भी पश्चिम में बोली जानेवाली 'बुरुशास्की' को आस्ट्री परिवार का समझते हैं। शिमला की पहाड़ी तक पर मुंडा की एक शाखा वर्तमान है। इसी प्रकार द्रविड़ भाषाओं का भी इस देश में आर्यों के प्रवेश के पहले प्रचार था। जब आर्य इनके संपर्क में आए होंगे तो स्वाभाविक ही है कि उनकी भाषा पर इनका प्रभाव पड़ा होगा। दुर्भाग्य से द्राविड़ी के बहुत पुराने लेख या ग्रंथ नहीं मिलते, नहीं तो परस्पर संपर्क के परिणाम का अध्ययन अधिक स्पष्ट हो जाता। तब भी भाषाविज्ञानियों का अनुमान है कि भारतीय आर्यशाखा में मूर्धन्य ध्वनियों का अस्तित्व और र तथा ल का व्यत्यय द्राविड़ प्रभाव के ही कारण है। परसर्गों का अस्तित्व और वह भी संज्ञा तथा

सर्वनाम के विकारी रूप के बाद, द्रविड़ प्रभाव का द्योतक है। हिंदी आदि भाषाओं के चेतन पदार्थवाची कर्म का अचेतन कर्म से भेद (राधा ने कृष्ण को सराहा, किंतु राधा ने मुरली चुराई) भी द्रविड़ प्रभाव के कारण समझा जाता है। अन्य आर्यभाषाओं की तुलना में भारतीय शाखा में कृदंत रूपों का तिङ्त की अपेक्षा अधिक प्रयोग भी इसी का द्योतक है। यह उत्तरोत्तर बढ़ता गया। ह्विटनी ने ऋग्वेद की क्रियाओं की तुलना भगवद्गीता की क्रियाओं से की है और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भगवद्गीता में तिङ्त रूपों का प्रयोग ऋग्वेद की अपेक्षा दसवाँ हिस्सा ही रह गया है। इसी प्रकार वर्तमान आर्यभाषाओं का सहायक क्रियावाला कर्मवाच्य तथा भविष्यकाल के रूप भी द्राविड़ी प्रभाव के ही परिणाम मालूम पड़ते हैं। शब्दावली का जो परस्पर आदान प्रदान हुआ है वह स्पष्ट ही है।

भारतीय आर्य भाषाएँ

हिंद ईरानी की इस उपशाखा को विवरण की सुविधा के लिये तीन भागों में बाँटा जाता है: प्राचीन युग, मध्य युग और वर्तमान युग। मोटे तौर से प्रथम का समय प्रागैतिहासिक काल से ५०० ई० पू० तक, मध्य युग का ई० पू० ५०० से १००० ई० तक और वर्तमान का १००० ई० से वर्तमान काल तक मानना ठीक मालूम होता है। इन तीनों का विवेचन अलग अलग करना उचित होगा:

प्राचीन

तुलनात्मक भाषाविज्ञान के अध्ययन से भारतवर्ष में आर्यों के आगमन का समय १५०० ई० पू० के आसपास माना जाता है। आर्य यहाँ विभिन्न टोलियों में आकर बसते गए और यहाँ द्रविड़, मुंडा आदि मूल निवासियों के संघर्ष से भाषा, रहन सहन आदि में आवश्यक परिवर्तन करते रहे। प्राचीन युग की भाषा का सर्वोत्तम उदाहरण ऋग्वेदसंहिता में मिलता है। इसमें भाषा के भिन्न भिन्न स्तर दिखाई देते हैं।

आदिम आर्यभाषा से ऋग्वेदीय भाषा की तुलना करने पर पता चलता है कि भारतीय शाखा के स्वरों में घोर परिवर्तन हो गया है। तीन मूल स्वरों के स्थान पर एक होने के कारण ह्रस्व, दीर्घ और मिश्र स्वरों की संख्या बहुत कम हो गई है। म न स्वरों के स्थान पर अ और ऋ (श्वा) के स्थान पर इ पाया जाता है ऌकार का प्रयोग बहुत सीमित हो गया है। व्यंजनों में कवर्ग की एक ही श्रेणी का रह जाना चवर्ग और टवर्ग का आविर्भाव तथा श, ष, ह का आगमन भी महत्व का है।

ऋग्वेदसंहिता के सूक्ष्म अध्ययन से मालूम होता है कि उसके सूक्तों में जहाँ तहाँ बोलीभेद है। प्रथम मंडल के सूक्तों की भाषा अपेक्षाकृत कुछ बाद की है। ब्राह्मण ग्रंथों, प्राचीन उपनिषदों और सूत्रग्रंथों की भाषा क्रमशः विकसित होती हुई जान पड़ती है। पाणिनि के समय तक वैदिक वाङ्मय की भाषा (छंदस्) और साधारण शिष्ट लोगों की भाषा में काफी अंतर पड़ गया था। पाणिनि ने अपने पूर्ववर्ती वैयाकरणों का उल्लेख किया है। बुद्ध भगवान् के समय तक उत्तर भारत में उदीच्य, प्राच्य और मध्यदेशीय, ये तीन भाग भाषा के विभेदों के कारण हो गए थे।

प्राचीन युग के अंतर्गत वैदिक और लौकिक दोनों रूप आते हैं। संस्कृत शब्द से कभी कभी दोनों रूपों का और कभी केवल लौकिक का बोध कराया जाता है। दोनों में अंतर की मात्रा अधिक नहीं है। बोलीभेद को मिटाने का सबसे सफल उद्योग पाणिनि का सिद्ध हुआ। इन्होंने उदीच्य की भाषा को प्रश्रय दिया। इनके समय में संस्कृत शिष्ट समाज के परस्पर विचार विनिमय की भाषा थी। संस्कृत यह काम कई सदी बाद तक करती रही। प्राच्य प्रभाव के कारण कुछ सदियों तक संस्कृत का प्रभाव सीमित हो गया परंतु मौर्य साम्राज्य के छिन्न भिन्न हो जाने पर संस्कृत भाषा ने फिर अपना आधिपत्य जमा लिया। संस्कृत का प्रथम शिलालेख रुद्रदाम का गिरनारवाला है जिसकी तिथि ई० १५० है। अबसे बराबर प्राकृतों के प्रश्रय पाने तक संस्कृत हिंदू राज्यों की राजभाषा रही। प्रायः १२वीं सदी तक इसको राजदरबारों से विशेष प्रश्रय मिलता रहा।

संस्कृत का प्रभाव उत्तरकालीन मध्ययुग की भाषाओं पर निरंतर पड़ता रहा है। क्या प्राकृतें, क्या आधुनिक भाषाएँ, सभी संस्कृत कोश से अनायास शब्द लेती रही हैं। भारत से बाहर चीन, तिब्बत, हिंदचीन, जावा, सुमात्रा, बाली, कोरिया और जापान तक इसका प्रभाव फैला हुआ है। यूरोप में जो प्रभाव लैटिन का और अफ्रीका तथा एशिया के पश्चिमी भाग में जो प्रभाव अरबी का पड़ा है, वैसा ही अथवा उससे भी अधिक संस्कृत का प्रभाव एशिया के शेष भागों पर बराबर रहा है। भारतीय आर्य इसे देववाणी कहते हैं और आज भी यह ३० करोड़ हिंदुओं की श्रद्धा की चीज है। बोलचाल की भाषा न होते हुए भी आज जो श्रेय इसे प्राप्त है, वह संसार की किसी भाषा को प्राप्त नहीं है।

साहित्य की रक्षा के लिये प्राचीन युग में जो युक्तियाँ काम में लाई गईं, वे सभ्य संसार के इतिहास में अद्वितीय हैं। श्रुति की रक्षा के लिये पदपाठ, क्रमपाठ, जटापाठ, घनपाठ आदि कृत्रिम उपायों का सहारा लिया गया। भावगरिमा की रक्षा सूत्रशैली से की गई है। इन साधनों के द्वारा प्राचीन से प्राचीन भाषा की ठीक ठीक संरक्षा हो सकी।

प्राचीन युग में भारतीय आर्यभाषा बराबर अन्य एतद्देशीय तथा विदेशी भाषाओं से आवश्यकतानुसार शब्द लेती रही। इस बात की पुष्टि संस्कृत, ग्रीक, लैटिन और अवेस्ती के शब्दकोशों की तुलना से होती है। उणादि सूत्रों से जिन शब्दों की सिद्धि की गई है, उनमें से कुछ अवश्य अन्य भाषाओं से लिए हुए हैं। इस युग में इस देश में आर्यभाषा के अतिरिक्त द्रविड़, मुंडा आदि परिवारों की भाषाएँ जीती जागती सभ्य अवस्था में थीं। उनके शब्दों का आर्यभाषा में आ जाना स्वाभाविक ही था। आर्यभाषा श्लिष्ट यौगिक आकृति की थी, उस काल की यहाँ की अन्य भाषाएँ अश्लिष्ट थीं। इस बात का भी प्रभाव आर्यभाषाओं पर पड़ा; अतः मध्ययुग में हम उत्तरोत्तर श्लिष्ट अवस्था से हटने का प्रमाण पाते हैं। इसी प्रकार उच्चारण में भी प्रभाव पड़ने के प्रमाण मिलते हैं। किसी अन्य आर्यभाषा में मूर्धन्य वर्ण नहीं मिलते, पर भारतीय आर्यभाषा में बराबर मिलते हैं और उत्तरोत्तर इनके अनुपात की वृद्धि होती जाती है। यह सच है कि मूर्धन्य ध्वनियाँ दंत्य ध्वनियों से ही विकसित हुई हैं, पर इस विकास में देश की परिस्थिति ने अवश्य सहायता की होगी।

मध्ययुग

जो परिवर्तन प्राचीन युग में होने आरंभ हुए थे वे इस युग में अधिक बढ़े। सामान्य तुलना से पता चलता है कि इस युग के प्रारंभ में ही द्विवचन का और आत्मनेपद का ह्रास हो गया था। विभक्तियों में षष्ठी और चतुर्थी का एक दूसरे के स्थान पर प्रयोग, संज्ञा और सर्वनाम के परप्रत्ययों में परस्पर व्यत्यय, संख्यावाची शब्दों में नपुंसक लिंग के रूपों की प्रमुखता और अन्यों का उत्तरोत्तर ह्रास, क्रिया के लकारों में लुट् (अनद्यतन भविष्य), लङ् (अनद्यतनभूत), लिट् (परोक्षभूत) और लृङ् (क्रियातिपत्ति) के रूपों का प्रायः सर्वांश में अभाव और विधिलिङ् तथा आशिर्लिङ् का सर्वथा एकीकरण, क्रिया के रूपों में गणविभेद की और संज्ञा के रूपों में व्यंजनांत की जटिलता की कमी, इत्यादि लक्षण मध्ययुग के आदिकाल की सामग्री में भी मिलते हैं। ऐ, औ, ऋ लृ, का अभाव और ए, ओ (ह्रस्व) का आविर्भाव, प्रायः पश्चिमोत्तर प्रदेश को छोड़कर ष् का नितांत अभाव और प्राच्य देश में श्, ष्, स् के स्थान पर श् तथा अन्यत्र इनकी जगह स् का प्रयोग, विसर्ग का सर्वत्र अभाव, संयुक्त व्यंजनों का प्रायः बहिष्कार और अनेक स्वरों की एकत्र स्थिति, ये ध्वनि संबंधी लक्षण भी मिलते हैं। शब्दावली में भी देशी शब्दों की संख्या बढ़ गई है।

मध्ययुग को तीन कालों में विभाजित किया जाता है: आदि, मध्य और उत्तर। आदिकाल प्रायः ईसवी सन् के आरंभ तक, मध्यकाल ५०० ई० तक और उत्तरकाल १००० ई० तक माना जाता है।

आदिकाल के अंतर्गत पालि और अशोकी प्राकृत हैं। ऊपर प्राचीन युग में ही बोलीभेद के कारण उदीच्य, मध्यदेशीय और प्राच्य क्षेत्रों का उल्लेख किया गया है। प्राच्य क्षेत्र में अधिक परिवर्तन होना स्वाभाविक ही था। इतिहास से हमें पता चलता है कि बुद्ध भगवान् ने संस्कृतेतर भाषा में अपने आर्यधर्म का प्रचार किया। महावीर स्वामी ने भी यही किया था। इसका मतलब यह हुआ कि इन महानुभावों के समय में प्राच्य भाग (अर्थात् वर्तमान अवध और बिहार प्रांत) में संस्कृत की प्रतिष्ठा जनसाधारण में बहुत न थी और उनकी बोलचाल की भाषा संस्कृत से काफी भिन्न हो गई थी। कोई भी प्रचारक ऐसी ही भाषा को अपनाता है जो जनसाधारण की समझ में आती हो; पर यह वह अवस्था थी जब संस्कृत और ये विभिन्न बोलियाँ परस्पर समझी जा सकती थीं।

पालि को सिंहलद्वीपी लोग मागधी कहते हैं। पालि के ग्रंथों में भाषा के लिये मागधी शब्द का ही प्रयोग हुआ है और पालि का टीका (अर्थकथा) से भिन्न मूल पाठ के अर्थ में। युरोपीय विद्वानों ने पालि शब्द का व्यवहार किया और यही श्रेयस्कर है क्योंकि मागधी शब्द का प्रयोग मागधी प्राकृत के लिये, जिसका उल्लेख आगे किया जायगा, सीमित रखना आवश्यक है। पालि शब्द का प्रारंभ में अशोकी प्राकृत के लिये भी प्रयोग किया गया था किंतु अब हीनयान बौद्धधर्म के धर्मग्रंथों की भाषा के लिये ही काम में आता है।

पालि किस प्रांत की भाषा थी, इस प्रश्न पर विद्वानों में परस्पर बहुत वाद विवाद होता रहा है। रीज डेविड का विचार था कि यह कोसल देश की भाषा थी, अन्यों ने इसे मगध देश की ठहराने की कोशिश की। गठन पर विचार करते हुए यह किसी पूर्वी प्रांत की नहीं ठहरती। प्राकृतों के तुलनात्मक अध्ययन से यह पश्चिमी प्रदेश (मध्य देश) की भाषा सिद्ध होती है और ऐसा समझा जाता है कि यद्यपि बुद्ध भगवान् ने किसी प्राच्य भाषा में उपदेश किया होगा, तथापि उनके निर्वाण के साल दो साल बाद समस्त ग्रंथों का अनुवाद किसी ऐसी मध्यदेशी भाषा में हुआ जो संस्कृत के समकक्ष परिनिष्ठित हो चुकी थी। गठन में पालि बुद्ध-कालीन नहीं ठहरती, पर्याप्त अर्वाचीन (ई० पू० तीसरी सदी की) जान पड़ती है। जब अशोकी प्राकृत से उसकी तुलना करते हैं तब यह बात स्पष्ट हो जाती है।

पालि में बौद्धधर्म के मूल ग्रंथ, टीकाएँ तथा प्रचुर कथासाहित्य, काव्य, कोश, व्याकरण आदि हैं। वर्तमानकालीन सिंहल, ब्रह्मदेश, थाईदेश आदि में उसे वही गौरव प्राप्त है जो भारतवर्ष में संस्कृत को है। इस साहित्य में धम्मपद, जातक आदि ग्रंथों में अमूल्य सामग्री भरी पड़ी है।

पालि भाषा के सूक्ष्म निरीक्षण से पता चलता है कि इसमें जहाँ तहाँ बोलीभेद के उदाहरण हैं। एक ही शब्द के अनेक स्थलों पर अनेक रूप मिलते हैं। मूल

में एक भाषा है। स् का सर्वत्र अस्तित्व और श् का अभाव तथा र् का अस्तित्व और ल् से भेद, आदि लक्षण इस बात को स्पष्ट रूप से प्रमाणित करते हैं कि यह पश्चिमी भाषा है। त्रिपिटिक के भी सभी अंश एक समय के लिखे नहीं मालूम पड़ते। शैली का पर्याप्त भेद है।

पालि ग्रंथ भारत से सिंहल गए। पौराणिक गाथा के अनुसार यह माना जाता है कि अशोक के पुत्र महेंद्र इन बौद्ध ग्रंथों को वहाँ ले गए। बाद को भी आदान प्रदान होता रहा। बुद्धघोष के समय, ५वीं ई० सदी में, भारत में केवल मूलग्रंथों के ही रह जाने का पता चलता है। वह अर्थकथा सिंहल से लाए। वर्तमान युग में हम भारतीयों को पालि का पुनः ज्ञान यूरोपीय विद्वानों की कृपा से हुआ है।

पालि में कुछ लक्षण ऐसे मिलते हैं जिनसे इसका विकास उत्तरकालीन संस्कृत की अपेक्षा वैदिक संस्कृत और तत्कालीन बोलियों से मानना अधिक उचित है। तृतीया बहुवचन में अकारांत संज्ञाओं का—एभिः प्रत्यय और प्रथमा ब० व० में आस् के विकल्प में—आसः धातु (यथा गम्) और धात्वादेश (यथा गच्छ) के प्रयोग में भेद का अभाव, अडागम (इसि = अइसीत्) का प्रायः अभाव आदि बातें उदाहरण हैं। संस्कृत के इह के स्थान पर पालि इध पाया जाता है जो वैदिकपूर्व भाषा का अवशेष समझा जाता है।

अशोकी प्राकृत—प्रियदर्शी राजा अशोक ने अपने शासनकाल के विविध संवत्सरों में स्थान स्थान पर स्तंभों, चट्टानों, गुफाओं आदि में 'धर्म' के प्रचार के लिये अनेक लेख खुदवाए थे। इन लेखों में 'अभिषेक से ८ वर्ष बाद, ६ वर्ष बाद, १० वर्ष बाद' आदि शब्दों में उन लेखों का समय भी दिया हुआ है। भारत में इस प्रकार विवादरहित तिथि पड़े हुए न इतने पुराने लेख हैं, न पुस्तकें। इसलिये इन लेखों का अद्वितीय महत्व है। प्रायः ये सब के सब २६२-२५० ई० पू० के हैं और भारत की सभी दिशाओं और कोनों में पाए जाते हैं। इनकी भाषा का समष्टि रूप से नाम अशोकी प्राकृत है। इन लेखों के सूक्ष्म अध्ययन से पता चलता है कि इनमें उत्तर पश्चिमी (शाहबाजगढ़ी, मनसेहरा), पश्चिमी (गिरनार), मध्यदेशी (कालसी), पूर्वी (धौली, जौगढ़) बोलियाँ हैं और कदाचित् दक्षिणी भी। अनुमान है कि राजधानी से अर्धमागधी के किसी रूप में लेख सब प्रांतों में भेजे जाते थे और प्रांत की बोली के अनुकूल उनमें परिवर्तन कर लिए जाते थे। राजधानी से जितनी ही दूर लेख पाए गए हैं, परिवर्तन की मात्रा उतनी ही अधिक हो गई है। मध्यदेशी के कोई लेख नहीं मिलते। इससे अनुमान किया गया

है कि उस समय मध्यदेश में अर्धमागधी समझी जाती थी। गिरनार के लेख अन्य लेखों की अपेक्षा संस्कृत भाषा और शौरसेनी प्राकृत के अधिक निकट हैं।

अशोक के लेखों के अतिरिक्त और भी लेख प्राकृतों में लिखे पाए गए हैं। प्रायः ये सभी मध्यकाल के गिने जाते हैं, केवल गोरखपुर जिले के सोहगौरा के लेख को सुनीतिकुमार चटर्जी अशोक के पूर्व (ई० पू० चौथी सदी) का मानते हैं।

मध्ययुग के मध्यकाल के अंतर्गत जैन प्राकृतें और महाराष्ट्री आदि साहित्यिक प्राकृतें आती हैं। इस काल में प्राचीन युग की भाषा से भेद की मात्रा, मध्ययुग के आदिकाल से भी अधिक बढ़ गई है। संयुक्त व्यंजनों में केवल (क) अपने अपने अनुनासिक के बाद उस उस वर्ग का स्पर्शवर्ण, (ख) अनुनासिक या ल् के अनंतर ह् और (ग) व्यंजन की दीर्घ मात्रा (स्स, त्, प्प् आदि) शेष बचे हैं। दो स्वरों के बीच के स्पर्श का प्रायः लोप होना मध्यकाल की विशेषता है। (काकः > काओ, कति > कइ, पूप > पूओ)। सुनीतिकुमार चटर्जी का विचार है कि व्यंजन का यह ह्रास पहले अघोष से सघोष (क् > ग्) फिर सघोष से संघर्षी (ग् > ग) और तब लोप की अवस्थाओं के द्वारा आया है। इन संघर्षी ध्वनियों को व्यक्त करने का ब्राह्मी लिपि में कोई साधन नहीं था। इसी कारण प्राचीन लेखों में इनका व्यक्तीकरण नहीं मिलता। विद्वानों का विचार है कि जैन ग्रंथों में जो लघुप्रयत्नतर यकार (य) मिलता है वह ग ज द की संघर्ष अवस्था का द्योतक है। विभक्तियों में से चतुर्थी का प्रायः सर्वांश में लोप हो गया है। पंचमी का प्रयोग बहुत कम मिलता है। इसी प्रकार क्रिया में भी रूपबाहुल्य कम होता जा रहा है।

जैन प्राकृतों में प्रमुख आर्ष (अर्धमागधी) है। इसी में श्वेतांबर संप्रदाय के अंग (११) और उपांग (१२) आदि ४५ आगम ग्रंथ मिलते हैं। जैन मत का प्रादुर्भाव उसी प्रदेश (कोसल, वाराणसी, मगध आदि जनपदों) में हुआ जहाँ बौद्ध मत का। कहा जाता है, इनके धर्मग्रंथ कई सौ वर्ष तक मौखिक रहे। प्रथम बार इनका संकलन चंद्रगुप्त मौर्य के काल (चौथी सदी ई० पू०) में पाटलिपुत्र में हुआ और इनका संपादन पाँचवीं सदी में देवर्धिगणी ने किया। अन्य ग्रंथों की अपेक्षा अंगों की भाषा पुरानी है, तब भी ई० पू० चौथी सदी की भाषा किसी में नहीं मिलती। गठन में यह अर्धमागधी (शौरसेनी और मागधी के बीच की) जँचती है। श्वेतांबर संप्रदाय का अन्य (कथा आदि) साहित्य महाराष्ट्री (जैन महाराष्ट्री) में है। दिगंबर संप्रदाय का साहित्य जैन शौरसेनी में है। इन दोनों का रूप आर्ष से पुराना नहीं है।

साहित्यिक प्राकृतों के नामों से प्रकट है कि ये विभिन्न प्रांतों की लोकभाषाएँ थीं जो समय के अनुकूल साहित्यिक पदवी को प्राप्त कर अब तक बची रह सकीं। इनमें सबसे पुरानी सामग्री शौरसेनी में मिलती है।

शौरसेनी—संस्कृत के नाटकों में स्त्रियों तथा मध्यम वर्ग के पुरुषों की भाषा यही है। इससे जहाँ यह सिद्ध होता है कि नाटक का सर्वप्रथम विकास शौरसेनी प्रांत में हुआ वहाँ साथ ही साथ यह भी मालूम होता है कि अन्य प्राकृतों की अपेक्षा शौरसेनी का प्रसार अधिक विस्तृत क्षेत्र में था। अनुमान है यह संस्कृत, की समकक्ष परिनिष्ठित भाषा थी। इसमें ई० प्रथम सदी के लिखे हुए अश्वघोषकृत सारिपुत्त प्रकरण आदि तीन रूपक पाए गए हैं। इनकी भाषा उत्तरकालीन शौर-सेनी से कुछ भिन्न है किंतु वह है शौरसेनी ही। शौरसेनी का मुख्य लक्षण तवर्ग के विकास में पाया जाता है। दो स्वरों के बीच में सं० त थ का शौ० में द, ध हो जाता है, और दो स्वरों के बीच की द, ध ध्वनियों में कोई परिवर्तन नहीं होता, जैसे —

गच्छति > गच्छदि, यथा > जधा, जलदः > जलदो, क्रोधः > क्रोधो।

प्राकृतों में शौरसेनी के बाद महाराष्ट्री का स्थान है। यह काव्य और विशेषतया गीतिकाव्य है। जो स्थिति ब्रजभाषा की इधर कई सदियों तक रही है, वही महाराष्ट्री की ईसवी सन् के आरंभ से कई सदियों तक रही। संस्कृत के नाटकों में पद्य भाग यदि प्राकृत में मिलता है तो महाराष्ट्री में इसका साहित्य बहुत ऊँचा है। हालकृत गाथासप्तशती (गाहासतसई) और प्रवरसेन के सेतुबंध (रावणवहो) काव्य के टक्कर की कोई रचना संस्कृत वाङ्मय में भी नहीं मिलती।

महाराष्ट्री में दो स्वरों के बीच में आनेवाले अल्पप्राण स्पर्शवर्ण का लोप और महाप्राण का ह हो जाता था, तवर्ग का भी। ऊपर उद्धृत शब्दों के महाराष्ट्री रूप गच्छइ, जहा, जलओ और कोहो है। इस लक्षण के कारण कुछ यूरोपीय विद्वानों का विचार यह हुआ था कि यह काव्य की कृत्रिम भाषा रही होगी। पर निश्चय ही उनका यह भ्रम था। डा० ज्यूल्स ब्लाख ने मराठी का विकास महाराष्ट्री से होना साबित किया है। कालांतर में सभी भारतीय आर्यभाषाओं में स्वरद्वय के बीचवाले स्पर्शवर्ण लुप्त हो गए हैं। इससे इतना ही सिद्ध हो सकता है कि वैयाकरणों और नाटकों की शौरसेनी संभवतः उनकी महाराष्ट्री से गठन में पुरानी है। मनमोहन घोष का विचार है कि महाराष्ट्री शौरसेनी की उत्तरकालीन शाखा है, जिसे विद्वान् दक्षिण ले गए।

मागधी—यह मगध जनपद की भाषा थी। नाटकों में नीच पात्रों की भाषा यही है। सिंहल आदि बौद्ध देशों में पालि को ही मागधी कहते और

जानते हैं। पर इस मागधी प्राकृत से उसका कोई भी वास्तविक संबंध नहीं। मागधी के मुख्य लक्षण निम्नलिखित हैं :

(१) संस्कृत ऊष्म वर्णों के स्थान पर श (सप्त > शत)।

(२) र की जगह ल (राजा > लाजा)।

(३) अन्य प्राकृतों के ज् की जगह य् और ज्ज की जगह य्य (यथा याणादि अय्य, मय्य- कय्य)।

(४) ण्ण की जगह ञ्ञ (तुञ्ञ, लञ्ञो)।

(५) अकारांत संज्ञा के प्रथमा एकवचन में ओ की जगह ए (देवोः देवे) आदि है। ये पालि में जहाँ तहाँ अपवाद स्वरूप मिलते हैं, लक्षण स्वरूप नहीं। मागधी प्राकृत में साहित्य नहीं मिलता, इसका अस्तित्व व्याकरणों और नाटकों में ही है।

अर्धमागधी—इसकी स्थिति शौरसेनी और मागधी के बीच की मानी गई है। यह मुख्य रूप से जैन आदि धार्मिक साहित्य में काम आई है। अनुमान है कि बुद्ध भगवान् और महावीर स्वामी के समय में इसने यथेष्ट क्षमता प्राप्त कर ली थी। अशोक के लेखों की यही मूल भाषा समझी जाती है। इसमें मागधी के दो एक लक्षण, अकारांत संज्ञा के प्र० एक० के एकारांत रूप जहाँ तहाँ र् के स्थान पर ल् आदि मिलते हैं, किंतु इसमें स् है, श् नहीं।

पैशाची—इस प्राकृत में किसी समय प्रचुर साहित्य रहा होगा। गुणाढ्य की बृहत्कथा इसी में थी। यह अमूल्य ग्रंथ अब अप्राप्य है। इसके संस्कृत भाषा में किए हुए दो संक्षिप्त अनुवादों अर्थात् बृहत्कथामंजरी और कथासरित्सागर से ही बृहत्कथा के महत्त्व की सूचना मिलती है। पैशाची के लक्षण प्राकृत व्याकरणों में पाए जाते हैं। मुख्य लक्षण यह है कि संस्कृत शब्दों में दो स्वरों के बीच में आनेवाले सघोष स्पर्शवर्ण (वर्गों के तीसरे, चौथे वर्ण) अघोष (पहले दूसरे) हो जाते हैं, जैसे गगनं > गकनं, मेघो > मेखो, राजा > राचा, बारिदः > बारितो आदि।

इन प्रधान प्राकृतों के अतिरिक्त नाटकों में जहाँ तहाँ अन्य प्राकृतों के कुछ अवतरण और व्याकरणों में उनके कुछ लक्षण मिलते हैं। मृच्छकटिक में शाकारी, ढक्की और अन्यत्र शाबरी और चांडाली पाई जाती है। आभीरिका और आवंती का भी उल्लेख मिलता है। इनमें से प्रथम दो मागधी के ही कोई भेद हैं। शाबरी और चांडाली नामों से जातिविशेष की भाषा का भान होता है, पर ये भी कदाचित् मागधी की ही विशेष बोलियाँ थीं। इसी तरह आभीरिका अहीर जाति की बोली रही होगी। आवंती उज्जैन की प्राकृत थी।

साहित्यिक प्राकृतों के नामों से प्रकट है कि ये विभिन्न प्रांतों की लोकभाषाएँ थीं जो समय के अनुकूल साहित्यिक पदवी को प्राप्त कर अब तक बची रह सकीं। इनमें सबसे पुरानी सामग्री शौरसेनी में मिलती है।

शौरसेनी—संस्कृत के नाटकों में स्त्रियों तथा मध्यम वर्ग के पुरुषों की भाषा यही है। इससे जहाँ यह सिद्ध होता है कि नाटक का सर्वप्रथम विकास शौरसेनी प्रांत में हुआ वहाँ साथ ही साथ यह भी मालूम होता है कि अन्य प्राकृतों की अपेक्षा शौरसेनी का प्रसार अधिक विस्तृत क्षेत्र में था। अनुमान है यह संस्कृत की समकक्ष परिनिष्ठित भाषा थी। इसमें ई० प्रथम सदी के लिखे हुए अश्वघोषकृत सारिपुत्र प्रकरण आदि तीन रूपक पाए गए हैं। इनकी भाषा उत्तरकालीन शौरसेनी से कुछ भिन्न है किंतु वह है शौरसेनी ही। शौरसेनी का मुख्य लक्षण तवर्ग के विकास में पाया जाता है। दो स्वरों के बीच में सं० त थ का शौ० में द, ध हो जाता है, और दो स्वरों के बीच की द, ध ध्वनियों में कोई परिवर्तन नहीं होता, जैसे —

गच्छति > गच्छदि, यथा > जधा, जलदः > जलदो, क्रोधः > क्रोधो।

प्राकृतों में शौरसेनी के बाद महाराष्ट्री का स्थान है। यह काव्य और विशेषतया गीतिकाव्य है। जो स्थिति ब्रजभाषा की इधर कई सदियों तक रही है, वही महाराष्ट्री की ईसवी सन् के आरंभ से कई सदियों तक रही। संस्कृत के नाटकों में पद्य भाग यदि प्राकृत में मिलता है तो महाराष्ट्री में इसका साहित्य बहुत ऊँचा है। हालकृत गाथासप्तशती (गाहासतसई) और प्रवरसेन के सेतुबंध (रावणवहो) काव्य के टक्कर की कोई रचना संस्कृत वाङ्मय में भी नहीं मिलती।

महाराष्ट्री में दो स्वरों के बीच में आनेवाले अल्पप्राण स्पर्शवर्ण का लोप और महाप्राण का ह हो जाता था, तवर्ग का भी। ऊपर उद्धृत शब्दों के महाराष्ट्री रूप गच्छइ, जहा, जलओ और कोहो है। इस लक्षण के कारण कुछ यूरोपीय विद्वानों का विचार यह हुआ था कि यह काव्य की कृत्रिम भाषा रही होगी। पर निश्चय ही उनका यह भ्रम था। डा० ज्यूल्स ब्लाख ने मराठी का विकास महाराष्ट्री से होना सप्रमाण सिद्ध किया है। कालांतर में सभी भारतीय आर्यभाषाओं में स्वरद्वय के बीचवाले स्पर्शवर्ण लुप्त हो गए हैं। इससे इतना ही सिद्ध हो सकता है कि वैयाकरणों और नाटकों की शौरसेनी संभवतः उनकी महाराष्ट्री से गठन में पुरानी है। मनमोहन घोष का विचार है कि महाराष्ट्री शौरसेनी की उत्तरकालीन शाखा है, जिसे विद्वान् दक्षिण ले गए।

मागधी—यह मगध जनपद की भाषा थी। नाटकों में नीच पात्रों की भाषा यही है। सिंहल आदि बौद्ध देशों में पालि को ही मागधी कहते और

जानते हैं। पर इस मागधी प्राकृत से उसका कोई भी वास्तविक संबंध नहीं। मागधी के मुख्य लक्षण निम्नलिखित हैं :

(१) संस्कृत ऊष्म वर्णों के स्थान पर श (सप्त > शत)।

(२) र की जगह ल (राजा > लाजा)।

(३) अन्य प्राकृतों के ज् की जगह य् और ञ की जगह य्य (यथा याणादि अय्य, मय्य- कय्य)।

(४) ण्ण की जगह ञ्ञ् (तुञ्ञ, लञ्ञो)।

(५) अकारांत संज्ञा के प्रथमा एकवचन में ओ की जगह ए (देवोः देवे) आदि है। ये पालि में जहाँ तहाँ अपवाद स्वरूप मिलते हैं, लक्षण स्वरूप नहीं। मागधी प्राकृत में साहित्य नहीं मिलता, इसका अस्तित्व व्याकरणों और नाटकों में ही है।

अर्धमागधी—इसकी स्थिति शौरसेनी और मागधी के बीच की मानी गई है। यह मुख्य रूप से जैन आदि धार्मिक साहित्य में काम आई है। अनुमान है कि बुद्ध भगवान् और महावीर स्वामी के समय में इसने यथेष्ट क्षमता प्राप्त कर ली थी। अशोक के लेखों की यही मूल भाषा समझी जाती है। इसमें मागधी के दो एक लक्षण, अकारांत संज्ञा के प्र० एक० के एकारांत रूप जहाँ तहाँ र् के स्थान पर ल् आदि मिलते हैं, किंतु इसमें स् है, श् नहीं।

पैशाची—इस प्राकृत में किसी समय प्रचुर साहित्य रहा होगा। गुणाढ्य की बृहत्कथा इसी में थी। यह अमूल्य ग्रंथ अब अप्राप्य है। इसके संस्कृत भाषा में किए हुए दो संक्षिप्त अनुवादों अर्थात् बृहत्कथामंजरी और कथासरित्सागर से ही बृहत्कथा के महत्व की सूचना मिलती है। पैशाची के लक्षण प्राकृत व्याकरणों में पाए जाते हैं। मुख्य लक्षण यह है कि संस्कृत शब्दों में दो स्वरों के बीच में आनेवाले सघोष स्पर्शवर्ण (वर्गों के तीसरे, चौथे वर्ण) अघोष (पहले दूसरे) हो जाते हैं, जैसे गगनं > गकनं, मेघो > मेखो, राजा > राचा, वारिदः > वारितो आदि।

इन प्रधान प्राकृतों के अतिरिक्त नाटकों में जहाँ तहाँ अन्य प्राकृतों के कुछ अवतरण और व्याकरणों में उनके कुछ लक्षण मिलते हैं। मृच्छकटिक में शाकारी, ढकी और अन्यत्र शाबरी और चांडाली पाई जाती है। आभीरिका और आवंती का भी उल्लेख मिलता है। इनमें से प्रथम दो मागधी के ही कोई भेद हैं। शाबरी और चांडाली नामों से जातिविशेष की भाषा का भान होता है, पर ये भी कदाचित् मागधी की ही विशेष बोलियाँ थीं। इसी तरह आभीरिका अहीर जाति की बोली रही होगी। आवंती उज्जैन की प्राकृत थी।

(ख) हिंदी भाषा तथा संबंधित उपभाषाएँ

हिंदी शब्द का ऐतिहासिक विकास—हमारे पड़ोसी ईरानी भाई अनेक शताब्दियों से 'सिंधु' नदी के पूर्वी प्रदेश अर्थात् भारतवर्ष को अपने उच्चारण के स्वभाव के अनुसार 'हिंद' कहा करते हैं। इस प्रदेश के निवासियों अर्थात् भारतीयों को तथा उनकी मुख्य भाषा को वे 'हिंदवी' कहते रहे हैं, जिस प्रकार हमलोग 'ईरानी', 'चीनी' अथवा 'फ्रांसीसी' आदि शब्दों का प्रयोग इन देशों के निवासियों तथा उनकी भाषाओं दोनों के लिये करते हैं। 'हिंदी' शब्द के ये प्रयोग वर्तमान समय तक चल रहे हैं। भाषा के अर्थ में तो इस शब्द को अपने देश में पूर्णतया अपना लिया गया है। भारत के निवासियों के अर्थ में 'हिंदी' शब्द का प्रयोग अब अवश्य कम होता है, किंतु वह बिलकुल अप्रयुक्त भी नहीं है। महाकवि इकबाल की यह पंक्ति प्रसिद्ध है : 'हिंदी हैं हम, वतन है हिंदोस्ताँ हमारा।'

भारतवर्ष के लिये 'हिंदी' के साथ साथ आगे चलकर 'हिंदुस्तान' शब्द अधिक प्रयुक्त होने लगा। इन दोनों ही शब्दों का अर्थ धीरे धीरे सीमित हुआ। क्योंकि सुल्तानों और मुगलों के साम्राज्यों के केंद्र उत्तर भारत में थे, अतः 'हिंदी' तथा 'हिंदुस्तान' शब्द प्रधानतया उत्तर भारत के लिये प्रयुक्त होने लगे। अंत में तो यह प्रयोग उत्तर भारत के भी केवल मध्य भाग अर्थात् दिल्ली से भागलपुर तक की गंगा की घाटी तक सीमित रह गया। इस प्रदेश को प्राचीन काल में स्वयं भारतीय 'मध्यदेश' के नाम से पुकारते थे। आजकल इसे 'हिंदी प्रदेश' कहा जा सकता है। 'हिंदी तथा हिंदुस्तान' शब्दों का भी यह प्रयोग लगभग वर्तमान काल तक चलता रहा है। उदाहरणार्थ, सर जार्ज ग्रियर्सन ने अपने प्रसिद्ध 'वर्नाक्युलर लिटरेचर आव हिंदुस्तान' शीर्षक ग्रंथ में 'हिंदुस्तान' शब्द का प्रयोग समस्त भारत अथवा उत्तर भारत के लिये नहीं, बल्कि केवल हिंदी प्रदेश के लिये किया है।

'हिंद' अथवा 'हिंदुस्तान' शब्दों के अर्थों के सीमित होने के साथ साथ भाषा के द्योतक 'हिंदी', 'हिंदवी' अथवा 'हिंदुस्तानी' शब्दों का अर्थ भी सीमित हुआ। समस्त भारतीयों तथा उनकी प्रधान भाषा के स्थान पर इन शब्दों का प्रयोग पहले उत्तर भारत के निवासियों और उनकी प्रधान भाषा के लिये तथा अंत में ऊपर दिए हुए उत्तर भारत के मध्यभाग अर्थात् 'मध्यप्रदेश' अथवा भागलपुर तक की गंगा की घाटी के निवासियों तथा उनकी प्रधान भाषा के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। यह प्रधान भाषा स्वाभावतया दिल्ली के सुल्तानों अथवा मुगलों के दृष्टिकोण से पूर्वी पंजाब तथा दिल्ली के निकटवर्ती प्रदेश की बोली थी जिसका उपयोग वे सदियों से भारतीयों से बातचीत करने में करते रहे थे। यहाँ यह स्मरण दिलाना अनुचित न होगा कि सुल्तानों अथवा मुगलों की मातृभाषा प्रायः तुर्की थी

तथा धार्मिक भाषा अरबी। साहित्यचर्चा तथा शासन के कार्यों में ये लोग बराबर फारसी का प्रयोग करते थे। इस प्रकार 'जबान-ए-हिंदी' को ये लोग दरबार के बाहर देश के केवल मूल निवासियों से बातचीत करने के लिये प्रयुक्त करते थे। इसके व्याकरण का ढाँचा प्रधानतया दिल्ली मेरठ प्रदेश की समकालीन खड़ी बोली का था, किंतु शब्दसमूह में फारसी, अरबी, तुर्की शब्दों का अधिक मिश्रण स्वाभाविक था। 'जबान-ए-हिंदी' को उच्च काव्यचर्चा के लिये न सुल्तान और न मुगल उपयुक्त समझते थे, और न हिंदी प्रदेश के साहित्यिक अभिरुचि रखनेवाले भारतीय ही। हिंदी प्रदेश के निवासी अपने अपने प्रदेशों की बोलियों अथवा लोकभाषाओं में काव्यरचना करते थे जिनमें ब्रजभाषा, अवधी, डिंगल तथा मैथिली मुख्य थीं। इनमें भी प्रथम स्थान ब्रजभाषा को प्राप्त था। इन सबको कभी कभी व्यापक शब्द 'भाषा' से संबोधित किया जाता था।

उपर्युक्त 'हिंदी' अथवा 'हिंदवी' भाषा का साहित्य तथा राजकाज में प्रथम प्रयोग दक्षिण भारत के मुस्लिम राज्यों तथा सूफियों ने किया। गोलकुंडा, (वर्तमान हैदराबाद तथा बीजापुर आदि के मुस्लिम शासकों ने हिंदी को राजभाषा के रूप में अपनाया। इन राज्यों के शासकों ने स्वयं काव्यरचना की और 'हिंदवी' के कवियों को अपने दरबारों में संरक्षण दिया। दक्षिण में सूफीमत का प्रचार करने के लिये मुस्लिम सूफी फकीरों ने भी 'हिंदी' अथवा 'हिंदवी' का ही प्रयोग किया। 'हिंदी' अथवा 'हिंदवी' के दक्षिणी साहित्यिक रूप में कुछ विशेषताएँ मिलती हैं जिनके कारण इसको 'दकिनी' नाम भी दिया गया। दक्षिण के प्रसिद्ध सूफी कवि वली ने १७२० ई० के लगभग दिल्ली के मुशायरों में, जिनमें अबतक केवल फारसी रचनाएँ पढ़ी जाती थीं। पहले पहले हिंदी, हिंदवी अथवा दकिनी में लिखी अपनी रचनाएँ सुनाईं, जिनसे वहाँ के कवि तथा श्रोता दोनों ही बहुत प्रभावित हुए। इसका परिणाम यह हुआ कि दिल्ली के केवल फारसी लिखनेवाले कवि धीरे धीरे फारसी के साथ साथ 'हिंदी' या 'हिंदवी' में भी लिखने लगे। आगे चलकर तो ये फारसी छोड़कर केवल 'हिंदी' में ही रचना करने लगे।

अपने मूल प्रदेश दिल्ली में लौटने पर इस भाषा की शैली और नाम दोनों ही परिवर्तित हुए। अनगढ़ दकिनी हिंदी या हिंदवी ब्रजभाषा आदि के रूपों से मिश्रित, संस्कृत तत्सम और तद्भव शब्दों से युक्त, बोलचाल की शैली के अधिक निकट थी। दिल्ली के दरबारी कवियों ने दकिनी को परिष्कृत, साहित्यिक तथा टकसाली बनाने का यत्न किया। क्योंकि ये प्रारंभिक कवि मूलतः फारसी भाषा और साहित्य के विद्वान् तथा लेखक थे क्योंकि दिल्ली के दरबार में अभी भी फारसी ही राजभाषा थी अतः इन कवियों ने भारतीय शब्दावली और रूपों के स्थान पर अधिकाधिक फारसी शब्दों तथा रूपों से इसे बोझिल बनाया। प्रारंभ में इस भाषा

को ये लेखक भी 'हिंदी' या 'हिंदवी' ही कहते थे, किंतु फारसी शब्दों से मिश्रित इस नवीन शैली को रेख्ता के नाम से भी पुकारने लगे क्योंकि यह भाषा पहले से ही 'जबान-ए-उर्दू-ए-मोअल्ला-ए-शाहजहानाबाद दिल्ली' अर्थात् शाहजहाँ की बसाई दिल्ली की बड़ी छावनी (उर्दू) की भाषा थी। अतः आगे चलकर इसका नाम 'जबान-ए-उर्दू' अथवा 'उर्दू' भी पड़ गया। धीरे धीरे उत्तर भारत की इस नवीन शैली को 'हिंदी' या 'हिंदवी' के स्थान पर 'उर्दू' नाम से ही पुकारा जाने लगा और अब तो एक प्रकार से इसका वही एकमात्र नाम रह गया है। एक तरह से पुराने नाम—हिंदी, हिंदवी, दकिनी, रेख्ता आदि—लगभग भुला दिए गए हैं। यही नहीं, 'उर्दू' को उसका मूल नाम 'हिंदी' लेकर यदि कोई आज पुकारे तो इसे कुछ कुचक्र समझा जाएगा।

अंग्रेजों के शासनकाल में 'हिंदी' या 'उर्दू' को एक अन्य पुराना नाम 'हिंदुस्तानी' अवश्य फिर से दिया गया। यूरोपीय विद्वान् 'रेख्ता' या 'उर्दू' के स्थान पर प्रायः 'हिंदुस्तानी' कहना अधिक पसंद करते थे। उदाहरणार्थ, प्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान् गार्सां द तासी ने अपने प्रसिद्ध इतिहास के शीर्षक में इसी नाम का प्रयोग किया है—'इस्त्वार द ला लितेरात्यूर ऐंदुई ए ऐंदूस्तानी' में 'ऐंदूस्तानी' शब्द हिंदुस्तानी का ही फ्रेंच उच्चारण है। फोर्ट विलियम कालेज के अथवा सम-कालीन अन्य मिशनरी प्रकाशनों में 'हिंदुस्तानी' शब्द उर्दू का ही पर्यायवाची है। १९वीं शताब्दी में प्रकाशित प्रायः किसी 'हिंदुस्तानी रीडर', 'हिंदुस्तानी कोश' अथवा 'हिंदुस्तानी काव्यसंग्रह' को देखने से इसकी पुष्टि हो सकती है।

किंतु महात्मा गांधी ने तथा उनकी प्रेरणा से कांग्रेस महासभा के उनके अनुयायियों ने 'हिंदुस्तानी' शब्द का प्रयोग विशुद्ध उर्दू शैली के लिये नहीं बल्कि एक भिन्न अर्थ में किया है। 'हिंदुस्तानी' से उनका तात्पर्य आधुनिक साहित्यिक खड़ी बोली तथा सरल उर्दू के एक मिश्रित रूप से रहा है। उनका स्वप्न यह था कि यह शैली क्लिष्ट साहित्यिक उर्दू तथा साहित्यिक खड़ी बोली दोनों का स्थान भविष्य में ग्रहण कर सकेगी, और इसे समान रूप से उर्दू लिपि और देवनागरी में लिख सकना संभव हो सकेगा। महात्मा जी अपनी इस 'हिंदुस्तानी' को भाषा के क्षेत्र में उत्तर भारत की हिंदू मुसलमान जनता के मेल का प्रतीक समझते थे। वास्तव में विचार सुंदर था किंतु भारतवर्ष के पाकिस्तान तथा हिंदुस्तान ये दो टुकड़े होने के साथ महात्मा जी तथा उनके अनुयायी कांग्रेसियों का यह स्वप्न सदा के लिये भंग हो गया। उर्दू भाषा और लिपि पाकिस्तान की राजभाषा बनी, यद्यपि उसका असली घर पाकिस्तान के लाखों मुसलमान भाइयों के समान हिंदुस्तान में ही था—पाकिस्तान की जनता की भाषाएँ तो पंजाबी, सिंधी, पश्तो तथा बँगला हैं—और देवनागरी लिपि में लिखी जानेवाली साहित्यिक खड़ी बोली विधान में

भारतवर्ष की राजभाषा स्वीकृत हुई। भारत की हिंदू मुसलिम समस्या के न सुलझ सकने का भाषा के क्षेत्र में यह परिणाम अवश्यंभावी था।

'हिंदी' शब्द का ऐतिहासिक विकास यहीं पर समाप्त नहीं हुआ, बल्कि उसने एक अन्य नया रूप भी धारण किया। दिल्ली मेरठ की खड़ी बोली के आधार पर लगभग १२०० से १८०० ईसवी के बीच एक ओर हिंदी, हिंदवी, दकिनी, रेख्ता, उर्दू और हिंदुस्तानी नाम तथा कुछ भिन्न शैलियाँ विकसित हुईं जिनमें से अंत में 'उर्दू' नाम और शैली आदर्श समझी जाने लगी। साथ ही इस समस्त काल में खड़ी बोली प्रदेश की जनता के बीच समादृत रही और बोलचाल के लिये इस बोली का प्रयोग बराबर होता रहा, यद्यपि इस बोलचाल की शैली में भी भाषाविज्ञान के नियमों के अनुसार कुछ परिवर्तन होते रहे। इस मूल खड़ी बोली में कभी कभी साहित्यरचना भी होती रही, यद्यपि यह बोली ब्रजभाषा अथवा अवधी आदि के समकक्ष अपना साहित्य १८०० ई० तक विकसित नहीं कर सकी। १९वीं शताब्दी के प्रारंभ तक पहुँचते पहुँचते ब्रजभाषा, अवधी, मैथिली आदि प्रादेशिक भाषाशैलियों तथा साहित्यों की मूल प्रेरणा, जिसका आधार वैष्णव धर्म, दर्शन तथा जीवन का विशेष दृष्टिकोण था, क्षीण होकर लगभग समाप्त हो गई। इसके फलस्वरूप ये भाषाएँ पहले गद्य में और कुछ समय के उपरांत पद्य के लिये भी प्राणहीन सी दिखलाई पड़ने लगीं। पश्चिमी संपर्क के फलस्वरूप शेष भारत के साथ हिंदी प्रदेश में भी नए आदर्श, नई स्फूर्ति, नए काव्यरूप और नई आवश्यकताएँ आईं। कविता के साथ साथ गद्य साहित्य विशेष महत्वपूर्ण होने लगा। गद्य में भी केवल ललित साहित्य ही नहीं बल्कि प्रचुर मात्रा में उपयोगी विषयों के साहित्य की भी आवश्यकता दिन दिन बढ़ने लगी थी। हिंदी प्रदेश के स्कूलों की पुस्तकों तथा शिक्षामाध्यम के लिये भी एक सर्वसंमत भाषा की आवश्यकता थी। सूफियों के स्थानापन्न ईसाई मिशनरियों को भी एक टकसाली भाषा की जरूरत थी। छापेखाने के प्रचार के साथ पत्र-पत्रिकाओं का निकलना प्रारंभ हुआ। समस्त हिंदी प्रदेश में व्यापक प्रचार की दृष्टि से इन पत्रपत्रिकाओं को ब्रजभाषा, अवधी, बुंदेली, छत्तीसगढ़ी, मारवाड़ी आदि प्रादेशिक भाषाओं में न निकालकर हिंदीभाषी प्रदेश की किसी ऐसी भाषा में निकालना उचित समझा गया जो समान रूप से इसके समस्त उपभाषा प्रदेशों में चल सके। १२०० से १८०० ईसवी तक की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि ने यह स्पष्ट कर दिया था कि हिंदी प्रदेश के समस्त भाषारूपों में ब्रजभाषा के बाद यदि कोई अन्य प्रादेशिक लोकप्रिय बोली है, जिसका भविष्य हो सकता है, तो वह खड़ी बोली है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, दिल्ली मेरठ प्रदेश में तो लाखों की संख्या में जनता इसे जीवित बोली के रूप में बोलती ही थी, साथ ही इस बोली पर आधारित 'हिंदी', 'हिंदवी', 'रेख्ता' और 'उर्दू' की धाराएँ काव्य के क्षेत्र में काफी

विकसित हो चुकी थीं। उर्दू का एक सरल रूप, जिसे अक्सर 'हिंदुस्तानी' कह दिया जाता था, उत्तर भारत के समस्त नगरों में बंबई से कलकत्ता तक और दिल्ली से हैदराबाद तक बोलचाल के लिये प्रयुक्त होने लगा था। देश के नए अंग्रेजी शासकों ने भी आधुनिक भारतीय भाषाओं में व्यावहारिक दृष्टि से इसी को संरक्षण देना प्रारंभ किया था।

उपर्युक्त परिस्थिति को समझकर हिंदी प्रदेश के पढ़े लिखे लोगों का विशेष ध्यान १८०० ई० के बाद खड़ी बोली की ओर गया। इस बोली पर आधारित उर्दू शैली भारतीय परंपराओं से लिपि, भाषा और साहित्य सभी क्षेत्रों में बहुत दूर हो गई थी। उसको ज्यों का त्यों ग्रहण करना संभव नहीं था। फलस्वरूप खड़ी बोली की एक नई साहित्यिक शैली का तेजी से विकास प्रारंभ हुआ जिसके लिये भारतीय देवनागरी लिपि को ही अपनाया गया। इसके शब्दसमूह का झुकाव परंपरागत संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश शब्दावली की ओर विशेष था, यद्यपि फारसी, अरबी, तुर्की, अंग्रेजी, फ्रांसीसी आदि विदेशी उद्गम के शब्दों का भी आवश्यकतानुसार स्वतंत्रता से प्रयोग किया जाता था। हिंदी प्रदेश की जनता ने शिक्षा, साहित्य, शासन आदि की आवश्यकताओं के लिये खड़ी बोली की इस शैली को तुरंत ग्रहण कर लिया। १८०० ई० के बाद इस खड़ी बोली शैली ने तेजी से जनता के बीच ब्रजभाषा का स्थान ग्रहण कर लिया—१६वीं शताब्दी में गद्य के क्षेत्र में और २०वीं शताब्दी में पद्य के क्षेत्र में भी। इस शैली के प्रारंभिक निर्माताओं में स्वामी प्राणनाथ, स्वामी लालदास, रामप्रसाद निरंजनी, मुंशी सदासुखलाल तथा सदल मिश्र का नाम लिया जा सकता है। १६वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में इसके विशेष विकास का श्रेय भारतेंदु हरिश्चंद्र और उनके समकालीन अन्य लेखकों और पत्रकारों जैसे प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट आदि को है। समकालीन धार्मिक और सामाजिक सुधारकों में गुजरात निवासी स्वामी दयानंद सरस्वती ने संस्कृत को छोड़कर और हिंदी को अपनाकर आर्यसमाज के द्वारा इसका विशेष प्रचार किया। २०वीं शताब्दी में पहुँचते पहुँचते महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनके समकालीन लेखकों ने इसको और अधिक परिमार्जित किया।

एक समस्या इस नई साहित्यिक खड़ी बोली शैली के नाम की थी। स्वामी दयानंद सरस्वती ने उसे 'आर्यभाषा' नाम दिया था, किंतु यह नाम चल नहीं सका। प्रारंभ में कुछ दिन इसे खड़ी बोली नाम से पुकारा जाता रहा किंतु यह वास्तव में दिल्ली, मेरठ प्रदेश की बोलचाल की खड़ी बोली से काफी भिन्न होती जा रही थी। यूरोपीय लोग कभी कभी इसे 'हिंदुई' नाम से पुकारते थे, अर्थात् उत्तर भारत के हिंदुओं की प्रधान साहित्यिक भाषा। उदाहरणार्थ तासी ने अपने

इतिहास ग्रंथ में इसी नाम का प्रयोग किया है। खड़ी बोली की प्राचीन साहित्यिक शैली का 'हिंदी' नाम इस प्रकार से खाली था, क्योंकि १६वीं शताब्दी के उर्दू लेखक अब अपनी भाषाशैली को एकमात्र उर्दू नाम से पुकारने लगे थे, अतः 'हिंदी' की प्रधान भाषा के दावे की दृष्टि से इसी परंपरागत नाम 'हिंदी' को इस नई शैली के लिये अपना लिया गया। फलस्वरूप 'हिंदी भाषा' का नया अर्थ अब १४वीं १५वीं शताब्दी की खड़ी बोली की साहित्यिक शैली न होकर १६वीं २०वीं शताब्दी की यह नवनिर्मित साहित्यिक खड़ी बोली हो गया और अब इसी विशेष अर्थ में यह शब्द एक प्रकार से रूढ़ हो.गया है।

'हिंदी' शब्द के अनेक प्रचलित अर्थ

साधारणतया 'हिंदी' शब्द आजकल उपर्युक्त विशेष अर्थ में ही प्रयुक्त होने लगा है। भारतीय संविधान ने भी इसे इसी अर्थ में ग्रहण किया है। किंतु भाषा-विज्ञान के ग्रंथों में और साहित्यिक ग्रंथों में भी, इसका प्रयोग मिले जुले कुछ अन्य अर्थों में अब भी चल रहा है। ये मुख्य भिन्न भिन्न प्रयोग निम्नलिखित हैं :

१. सर्वसाधारण तथा हिंदी लेखकों और पाठकों के बीच 'हिंदी' शब्द का प्रयोग प्राचीन मध्यदेश अथवा हिंदी प्रदेश के समस्त आधुनिक भाषारूपों के लिये होता है और इन सबमें लिखा साहित्य हिंदी साहित्य के नाम के अंतर्गत आता है। उदाहरण के लिये यदि आप कोई 'हिंदी साहित्य का इतिहास' देखें तो पाएँगे कि उसमें खड़ी बोली के साहित्य के अतिरिक्त, ब्रजभाषा, अवधी, मैथिली तथा डिंगल साहित्यों का इतिहास भी संमिलित रूप में दिया गया है। भारतीय हिंदी परिषद् द्वारा १९५६ में प्रकाशित 'हिंदी साहित्य' द्वितीय खंड में तो उपर्युक्त भाषा-धाराओं के साहित्यों के अतिरिक्त हिंदवी अथवा दकिनी साहित्य, उर्दू साहित्य और पंजाबी साहित्य के इतिहासों को भी संमिलित कर लिया गया है। दूसरे शब्दों में, हिंदी साहित्य के इतिहासों के अनुसार मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, पंत आदि तो हिंदी भाषा के कवि हैं ही, साथ ही कबीर, सूरदास, तुलसीदास, जायसी, विद्यापति और डिंगल के प्रसिद्ध काव्य 'वेलि किसन रुकमिणी री' के लेखक पृथ्वीराज राठौड़ भी हिंदी भाषा के लेखक माने गए हैं, और परिषद् के 'हिंदी साहित्य' के अनुसार उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त ख्वाजा बंदेनेवाज, कुली कुतुबशाह, वजही, वली, मीर, सौदा, गालिब और गुरु नानक तथा गुरु गोविंदसिंह को भी हिंदी कवियों की सूची में रखा गया है।

२. सर जार्ज ग्रियर्सन ने 'लिंग्विस्टिक सर्वे आव् इंडिया' में हिंदी भाषा का क्षेत्र गंगा की घाटी में पूर्व में लगभग इलाहाबाद तक ही माना है। राजस्थानी, पहाड़ी तथा बिहारी को उन्होंने भिन्न स्वतंत्र भाषाएँ माना है। हिंदी के भी वे दो

भिन्न रूप मानते हैं जिन्हें उन्होंने एक प्रकार से दो मिलती जुलती किंतु स्वतंत्र भाषाएँ माना है। इनमें से एक को वे 'पश्चिमी हिंदी' और दूसरी को 'पूर्वी हिंदी' कहते हैं। वास्तव में ग्रियर्सन की इन दो हिंदियों अर्थात् पश्चिमी हिंदी तथा पूर्वी हिंदी भाषाओं के कोई निश्चित स्वरूप नहीं हैं बल्कि ये कुछ मिलती जुलती बोलियों के समूह मात्र हैं। खड़ी बोली, हरियानी, अथवा बाँगरू, व्रज, कन्नौजी तथा बुंदेली के समूह को उन्होंने 'पश्चिमी हिंदी' तथा अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी के समूह को 'पूर्वी हिंदी' नाम दिया है।

३. हिंदी भाषा के संबंध में नवीनतम विचार हमें १९५८ में मद्रास से प्रकाशित 'लैंग्वेजेज आव इंडिया' में सुनीतिकुमार चैटर्जी का मिलता है। उन्होंने 'हिंदी' नाम ग्रियर्सन की केवल 'पश्चिमी हिंदी' की बोलियों के समूह को दिया है। इसके बोलनेवालों की संख्या उन्होंने ४०-५० लाख दी है। शेष हिंदी प्रदेश में उन्होंने निम्नलिखित स्वतंत्र भाषाएँ-बोलियाँ नहीं-मानी हैं—१. मैथिली (१-१०), २. मागधी (०-७०) ३. भोजपुरी (२-१०), ४. कोसली अर्थात् ग्रियर्सन की पूर्वी हिंदी (२-३०), ५. राजस्थानी (१-४०)- ६. भीली (०-२०), ७. मध्य पहाड़ी (०-१०), ८. पश्चिमी पहाड़ी (०-१०), ९. हलबी अर्थात् बस्तर की भाषा (०-२०)।

जो आपत्ति ग्रियर्सन की पश्चिमी और पूर्वी हिंदियों के संबंध में ऊपर उठाई गई है, उसी प्रकार की कठिनाई चैटर्जी के केवल पश्चिमी बोलियों के समूह को हिंदी कहने से होती है, अर्थात् हिंदी भाषा किसी एक निश्चित शैली का नाम नहीं रह जाता, बल्कि मिलती जुलती पाँच बोलियों के समूह का नाम होता है।

४. हिंदी के संबंध में भारतीय विधान में हिंदी का जो अर्थ लिया गया है, वह कदाचित् सबसे अधिक वैज्ञानिक तथा व्यावहारिक है। विधान ने भारत में १४ प्रतिनिधि भाषाएँ मानी हैं। प्राचीन और मध्ययुगीन भाषाओं में केवल संस्कृत को मान्यता दी गई है। पाली, प्राकृतों अथवा अपभ्रंशों को बहुत महत्वपूर्ण न समझकर उन्हें संमिलित नहीं किया गया है। शेष १३ भाषाओं में तीन पूर्व भारत की, ४. तमिल, ५. मलयालम, ६. तेलगू, ७. कन्नड़ और ८. मराठी एक पश्चिमी भारत की, ९. गुजराती (सिंधी भाषा प्रदेश पाकिस्तान में चला गया है) और दो पश्चिमोत्तर भारत की हैं, १०. पंजाबी और ११. काश्मीरी। इन ग्यारह भाषाओं के बाद दो भाषाएँ शेष रह जाती हैं, अर्थात् १२, उर्दू और १३. हिंदी। इनमें हिंदी भाषा का अर्थ देवनागरी लिपि में लिखी साहित्यिक खड़ी बोली से है और इसे निम्नलिखित राज्यों की राजभाषा माना गया है—१. हिमाचल प्रदेश, २. पंजाब (पंजाबी के साथ) ३. दिल्ली (उर्दू के साथ), ४. राजस्थानी, ५. उत्तर प्रदेश, ६. मध्यप्रदेश, और ७. बिहार। इन

प्रदेशों में जो अन्य स्थानीय उपभाषाएँ अथवा बोलियाँ हैं उनको विधान की भाषा-सूची में मान्यता नहीं दी गई है। इस प्रकार विधान के अनुसार हिंदीभाषी प्रदेश की जनसंख्या उपर्युक्त राज्यों की संमिलित जनसंख्या होगी, जो १६५१ की जन-गणना के अनुसार लगभग १६ करोड़ बैठती है।

हिंदी प्रदेश की उपभाषाएँ

यद्यपि विधान ने समस्त हिंदी प्रदेश में केवल एक प्रतिनिधि भाषा को मान्यता दी है तथापि ऐसा नहीं है कि इस विशाल भूमिभाग में अन्य महत्वपूर्ण उपभाषाएँ अथवा बोलियाँ न हों। वास्तव में इस प्राचीन मध्यदेश अथवा वर्तमान हिंदी प्रदेश की जनता, विशेषतया ग्रामों में रहनेवाली, एक दर्जन से भी अधिक उपभाषाएँ बोलती है और इनमें से कुछ तो प्राचीन साहित्यिक परंपराएँ रखनेवाली भाषाएँ हैं। ग्रियर्सन तथा चटर्जी आदि भाषाविज्ञान के पंडितों ने इनमें से कुछ को हिंदी की बोलियाँ (Dialects of Hindi) कहा और इन विद्वानों का अनुसरण करके भारतीय भाषाओं से संबंधित समस्त ग्रंथों में इस विचार का समावेश हुआ। हिंदी प्रदेश की उपभाषाओं को हिंदी की बोलियाँ कहना वास्तव में अवैज्ञानिक है। यदि हिंदी का अर्थ केवल साहित्यिक खड़ी बोली लिया जाए तो व्रजभाषा, बुंदेली, अवधी छत्तीसगढ़ी अथवा मारवाड़ी, भोजपुरी आदि को इस साहित्यिक खड़ी बोली हिंदी की बोलियाँ मानना भाषाविज्ञान के सिद्धांतों के अनुसार अशुद्ध होगा। जैसा ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, 'हिंदी' शब्द का प्रयोग पश्चिमी अथवा पूर्वी हिंदी बोलियों के समूह के लिये करना भी अवैज्ञानिक है। इन्हें हिंदी प्रदेश की पश्चिमी बोलियों अथवा पूर्वी बोलियों का समूह तो कहा जा सकता है, क्योंकि प्रत्येक समूह की बोलियों में आपस में कुछ साम्य अवश्य है, किंतु बोलियों के वर्गों अथवा समुदायों को एक भाषा कैसे कहा जा सकता है। ऐसी स्थिति में इन्हें हिंदी प्रदेश की उपभाषा कहना ही उचित और वैज्ञानिक दृष्टिकोण होगा। कुछ साम्यों के आधार पर इन्हें वर्गीकृत अवश्य कर सकते हैं।

हिंदी प्रदेश की मुख्य उपभाषाओं की सूची तथा उनका प्रस्तावित वर्गीकरण नीचे दिया जा रहा है :

क–बिहारी वर्ग

१–मैथिली

२–मगही

३–भोजपुरी

ख–पूर्वी वर्ग
४–अवधी-बघेली
५–छत्तीसगढ़ी

ग—पश्चिमी वर्ग
६–खड़ी बोली—हरियानी
७–ब्रजभाषा—कन्नौजी
८–बुंदेली

घ–राजस्थानी वर्ग
९–जयपुरी
१०–मेवाती-अहीरवाटी
११–मेवाड़ी-मारवाड़ी
१२–मालवी

ङ–पहाड़ी वर्ग
१३–गढ़वाली-कुमायूँनी
१४–हिमाचल प्रदेश की बोलियाँ

च–मिश्रित वर्ग
१५–भीली
१६–हलबी (बस्तर प्रदेश की बोली)

हिंदी प्रदेश की उपर्युक्त समस्त उपभाषाओं में अत्यंत सुंदर लोकसाहित्य सुरक्षित है। इसे अशिक्षित जनता के मौखिक साहित्य की परंपरा कहा जा सकता है। यह संकलित और प्रकाशित किया जा रहा है तथा इसका आलोचनात्मक अध्ययन भी हो रहा है। वास्तव में हिंदी प्रदेश की उपभाषाओं में सुरक्षित जीवित लोकसाहित्य के संकलन, प्रकाशन और अध्ययन के कार्य को अधिक बड़े पैमाने पर तथा अधिक वैज्ञानिक ढंग से करने की आवश्यकता है। उत्तर प्रदेश सरकार ने इस कार्य के लिये एक 'लोक-साहित्य-समिति' अवश्य बनाई थी, किंतु अपने देश में तो अबतक सरकारी समितियों के कार्य के पीछे उत्साह, प्रेरणा और लगन की प्रायः कमी होती है। फलस्वरूप यह समिति अभी तक इस क्षेत्र में कोई विशेष कार्य नहीं कर सकी है। आवश्यकता इस बात की है कि समस्त हिंदी प्रदेश की एक केंद्रीय 'लोक-साहित्य-समिति' हो और इसकी शाखाएँ उपर्युक्त सोलहों उपभाषाओं के प्रदेशों में होनी चाहिए। इनके केंद्र इन उपभाषाओं के प्रदेशों के विश्वविद्यालयों के हिंदी विभागों में रखे जा सकते हैं। विशेषज्ञ कार्यकर्ताओं तथा विषय से संबंधित पुस्तकालयों और अच्छी प्रयोगशालाओं पर थोड़ा ही व्यय

करने से इस प्रकार की व्यवस्था से परिणाम बहुत अधिक हो सकता है। उदाहरणार्थ, अवधी उपभाषा तथा लोकसाहित्य का अध्ययन करने के लिये लखनऊ विश्वविद्यालय में, भोजपुरी के अध्ययन के लिये गोरखपुर में, ब्रजभाषा के अध्ययन के लिये आगरा विश्वविद्यालय में, राजस्थानी वर्ग की उपभाषाओं के अध्ययन के लिये राजस्थान विश्वविद्यालय में 'लोक-साहित्य-समिति' प्रादेशिक केंद्र खोल सकती है। एक बार समस्त मौलिक लोकसाहित्य, चाहे वह गद्य में हो अथवा पद्य में, 'टेप' पर रिकार्ड कर लिया जाना चाहिए। इसके बाद इसका अध्ययन सुविधानुसार चलता रह सकता है।

हिंदी प्रदेश की उपर्युक्त समस्त उपभाषाएँ लोकभाषा तथा लोकसाहित्य की दृष्टि से तो महत्व रखती ही हैं, किंतु कुछ तो नागरिक साहित्यपरंपरा की दृष्टि से भी अत्यंत महत्वपूर्ण रही हैं। ऐसी मुख्य उपभाषाएँ पश्चिमी वर्ग में खड़ी बोली और ब्रजभाषा, पूर्वी वर्ग में अवधी, बिहारी वर्ग में मैथिली तथा राजस्थानी वर्ग में मारवाड़ी हैं। साहित्य में प्रयुक्त होनेवाली मध्यकालीन मारवाड़ी को ही डिंगल का नाम दिया गया था। उपर्युक्त समस्त भाषाओं में प्रधानतया पद्य साहित्य मिलता है, यद्यपि कुछ गद्य साहित्य भी लिखा गया था। हिंदी प्रदेश के मध्ययुगीन साहित्य की मुख्य प्रेरणा धार्मिक थी और उसमें भी भक्ति आंदोलनों के फलस्वरूप अधिकांश साहित्य की रचना हुई। सधुक्कड़ी खड़ी बोली में लिखनेवाले कबीर, ब्रजभाषा में लिखनेवाले सूरदास, मारवाड़ी की प्रसिद्ध भक्त गायिका मीरा, अवधी में लिखनेवाले जायसी और तुलसीदास, तथा मैथिली में पदरचना करनेवाले प्रसिद्ध संस्कृत लेखक विद्यापति के नामों से समस्त हिंदीसंसार अच्छी तरह परिचित है। इन उपभाषाओं की ये साहित्यिक परंपराएँ वर्तमान काल में भी क्षीण रूप में चल रही हैं किंतु इन समस्त उपभाषाओं के लेखकों की प्रतिभा का मुख्य माध्यम अब साहित्यिक खड़ी बोली हिंदी हो गया है। भारतेंदु, प्रसाद और प्रेमचंद की मातृभाषा भोजपुरी थी, महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्रीधर पाठक तथा मिश्रबंधुओं की अवधी थी, पंत की मातृभाषा कुमायूँनी है, मैथिलीशरण गुप्त तथा वृंदावनलाल वर्मा की बुंदेली है, किंतु इन सबने शिष्ट साहित्य के माध्यम के लिये साहित्यिक खड़ी बोली हिंदी को अपनी रचनाओं के लिये अपनाना उचित समझा।

हिंदी तथा हिंदी प्रदेश की उपभाषाओं का अन्योन्य संबंध

हिंदी तथा हिंदी प्रदेश की उपभाषाओं के अन्योन्य संबंध के विषय में प्रायः दो विरोधी विचारधाराएँ मिलती हैं। कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि जैसे जैसे इस प्रदेश में शिक्षा का प्रसार होगा वैसे वैसे उपभाषाओं को लोग छोड़ते जाएँगे

और धीरे धीरे एक समय ऐसा आएगा कि एकमात्र साहित्यिक खड़ी बोली हिंदी ही समस्त हिंदी प्रदेश में रह जाएगी और प्रादेशिक उपभाषाएँ लुप्त हो जाएँगी। वास्तव में इतने बड़े प्रदेश में १६ करोड़ जनता के बीच भाषा का एक ही मानक रूप चलना तथा प्रादेशिक रूपों का नष्ट हो जाना भाषाविज्ञान के सिद्धांतों के अनुसार संभव नहीं है। संसार के किसी भी अन्य भाग में ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता है। जिन देशों में साक्षरता लगभग शत-प्रति-शत तक है उनमें भी देश के भिन्न भिन्न भागों में 'पैतोआस' (Patois) अर्थात् प्रादेशिक ग्रामीण बोलियाँ भी बोली जाती हैं। अधिक संभावना यही है कि हिंदी भाषा के शिक्षा, शासन आदि का माध्यम बन जाने से उपभाषाओं पर उसका पर्याप्त प्रभाव अवश्य पड़ेगा, किंतु कुछ परिवर्तित रूप में हिंदी प्रदेश की ये उपभाषाएँ भी चलती रहेंगी।

एक दूसरी विचारधारा इस प्रकार की भी रही है कि हिंदी प्रदेश की प्रत्येक उपभाषा का अपने प्रदेश में उसी प्रकार उपयोग होना चाहिए और उसका वही स्थान रहना चाहिए जैसे भारत के अन्य भाषाप्रदेशों में उन प्रदेशों की भाषा का है। दूसरे शब्दों में, भारतीय संविधान में १४ प्रतिनिधि भाषाओं के स्थान पर १४+१६ अर्थात् ३० भाषाएँ स्वीकृत होनी चाहिए। इस प्रकार का आंदोलन हिंदी प्रदेश में पूर्वी तथा पश्चिमी सीमांत प्रदेशों अर्थात् मिथिला और मारवाड़ से प्रारंभ हुआ था। भारतवर्ष के कुछ अन्य भाषाभाषी भी जिनके भाषापरिवार एक अथवा अधिक से अधिक दो तीन भाषा इकाइयों के हैं, हिंदी प्रदेश की १६ उपभाषाओं का विशाल संमिलित परिवार देख नहीं पाते और वे हिंदी प्रदेश के यह विचारधारा रखनेवाले वर्ग को बराबर प्रोत्साहित करते रहे हैं। भोजपुरी आदि कई उपभाषा प्रदेशों के लोगों को यह समझाया गया कि संमिलित भाषापरिवार में तुम्हें कष्ट ही होगा, दबकर रहना पड़ेगा, अतः अपना घर अलग क्यों नहीं कर लेते। लोकगीत, लोककथाएँ अथवा काव्यरचना की बात भिन्न होती है। किंतु व्यावहारिक दृष्टि से हिंदी प्रदेश की समस्त १६ भाषाओं में ज्ञान विज्ञान से संबंधित असीम आधुनिक साहित्य विकसित करना सरल नहीं है। इसमें जितनी जनशक्ति और धनशक्ति लगेगी और जितना समय लगेगा उसपर विस्तार से विचार नहीं किया गया है। साहित्यिक हिंदी को संमिलित शक्ति से विकसित करने में सबका हित है।

वास्तव में उचित मार्ग मध्य का है, और उसी का अनुसरण करना श्रेयस्कर होगा। प्रत्येक उपभाषा को अपने प्रदेश में बनी रहने और विकसित होने के संबंध में कोई भी बाधा नहीं होनी चाहिए। उसके लोकसाहित्य तथा शिष्ट साहित्य की पूर्ण रक्षा होनी चाहिए, उसका संकलन किया जाना चाहिए, अध्ययन होना

चाहिए और पठनपाठन के पूर्ण सुभीते होने चाहिए। किंतु हिंदी प्रदेशों के राज्यों, कचहरियों तथा हाईकोर्टों आदि में शासन की भाषा के रूप में, स्कूल, कालेज तथा विश्वविद्यालयों में शिक्षा के माध्यम के रूप में तथा पत्रपत्रिकाओं की प्रधान भाषा के रूप में केवल साहित्यिक हिंदी को ही चलाना उचित और हितकर है। दूसरे शब्दों में, भाषा संबंधी जो स्थिति आज चल रही है उसी को सुदृढ़ करने का यत्न होना चाहिए।

यदि भारतवर्ष के पुराने इतिहास को देखा जाए तो मध्यदेश में इस प्रकार की भाषा संबंधी स्थिति सदा से चलती आई है। वैदिक काल से अपभ्रंश काल तक इस प्रदेश में अनेक प्रादेशिक भाषारूप रहे, साथ ही इन रूपों में से एक को समस्त मध्यदेश की प्रतिनिधि भाषा के रूप में भी माना जाता रहा। भिन्न भिन्न कालों में वैदिक भाषा, संस्कृत, पाली, शौरसेनी प्राकृत तथा अवहट्ट इसी प्रकार के प्रतिनिधि भाषारूप थे; यहाँ तक कि सुल्तानों और मुगलों के साम्राज्यकाल तक में हिंदी प्रदेश की जनता की प्रतिनिधि साहित्यिक भाषा एक ब्रजभाषा ही थी। यह भी ऐतिहासिक सत्य है कि मध्यदेश की यही प्रतिनिधि साहित्यिक भाषा समस्त भारतवर्ष की भी प्रतिनिधि साहित्यिक भाषा रही है। वैदिक भाषा, संस्कृत, पाली, शौरसेनी प्राकृत, अवहट्ट तथा ब्रजभाषा, मध्यदेश की प्रतिनिधि भाषाएँ होने के साथ साथ समस्त भारतवर्ष की भी अपने अपने काल में प्रतिनिधि साहित्यिक भाषाएँ रही हैं। इसी प्रकार आधुनिक काल में साहित्यिक हिंदी, हिंदी प्रदेश की मुख्य भाषा होने के साथ समस्त देश की भी राजभाषा स्वीकृत हो चुकी है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि हिंदी प्रदेश की मिलती जुलती १५, १६ उपभाषाओं का एक संमिलित भाषापरिवार है जिसमें आधुनिक काल में स्वयं परिवार के सदस्यों ने साहित्यिक खड़ी बोली हिंदी को इस परिवार की मुखिया के रूप में चुन लिया है। हिंदी भाषा इस प्रकार इस संमिलित परिवार की प्रतिनिधि भाषा मात्र है। इस भाषापरिवार के प्रत्येक अन्य सदस्य का अपना व्यक्तित्व है तथा अपने क्षेत्र में उसका अपना स्वतंत्र स्थान है। जिस प्रकार भारतवर्ष के १३ भाषाप्रदेशों में अंतरराज्य तथा केंद्रीय कार्यों के लिये हिंदी को राज्यभाषा के रूप में चुन लिया गया, ठीक उसी प्रकार छोटे पैमाने पर हिंदी प्रदेश के इन १६ उपभाषा के प्रदेशों ने भिन्न भिन्न उपभाषाएँ बोलनेवालों के अन्योन्य व्यवहार के लिये तथा समस्त हिंदी प्रदेश की उपभाषाओं के प्रतिनिधि के रूप में भी हिंदी को चुन लिया है।

प्रथम खंड

हिंदी ध्वनियाँ तथा उनका इतिहास

हिंदी ध्वनियों का वर्णन

दृष्टिकोण और परिचय

हिंदी ध्वनियों का वर्णन

दृष्टिकोण और परिचय

§ १. आधुनिक हिंदी ध्वनियों के विकास का मूल रूप हमें वैदिक तथा संस्कृत के प्राचीन ध्वनिसमूह में मिलता है। तदनंतर उनके विकासक्रम का आभास पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंशों में पाया जाता है; परंतु किसी विशेष ध्वनि के विकास के विविध रूप एक क्रम से इन सबमें निश्चय ही प्राप्त हों, ऐसी बात नहीं है। वस्तुतः पश्चिम में पंजाब से लेकर पूर्व में बिहार तक तथा उत्तर में हिमालय प्रदेश से लेकर दक्षिण में राजस्थान और मध्यप्रदेश तक का जो विस्तीर्ण भूभाग आज हिंदी-भाषा-भाषी जनसमूह का केंद्र है, उसमें किसी निश्चित काल में जनसाधारण की सामान्य बोली के रूप में प्राकृत या अपभ्रंश का कोई एक ही अभिन्न स्वरूप तो प्रचलित नहीं था। विभिन्न प्रदेशों में प्राकृत तथा अपभ्रंश के विविध रूप थोड़े बहुत अंतरों के साथ व्यवहृत थे। उनमें भी बोलचाल के जो रूप प्रचलित रहे होंगे, जिनसे हिंदी तथा अन्य आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का विकास हुआ, उनका कोई विश्वसनीय प्रमाण आज उपलब्ध नहीं है। व्याकरणों तथा लिखित ग्रंथों में उनके जो रूप मिलते हैं, उनका संबंध उनके परिमार्जित साहित्यिक रूपों से है। इसके अतिरिक्त सैकड़ों वर्षों से विभिन्न क्षेत्रों में व्यवहृत बोलचाल के रूपों में पारस्परिक आदान प्रदान और मिश्रण निर्बाध गति से होते गए हैं। हिमालय और विंध्याचल के बीच इस विस्तृत भूखंड में किसी दुर्लंघ्य भौगोलिक विभाजनसीमा का अभाव था। इसके अलावा एक ही प्रदेश कभी इस राज्य का अंग रहा तो कभी उस राज्य का। साधुसंतों और फकीरों की रमती हुई मंडलियाँ तथा उनकी लोकप्रिय बानियाँ, दूर दूर के भारतीय तीर्थयात्रियों के आवागमन, व्यापारिक तथा वैवाहिक संबंध, विशाल सेनाओं का अतिक्रमण, घूमते हुए चारणों और भाटों की लोकगाथाएँ तथा भ्रमणशील कथावाचकों के प्रवचन बोलचाल की भाषाओं को बराबर स्वाभाविक मिश्रण की प्रक्रिया द्वारा प्रभावित करते रहे हैं। यह मिश्रण या भाषायी समन्वय एक प्रबल तथा व्यापक केंद्राभिसारी एवं आदर्शोन्मुख प्रवृत्ति से अनुप्राणित था। फलतः एक सांस्कृतिक लोकभाषा के रूप में हिंदी का उत्तरोत्तर विकास होता गया। इसी कारण ऐतिहासिक दृष्टि से हिंदी का संबंध किसी निश्चित काल की किसी एक विशेष प्राकृत या अपभ्रंश के किसी एक विशेष रूप से जोड़ना संभव नहीं है। उसमें एक ही साथ विभिन्न बोलियों की ध्वनियों के विविध रूप प्रचुरता

गया है। हिंदी में व्यवहृत इन अनेक दिशाओं से आई हुई देशी या विदेशी ध्वनियों को संकेतित करने के लिये कुछ विशेष चिह्नों का प्रयोग किया गया है, जिनकी सूची प्रारंभ में दी गई है।

§ ४. किसी भी भाषा के ध्वनिसमूह का विवेचन करने के लिये उनकी व्यवस्था को हमें दो कोटियों में विभाजित करना पड़ता है :

(१) उसका स्वनिर्मात्मक पक्ष, जिसके अंतर्गत उसके स्वरों और व्यंजनों का विचार किया जाता है।

(२) उसका रागात्मक पक्ष, जिसके अंतर्गत सुरों या स्वरों के आरोह-अवरोह, बलाघात, मात्रा, संधि आदि का विचार किया जाता है। ध्वनि के वे समस्त तत्व जो उसके किसी एक उच्चरित खंड में ही सीमित न रहकर उपरि-खंडात्मक प्रभाव व्यक्त करते हैं, अर्थात् अनेक खंडों पर एक ही साथ छा से जाते हैं और उन्हें अपने रंग में रँग देते हैं, उसके रागात्मक स्वरूप के अंग हैं।

हिंदी का स्वनिर्मात्मक पक्ष

§ ५. ध्वनिविज्ञान के अनुसार सामान्य उच्चारण की दृष्टि से स्वर ऐसी सघोष (अथवा फुसफुसाहटवाली) ध्वनि है, जिसके उच्चारण में मुखविवर बराबर खुला रहता है और घोषतंत्रियों से ऊपर किसी प्रकार के श्रुतिगम्य संघर्ष के बिना श्वास निर्बाध गति से मुखकूपस्थ प्रतिस्वनकोष्ठ, ग्रसनी तथा कभी कभी नासिका के भी संकोच विकोच द्वारा परिणत होता हुआ इस प्रकार बाहर निकलता जाता है कि उसमें एक विशेष लक्षण या नाद का संचार हो जाता है, जिससे एक स्वर किसी दूसरे स्वर या व्यंजन से भिन्न सुनाई पड़ता है, जैसे 'अ', 'इ' अथवा 'उ' से 'ए', 'ओ' अथवा 'ऊ' भिन्न प्रतीत होता है।

§ ६. इसके विपरीत व्यंजन के अंतर्गत वे सघोष या अघोष ध्वनियाँ आती हैं जो मुख, नासिका या कंठ में श्वासमार्ग के पूर्ण या अपूर्ण अवरोध के द्वारा बनती हैं। यह अवरोध या संकोच मुखविवरस्थ उच्चारणस्थान के किसी विशेष भाग में जिह्वामूलादि करणों के द्वारा संपन्न होता है।

हिंदी स्वर

§ ७. हिंदी में निम्नांकित लिपिचिह्नों द्वारा संकेतित स्वर ध्वनियाँ प्रचलित हैं। यहाँ चौकोर कोष्ठकों में मात्राचिह्न तथा वृत्त कोष्ठकों में सामान्य ध्वनियों के विशेष रूप संकेतित कर दिए गए हैं, जो संस्वनों के रूप में अथवा हिंदी के स्थानीय उच्चारणों या कुछ विशेष शब्दों में ही सीमित हैं :

से अपना प्रभाव अंकित करते गए हैं। अतः उसकी ध्वनियों के विकास को समझने के लिये इस भूभाग की विविध बोलियों की ध्वनियों का ध्यान रखना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त सुदूर दक्षिण में भी 'दक्खिनी' के रूप में १३वीं १४वीं शताब्दी से ही हिंदी का प्रचार था। आज भी दक्खिनी को बोलनेवाले हिंदू मुसलमान पर्याप्त संख्या में पाए जाते हैं। इसी विचार से अपने इस विवरण में गढ़वाली, कुमाऊँनी, राजस्थानी, व्रजभाषा, अवधी, भोजपुरी, मैथिली, दक्खिनी आदि प्रमुख बोलियों और क्षेत्रीय उपभाषाओं की ध्वनियों का भी यथास्थान निर्देश किया गया है। उनकी विशेषताओं को समझे बिना हिंदी की विशेषताएँ यथावत् नहीं समझी जा सकतीं।

§ २. स्थानीय बोलियों की ध्वनियों की विभिन्नता के कारण हिंदी के उच्चारण में भी प्रायः स्थानीय भेद पाए जाते हैं। मैथिली, मगही या भोजपुरी क्षेत्र में बोली जानेवाली हिंदी से पंजाब, दिल्ली, राजस्थान या दक्खिन में बोली जानेवाली हिंदी की ध्वनियों में अंतर होना स्वाभाविक है। इसी प्रकार भिन्न भिन्न गाँवों और नगरों में बोली जानेवाली अथवा समाज के विभिन्न रूपों या वर्गों में व्यवहृत हिंदी के उच्चारण में भी भेद है। परंतु अब हिंदी के समान विकासमान तथा देश के विभिन्न प्रदेशों और वर्गों में फैलती जानेवाली भाषा के अनेक भेदों में से किसी एक भेद या किसी वर्गविशेष अथवा स्थानविशेष में प्रचलित रूप को ही एकमात्र आदर्श मान बैठना ठीक नहीं होगा। साथ ही यह भी ठीक है कि विस्तीर्ण भूभागों में प्रचलित किसी भी भाषा में अनेक भेदों के बीच उसका एक बहुजनसंमत आदर्श रूप भी होता है। ऐसी दशा में ऐसे कुछ सहज, स्थानीय और स्तरीय अंतरों के रहते हुए भी हिंदी उच्चारण का आदर्श रूप यदि आज कोई माना जा सकता है तो यह वही रूप हो सकता है जो अधिक से अधिक व्यवहारिक तथा व्यापक समानता के साथ इन विभिन्न प्रदेशों की शिक्षित, शिष्ट जनमंडली में प्रचलित है। उसी समान रूप को यहाँ विवरण का मुख्य आधार बनाया गया है। हम चाहें तो उसे 'शिष्ट हिंदी' के नाम से अभिहित कर सकते हैं।

§ ३. शिक्षित जनमंडली द्वारा जो हिंदी बोली जाती है, उसमें अरबी, फारसी तथा तुर्की के अनेक आगत शब्दों के साथ कुछ विदेशी ध्वनियों का भी प्रायः व्यवहार होता है। मुस्लिम संस्कृति के प्रभाव से हिंदी की जो एक विशिष्ट शैली उर्दू के नाम से प्रचलित हो गई है, उसमें तो इस कोटि की अनेक विदेशी ध्वनियों का प्रयोग होता है। इसके अतिरिक्त योरोपीय भावनाओं से, विशेषतः अँगरेजी से आई हुई कुछ विशेष ध्वनियों का भी व्यवहार अँगरेजी पढ़े हुए शिक्षित वर्ग के द्वारा होता है। ऐसी ध्वनियों का भी विवेचन यथास्थान किया

(१) शुद्ध स्वर—

अ (अॅ), आ [ा]
इ [ि], ई [ी]
उ [ु], ऊ [ू]
ए (एॅ), [े (ॅ)]
ओ (ऑ) [ो (ॉ)]

(२) संध्यक्षर स्वर—

ऐ - { अय्, अइ }

औ - { अव्, अउ }

ये सभी स्वर सानुनासिक और निरनुनासिक दोनों ही रूपों में व्यवहृत होते हैं।

§ ८. उपर्युक्त सूची में हमने संस्कृत वर्णमाला के 'ऋ', 'ॠ' और 'ऌ' इन तीन स्वरों का उल्लेख नहीं किया है, क्योंकि इनका उच्चारण हिंदी में स्वरों के रूप में नहीं होता। संस्कृत के तत्सम शब्दों में 'ऋ' लिखा तो जाता है, पर उसका उच्चारण 'रि' के रूप में ही होता है, जैसे—'ऋषि' (रिषि), 'कृपा' (क्रिपा), 'स्वीकृति' (स्वीक्रिति)। तेलगु और कन्नड़ में 'ऋ' का उच्चारण कंपमान जिह्वा से लुंठित संघर्षी व्यंजन के रूप में होता है, जैसे 'कृष्ण' के स्थान पर 'क्रुष्ण'। गुजराती में भी 'ऋ' का उच्चारण 'रु' जैसा होता है, पर संघर्ष और स्पंदन नहीं होता, जैसे—'रुषि' (ऋषि), 'क्रुष्ण' (कृष्ण)। मराठी में इसका संघर्षी, मूर्धन्य उच्चारण होता है और ओष्ठ विवृत रहते हैं। जैसे—'रुषि' (ऋषि), 'रुण' (ऋण)। पर अशिक्षित लोग इसके स्थान पर 'रि' का उच्चारण करते हैं, जैसे—'रिषि', 'रिन'। दीर्घ 'ॠ' तो संस्कृत में भी केवल सादृश्यमूलक के रूप में व्यवहृत था, जो द्वितीया तथा षष्ठी बहुवचन के रूपों में ही प्रयुक्त था; जैसे—'पितॄन्', 'पितॄणाम्'। 'ऌ' भी वैदिक या संस्कृत में केवल एक धातु 'क्लृप्' में पाया जाता है।[१]

'ऋ' और 'ऌ' वैदिक तथा संस्कृत में भी संभवतः पार्श्विक व्यंजन ही थे और स्वरों की श्रेणी में केवल इसलिये गिने जाते थे कि उनमें वर्ण बनाने की क्षमता थी।

१ दे० पाणिनि : अष्टाध्यायी—१. ३. १३ और ७. २. ६० तथा कात्यायन : वार्तिक—२.३.१३।

मध्ययुग के उत्तरकाल में ध्वनियों और व्याकरण का और भी अधिक विकास पाया जाता है। संयुक्त व्यंजनों के समीकरण के कारण जो व्यंजन का द्वित्व (दीर्घत्व) आदिकाल से प्रारंभ हुआ था और मध्यकाल में चरम सीमा को पहुँच चुका था, अब एकत्व (ह्रस्वत्व) की ओर चलने लगा (प्त, क्त > त्त > त) और प्रतिकार स्वरूप उससे पूर्व का ह्रस्व स्वर दीर्घ होने लगा। यह प्रवृत्ति आधुनिक युग में पूर्ण रूप से पाई जाती है। पर इसका आरंभ मध्ययुग के उत्तरकाल से ही हो गया था। प्रत्ययों में स्य-स्स-स्म की जगह ह् (मंतहो < मन्त्रस्य, तहिं <तस्सि <तस्मिन्) मिलता है। प्रत्ययों के न, ण, म की जगह अनुस्वार भी आ गया (राएं <राजेण < राज्ञा, पुच्छउँ <पृच्छामि), शब्द के अंत का दीर्घ स्वर ह्रस्व हो गया (सेवा > सेव, मानिनी > माणिणि) और ओ, ए का उ, इ (पुत्तो > पुत्तु, घोर > धारि)। संज्ञा और क्रिया के रूपों की जटिलता और भी कम हो गई। प्रथमा और द्वितीया विभक्तियों के रूपों में निकटता आ गई (पुत्तु एक व०, पुत्त ब० व०) इसी तरह षष्ठी और सप्तमी के एकवचन में (ष० पुत्तह ए० व०, पुत्तहं ब० व० पुत्तहिं) प्रतिकार रूप परसर्गों का प्रयोग जारी हुआ। क्रिया में भी प्रायः वर्तमान काल (लट्), सामान्य भविष्य (लृट्), आज्ञा (लोट्) के ही रूप पाए जाते हैं, अन्य सब लकारों के रूप लुप्त हो गए। भूतकाल के लिये निष्ठा का आश्रय सर्वांश में लिया जाने लगा।

उत्तरकाल की भाषा को सामान्य रूप से अपभ्रंश नाम दिया गया है। कालिदास की विक्रमोर्वशीय में अपभ्रंश के कुछ पद्य मिलते हैं। दंडी (ई० ७वीं सदी) के समय से अपभ्रंश का काव्य में थोड़ा बहुत प्रयोग होने लगा और यह हिंदी, मराठी आदि आधुनिक भाषाओं के प्रयोग के पूर्व तक जारी रहा। विद्यापति ठक्कुर ने जहाँ मैथिली में अपने अमर शब्दों की रचना की है, वहाँ साथ ही साथ कीर्तिलता जैसा सुंदर ग्रंथ अपभ्रंश (अवहट्ट) में लिखा है। प्राकृतसर्वस्व के रचयिता मार्कंडेय ने अपभ्रंश का नागर, उपनागर और व्राचड में विभाग किया है। नागर गुजरात का, व्राचड सिंध का और उपनागर इन दोनों के बीच का प्रदेश समझा जाता है। इतना निश्चय समझना चाहिए कि जिन प्रांतों में प्राकृतें बोली जाती थीं उनमें ही उत्तरकाल में उन सब प्रांतों की अपभ्रंशों का प्रयोग होने लगा। इन सबमें शौरसेनी अपभ्रंश का प्रयोग प्रायः समस्त भागों के साहित्यिक रूप में पाया जाता है। इसमें आया उत्कृष्ट साहित्य विशेषतया चरितों और कथाओं के रूप में है जो धीरे धीरे प्रकाशित हो रहा है।

मध्ययुग के उत्तरकाल तक आते आते प्राचीन युग की भाषा में यथेष्ट भेद पड़ गया था। प्राचीन युग में कुछ परिस्थितियों में दंत्य व्यंजन मूर्धन्य होने लगे थे। यह प्रवृत्ति बढ़ती बढ़ती मध्ययुग के उत्तरकाल में चरम सीमा को पहुँच गई। प्राचीन युग में गीतात्मक स्वराघात था, इसके स्थान पर बलाघात मध्ययुग के आदि

काल में ही आ गया था। यह बलाघात प्रायः उपधा के अक्षर पर पड़ता था। मध्ययुग में आर्यभाषाओं और बोलियों में परस्पर शब्दों का आदान प्रदान होता रहा। इसका सर्वोत्तम उदाहरण संख्यावाची शब्दों में मिलता है। द्राविड़ आदि देशी भाषाओं से भी शब्द निःसंकोच लिए जाते रहे। संस्कृत के भांडार से जब आवश्यकता हुई, शब्द ले लिए गए और एक ही शब्द के तत्सम, अर्धतत्सम और तद्भव रूपों की प्रचुरता हो गई। संस्कृत ने भी मध्ययुग की भाषाओं से वट, नापित, पुत्तलिका, भट, भट्टारक, छात्र आदि कुछ शब्द ग्रहण किए। विदेशी भाषाओं से आर्यभाषाओं में बराबर थोड़े बहुत शब्द आते रहे हैं और यहाँ की ध्वनियों के साथ चूल बैठ जाने पर घुल मिल गए हैं। इस ध्वनिचूल के कारण ही द्राविड़, मुंडा आदि परिवारों से अथवा विदेशी भाषाओं से आए हुए शब्दों को हम वास्तविक आर्य शब्दों से भिन्न नहीं कर पाते। हेमचंद्र ने 'देशी नाममाला' में ऐसे शब्दों की सूची दी है। व्युत्पत्ति विज्ञान के तत्वों का प्रयोग करके हम इनमें से कुछ को आर्य शब्दों से संबद्ध कर सके हैं, पर अनेक शब्द सचमुच आर्य नहीं हैं। यदि द्राविड़, मुंडा आदि के प्राचीन कोष होते तो संबंध खोजने में आसानी रहती; उनके अभाव में भी इस दिशा में प्रयत्न जारी है।

§ ६/ हिंदी के शुद्ध स्वरों के स्थान को नीचे के चित्र में इंगित किया जा रहा है। अनुनासिक तथा महाप्राणयुक्त स्वरों का स्थान भी प्रायः वही समझना चाहिए जो अनुनासिक स्वरों का दिया गया है :

चित्र-१

	अग्र	मध्याग्र	केंद्रीय	मध्यपश्च	पश्च
संवृत	ई-सीता इ-सितार				ऊ-सूत उ-सुतली
अर्ध-संवृत	ए-सेवा (एं)-मैंवार		(अं)-सपना		ओ-ओस (आॅ)-आॅसार
अर्ध-विवृत				अ-सन	
विवृत					आ-राम

वृत्त कोष्ठकों में दी गई ध्वनियाँ भेदक नहीं हैं। शब्दांतर्गत स्थिति के अनुकूल इनका नियमन होता है।

§ १०. अँगरेजी से आगत शब्दों में निम्नांकित अतिरिक्त स्वर ध्वनियाँ भी व्यवहृत होती हैं :

(१) शुद्ध स्वर :

ऑ [ॅ]

(२) संध्यक्षर स्वर :

आयु [ायु]

§ ११. उपर्युक्त स्वरों के अतिरिक्त हिंदी प्रदेश की बोलियों में कुछ विशेष ध्वनियाँ भी पाई जाती हैं, जिनको नीचे अंकित किया जा रहा है :

अॅ [ॅ] , अँ [ँ] आं [ा]

इ [ि] उ [ु]

ए [े] , ए' [े] , ए [े]

ओ [ो] , ऑ [ॉ] , ओं [ों]

बोलियों में मिलनेवाली इन ध्वनियों के स्थान का संकेत निम्नलिखित चित्र में किया जा रहा है। इनके अनुनासिक रूपों का स्थान भी वही है जो अनुनासिक रूपों का। कोष्ठकबद्ध ध्वनि अँगरेजी से आगत शब्दों व्यवहृत होती है।

चित्र–२

	अग्र	मध्याग्र	केंद्रीय	मध्यपश्च	पश्च
संवृत	इ–आगि (अव०)				उ– मधु (अव०)
अर्धसंवृत	ए–काईसँ (अव०)				
अर्धविवृत	ए–केसो (ब्रज) ए'–आहिरे आगत-सी यमुना (ब्रज)			अँ–ओरौं (निमा०)	ओ–खायो (ब्रज) ऑ–बजाइबाँ (ब्रज)
				अॅ–चलबॅ (भोज०)	(ऑ)–कॉलेज आं–आंरा (मैथि०)

हिंदी व्यंजन

§ ११. हिंदी में प्रचलित व्यंजन ध्वनियों को निम्नलिखित लिपिचिह्नों द्वारा संकेतित किया जाता है। कोष्ठकों में वे विशेष ध्वनियाँ संकेतित की गई हैं, जो किसी ध्वनि के स्थितिजन्य रूपांतर या संस्वन के रूप में व्यवहृत हैं अथवा कुछ स्थानीय उच्चारणों के कतिपय शब्दों और बोलियों में ही सीमित हैं।

क्, ख्, ग्, घ्, ङ्, (ङ्ह्)
च्, छ्, ज्, झ्, ञ्
ट्, ठ्, ड् (ड़्), ढ् (ढ़्), ण्
त्, थ्, द्, ध्, न्, न्ह्
प्, फ्, ब्, भ्, म्, म्ह्
य्, र्, (र्ह्), ल्, (ल्ह्), (ळ्),
व् (व़्)
श्, ष्, स्
ह् [:]

§ १३. इनमें से निम्नलिखित व्यंजन अनाद्य स्थान में ही प्रयुक्त होते हैं :—ङ्, ङ्ह्, ञ्, ण्, न्ह्, म्ह, ड़्, ढ़्, (र्ह्), ल्ह्, (ळ्), :।

§ १४. विदेशी भाषाओं से आगत शब्दों में कुछ शिक्षित व्यक्तियों द्वारा उच्चरित निम्नलिखित ध्वनियाँ भी उल्लेखनीय हैं :

क़्, ख़्, ग़्, ज़्, फ़् (फ़) (.भ्), (व्ह)

§ १५. इन ध्वनियों का वर्गीकरण निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है : बाह्य प्रयत्न के आधार पर

(क) अघोष और सघोष

अघोष—क, ख, च, छ, ट, ठ, त, थ, प, फ, श, ष, स, [:],
क़, ख़, फ़

सघोष—ग, घ, ङ, (ङ्ह), ज, झ, (ञ), ड, (ड़), ढ (ढ़), ण,
द, ध, न, (न्ह), ब, भ, म, (म्ह), य, र, (र्ह),
ल, (ल्ह), (ळ), व, (व़) ह, ग़, ज़, भ़

(ख) अल्पप्राण महाप्राण[1]

[1] इस वर्गीकरण के अनुसार स्वर सभी अल्पप्राण हैं। ऊष्म ध्वनियों को तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के अनुसार महाप्राण के अंतर्गत रखा जा सकता है।

अल्पप्राण—क, ग, ङ, च, ज, (ञ), ट, ड, (ड़), (ण), त,
द, न, प, ब, म, य, र, ल, (ळ), व (व़),
क़, ग़, ज़,

महाप्राण—ख, घ, (ङ्ह), छ, झ, ठ, ढ, (ढ़), थ ध,
न्ह, फ, भ, म्ह, (ऱ्ह), (ल्ह), ह, [:], ख़, फ़, भ़

आभ्यंतर प्रयत्न के आधार पर

(क) स्पृष्ट—इसमें स्पर्श और नासिका व्यंजन संमिलित हैं।
स्पर्श संघर्षी ध्वनियों को भी इसी के अंतर्गत रखकर वर्णन किया जा सकता है। स्पर्श व्यंजनों को पाँच वर्गों में विभक्त किया जा सकता है :

स्पर्श व्यंजन—कवर्ग—क, ख, ग, घ, ङ
चवर्ग—च, छ, ज, झ, ञ
(स्पर्शसंघर्षी)
टवर्ग—ट, ठ, ड, ढ, ण
तवर्ग—त, थ, द, ध, न
पवर्ग—प, फ, ब, भ, म

इनमें ङ, (ङ्ह), ञ, ण, न, न्ह, म, म्ह
नासिका व्यंजनों की कोटि में आते हैं।

(ख) ईषत्स्पृष्ट—इसमें उत्क्षिप्त (ड़, ढ़) अंतःस्थ (य, व), लुण्ठित
(र, ऱ्ह) पार्श्विक (ल, ल्ह) संमिलित है।

(ग) ईषद्विवृत्त—इसमें संघर्षी और महाभाष्य के अनुसार ऊष्म ध्वनियाँ भी आती हैं, । ये निम्नलिखित हैं :
(व़), श, ष, स, ह, [:], ख़, ग़, ज़, फ़, भ़

§ १६. हमने अपने वर्गीकरण में न्ह, म्ह, ऱ्ह और ल्ह को शुद्ध महाप्राण व्यंजनों में संमिलित किया है, यद्यपि परंपरागत वर्णविन्यास में इनके लिये पृथक् संकेत नहीं है। कुछ वैयाकरणों[1] ने इन्हें संयुक्त व्यंजनों की कोटि में रखा है, किंतु ध्वन्यात्मक दृष्टि से इनके उच्चारणों में वह शक्तिमत्ता नहीं मिलती जो द्वित्व तथा अन्य संयुक्त व्यंजनों में होती है और ये पूर्ववर्ती अक्षरों को 'स्थानतः'

[1] के० कैलाग : द ग्रामर ऑव द हिंदी लैंग्वेज, पृ० ७

दीर्घता भी नहीं 'प्रदान' करते।[1] इनका उच्चारण अन्य महाप्राण व्यंजनों की भाँति एक ही प्रयत्न में होता है और उन्हीं के समान ये भी अपने अल्पप्राण सजातियों (न, म, र और ल) के साथ युग्मबद्ध हैं। इनका समानांतरण इस प्रकार किया जा सकता है :—

न—न्ह
म—म्ह
र—र्‌ह
ल—ल्ह

हिंदी में इनका आधा प्रयोग नहीं होता। इन्हें न, म, र और ल के रागात्मक भेद के रूप में ग्रहण किया जा सकता है।

§ १७. उच्चारण के स्थान अथवा उच्चारणावयवों की सापेक्ष स्थिति के अनुसार हिंदी को पीछे से आगे की ओर इस प्रकार निर्दिष्ट किया जा सकता है।

कंठ्य, तालव्य, मूर्धन्य, वर्त्स्य, दंत्य, दंतोष्ठ्य, द्वोष्ठ्य।

कंठ्य के पहले विदेशी शब्दों में प्रयुक्त जिह्वामूलीय क़ का स्थान आता है।

इस क्रम से इन सभी व्यंजन ध्वनियों का वर्गीकरण पृथक् तालिकाचित्र में दिया जा रहा है। इनमें से प्रत्येक व्यंजन का वर्णन आगे किया जायगा।

तालिका चित्र

प्रत्येक स्वर ध्वनि का वर्णन

अ

§ १८. यह अर्धविवृत ह्रस्व मध्य स्वर है। उत्कृष्ट अक्षरों में अथवा मुक्त एकाक्षरों के उच्चारण में जिह्वा का मध्य भाग केंद्रीय स्थिति से थोड़ा पीछे की ओर खिंचा रहता है और जिह्वा लगभग अर्धविवृत स्थिति तक उठती है। ओठ उदासीन स्थिति में रहते हैं। स्वरतंत्रियों का कंपन होता रहता है और कोमल तालु का

[1] केवल कुछ इने गिने तद्भव रूपों में मूल ह्न से व्युत्पन्न न्ह और ह्म से व्युत्पन्न म्ह के उच्चारण में अन्य संयुक्त व्यंजनों के समान पूर्वाक्षर की स्थानतः दीर्घता तथा अधिक शक्ति का प्रयोग पाया जाता है, जैसे, चिन्ह (< चिह्न), ब्रम्ह (< ब्रह्म)। वस्तुतः व्युत्पत्ति की दृष्टि से इन्हें संयुक्त व्यंजन अथवा वर्णविपर्यय के अंतर्गत मानना समीचीन होगा। उपर्युक्त वर्गीकरण हमने केवल सामान्य उच्चारण की दृष्टि से किया है।

ऊपरी भाग उठकर उपालिजिह्वा के पिछले भाग को स्पर्श करता है, जिससे नासिकावरोध हो जाता है। सभी निरनुनासिक स्वरों के उच्चारण में स्वरतंत्रियों और कोमल तालु की यही स्थिति रहती है। उदा० अब, बहुत, कमल, न, क, ख, ग, छ आदि।

§ १६. अनुत्कृष्ट अक्षरों में अ का उच्चारण थोड़ा अधिक केंद्रीय और संवृत तथा ह्रस्वतर होता है, यथा—अकेला, किधर, कमल।

§ २०. इसका उच्चारण और भी अधिक ह्रस्व या ह्रस्वतम हो जाता है जब यह शब्दांश रूप में ऐसे अनुत्कृष्ट अक्षर के साथ उच्चरित होता है, जो अपने पूर्व उच्चरित अक्षर के साथ बद्धरूप में उच्चरित होता है और उपधा या उपधापूर्व की स्थिति में रहता है। द्रुत गति के संबद्ध उच्चारण में यह प्रायः शून्यवत् मूल्य ग्रहण कर लेता है और केवल व्यंजन के मोचन की ध्वनि सुनाई पड़ती है। उदा० अपना, इतना, समझना, जलपान, बतलाना, निकलवाना। इसको संकेतित करने के लिये [⁻] इस चिह्न का प्रयोग किया जा सकता है जैसे—आदमी, अपना।

§ २१. हलंतवत् उच्चरित अंत्य व्यंजन के पूर्व लघुतम अ का व्यवहार नहीं होता; जैसे, कमल में क और म के अ का पूरा-पूरा ह्रस्व उच्चारण होगा, क्योंकि क प्रथम अक्षर है और म का अ अभिनिधानयुक्त ल के पहले आया है, किंतु कमला में म के अ का लघुतम उच्चारण होगा और वह द्रुतगति में शून्यवत् या हलंतवत् रूप ग्रहण कर सकता है। ऐसा उच्चारण प्रायः तीन या अधिक अक्षर-वाले शब्दों में ही संभव है, जब कि तीसरा व्यंजन प्रकृत्या या स्थानतः दीर्घ हो; जैसे बकरी, भगवान, पछताना, उसको, किसको, किससे।[1] ऐसे रूपों में भी हलंतवत् उच्चरित व्यंजन पूर्वापर व्यंजनों के संयुक्त रूप से भिन्न ही रहता है, जैसे—बकरी के कर् का उच्चारण वक्री के क्र के उच्चारण से फिर भी भिन्न ही रहेगा। वक्री के क्र के उच्चारण में जो तनाव या जोर लगाया जाता है तथा उसके अवरोध में जो कालमात्रा की दीर्घता पाई जाती है, उसका बकरी के उच्चारण में अभाव है। इसी प्रकार किससे के 'सूसे' और किस्से, केस्से के उच्चारण में यह भेद पाया जाता है कि पहले (सूसे) के उच्चारण में दोनों संघर्षी स् के बीच निःश्वास के वेग में कुछ न कुछ धीमापन या शिथिलता आ जाती है जब कि दूसरे (स्से) के उच्चारण में संघर्षी श्वास का वेग आद्योपांत एक समान बना रहता है।

[1] द्विवेदीकाल तथा उसके पहले के कुछ लेखकों ने अपनी रचनाओं में बस्ले, किस्को आदि लिखित रूपों का भी प्रयोग किया है।

त्र्यक्षरी शब्दों में भी यदि दूसरा अक्षर संयुक्त हो या किसी उपसर्ग के बाद आया हो तो उसका उच्चारण पूर्ण ह्रस्व अ के रूप में होता है, जैसे—चित्रकार, भाग्यवान, प्रकटित, संकलित।

§ २२. चार या पाँच अक्षरों के शब्दों में तीसरे अक्षर के अ का उच्चारण अपूर्ण होता है। जैसे—चतुरता, टहलना, निकलवाना, गिलहरी।

परंतु उत्कर्ष यदि तीसरे अक्षर पर ही पड़े तो उसके अ का उच्चारण पूर्ण होता है, जैसे—गिल हरियाँ। यहाँ ह के अ का पूर्ण ह्रस्व उच्चारण होगा, क्योंकि अपूर्ण रूप में उच्चरित अ उत्कर्ष का वहन करने में असमर्थ होता है।

§ २३. शब्द के प्रथम अक्षर के साथ तथा शब्द के आदि में इस लघुतम अ का व्यवहार नहीं होता। परंतु अंतिम द्वित्व या संयुक्त व्यंजनों में तथा अंतिम य और व में (विशेषकर जब ऐसे शब्द अकेले उच्चरित होते हैं तब) अ जैसी ध्वनि प्रायः अंत में सुनाई पड़ती है; जैसे—विप्र, चित्त, धर्म, ग्रंथ, शृङ्ग, शास्त्र, सत्य, महत्व, प्रिय, अध्याय, देव, मानव। अवधी में कुछ परसर्गों के अंत में यह ध्वनि प्रयुक्त होती हैं; जैसे—राम क छाता (= राम का छाता)।

§ २४. उपर्युक्त स्थलों को छोड़कर हिंदी में किसी शब्द के अंतिम व्यंजन के उच्चारण में अ का व्यवहार नहीं होता[1] और वह हलंतवत् उच्चरित होता है; जैसे कमल [कमल्], सब [सब्], फल [फल्], धन, राम। हिंदी में केवल दो एकाक्षरी शब्द ऐसे हैं, जिनके अंत्य अ का उच्चारण होता है—'न' (जैसे, मैंने कहा था न?) और 'व' (और के अर्थ में)। हिंदी व्यंजनों का स्वतंत्र उच्चारण करते समय भी उनके साथ अंत्य अ का उच्चारण किया जाता है, जैसे, क, ख, ग, घ, ङ आदि। परंतु मैथिली में शब्दों के अंतिम व्यंजन में अ व्यवहृत होता है; जैसे—उपर, ईद, कॉट। इसके अतिरिक्त भोजपुरी, मगही निमाड़ी के कुछ रूपों में भी शब्दांत के अ का उच्चारण होता है।

द्रविड़ भाषा भाषियों द्वारा अंत्य अकार क खुलकर उच्चारण होता है जिनके कारण उनके उच्चारण में अशोकऽ और रामऽ हिंदीभाषियों को 'अशोका' और 'रामा' जैसा अवगत होता है।

§ २५. अ को भारतीय लिपिपद्धति में अंतर्निहित स्वर माना गया है और आद्य स्थान को छोड़कर अन्यत्र यह व्यंजन के रूप में ही अंतर्भुक्त रहता है। इसी कारण स्वरों के समान इसके लिये कोई पृथक् मात्राचिह्न निर्धारित नहीं है।

[1] हिंदी के अतिरिक्त बँगला, असमिया, गुजराती और मराठी में भी अंतिम 'अ' उच्चरित नहीं होता।

§ २६. प्रत्ययुक्त मिश्र समासयुक्त शब्दों में शब्दांत के हलंतवत् उच्चरित व्यंजन के अंतर्भुक्त अ का अपूर्ण उच्चारण होता है। परंतु द्रुतयति में उसका हलंतवत् ही उच्चारण होता है, जैसे

जल पान या जल् पान।
अधमरा या अध्मरा।
सहकारी या सह्कारी।
कँपकपी या कँप्कपी।
लड़कपन या लड़क्पन।
रनवास या रन्वास।
घर बार या घर् बार।
शिथिलता या शिथिल्ता।

§ २७. पद्य में मात्रा तथा लय की पूर्ति के लिये शब्दांत के व्यंजन के अंतर्भुक्त अ का आवश्यकतानुसार स्फुट उच्चारण होता है, जैसे

'बैठा कनकासन पर वीर दशानन है।'

(मैथिलीशरण गुप्त : 'मेघनादवध')

इसमें 'दशानन' के अंत्य न के अंतर्निहित अ का ह्रस्व उच्चारण होगा।

'मन रे ! परसि हरि के चरन।'

(मीराँबाई)

इसमें मन के 'न' में अंतर्भुक्त अ का पूर्ण उच्चारण होगा।

§ २८. भोजपुरी, मैथिली आदि बिहारी बोलियों में अ का उच्चारण कुछ परिस्थितियों में थोड़ा बहुत हो जाता है, अर्थात् उसके उच्चारण में ओठ कुछ गोलाकार हो जाते हैं; परंतु यह वर्तुलता बँगला की अपेक्षा कम होती है। भोजपुरी में एकाक्षरात्मक या द्व्यक्षरात्मक शब्दों के उत्कृष्ट अक्षरों में अ का उच्चारण वर्तुल और अपेक्षाकृत दीर्घ होता है, जैसे—घॅर, जॅल, दॅ। देखँ (= देखो !), कहबँ या कहबँ (= तुम कहोगे)। इसे प्रायः व्यंजन के बाद 'ऽ' चिह्न देकर लिखा जाता है, जैसे—देखऽ, दऽ।

§ २९. निमाड़ी में भी अ के दीर्घ रूप का व्यवहार होता है; जैसे—मँ या मऽ (= मैं), ओखँ या ओखऽ (= उसे), ओसँ या ओस ऽ (= उससे)। गढ़वाली में भी जोर के साथ उच्चरित उत्कृष्ट अक्षरों में अ के दीर्घ रूप का उच्चारण होता है; जैसे—धँन का सूरज (= धन राशि का सूर्य) रँङ भी मिटिगे ढँब भी छुटिगे (= इच्छा भी मिट गई, आदत भी छूट गई।)।

आ

§ ३०. यह विवृत दीर्घ पश्च स्वर है, परंतु इसका उच्चारण प्रधान स्वर आ के कुछ आगे से होता है। इसके उच्चारण में जिह्वा पूर्णतः विवृत स्थिति में रहती है और उसका केवल मध्यपश्च भाग कुछ ऊपर उठता है। ओठ उदासीन स्थिति में रहते हैं, पर अ की अपेक्षा कुछ अधिक खुले रहते हैं। इस प्रकार अ के उच्चारण से इसमें केवल मात्रा का ही नहीं, स्थान का भी भेद है। उदा० आठ, आकाश, माला।

§ ३१. उपधापूर्व या उससे पहले के अक्षर में प्रयुक्त आ का उच्चारण कई लोग बोलचाल में अपेक्षाकृत ह्रस्व रूप में करते हैं। यह आ कुछ अधिक अग्रीकृत और विवृत तथा अर्धविवृत स्थितियों के प्रायः बीच में जा पहुँचता है। उदा० आसमान, खानदान, पालकी। दक्खिनी में ऐसे शब्दों के आ का उच्चारण इतना ह्रस्व हो जाता है कि उसका वैकल्पिक उच्चारण अ से अभिन्न हो जाता है, यथा—अदमी, असमान। यही बात भोजपुरी, मगही तथा मैथिली भाषाओं के संबंध में भी कही जा सकती है। अशिक्षितों के उदाहरणों में यह प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है।

§ ३२. आ का ह्रस्व रूप निमाड़ी और कुमाऊँनी में भी व्यवहृत है। यथा निमाड़ी में—सासरा, कांगरी और कुमाऊँनी में—वीर ने आपणा मन में ठारी (=वीर ने अपने मन में निश्चय किया।)। ऐसे दृष्टांतों में ह्रस्व आ का उच्चारण वस्तुतः भाषण की लय पर निर्भर है। कभी कभी गढ़वाली में इस प्रकार के ह्रस्व आ का व्यवहार होता है, यथा—रोटा (=रोटी)।

§ ३३. गढ़वाली और कुमाऊँनी में आ के प्लुत रूप का भी प्रयोग प्रायः गुणाधिक्य प्रकट करने के लिये किया जाता है; यथा—लाल कपड़ा (=अत्यंत लाल कपड़ा)। आत्यंतिकता व्यक्त करने के लिये यह प्रवृत्ति हिंदी तथा हिंदी प्रदेश की अन्य बोलियों में भी पाई जाती है।

§ ३४. अँगरेजी पढ़े लिखे लोगों के उच्चारण में अँगरेजी से आगत शब्दों में एक वर्तुल पश्च ऑ का भी व्यवहार होता है। इसका स्थान विवृत और अर्धविवृत के प्रायः बीच में है। उदा० ऑफिस, फुटबॉल, कॉलेज।

इ

§ ३५. 'इ' संवृत ह्रस्व अग्रस्वर का संकेतक है। इसके उच्चारण में जिह्वाग्र कठोर तालु की ओर लगभग दो तिहाई उठता है, परंतु संवृत अग्र की सीमा से यह लगभग दो तिहाई नीचा और केंद्र की ओर लगभग आधा खिंचा रहता है। ओठ कुछ अधिक फैले रहते हैं। उदा० इतना दिन, पति।

§ ३६. बोलचाल की ब्रजभाषा, अवधी तथा भोजपुरी में अंत्य इ का उच्चारण प्रायः फुसफुसाइट के साथ होता है। इस प्रकार यह इ का संस्वन है। इसके उच्चारण में जिह्वा की स्थिति वही रहती है जो सघोष ह्रस्व इ के उच्चारण में रहती है। अंतर केवल यही रहता है कि घोष का स्थान फुसफुसाइट ले लेती है। उदा० ब्रज–क्यारि॒, अव०–साँझि॒, भोज०–आगि॒।

§ ३७. मैथिली में भी अंत्य इ का एक अति ह्रस्व रूप प्रचलित है (जैसे— गारि॒) जो संभवतः इसका फुसफुसाइटवाला रूप ही है, परंतु वैज्ञानिक विश्लेषण के बिना इस संबंध में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। संभव है और खोज करने पर और बोलियों में भी यह रूप मिले।

ई

§ ३८. इसके द्वारा अपेक्षाकृत दीर्घ मात्रा की संवृत अग्रध्वनि का संकेत किया जाता है। इसके उच्चारण में जिह्वा का अग्रभाग तथा उसके किनारे भी उठकर कठोर तालु के बहुत समीप पहुँच जाते हैं; फिर भी आधार स्वर ई से थोड़ा और पीछे रहते हैं। ओठ कुछ खुले, फैले हुए, मध्यम स्थिति में रहते हैं। उदा० ईश्वर, तीर, नदी।

§ ३९. अनुत्कृष्ट स्थिति में ई का स्थान इ की दिशा में कुछ नीचे और केंद्र की ओर हट जाता है।

§ ४०. इसका प्लुत रूप गुणाधिक्य व्यक्त करने के लिये अथवा पुकारने में संबोधन के अंतिम अक्षर में व्यवहृत होता है।

उ

§ ४१. यह संवृत ह्रस्व पश्च स्वर का संकेतक है। इसके उच्चारण में जिह्वा-पश्च का अगला भाग अर्धसंवृत और संवृत के बीच लगभग एक तिहाई भाग तक उठता है। अपने दीर्घरूप ऊ की अपेक्षा यह अधिक विवृत और केंद्र की ओर अग्रीकृत रहता है। ओठ गोलाकार होते हैं और बीच के अंश को छोड़कर दोनों ओर से बंद हो जाते हैं। उदा० उसे, बहुत, तालु।

§ ४२. अंत्य उ का उच्चारण बोलचाल की ब्रजभाषा, अवधी तथा भोजपुरी में फुसफुसाइट के साथ होता है, जिसमें सब कुछ तो उ—जैसा ही रहता है, पर घोष का स्थान फुसफुसाइट ले लेती है। उदा० मधु॒, आजु॒।

§ ४३. मैथिली में भी ऐसी स्थिति में संस्वन रूप में फुसफुसाइट उ॒ का व्यवहार प्रचलित जान पड़ता है। उसे ह्रस्वतम उ के रूप में निर्देशित किया गया है। संभव है, विश्लेषण करने पर और बोलियों में भी इसका व्यवहार मिले।

ऊ

§ ४४. यह संवृत पश्चस्वर उ के दीर्घ रूप का संकेतक है। इसके उच्चारण में जिह्वा का पश्च भाग उठकर पूर्ण संवृत स्थिति से थोड़ा नीचे तक पहुँचता है। आधार स्वर ऊ से यह कुछ नीचा होता है। ओठ गोलाकार होकर थोड़ा बाहर निकल आते हैं। उदा० ऊन पूरा, बहू।

§ ४५. इसके प्लुत रूप का व्यवहार प्रायः अतिशयता व्यक्त करने के लिये तथा जोर से पुकारने में संबोधन के अंतिम अक्षर में होता है।

ए

§ ४६. यह अर्धसंवृत दीर्घ अग्र स्वर का संकेतक है। आधार स्वर ए से यह थोड़ा ही नीचा है। इसके उच्चारण में ओठों की स्थिति थोड़ी विस्तृत हो जाती है। उदा० एक, देर, दे।

§ ४७. किंतु ए जब अनुत्कृष्ट रहता है तब उसका उच्चारण कुछ विवृत और शिथिल होता है। उदा० मुझे, बने, लेले।

§ ४८. अतिशयता के अर्थ में तथा जोर से पुकारने में संबोधन के अंतिम अक्षर में प्रायः प्लुत ए का व्यवहार होता है।

§ ४९. कुछ शब्दों के उपधापूर्व अक्षरों में ए का उच्चारण अपेक्षाकृत ह्रस्व होता है। यह ह्रस्व ए जिसे हम एॅ [ॅ] लिपिचिह्न द्वारा संकेतिक कर सकते हैं, दीर्घ ए की अपेक्षा अधिक विवृत (अर्धसंवृत तथा अर्धविवृत के प्रायः बीच में) और केंद्र की ओर खिंचा रहता है। उदा० सॅवई, सॅवार, मॅहमान, मॅहतर, सॅहरा, बॅहतर, मॅहरबानी, दॅहरादून, खॅलाड़ी[1] विभक्तियों के साथ भी प्रायः ह्रस्व ए का ही प्रयोग होता है; जैसे: आपकॅ पिता जी, तुम्हारॅ घर मॅ आज बहुत चहल पहल है।

§ ५०. प्राकृतों में कहीं कहीं ए का ह्रस्व प्रयोग मिलता है। दक्षिण की द्रविड़ भाषाओं में तो ह्रस्व ए का एक पृथक् रूप में व्यवहार है और इसके लिये एक स्वतंत्र लिपिचिह्न है।

§ ५१. पंजाबी में ह्रस्व ए का प्रयोग बहुतायत से होता है। 'मेरे' के पहले ए का पंजाबी उदाहरण में प्रायः ह्रस्व रूप ही सुना जाता है। स्थानीय भाषाओं में एॅ का अधिक व्यवहार होता है। यथा—

[1] दिल्ली केंद्र के आकाशवाणी से भी 'खिलाड़ी' नहीं, प्रायः 'खॅलाड़ी' उच्चारण ही किया जाता है।

दक्खिनी[1]—कैती 'कितनी', बेजार 'बेजार'।
ब्रजभाषा—जिन राम कें नाम अराधि लियो।
अवधी—ऍता (इतना), दॅखिबा (देखूँगा)
निमाड़ी—ऍतरी (इतना), कॅतरी (कितना)

एक के स्थान में येक, यॅक या यक लिखने की प्रवृत्ति, विशेषकर कविता में, पाई जाती है। बोलियों में भी एकाएक के स्थान में यकायक का व्यवहार होता है।

भोजपुरी में उपधापूर्व स्थान में दीर्घ ए के बदले केवल ह्रस्व ऍ का ही प्रयोग होता है। उदा० ऍहिजा (यहाँ), बॅकार।

मैथिली—विदॅसिया, दॅखअौहा (तुमने देखा)। पर मैथिली में अंत्य ऍ के भी उदाहरण मिलते हैं; जैसे—बइँ।

कुमाउँनी में उत्कृष्ट एकाक्षरात्मक शब्दों को छोड़कर अन्यत्र ह्रस्व ऍ का ही व्यवहार होता है, जैसे—एक परंतु ऍकाक (एक का), ऍति, मॅरा।

§ ५२. ए का एक फुसफुसाहटवाला रूप भी अवधी में प्रचलित है। इसका उच्चारण और दृष्टियों से तो ऍ के समान ही है, केवल स्वरतंत्रियाँ घोष की स्थिति के बदले फुसफुसाहट की स्थिति में आ जाती हैं। उदा० काहे̥ (किस्से)।

ऐ [ए]

§ ५३. यह अर्धविवृत दीर्घ अग्रस्वर का संकेतक है। इसके उच्चारण में जिह्वा का अग्रभाग अर्धविवृत के स्थान से कुछ ऊपर तक उठता है तथा तनिक पीछे केंद्र की ओर खिंचा रहता है। ओठ उदासीन या कुछ फैले हुए रहते हैं। उदा० ऐसा, बैल, है।

§ ५४. ऐ [मात्राचिह्न] इस संकेत का व्यवहार संध्यक्षर स्वर अय् और अइ के लिये भी किया जाता है (दे० § ६२)।

§ ५५. प्राकृतों में न तो संध्यक्षर स्वर और न शुद्ध स्वर के रूप में इसका प्रयोग मिलता है। उनमें प्रायः अइ स्वरानुक्रम के रूप में व्यवहृत मिलते हैं, जैसे :—उतरइ।

§ ५६. शुद्ध स्वर के रूप में ऐ का व्यवहार पंजाब, दिल्ली, आगरा, मथुरा, अलीगढ़, बुलंदशहर, राजस्थान, धौलपुर और एटा के कुछ भागों में तथा

[1] दक्खिनी में प्राय ए या ऐ के बदले य श्रुति का व्यवहार होता है, जैसे येक 'एक'। उर्दू में भी एक के स्थान पर येक यॅक, या यक लिखने की प्रवृत्ति, विशेषकर कविता में, पाई जाती है। बोलने में भी एकाएक के स्थान पर येकायक का व्यवहार होता है।

दक्खिनी में मिलता है। नागरी में इसे अंतर्राष्ट्रीय ध्वनिपरिषद् की प्रणाली के अनुसार ए [ॆ] इस चिह्न के द्वारा द्योतित किया जा सकता है।

§ ५७. बुंदेली में भी ऐ का शुद्ध स्वर रूप प्रचलित है; जैसे, केहनौत 'कहावत', रेहम 'रहम'।

§ ५८. इसके विपरीत हिंदी क्षेत्र के अधिकांश भागों में, जैसे मध्यप्रदेश के अनेक भाग, कानपुर, प्रयाग, लखनऊ, काशी, बिहार आदि पूर्वी क्षेत्रों में इस चिह्न द्वारा संकेतित ध्वनि का उच्चारण 'अय्' इस संध्यक्षर स्वर के रूप में होता है। यही संकेतचिह्न कुछ शब्दों में 'अइ' इस संध्यक्षर स्वर का भी बोध करता है।

§ ५९. शुद्ध स्वर तथा दोनों प्रकार के संध्यक्षर स्वरों के उच्चारण में हिंदी तथा दक्खिनी के विभिन्न क्षेत्रों में प्रायः दोलायमान प्रवृत्ति पाई जाती है। दक्खिनी में कहीं तो शुद्ध स्वर ए और कहीं संध्यक्षर 'एइ' का व्यवहार होता है।

§ ६०. मैथिली में शुद्ध स्वरवाला रूप भी व्यवहृत है। यथा, एल 'आया', पेदल 'पैदल', पढ़े 'पढ़े'। किंतु मैथिली का ऐ कुछ अधिक विवृत (अर्धविवृत से थोड़ा नीचा) होता है। ब्रजभाषा का अर्धविवृत से थोड़ा ऊँचा होता है।

§ ६१. संध्यक्षर 'अइ' वाला उच्चारण विशेषतः पूर्वी क्षेत्रों में अथवा कुछ विशेष शब्दों में ही मिलता है (दे० § ६५, ६७)।

§ ६२. अँग्रेज आदि विदेशियों के उच्चारण में शुद्ध स्वरवाला रूप ही अधिक पाया जाता है, क्योंकि संध्यक्षरवाला रूप उनके लिये अपेक्षाकृत कुछ कठिन होता है।

§ ६३. निमाड़ी में प्रथमाक्षर में शुद्ध स्वर के रूप में ही ऐ का व्यवहार पाया जाता है; यथा-एंड़ान (जोर से चिल्लाना), एची (चुनकर), खेंची (खींचकर)।

§ ६४. राजस्थानी में भी ऐ का शुद्ध अर्धविवृत अग्रस्वर के रूप में उच्चारण होता है।

§ ६५. कुमाउँनी में शुद्ध स्वर के रूप में ऐ का उच्चारण प्रचलित है। इसके उदाहरण हमें उसकी विभक्तियों तथा पूर्वकालिक कृदंतों में मिलते हैं; जैसे—थे (से), हे गई (हो गई)।

§ ६६. मालवी में ऐ का उच्चारण ए जैसा होता है। जैसे—हे (है), चेन (चैन), जे (जै)।

§ ६७. ऐ के ह्रस्व रूप के उच्चारण में जिह्वा का अग्रभाग अर्धविवृत से थोड़ा और ऊपर तथा पीछे खिंचा रहता है। ब्रजभाषा काव्य में इसका प्रयोग

पाया जाता है। उदा० सुत गोद कै भूपति लै निकसे (कवितावली, बालकांड-१)। इसे चाहें तो कै [ ] इस प्रकार लिख सकते हैं।

ओ

§ ६८. यह अर्धसंवृत पश्च गोलीकृत दीर्घ स्वर का बोधक है। इसके उच्चारण में जिह्वा का पश्च भाग अर्धसंवृत स्थान से थोड़ा नीचे तक उठता है और ओठ गोल हो जाते हैं। उदा० ओट, गोल, दो। इसके प्लुत रूप का प्रयोग अतिशयता तथा जोर से पुकारने में संबोधन के साथ किया जाता है; जैसे गढ़वाली--कालो[3] बल्द (अत्यंत काला बैल)।

§ ६९. मैथिली में ओ के स्थान में कभी कभी विकल्प से अर्धविवृत 'ओ' स्वर का भी प्रयोग होता है; जैसे--ओढ़ या ओ़ढ़।

§ ७०. इसका अपेक्षाकृत ह्रस्व रूप, जिसे ऑ [ॉ] विशेष संकेत द्वारा बोधित किया जा सकता है, इसके दीर्घ रूप से अधिक विवृत और केंद्र की ओर थोड़ा आगे बढ़ा रहता है। यह कुछ शब्दों के उपधापूर्व स्थान में, स्थानीय उच्चारण में तथा अँगरेजी के कुछ आगत शब्दों में प्रायः व्यवहृत होता है। उदा० बॉहनी, लॉनिया लॉबान, कॉहबर, पॉटाश सॉसाइटी।

§ ७१. प्राकृतों में ऑ का ह्रस्व रूप कहीं कहीं पाया जाता है। दक्षिण की द्रविड़ भाषाओं में ह्रस्व ऑ पृथक् स्वनिर्मात्मक तत्व के रूप में व्यवहृत है और इसके लिये स्वतंत्र लिपिचिह्न है।

§ ७२. बोलचाल में कुछ शब्द ऐसे मिलते हैं, जिनमें ओ और उ के बीच दोलायमान प्रवृत्ति पाई जाती है, जैसे ऑसारा या उसारा, पॉताई या पुताई, लॉहार या लुहार, दॉमुँहा या दुमुँहा, दॉहराना, या दुहराना, गॉसईं या गुसाईं।

§ ७३. विशेषकर पूर्वी क्षेत्रों की बोलचाल की अवधी, भोजपुरी, मैथिली, मगही आदि भाषाओं में ह्रस्व ऑ वाला रूप ही प्रचलित है, जैसे पॉखरा, हॉशियार, गॉपाल, अँजॉरिया।

§ ७४. दक्खिनी में भी इस प्रकार का ह्रस्व ऑ मध्यवर्ती स्थान में व्यवहृत होता है, जैसे पॉट्टा 'बच्चा,' डॉप्पा 'टोपी,' टॉपी 'ढेर', बॉरी 'पेट'।[1]

[1] डा० मोहिउद्दीन कादरी ने अपने 'हिंदुस्तानी फोनेटिक्स' (पृ० २९, ४८, ५१) में और उन्हीं के प्रमाण पर डा० बाबूराम सक्सेना (दक्खिनी हिंदी, पृ० ४३-४४) ने भी इस ध्वनि का जो वर्णन और स्थाननिर्देश किया है कि बोलचाल की दक्खिनी में ओ और उ के बीच का एक विशेष स्वर है, जो अर्धसंवृत स्थान से थोड़ा ऊँचा और केंद्र की ओर झुका रहता है, वह ठीक नहीं प्रतीत होता, क्योंकि दक्खिनी बोलनेवाले कई लोगों के उच्चारण में मैंने इसे ह्रस्व ऑ से अभिन्न पाया है।

§ ७५. निमाड़ी में द्व्यक्षरात्मक शब्दों में भी अॅ का व्यवहार होता है; जैसे—अॅखे (उसे), अॅदा (उतना)।

§ ७६. गढ़वाली और कुमाउँनी में आदि, मध्य और अंत सभी स्थानों में ह्रस्व अॅ का प्रयोग होता है; यथा अॅखली, हमरॅ, म्हॅतारि। कुमाउँनी में तो दीर्घ ओ की अपेक्षा ह्रस्व अॅ की प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है।

औ [ऒ]

§ ७७. औ—'ऐ' के समान ही यह भी तीन स्वरध्वनियों का संकेतक है—एक तो शुद्ध स्वर का तथा अव् और अउ इन दो संध्यक्षर स्वरों का (दे० § ६२)। इसके स्थान में प्राकृतों में 'अ उ' स्वरानुक्रम का ही प्रयोग मिलता है।

§ ७८. शुद्ध स्वर के रूप में औ अर्धविवृत दीर्घ पश्च स्वर का बोधक है, जिसके लिये अंतर्राष्ट्रीय ध्वनिविज्ञान परिषद् की लिपि में ɔ चिह्न नियत है। इसके उच्चारण में जिह्वा का पश्च भाग अर्धविवृत स्थान से तनिक ऊपर अर्ध-संवृत की ओर उठा रहता है। ओठ खुले और गोल रहते हैं। नागरी में इसे अंतर्राष्ट्रीय ध्वनिविज्ञान परिषद् की प्रणाली के अनुसार ऒ [ॊ] इस चिह्न द्वारा संकेतित किया जा सकता है। उदा०

ऒलाद	'औलाद'	सॊत	'सौत'
बतॊर	'बतौर'	सॊ	'सौ'

§ ७९. शुद्ध स्वर के रूप में ब्रजभाषा में इस ध्वनि का व्यवहार अधिक होता है। जैसे आयॊ, सुनॊ, दूसरॊ, तॊ। यह विशेष उच्चारण आगरा, मथुरा, अलीगढ़, बुलंदशहर, राजस्थान, धौलपुर और एटा जिलों के कुछ भागों में मिलता है।[1]

दक्खिनी में प्रायः आद्य स्थान में शुद्ध स्वर के रूप में इसका उच्चारण होता है और अनाद्य स्थान में संध्यक्षर स्वर के रूप में।

§ ८०. बुंदेली में भी औरत, कौन, मोकौ (मौका), गोड़ौ (पैर) आदि शब्दों में औ का उच्चारण शुद्ध स्वर के रूप में किया जाता है।

[1] दे० धीरेंद्र वर्मा : ब्रजभाषा, पृ० ४०.

§ ८१. पंजाब और दिल्ली की बोलचाल की भाषा में भी इस शुद्ध स्वर का व्यवहार पाया जाता है।

§ ८२. राजस्थानी में कौन, मौन आदि-जैसे शब्दों में यह शुद्ध स्वरवाला रूप ही अधिक प्रचलित है, संध्यक्षरवाला रूप नहीं।[1]

§ ८३. परंतु हिंदी क्षेत्र के अधिकांश भागों में और विशेषतः प्रयाग, लखनऊ तथा और पूर्व की ओर संध्यक्षर स्वरवाला उच्चारण ही प्रचलित है।

§ ८४. इसका ह्रस्व रूप जिसे ॲ [ॊ] इस लिपिचिह्न द्वारा संकेतित किया जा सकता है, कुछ और विवृत और केंद्र की ओर खिंचा रहता है। ब्रज-भाषा के पदों में इसका व्यवहार बहुधा मिलता है। उदा०

पाहन हौं तॏ वही गिरि कौ

छंद की आवश्यकता के कारण यहाँ 'तौ' का औ ह्रस्व मात्रिक रूप में व्यवहृत है पर 'कौ' का औ दीर्घ है।

§ ८५. मैथिली में शुद्ध स्वरवाले ये ह्रस्व और दीर्घ दोनों ही रूप मिलते हैं, जैसे—ओतैं (वह आवेगा), सरॏता, ॲकात। परंतु मैथिली में इन रूपों के स्थान में 'ओ' या 'आ' का भी विकल्प से प्रयोग होता है, जैसे मनौन या मनान (मनावन), औढ़ या ओढ़।

§ ८६. गढ़वाली में शुद्ध स्वर के ह्रस्व और दीर्घ दोनों रूपों का उच्चारण प्रचलित है। उदा० चॏंडा, ॲरन, हॏं (औरों से)।

§ ८७. कुमाउँनी में ह्रस्व रूप का ही प्रयोग होता है।

§ ८८. निमाड़ी में भी ह्रस्व और दीर्घ दोनों रूपों का प्रयोग पाया जाता जाता है, परंतु ह्रस्व रूप का प्रयोग केवल आदिम अक्षर में पाया जाता है, अंत में नहीं। उदा०

ॲखात—शक्ति
नॏकर
भॏत—बहुत

§ ८९. मालवी में ॲ का उच्चारण ओ-जैसा होता है। यथा—

ॲर का ओर।

[1] गुजराती में भी यह प्रवृत्ति पाई जाती है।

संध्यक्षर स्वर

§ ९०. ध्वनिविज्ञान की दृष्टि से शुद्ध स्वर और संध्यक्षर स्वर में प्रधान भेद यह है कि जहाँ एक के उच्चारण में मुखविवर आद्योपांत एक ही स्थिति में रहता है, वहाँ दूसरे के उच्चारण में उसका रूप एक स्वर की स्थिति से क्रमशः दूसरे स्वर की स्थिति की ओर परिवर्तित हो जाता है। संध्यक्षर स्वर को दो पृथक् स्वरों का संयोग नहीं माना जा सकता क्योंकि उसके उच्चारण में जो दो स्वरात्मक तत्व संमिलित रहते हैं, वे एक ही नाड़ीस्पंदन में एकाक्षरात्मक रूप में उच्चरित होते हैं। स्वरसंयोग या स्वरानुक्रम में वे पृथक् पृथक् दो अक्षरों के रूप में उच्चरित होते हैं।

§ ९१. हिंदी में[1] चार ही संध्यक्षर स्वर ऐसे हैं जो सामान्यतः प्रचलित हैं। इनको हम निम्नलिखित दो युग्मों में रख सकते हैं :

अय् अव्
अइ अउ

इनको संकेतित करने के लिये नागरी में केवल दो लिपिचिह्न हैं :

अय् और अइ के लिये ऐ [ै]
तथा अव् और अउ के लिये औ [ौ]

§ ९२. इस प्रकार 'ऐ' और 'औ' एक ही साथ क्रमशः तीन तीन स्वर-रागों के वाहक के रूप में प्रयुक्त हैं; एक तो शुद्ध स्वर के रूप में (दे० § ५३ और § ७७–७८) और दो दो संध्यक्षर स्वरों के रूप में :

लिपिचिह्न	राग
ऐ	शुद्ध स्वर ऐ संध्यक्षर स्वर अय् संध्यक्षर स्वर अइ
औ	शुद्ध स्वर औ संध्यक्षर स्वर अव् संध्यक्षर स्वर अउ

ऐसा इसलिये संभव हो सका है कि शुद्ध स्वर ऐ, अय् अइ में परस्पर भेदकता नहीं है। इसी प्रकार औ, अव् और अउ में भी भेदक तत्व नहीं है। ऐ और औ द्वारा सूचित स्वररागों में तो परस्पर भेदकता है; जैसे

[1] सामान्य रूप से उर्दू और दक्खिनी के संबंध में भी यह कथन लागू है। अरबी फारसी के शब्दों में भी इन्हीं का व्यवहार होता है।

ऍंठ (मुँय्ठ) तथा ऑंट (मुँव्ठ)
पैर (पुय्र) तथा पौर (पुव्र)
जै (जुय्) तथा औ (जुव्)

परंतु ऐसी भेदकता उनके अपने अपने संबद्ध रागों में परस्पर नहीं है। अतः शुद्ध स्वर ऐ, मुय् और मुइ को हम विस्वन (डायाफोन)[1] अथवा संस्वन (ऐलोफोन) कह सकते हैं और यही बात औ, मुव् तथा मुउ के संबंध में भी कही जा सकती है। ये स्थानीय उच्चारणभेदों अथवा ध्वनिगत परिस्थितिजन्य भेदों के ही सूचक हैं। एक ही शब्द 'चैत' कहीं शुद्ध स्वर के साथ उच्चरित होता है, कहीं 'चुयृत' के रूप में और कहीं 'चुइत' के रूप में। इसी प्रकार एक ही शब्द 'चौक' कहीं शुद्ध स्वर के साथ तो कहीं 'चुवक' और कहीं 'चुउक' के रूप में उच्चरित होता है। शुद्ध स्वरवाले रूप प्रायः पश्चिमी और दक्षिणी ब्रज तथा बुंदेली और दक्खिनी, बोलचाल की खड़ी बोली, मध्य पहाड़ी, दिल्ली, पंजाब आदि क्षेत्रों में प्रचलित हैं (दे० § ५६-५७, तथा § ७९-८२)। परंतु लुधियानी में मुय् मुइ तथा अुव् अुउ के संध्यक्षर रूप ही प्रचलित हैं। राजस्थानी में जैन, कौन आदि शब्दों में 'ऐ' और 'औ' द्वारा संकेतित ध्वनियों का उच्चारण संध्यक्षर रूप में नहीं, वरन् क्रमशः शुद्ध अर्धविवृत अग्र तथा अर्धविवृत पश्च स्वरों के रूप में ही होता है। मालवी उच्चारण में तो ऐ और औ ध्वनियाँ प्रायः ए और ओ— जैसी सुनाई पड़ती हैं; जैसे :

और का ओर
चैन का चेन
है का हे

§ ९३. इसके विपरीत प्रयाग, काशी, लखनऊ, बिहार आदि पूर्वी भागों में संध्यक्षरवाले रूप अधिक प्रचलित हैं।

§ ९४. बोलचाल की भाषा में इन सब भेदों के रहने पर भी व्यापक रूप में साहित्यिक हिंदी के उच्चारण में संध्यक्षरवाले रूप ही अधिक प्रचलित प्रतीत होते हैं।[2]

§ ९५. संध्यक्षर रूपों में भी 'अय्' और 'अव्'वाले अपेक्षाकृत विवृत उच्चारण प्रायः पश्चिमी क्षेत्रों में प्रचलित हैं और अपेक्षाकृत संवृत उच्चारण

[1] दे० डेनियल जोन्स : ऐन आउट ला इन ऑव इंग्लिश फोनेटिक्स, १९४७, पृ० ५२।
[2] दे० धीरेंद्र वर्मा : हिंदी भाषा का इतिहास, पृ० १०७।

पूर्वी क्षेत्रों में। पूर्वी क्षेत्रों के साहित्यिक हिंदी के उच्चारण में भी उनकी यह प्रवृत्ति प्रायः पाई जाती है। संस्कृत के उच्चारण में भी 'अइ' और 'अउ' वाले रूप ही प्रायः व्यवहृत होते हैं। निमाड़ी में खइ (खा), पुइ (पाना), भइ (होना) आदि रूपों में भी यही संध्यक्षर प्रचलित है।

§ ९६. एक ही भाषा या बोली के क्षेत्र में भी संध्यक्षरों के उच्चारण में प्रायः स्थानीय रागात्मक भेद पाए जाते हैं। ब्रजभाषा में ही शाहजहाँपुर तथा आस पास के पूर्वी सीमांत जिलों में 'ऐसी' का उच्चारण 'अइसी' और 'गौनो' का का उच्चारण 'गउनो'-जैसा होता है।[1] भोजपुरी क्षेत्र में 'मैल' का उच्चारण छपरे में 'मइल' होता है, परंतु उसके आठ ही कोस उत्तर पूर्व के एक गाँव में उसका उच्चारण 'मयल' होता है। पूर्वी क्षेत्र की बिहारी बोलियों में 'अय्' वाला उच्चारण भी कम प्रचलित नहीं है; 'मैथिली' के 'ऐ' का उच्चारण सर्वत्र 'अय्' वाले राग के साथ ही होता है।

§ ९७. संस्वनों के रूप में इन संध्यक्षरों का विचार किया जाय तो यह उल्लेखनीय है कि अंत्याक्षरों में सर्वत्र और सदा 'अय्' और 'अव्' वाले रूप ही उच्चरित होते हैं। यथा–जै-जय, सौ—सव्। इसी प्रकार द्विस्वरांतर्गत स्थिति में य और व के पहले क्रमशः अइ और अउ रूप ही उच्चरित होते हैं। यथा :

रुपैया—रुपइया	भैया—भइया
कौवा—कउवा	पौवा—पउवा

दक्खिनी और उर्दू—अइयार (चतुर), फइयाज (उदार)।

§ ९८. अवधी तथा बिहारी बोलियों में इन संध्यक्षर स्वरों का उच्चारण प्रायः द्वयक्षरात्मक स्वरानुक्रमों के रूप में होता है, यथा—मइल, पइसा, चइल, जइसे, बयल बयेल या बएल, कवन, तउल, कउवा, कउड़ी आदि। परंतु द्रुतगति के उच्चारण में संध्यक्षरवाले रूप ही व्यवहृत होते हैं।

§ ९९. द्वयक्षरात्मक उच्चारण की प्रवृत्ति निमाड़ी में भी पाई जाती है। उसमें 'बैल' का उच्चारण 'बइल' होता है, इसी प्रकार छइल, मइल, कउ (कहीं), गउर (गोर) उच्चारण होते हैं।

अय्

§ १००. इस संध्यक्षर के उच्चारण में संचरण 'अ' से कुछ आगे के स्थान से प्रारंभ होकर अर्धसंवृत दिशा की ओर होता है; परंतु जहाँ वह समाप्त होता है,

[1] दे० धीरेंद्र वर्मा : ब्रजभाषा, इलाहाबाद १९५४, पृ० ४१।

वह स्थान अर्धसंवृत की उपेक्षा अर्धविवृत के अधिक समीप है। उदा॰ भुयूव, मुयूना, तुयू।

अइ

§ १०१. इसका आरंभ अर्धविवृत और अर्धसंवृत के बीच प्रायः केंद्रीय स्थान से होता है और जिह्वा तालु की ओर इ की दिशा में संचालित होती है तथा लगभग वहाँ तक पहुँच जाती है; उदा॰ मुइया, तुइयार।

अव्

§ १०२. इसके उच्चारण में जिह्वा पश्च और केंद्र के बीच 'अ' से कुछ अधिक विवृत स्थान से संचरण करके अर्धविवृत से थोड़ा ऊपर तक पहुँच पाती है। ओठों की गोलाई प्रारंभ में कुछ कम और अंत में कुछ अधिक हो जाती है। उदा॰ और, कौन, नौ।

अउ

§ १०३. 'अ' से कुछ अधिक संवृत तथा केंद्रीय स्थिति से जिह्वा का संचरण प्रारंभ होता है और पश्च स्थिति में 'उ' के पास तक पहुँच जाता है। ओठ प्रारंभ में तो उदासीन रहते हैं, पर अंत में गोल और संकीर्ण हो जाते हैं। उदा॰ कुउवा पुउवा।

§ १०४. कालमात्रा की दृष्टि से ये सभी संध्यक्षर स्वर अपेक्षाकृत दीर्घ हैं।

§ १०५. इन संध्यक्षर स्वरों के अतिरिक्त अंत्य य और व के पूर्व आ का उच्चारण बोलचाल में प्रायः संध्यक्षरवत् होता है; जैसे—नाव्, राय्, गाय्, चाय्। दक्खिनी तथा उर्दू में यह प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है।

§ १०६. दक्खिनी में दो और संध्यक्षर स्वर हैं—इउ और एव्। उदा॰ जिउ (नामों के अंत में आदरार्थक 'जी' का रूप) देव्, सेव्, बेव्पार (व्यापार)। यही रूप उर्दू तथा कुछ बोलियों में भी व्यवहृत है। दक्खिनी में 'आइ' स्वरानुक्रम का उच्चारण भी प्रायः संध्यक्षरवत् होता है। उदा॰ सफाई का सफइ, अमराई का अमरइ।

§ १०७. भोजपुरी में इनके अतिरिक्त कुछ और संध्यक्षर स्वर ये हैं—ईव्, आउ, ईउ, एउ, ओउ, ऊउ। इनमें अंतिम पाँच केवल क्रियापदों में व्यवहृत होते हैं और पहला केवल संज्ञापदों में। उदा॰ जीव्, घीव, आउ, जीउ, देउ बोउ, छूउ।

§ १०८. कुछ बोलियों में हिंदी के शुद्ध स्वरों के स्थान में भी संध्यक्षरात्मकता की प्रवृत्ति पाई जाती है। सहारनपुर की खड़ी बोली और पूर्वी पंजाब की हरियानी

में तो कुछ ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जिनमें इन्हें स्वनिमात्मक मूल्य मिल गया है। उदा०

सुाइत—साथ
सात—सात
मोइल—मोल
दूइर—दूर; परंतु 'मजदूर' में शुद्ध ऊ है।

§ १०६. मेरठ की खड़ी बोली में भी आइ, श्रोइ, ऊइ और आउ इन चार संध्यक्षरों का प्रयोग पाया जाता है।

§ ११०. भोजपुरी प्रदेश में राँची की नागपुरी या नागपुरिया में इकारांत शब्द के परवर्ती इ का विपर्यय हो जाता है, जिससे अइ, आइ, उइ आदि संध्यक्षर स्वर उच्चारण में आ जाते हैं। उदा० जाइत (जाति), बिपइत (विपत्ति), कइर (करी या करके), सुइन (सुनि अर्थात् सुनकर)।

§ १११. ब्रजभाषा की कुछ बोलियों में भी संध्यक्षर स्वरों की ऐसी प्रवृत्ति पाई जाती है, जैसे, बराइत 'बारात', दवाइत 'दावात', उजियारो (उजेरो के लिये)।

§ ११२. इनके अतिरिक्त पंजाबी में तीन और संध्यक्षर स्वरों का व्यवहार होता है—एआ, एओ, उआ। इनमें कुछ ऐसे दृष्टांत भी मिलते हैं जिनमें अवरोही और आरोही सुरों के भेद से संध्यक्षर स्वरों में भेदकता आ जाती है। जैसे—पेआ (—) (अवरोही सुर के साथ) 'गिरा हुआ' और पेआ (⁄) (आरोही सुर के साथ) 'पिलाना'।

स्वरानुक्रम

§ ११३. हिंदी में स्वरानुक्रम के अनेक उदाहरण मिलते हैं। बोलियों में तो इनकी संख्या और भी अधिक है। ये स्वरसंपर्क उस प्रवृत्ति के परिणाम हैं जो प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के द्विस्वरांतर्गत स्पर्श व्यंजनों के लोप के कारण सर्वप्रथम मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा काल में प्राकृतों में प्रकट हुई थी।

कुछ शब्दों में तो तीन तीन स्वरों के अनुक्रम के भी दृष्टांत मिलते हैं; जैसे—आइए, जाइए, खाइए, पाइए। बोलियों में ऐसे उदाहरण अधिक मिलते हैं। यथा :

सिआई (सिलाई)—ब्रजभाषा, अवधी, बिहारी बोलियों में
धोआई (धुलाई)— " "
खोइया (छिलका)— — "

नउआ (नाई)— अवधी, बिहारी में
बिअउ (बीओ)—अवधी
पिएंउ (पिया) ,,
भइआ (भैया) ,,
खउआ (पेट्ट) ,,
खाउए (तुमने खाया) ,,

§ ११४. स्वरानुक्रमों का प्राकृतों में जो सिलसिला चला वह अपभ्रंश काल में भी कुछ अंशों तक जारी रहा। पर परवर्ती अपभ्रंश काल तथा आधुनिक भारतीय आर्यकाल के प्रारंभ में स्वरानुक्रमों के संकोचन या संध्यक्षरीकरण या उनके बीच 'य्' और 'व्' के निवेश द्वारा इन विवृत्तियों को भंग करने की प्रवृत्ति विकसित हो चली थी,[1] यद्यपि उस अवस्था में हमें दोनों प्रकार के प्रयोग यत्र तत्र मिलते हैं, जैसे चर्या में जाया (४) ∠ सं० याति, पर खाई (४१) ∠ सं० खादति; नियड्डी पर रिगआड्ढि, सिआर (बागची : छोटा कोश)। प्राचीन पोथियों में कहीं पाठ मिलता है लोयण तो कहीं लोअण। हेमचंद्र के व्याकरण के पाठों में भी एक ही साथ शुद्ध स्वर तथा य श्रुति के प्रयोग के उदाहरण मिलते हैं।

§ ११५. हिंदी में प्रयुक्त इन स्वरानुक्रमों में प्रायः यह देखा जाता है कि जब परवर्ती स्वर 'अ' अथवा 'आ' रहता है तो कैथी लिपि में उन दोनों स्वरों के बीच प्रायः 'य' अथवा 'व' लिखा जाता है। वास्तविक बोलचाल में जब कि पूर्ववर्ती स्वर उच्चतर और परवर्ती स्वर नीचतर रहता है, तो एक हल्का 'य' अथवा 'व' सुनाई पड़ता है। अन्यत्र 'य' अथवा 'व' का रागात्मक अंश बहुत ही क्षीण अर्थात् लघुप्रयत्न रहता है जो कि उच्चारण में बराबर सुनाई पड़ता है।[2] इसलिये उनके बीच 'य' अथवा 'व' प्रायः नहीं लिखा जाता।

§ ११६. पर सुनाई पड़े अथवा नहीं, वैज्ञानिक दृष्टि से रागों की व्यवस्था को ठीक ठीक समझने के लिये और व्यावहारिक दृष्टि के प्रतिकूल राग के प्रयोग से

[1] दे० J. Bloch : La Formation de la Langue Marathi, 120, Para 53 और आगे।
हिंदी में 'य' और 'व' श्रुति के लिये देखिए डा० उदयनारायण तिवारी : हिंदी भाषा का उद्गम और विकास, पृ० १४५-४६.

[2] दे० विश्वनाथप्रसाद, 'य' और 'व' का रागात्मक निरूपण—मा० सा० अप्रैल, १९५६, पृ० १५-१६। इस संबंध में बँगला की प्रवृत्ति के विषय में दे० चटर्जी—O D B L Pt. L, पृ० ३४१.

उच्चारण में होनेवाले विकारों से बचने के लिये कम से कम ध्वनिप्रक्रिया के अंतर्गत इस बात का विश्लेषण आवश्यक है कि दो स्वरों की संधियों के बीच किसी भाषा या बोली में कौन सा राग व्यवहृत होता है। इस दृष्टि से विचार करके हिंदी स्वरानुक्रमों की संभावित अंतरंग अर्थात् शब्दांतर्गत संधियों को दो कोटियों में बाँटा जा सकता है :

(१) य—श्रुति सहित स्वरानुक्रम
(२) व—श्रुति सहित स्वरानुक्रम

हिंदी में निम्नलिखित स्वरानुक्रम य-राग या य-श्रुति से समन्वित हैं। श्रुतियों के निर्देश के लिये यहाँ नीचे जो उदाहरण दिए जा रहे हैं, उनमें कहीं कहीं ऐसे स्थानों में भी 'य' अथवा 'व' का प्रयोग किया गया है जहाँ प्रचलित वर्णन्यास (वर्तनी) में प्रायः (य/व) का नहीं वरन् शुद्ध स्वरों का ही प्रयोग किया जाता है।

जैसे, हुयी (प्रचलित रूप 'हुई' के लिये), रोयी (प्रचलित रूप 'रोई' के लिये), धोयी ('धोई' के लिये), हुवा, हुवे ('हुआ', 'हुए' के लिये)। ऐसा करने का अभिप्राय प्रचलित वर्णन्यास में परिवर्तन या सुधार करना अथवा उसकी मान्यता का विरोध या निरादर करना नहीं, वरन् संधिगत श्रुतियों के रूप में इन अर्धस्वरों के अक्षरात्मक महत्व तथा ध्वनिप्रक्रिया की दृष्टि से उच्चारण में उनसे संबद्ध यथोचित संसर्पणजनित रागों का निदर्शन मात्र है।

य-श्रुति सहित स्वरानुक्रम :

(क) अ, आ और ओ के परे ए, जैसे,
अ ए—गये, नये।

आ ए—आये, जाये, बनाये, आयेगा। परंतु आवेगा, जावेगा, आवे, जावे—ये रूप भी कुछ प्रदेशों में विकल्प से प्रचलित हैं। इस स्वरानुक्रम में बहुधा 'य्' की भावना इतनी प्रबल जान पड़ती है कि जहाँ वास्तविक उच्चारण में उसका व्यवहार अत्यंत क्षीण भी है, वहाँ भी उसके लिखने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है; जैसे—लतायें, भाषायें। ऐसे उदाहरणों में 'य्' ध्वनि को पकड़ पाना प्रायः बहुत कठिन है। साधारण बोलचाल में वह शायद ही सुनाई पड़े।

ओ ए—खोये, बोये। परंतु प्रत्यक्ष विधिकाल अन्यपुरुष एकवचन अथवा संभाव्य भविष्यत् मध्यम या अन्यपुरुष एकवचन में 'खोवे', 'बोवे' आदि रूप भी विकल्प से प्रचलित हैं। इसी प्रकार सामान्य भविष्यत् में 'होवेगा' रूप प्रचलित है।

(ख) इकार के परे अ, आ, ओ या ए।

इ अ—पीय, दीयना[1], दीयरा।

इ आ—किया, दिया, सियार[2], लड़कियाँ।

इ ए—किए, दिए, लिये, चाहिये, जिये, कीजिये।

इ ओ—साथियो, भाइयो, जीयो।

(ग) एकार के परे अ, जैसे—खेया, सेया।[3]

(घ) किसी असमान स्वर के परे इकार, जैसे—अ, इ।

अ इ—गयी, नयी।

आ इ—आयी, लगायी, रजायी, चौपायी।

उ इ—छुयी, सुयी।

ए इ—खेयी, सेयी, तेयिस।

ओ इ—खोयी, धोयी, सोयी, बोयी।

निम्नलिखित स्वरानुक्रमों के बीच हिंदी में 'व' का राग या व श्रुति का व्यवहार होता है:

(क) 'अ' को छोड़कर शेष पश्च स्वरों के बाद अ या आ; जैसे :

ओ अ— धोवन[4]

---

[1] ये रूप केवल पद्य में प्रचलित हैं। इसका अपवाद हमें केवल दो एक हिंदी शब्दों में मिलता है। दीवट, जीवट। परंतु यहाँ का 'व' वस्तुतः एक दूसरे शब्द की देन है, जिसमें ई+अ की संधि का नहीं, वरन् प > व, दीवट < दीपपट्ट (सं०) का उदाहरण मिलता है। पर पद्य में तथा कई बोलियों में दीयट, दीयटा आदि रूप ही प्रचलित हैं। इसी प्रकार जीवट शब्द के 'व' का मूल संस्कृत का जीवथ है।

[2] परंतु य > व के दृष्टांतों में इ के बाद 'व' के कुछ उदाहरण मिलते हैं, जैसे कपाट > किवाड़।

[3] इन संधिरागों की ओर ध्यान न जाने के कारण कामताप्रसाद गुरु ने भूतकालिक कृदंतों के विषय में पहले तो यह नियम स्थापित किया है कि भूतकालिक कृदंत धातु के अंत में 'आ' जोड़ने से बनता है, फिर वह तुरंत यह नियम देते हैं कि धातु के अंत में आ, ए तथा ओ हो तो धातु के अंत में 'य' कर देते हैं। देखिए कामता-प्रसाद गुरुः हिंदी व्याकरण (नवीन संशोधित संस्करण), पृ० २४४। सच तो यह है कि 'खेया' जैसे रूपों में 'य' ए का संधिजन्य राग है।

[4] इसके विपरीत कोयल—जैसे रूपों में ओ अ का जो अनुक्रम मिलता है, उसका कारण वस्तुतः मूल रूप का ओर है, मिलाइए कोकिल (सं०)।

ओ आ—खोवा, छोवा, कोवा, पोवा, धोवा, सोवा। परंतु ओ के परे आ के अनुक्रम में य-श्रुति के भी उदाहरण क्रिया-पदों (जैसे : दोया, खोया, बोया, रोया, सोया; धोया,) में मिलते हैं।

उ अ—सूवर ∠ शूकर (सं०)

उ आ—हुवा, चुवा, छुवा, जुवा, बुवा, सुवा, पूवा।

छुया, हुया आदि रूप हास्यास्पद प्रतीत होंगे, परंतु लिखने में न जाने क्यों ऐसे रूप प्रायः व्यवहृत दिखाई पड़ते हैं। इन्हें तो चिंत्य ही कहना चाहिए।

(ख) आकार के परे उकार

आ उ—राउत ∠ राजपुत्र, खाव्, नाव् टिकाव्।

(ग) उकार के परे ए

उ ए—हुवे, छुवे, पुवे, सुवे, बहुवें आदि। हुये, छुये आदि रूप चिंत्य प्रतीत होते हैं।

(घ) इकार को छोड़कर अन्य किसी असमान स्वर के परे ओ[2]; जैसेः—

आ ओ—आवो, जावो, लावो।

उ ओ—छुवो, चुवो, बहुवों।

ए ओ—खेवो, सेवो।

(ङ) ए के परे अ।

ए अ—केवड़ा ∠ केतक (सं०)[3]

नेवला ∠ नकुल (सं०)[3]

§ ११७. समान स्वरों के अनुक्रम

अ अ—य-श्रुति—वयन <वचन (सं०), मयन < मदन (सं०), रयनि <रजनी (सं०)।[3]

अ आ—"-/.- श्रुति—गया, नया, तवा <तापक (सं०), सवा < सवाअ <सपाद (सं०)।

आ अ—"-/.- श्रुति—जाय, आय, खाय, गाय, राज (सं०)। साथ ही राव <राज (सं०), पाव <पाद (सं०), ताव <ताप (सं०)।

[1] परंतु व्रजभाषा में अ ओ के अनुक्रम में य-श्रुति का प्रयोग होता है, जैसे—गयो, दयो, नयो।

[2] इस अनुक्रम के उदाहरण केवल कुछ व्युत्पत्तिगत रूपों में ही मिलते हैं।

[3] केवल पद्य में प्रयुक्त।

आ आ—य/व. श्रुति—खाया, बनाया, लाया, चौपाया, सवाया; साथ ही पाया <पाद (सं०), लावा <लाजा (सं०)।

ए ए—य/व. श्रुति—खेये, सेये। साथ ही, विधिलिङ् में खेवे, सेवे, लेवे।

ओ ओ—व श्रुति—बोवो, धोवो, सोवो।[1]

इस विश्लेषण के निष्कर्ष को तालिकाबद्ध रूप में हम यों प्रस्तुत कर सकते हैं :

(यहाँ ह्रस्व और दीर्घ, इ, उ में कोई भेद नहीं किया गया है, क्योंकि श्रुतियों के रूप में इस विचार के संबंध में उनके मात्राभेद से कोई अंतर नहीं होता।)

तालिका—१

प्रथम स्वर ↓ / द्वितीय स्वर →	—अ	—आ	—इ	—उ	—ए	—ओ
अ—	य	य/व[3]	य		य	
आ—	य/व	ग/व	य	व	य/व	व
इ—	य	य			य	य
उ—	व	व	य		व	व
ए—	व[4]	य	य		य/व	व
ओ—	व/य	य/व	य		य/व	व

[1] किंतु ब्रजभाषा में ओ ओ के अनुक्रम में य की श्रुति का प्रयोग मिलता है; जैसे—बोयो, सोयो, धोयो।

[2] आर्य भारतीय भाषा के प से आधुनिक भारतीय भाषा के व के विकास के प्रसंग में व—श्रुति के ऐसे उदाहरण प्रायः मिलते है।

[3] देखिए—पादटिप्पणी 'केवला' और 'नेवला', (पिछले पृष्ठ पर)।

§ ११८. इस तालिका को देखने से प्रकट होता है कि हिंदी में स्वरानुक्रमों के २६ प्रयोग मिलते हैं जिनमें १२ का संबंध य-श्रुति से, नौ का संबंध व-श्रुति से और आठ का संबंध दोनों ही श्रुतियों से है। तालुमार्गीय संसर्पण की द्योतक य- श्रुति की ओर हिंदी की प्रवृत्ति कुछ अधिक प्रतीत होती है। संस्कृत से जहाँ 'व' उपलब्ध हुआ है वहाँ भी हिंदी के कई तद्भव रूपों में 'य' के प्रयोग के उदाहरण मिलते हैं, जैसे, नव > नया। इसके अतिरिक्त इस तालिका से निम्न-लिखित तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है :

१. इ अत्यंत प्रबल स्वर है, क्योंकि स्वरानुक्रमों में वह किसी स्वर के पहले रहे या पीछे, वह बराबर अपनी निकटवर्ती तालव्य श्रुति य से ही संबद्ध रहता है। 'य' को छोड़कर वह और कोई राग नहीं ग्रहण कर सकता।

२. इसी प्रकार उ केवल ई द्वारा अनुसरित स्थिति को छोड़कर अन्यत्र व-श्रुति से संबद्ध है।[1]

३. ए का संबंध भी य-श्रुति से ही है। इस संबंध का विच्छेद तभी होता है जब कि उसके पहले 'उ' या उसके परे 'ओ' हो।

४. 'ओ' का संबंध व-श्रुति से है। इसमें अंतर भी तभी होता है, जब इसका 'इ' या 'ए' से संपर्क हो।

५. 'अ' और 'आ' का परिस्थिति के अनुसार 'य' और 'व' दोनों ही श्रुतियों से संबंध है।

उपर्युक्त विश्लेषणों से यह विदित होता है कि 'य' के राग का 'इ' और 'ए' तथा 'व' के राग का 'उ' तथा 'ओ' से घनिष्ठ संबंध है।[2]

[1] मिलाइए —केलौग : ए ग्रामर ऑव हिंदी लैंग्वेज, लंदन, १९५५, पृ० २५-२६।

[2] संस्कृत के उदाहरणों से भी यही बात देखने में आती है। क्रिया, क्रिया अथवा भुजमः और साधवः आदि रूपों में य और व श्रुतिजनक भेद ही है। इ धातु के भूतकालिक रूपों को ले लीजिए—इयामः, ईयतुः ईयुः, इयेष इत्यादि। इसी प्रकार √वच् से उवाच, √भू शब्द से भुवौ, भुवः इत्यादि। इ-य तथा उ व के ऐसे संबंध के कारण उनको सवर्णता या तुल्यस्थानीयता है। 'इ' और 'य' तथा 'उ' और 'व' के पारस्परिक संबंध के विषय में स्टेट्स (बेसेज ऑव फोनलॉजी, पृ० १५) ने उनकी अवयवी गति की दृष्टि से बहुत रोचक व्याख्या की है। परंतु ध्यान रहे कि ऐसी भी भाषाएँ हैं जिनमें इस प्रकार का संबंध नहीं पाया जाता, वरन् इसके प्रतिकूल दृष्टांत मिलते हैं। उदाहरणार्थ अफ्रीका की न्याजा भाषा (टी० हिल : दि फोनोटिक्स ऑव ए न्याजा स्पीकर विद पर्टिक्युलर रेफरेंस टु दि फोनोलॉजिकल स्ट्रक्चर ऑव दि वर्ड।—एम० ए की थीसिस, लंदन विश्वविद्यालय, १९४८ ई०) में 'इ', 'ए' आदि

वस्तुतः प्रत्येक भाषा या बोली के अपने अपने विशेष राग होते हैं। वैज्ञानिक तथा व्यावहारिक दोनों ही दृष्टियों से उन रागों का यथावत् अध्ययन और विश्लेषण बहुत ही आवश्यक और महत्वपूर्ण है। प्रचलित लिपि में चाहे वे श्रुतिरूप लिखे जायँ या नहीं, पर उच्चारण में उनका परिहार नहीं किया जा सकता। शिक्षण की दृष्टि से भाषाशिक्षकों को उनका ज्ञान अपेक्षित है ही। हिंदी की व्यापकता तथा बढ़ते हुए प्रसार को देखते हुए अब यह भी आवश्यक प्रतीत होता है कि गया, गये, गए, गयी, गई, नया, नये, नए, नयी, नई, हुवा, हुआ, के लिये, के लिए, लिये, लिए (क्रिया), भाइयो, भाइओ, बेटियाँ, बेटिआँ, बहुवें, बहुएँ आदि दोलायमान द्विविध रूपों में से सामान्य रूप से लिखने के लिये कौन से रूप स्वीकृत किए जायँ, इस विषय में अधिकारी विद्वानों द्वारा कुछ निश्चित नियमों का निर्णय हो जाना चाहिए, जिससे नवशिक्षार्थियों तथा हिंदीतर भाषाभाषियों का मार्ग जटिल और संशयग्रस्त न रहकर सुगम और निर्भ्रांत बने।

§ ११६. बोलचाल की भाषाओं में स्वरानुक्रम के और भी अधिक उदाहरण मिलते हैं। भोजपुरी में मैंने ७२ स्वरानुक्रमों का व्यवहार पाया है। उपर्युक्त तालिका के रिक्त स्थानों में से सबकी पूर्ति के उदाहरण ब्रजभाषा, अवधी तथा अन्य स्थानीय बोलियों के स्वरानुक्रमों में मिल सकते हैं। उदा०

अ ओ—गओ (गया), दओ (दिया), लओ (लिया)—ब्रज
अ उ—त उ (तब)—अवधी
—गऊ (गाय)—अवधी, भोज०, ब्रज
इ इ—पिई (पी)—अवधी
—पीई (पिएगा)—भोज०
इ उ—घिउ (घी), दिउली (चने के दाने)—ब्रज०, चिउड़ा भोज०
उ उ—छूउ भोज०
ए उ—देउ (दो)—अव० (दे)—भोज०
ओ उ—धोउन (धोवन)—ब्रज०
होउ (होवे), धोउ (धो)—भोज०

अग्रस्वरों के परे 'य' और 'उ,' 'ओ' आदि पश्च स्वरों के परे 'व' का व्यवहार नहीं होता। इस प्रकार के श्रुतिगत अंतर भाषाओं की रागात्मक विशेषताओं के प्रमाण है।

इनके संबंध में य और व श्रुति की व्यवस्था उपर्युक्त क्रम से निर्धारित की जा सकती है।

सानुनासिक स्वर

§ १२०. जिन स्वरों का ऊपर वर्णन हुआ है, उनके उच्चारण में कोमल तालु का ऊपरी भाग उठकर नासिकाविवर का अवरोध कर लेता है। किंतु यदि कोमल तालु नासिकावरोध के लिये इतना ऊपर न उठे, कुछ नीचे झुका रहे तो वायु एक ही साथ नासिका और मुख दोनों मार्गों से निकलती है। इस प्रकार नासिका और मुख के संयुक्त प्रतिस्वनों से उच्चरित होनेवाले सानुनासिक स्वरों के उच्चारण में प्रायः अननुनासिक स्वरों की अपेक्षा जिह्वा के पश्च भाग को थोड़ा अधिक ऊँचा उठाने की प्रवृत्ति मिलती है। इसके सिवा उनके उच्चारण में और कोई भेद नहीं होता।

§ १२१. यहाँ अनुस्वार और अनुनासिक स्वरों में भेद कर लेना आवश्यक है। अनुनासिक स्वर में अनुनासिकता आद्योपांत व्याप्त रहती है, जबकि अनुस्वार में अनुनासिक रंजित स्वर तथा उसके परवर्ती ङ्, ञ्, ण्, आदि किसी अनुनासिक व्यंजन का भी समावेश रहता है। परवर्ती अनुनासिक व्यंजन अपने पूर्ववर्ती स्वर

तरंग लेख १-२

में भी अनुनासिकता भर देता है और उन दोनों के संमिलन के फलस्वरूप अनुस्वार में अनुनासिक स्वरों की अपेक्षा अनुनासिकता का अंश कहीं अधिक पाया जाता है (देखिए—'अंकुर' और 'अँकुरी' के तरंगलेख सं० १-२)। इसलिये अनुस्वार तथा अनुनासिक व्यंजनों को जहाँ पूर्णानुनासिक कहा जा सकता है, वहाँ अनुनासिक स्वरों को अर्धानुनासिक।

§ १२२. लिखने में इस भेद को स्पष्ट करने के प्रयोजन से अनुस्वार केद्योतन के लिये अक्षरों की शिरोरेखा के ऊपर एक पूर्ण विंदु (ॱ) का व्यवहार

किया जाता है और अनुनासिक स्वर के द्योतन के लिये चंद्रबिंदु (ँ) का, जिसमें अर्धचंद्र उसकी अपूर्ण अनुनासिकता का संकेतक है। परंतु शब्दांत में अथवा दीर्घ स्वरों के साथ चंद्रबिंदु के बदले केवल अनुस्वार के बिंदुचिह्न से काम चला लिया जाता है। जैसे—मैँ, कहाँ, तुम्हीँ, पाँच अथवा मैं, कहां, तुम्हीं, पांच। जिन स्वरों की मात्राएँ शिरोरेखा के ऊपर लिखी जाती हैं, उनमें लिखावट की सुविधा के लिये चंद्रबिंदु के स्थान में प्रायः अनुस्वार चिह्न का ही प्रयोग किया जाता है, अन्यत्र चंद्रबिंदु या अनुस्वार का; जैसे ऊँचा, कहूँ, इँगुरौटी, एँड़ी तथा बिंदी, ईंट, भेंट। किंतु जहाँ अनुस्वार चिह्न और चंद्रबिंदु के वैकल्पिक प्रयोग से भ्रम की संभावना हो, वहाँ उन्हें लिखने में यथावत् सावधानी अपेक्षित है, जैसे; उन्होंने हँस दिया; उन्होंने हंस दिया। इसे लाल रंग में रँग दो; काँच कांचन; अँधेरा-अंधेर आदि।

§ १२३. हिंदी में सभी स्वरों के सानुनासिक रूप मिलते हैं, उदा०

अँ – अँधेरा, हँसी।	ऊँ—ऊँचा, पूँछ, हूँ।
आँ—आँख, साँझ, यहाँ।	एँ—एँड़ी, पेँदा, चलेँ।
इँ—इँगुरौटी, सिंचाई।	ऐँ—ऐँठ, भैंस, हैं।
ईँ—ईँट, खींचना, झाँईं।	ओँ—ओँठ, कोँचना।
उँ—उँगली, मुँह।	औँ—औँधा, चौँकना।

§ १२४. स्थानीय बोलियों में सानुनासिक स्वरों के और भी उदाहरण मिलते हैं। हिंदी में जहाँ अनुनासिक नहीं हैं, कुछ लोग वहाँ भी सानुनासिक रूप व्यवहृत करते हैं जैसे :

हाँथ या हाँत—बिहारी बोलियों में तथा मैनपुरी की बोली में
फींचना—बिहारी बोलियाँ
भींगना—बिहारी बोलियाँ
भूँकना—बिहारी तथा बरेली की बोलियों में
हाँशियार—बिहारी बोलियाँ

§ १२५. अनुनासिक व्यंजनों के पहले और बाद के स्वरों में भी प्रायः कुछ अनुनासिकता आ जाती है, यद्यपि उसे लिखा नहीं जाता, जैसे आम, राम, पान, बिना, आमा, मामा, नाना, चना, बना,।

§ १२६. उर्दू के बहुतेरे शब्दों में आ ई उ के बाद अंत में न का उच्चारण नहीं होता और उसकी अनुनासिकता पूर्वस्वर को अनुनासिक बना देती है, जैसे आसमाँ, जमीं।

उच्चारण में जिह्वापश्च कोमल तालु के अगले भाग से[1] सटकर अवरोध उत्पन्न करता है। कोमल तालु भी नासिकावरोध के लिये उठ जाता है। जब जिह्वा को नीची करके श्वास के दबाव का उन्मोचन किया जाता है तो एक हलके स्फोट की ध्वनि होती है। इसके बाद यदि इकार हो तो इसके स्पर्श का क्षेत्र आगे बढ़ जाता है और उकार हो तो पीछे चला जाता है, उदा० काम, मकान, नाक।

§ १३२. य से संयुक्त क का पर्याप्त तालव्यीकरण हो जाता है, जैसे क्या, क्यों। ब्रज में क्यों का उच्चारण कहीं कहीं च्यों या चों जैसा सुनाई पड़ता है।

§ १३३. क़—क के नीचे बिंदु देकर एक विदेशी ध्वनि का संकेत किया जाता है, जो केवल फारसी अरबी से आगत तत्सम शब्दों के उच्चारण में उत्तर भारत और पाकिस्तान के जानकार शिक्षित व्यक्तियों द्वारा ही व्यवहृत होती है। साधारण जनता में इसके स्थान में क का या कहीं कहीं ख़ का प्रयोग किया जाता है। दक्खिनी बोलनेवाले इसके लिये ख़ का प्रयोग करते हैं। क़ द्वारा संकेतित ध्वनि के उच्चारण में जिह्वामूल को ऊपर उठाकर उसके द्वारा अलिजिह्वा या काकल के स्थान का स्पर्श किया जाता है। क के नीचे विंदु देखकर कुछ लोगों को भ्रम होता है कि यह भी ख़, ग़, ज़ आदि के समान संघर्षी ध्वनि है। परंतु इसके उच्चारण में संघर्ष नाममात्र को भी नहीं है, यह वस्तुतः काकलीय, अलिजिह्वीय या जिह्वामूलीय अल्पप्राण अघोष स्पर्श व्यंजन है। उर्दू में इसे ق (क़ाफ़ कहे जानेवाले) चिह्न द्वारा संकेतित किया जाता है। उदा० क़ाग़ज़, क़ाबू, फ़क़ीर, पाक़।

§ १३४. इससे मिलती जुलती क़ ध्वनि का प्रयोग गढ़वाली में पश्चीकृत ल् के पूर्व और कुमाउँनी में व् के पूर्व देशी शब्दों में भी होता है। उदा०

गढ़०—क़ाल़ो (काला)
कुमा०—क़ाव़ो (काला)

§ १३५. दक्खिनी में क़ का उच्चारण प्रायः संघर्षी ख़ जैसा होता है, जैसे क़िला के स्थान में ख़िला।

§ १३६. ख—इसका उच्चारणस्थान भी वही है जो क का। अंतर यही है कि इसका उन्मोचन श्वास के सशक्त प्रवाह के साथ किया जाता है। यह महाप्राण अघोष स्पर्श कंठ्य व्यंजन है। उदा० खेल, ताखा, सुख।

[1] अनुमान किया जाता है कि प्राचीन आर्यभाषा काल में इसका उच्चारणस्थान कुछ और पीछे था।
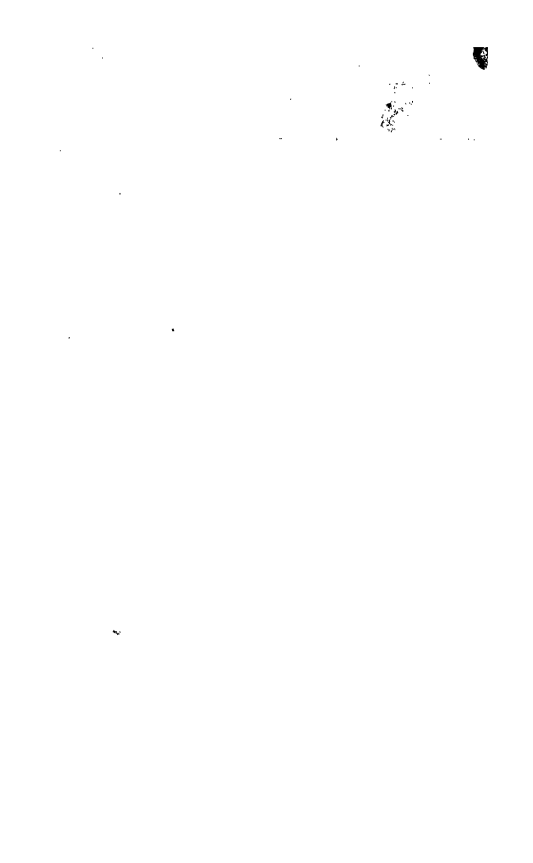
§ १३७. अंत्य ख का उच्चारण दक्खिनी, उर्दू, कन्नौजी तथा ब्रजभाषा के कुछ क्षेत्रों में क—जैसा होता है; जैसे—भूक। मध्यवर्ती ख का भी उच्चारण दक्खिनी में महाप्राण के रूप में नहीं होता, जैसे सूखा का उच्चारण दक्खिनी में सुका होता है।

§ १३८. ख—आदि महाप्राण व्यंजनों के उच्चारण में विदेशियों को बड़ी कठिनाई होती है। कुछ तो उन्हें संघर्षी के समान, कुछ अल्पप्राण के समान और कुछ अनुवर्ती ह के साथ उच्चरित करते हैं।[1] उन्हें यह समझा देना आवश्यक है कि हिंदी व्यंजनों में महाप्राण अंश का उच्चारण स्पर्श के मोचन के साथ साथ होता है, मोचन के बाद नहीं। यह यौगपदिक प्रयत्न है, अनुवर्ती नहीं। अँग्रेजी के बलाघात सहित क (k), ट (t), प (p) के उच्चारण में एक हलका सा हवा का झोंका मोचन के बाद निकलता है। हिंदी महाप्राण व्यंजनों का उच्चारण इससे भिन्न है।

§ १३९. ग—क के उच्चारण से इसमें केवल यही भेद है कि इसके उच्चारण में घोषतंत्रियों में कंपन होता रहता है। यह अल्पप्राण सघोष स्पर्श कंठ्य व्यंजन है। उदा० गोल, लगन, राग।

§ १४०. घ—इसका भी स्थान वही है जो अन्य कवर्गीय व्यंजनों का है। यह सघोष महाप्राण स्पर्श कंठ्य व्यंजन है। उदा० घड़ा, सघन, मेघ।

§ १४१. अंत्य घ का उच्चारण दक्खिनी में ग जैसा होता है। यह प्रवृत्ति कन्नौजी आदि कई स्थानीय बोलियों में भी पाई जाती है, जैसे—घाघ > घाग।

§ १४२. ङ—इसका वर्णन अनुनासिक के अंतर्गत किया गया है (देखिए § १८३)।

चवर्ग

§ १४३. चवर्गीयों को कुछ ध्वनिविज्ञानियों ने स्पर्श नहीं, बरन् स्पर्श-संघर्षी माना है।[2] किंतु प्राचीन भारतीय वैयाकरणों ने इन्हें स्पर्श वर्णों के सामान्य

[1] विलायत में हिंदी के शिक्षकों को भी मैंने देखा कि वे कभी महाप्राण को इतना अतिरंजित कर देते थे कि 'देखता था' का उच्चारण होता था 'देखथा था'।

[2] बाबूराम सक्सेना : एवोल्यूशन ऑव अवधी, पृ. ३०.

शीर्षक के अंतर्गत ही रखा था। वस्तुतः आधुनिक भारतीय भाषाओं में चवर्गीय व्यंजनों के उच्चारण के स्थान और प्रयत्न दोनों ही विषयों में स्थानीय भेद बहुत मिलते हैं। उदाहरणार्थ, मराठी और कोंकणी में इनका उन्मोच एक ऊष्म श्रुति के साथ होता है और स्पर्श वर्त्स्य प्रदेश के ठीक पीछे होता है। इ, ई, ए और ऐ के परे तो इसका स्पर्श मराठी में बना रहता है पर और स्वरों के पश्चात् चवर्गीय व्यंजनों का स्पर्शसंघर्षी उच्चारण होता है, त्स, द्ज़ और द्झ् के रूप में। हार्नले के अनुसार पश्चिमी हिंदी के 'तालव्य' पूर्णतः अग्रीकृत, लगभग दंत्य है। राजस्थानी में चवर्गीय व्यंजनों का उच्चारण प्रायः दंत्य ही होता है। यही बात पूर्वी बँगला, असामी, नेपाली तथा कुछ पहाड़ी बोलियों में भी पाई जाती है। भोजपुरी में चवर्गीय व्यंजन कुछ अधिक पीछे के स्थान से उच्चरित होते हैं, क्योंकि तालुग्राही चित्रों के सहारे मैंने जाँच करके देखा है कि इनका स्पर्श तालव्यप्रदेश के निकटतर पश्च वर्त्स्य और आंशिक वर्त्स्य प्रदेश में होता है (देखिए तालुलेख १०)। तालुग्राहों में पूर्ण प्रोंछन का भी क्षेत्र मिलता है। कभी कभी स्पर्शरेखा के किनारों पर खल्ली का हलका सा चिह्न बचा रह जाता है, जिसे उस क्षेत्र में होनेवाले शिथिल स्पर्श का प्रतीक समझा जा सकता है। उस भाग पर पड़ा हुआ जिह्वा का चिह्न शीघ्र ही सूख जाता है, किंतु उसको उन्मोच के पहले संघर्ष का निश्चित चिह्न नहीं माना जा सकता। यों तो सभी स्पर्शध्वनियों के अवरोध के साथ हलके संघर्ष का संयोजन रहता है।[1] किंतु क्योंकि उन स्पर्शों में उन्मोच क्षिप्रता से होता है, इसलिये संघर्ष की ध्वनि नहीं सुनाई पड़ती। न्यूनाधिक अंशों में कम से कम अल्पप्राण च और ज के संबंध में यही बात कही जा सकती है, क्योंकि उनके उच्चारण में कठिनाई से संघर्षी उन्मोच सुनाई पड़ता है।[2] महाप्राण छ और झ में अवश्य ही संघर्षी उन्मोच कुछ अंशों में निश्चित रूप से लक्षित होता है, यद्यपि इनमें भी उच्चारणावयव बहुत धीमी गति से एक दूसरे से पृथक् नहीं होते। इन बातों का विचार करते हुए इन ध्वनियों को स्पर्श वर्ग के ही अंतर्गत रखकर सामान्य परंपरागत

मोहिउद्दीन कादरी : हिंदुस्तानी फोनेटिक्स, पृ. ८२.

धीरेंद्र वर्मा : हिंदी भाषा का इतिहास, पृ. ११७–१८.

[1] दे० बाटर, कॉप और ग्रीन : विज़िबुल स्पीच, पृ० ७८ और ८१

[2] ए० एच० हार्ली की 'कालोकियल हिंदुस्तानी' में फर्थ की भूमिका, पृ० २०

२–१०

वर्गीकरण का अनुसरण करना असंगत नहीं होगा, क्योंकि सभी बातों में इनका गठन अन्य स्पर्शों के समानांतर ही है।

§ १४४. इन ध्वनियों के उच्चारण के ठीक ठीक स्थान के विषय में निश्चय ही संशोधन की आवश्यकता है, क्योंकि इनके उच्चारण में होनेवाला स्पर्श अधिक से अधिक पीछे जाने पर भी पूर्वतालव्य क्षेत्र से परे नहीं जा पाता अतः इस दृष्टि से इनके लिये 'पूर्वतालव्य' या 'तालुवर्त्स्य' जैसे किसी शब्द का प्रयोग करना अधिक उपयुक्त होगा।

§ १४५. च—इस संकेत के द्वारा निर्दिष्ट ध्वनि के उच्चारण के लिये जिह्वाग्र पूर्वतालव्य अथवा पश्चवर्त्स्य प्रदेश का स्पर्श करता है। कोमल तालु ऊपर उठकर नासिकावरोध करता है। घोषतंत्रियों में कंपन नहीं होता। इस प्रकार यह अघोष अल्पप्राण स्पर्श (या स्पर्शसंघर्षी) व्यंजन है, उदा० चमक, मचान, गच।

§ १४६. दंत्य व्यंजनों के बाद आने पर 'च' अधिक अग्रीकृत हो जाता है; जैसे—'बातचीत' में।

§ १४७. दक्खिनी में भी च का उच्चारण वर्त्स्य ही है। पर कुछ शब्दों में उसका तालव्यीकरण हो जाता है और मराठी की तरह कुछ संघर्ष के साथ उन्मोच होता है, जैसे च्यार 'चार'।

§ १४८. छ छ का स्थान वही है जो च का। परंतु यह अघोष महाप्राण स्पर्श (या स्पर्शसंघर्षी) व्यंजन है। उदा० छत, पीछा, पूछ।

§ १४९. अंत्य और मध्यवर्ती छ का उच्चारण दक्खिनी में च जैसा होता है। कन्नौजी और अन्य बोलियों में भी यह प्रवृत्ति पाई जाती है, जैसे, कुछ > कुच।

§ १५०. ज—इसका उच्चारण भी च के समान ही होता है। अंतर यही है कि इसमें घोषतंत्रियों में कंपन होता है और श्वास की शक्ति अपेक्षाकृत कुछ क्षीण रहती है। यह सघोष अल्पप्राण स्पर्श व्यंजन है। उदा० जहाज, बाजा, राज।

§ १५१. दक्खिनी में कुछ शब्दों में ज का उच्चारण बहुत तालव्यीकृत होता है तथा कुछ संघर्ष के साथ उन्मोच होता है, जैसे, ज्योर, ज्यरा।

§ १५२. झ—यह ज का सघोष, महाप्राण, सजातीय रूप है। उदा० झलक, मझला, सूझ।

§ १५३. अंत्य झ का उच्चारण दक्खिनी में ज जैसा होता है और मध्य-वर्ती झ का उच्चारण च जैसा।

§ १५४. ञ—इसका वर्णन अनुनासिक के अंतर्गत किया गया है (देखिए § १८४)।

टवर्ग

§ १५५. टवर्ग के व्यंजन मूर्धन्य के अंतर्गत गिने जाते हैं। मूर्धन् का अभिधेयार्थ है सिर। लाक्षणिक अर्थ में मूर्धा से कठोर तालु के मध्यभाग का भी अर्थ ग्रहण किया जाने लगा, संभवतः इसलिये कि तालु का सबसे ऊँचा अंश वही है और वह सिर के मध्यभाग के प्रायः ठीक नीचे पड़ता है। प्रायः यह समझा जाता है। कि मूर्धन्य व्यंजनों के उच्चारण में जिह्वा की नोक को ऊपर उठाकर तालु के इसी मूर्धाप्रदेश का स्पर्श कराया जाता है। परंतु उत्तर भारत में हिंदी या हिंदीक्षेत्र की अन्य बोलियों के उच्चारण में जीभ प्रायः इतना पीछे नहीं मुड़ती। यह तालुग्राहों से प्रकट होता है। मराठी तथा दक्षिणी भाषाओं के उच्चारण में जीभ प्रायः मूर्धाप्रदेश तक पहुँच जाती है, पर यह उत्तरी भाषाओं के संबंध में संभवतः लागू नहीं है। बेली ने पंजाबी के संबंध में बताया है कि उसमें जिह्वा मूर्धा का स्पर्श कर लेती है। पर जब तक यह तालुग्राहों से सिद्ध न हो तब तक निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। कई ध्वनिपरिस्थितियों में तो मूर्धन्य व्यंजनों का उच्चारण करते समय जिह्वा बर्त्स्य प्रदेश के अगले अंश का ही स्पर्श कर पाती है। 'टीप' जैसे शब्दों में अग्रस्वरों के साथ उच्चरित 'टी' केवल दंत बर्त्स्य प्रदेश का स्पर्श करते रह जाता है (देखिए तालुचित्र सं० १)। इस प्रकार हिंदी मूर्धन्यव्यंजनों के संबंध में मूर्धन्यता का मुख्य आधार जिह्वाग्र या जीभ की नोक को केवल ऊपर उठाकर उसके नीचे के हिस्से से तालु के किसी भी अंश का स्पर्श मात्र करना है। यह आवश्यक नहीं है कि वह कठोर तालु के मध्यभाग का ही स्पर्श करे। इस प्रकार मूर्धन्यता का संबंध वस्तुतः प्रयत्न से अधिक है, स्थान से कम। विदेशियों को इस प्रयत्न में अधिक कठिनाई होती है।

§ १५६. ट्—यह अघोष, अल्पप्राण स्पर्श वर्ण है, जिसका उच्चारण जिह्वांत को उत्कुंचित करके और उससे दंतबर्त्स्य तथा पूर्वतालव्य क्षेत्रों के बीच के अंश का स्पर्श करके किया जाता है। इसके उच्चारण का ठीक ठीक स्थान शब्द में उसकी स्थिति तथा समीपस्थ स्वरों की प्रकृति से निर्धारित होता है। उदा० टोपी, कटार, पेट।

§ १५७. ठ्—यह ट् का महाप्राण रूप है। शेष बातों में यह ट्—जैसा ही है। उदा० ठेला, कठोर, मठ।

§ १५८. अंत्य ठ—का उच्चारण दक्खिनी में ट जैसा होता है; जैसे जेठ>जेट। पर ट्ट या ल्ट के उच्चारण में अंत्य ट का महाप्राण के साथ उच्चारण होता है; जैसे लट्ठ (लट्ट), उल्ठा (उल्टा)।

§ १५९. ड्—यह अल्पप्राण सघोष मूर्धन्य स्पर्श व्यंजन है। उदा० डाल, निडर, खंड।

§ १६०. असंयुक्त रूप में इस ध्वनि का प्रयोग केवल आदिस्थान में होता है। मध्य तथा अन्य स्थानों में केवल समस्त रूप में और उपसर्ग तथा अनुनासिक या निरनुनासिक सवर्ण व्यंजनों के बाद इसका व्यवहार होता है जैसे, अडिग, सुडौल, ठंड, हड्डी, बुड्ढा।

§ १६१. परंतु सहारनपुर की खड़ी बोली तथा बाँगरू इन स्थितियों में इसके अतिरिक्त भी इनका स्वरानुवर्ती तथा अन्य प्रयोग कुछ शब्दों में मिलता है, जैसे, बडी, पेड।

§ १६२. साधारण बोलचाल की नागपुरी हिंदी में आदि, मध्य और अंत्य में भी ड का ही उच्चारण होता है, उत्क्षिप्त ड़ का नहीं (दे० § २०४)।

§ १६३. अंग्रेजी से आगत शब्दों में बर्त्स्य के स्थान में आदि, अंत और मध्य सभी स्थानों में मूर्धन्य ड का ही प्रयोग हिंदी में होता है, यथा डायरी, सोडा, रोड, बोर्ड।

§ १६४. ढ्—यह ड् का महाप्राण रूप है। ड् के समान ही यह भी सघोष मूर्धन्य व्यंजन है। उदा० ढेर, ठंढा, ठंढ। असंयुक्त ढ का प्रयोग केवल आदि में ही होता है। परंतु मेरठ और मुजफ्फरनगर जिलों की बोलचाल की भाषा में ढ ध्वनि का प्रयोग मध्य में भी होता है, जैसे मढा 'मढ़ा'।

§ १६५. ण्—इसका वर्णन अनुनासिक के अंतर्गत किया गया है (देखिए § १८५)।

तवर्ग

§ १६६. त्—यह अल्पप्राण अघोष स्पर्श दंत्य व्यंजन है। इसके उच्चारण में जिह्वाग्र तथा जिह्वाफलक ऊपर के दाँतों के भीतरी भाग, मसूड़ों और बर्त्स्य का

स्पर्श करके वायुमार्ग को पूर्णतः अवरुद्ध कर लेते हैं। जिह्वा पूर्णतः विस्तृत रहती है। मध्यवर्ती तथा अंत्य त की अपेक्षा आदिम त का उच्चारण अधिक आंतत होता है। उदा० तेल, माता, गीत।

§ १६७. थ्—इसका भी उच्चारण स्थान त् जैसा ही है। यह महाप्राण अघोष, दंत्य, स्पर्श व्यंजन है। उदा० थाली, माथा, हाथ।

§ १६८. दक्खिनी में अंतिम थ् का उच्चारण प्रायः त् जैसा होता है। कभी कभी मध्यवर्ती थ् का उच्चारण भी त् जैसा ही होता है; जैसे हाथी > हत्ती। कन्नौजी आदि कई बोलियों में भी अंत्य और मध्यवर्ती थ का उच्चारण त जैसा करने की प्रवृत्ति पाई जाती है, जैसे, हात (हाथ), साती (साथी)।

§ १६९. द यह अल्पप्राण, सघोष, दंत्य स्पर्श व्यंजन है। उदा० देश, सदा, मेद।

§ १७०. ध—यह महाप्राण, घोष, दंत्य स्पर्श व्यंजन है। उदा० धन, साधु, क्रोध।

§ १७१. अंत्य ध का उच्चारण दक्खिनी में द - जैसा होता है; जैसे। दूध > दूद, सुध > सुद। बोलचाल की दक्खिनी में द्विस्वरांतर्गत ध का उच्चारण भी इसी प्रकार होता है, जैसे सीधा > सीदा, किधर > किदर। ऐसी प्रवृत्ति हिंदी प्रदेश की कुछ बोलियों में भी पाई जाती है।

§ १७२. न और न्ह—इनका वर्णन अनुनासिकों के अंतर्गत किया गया है (देखिए § १८७-१९१)।

पवर्ग

§ १७३. प् -यह अल्पप्राण, अघोष, द्वयोष्ठ्य स्पर्श व्यंजन का संकेतक है। ओठों के खुलते ही अवरुद्ध वायु स्फोट ध्वनि के साथ मुख से निकलती है। परंतु अंतिम प् या किसी परवर्ती स्पर्श व्यंजन से संयुक्त प् के उच्चारण में स्फोट नहीं होता। परवर्ती अग्र अथवा पश्च स्वरों के लिये ओठों को जो स्थिति अपनानी होती है, उसी के अनुसार वे उदासीन या थोड़ा गोल हो जाते हैं। उदा० पास, अपना, सूप।

§ १७४. फ्—यह महाप्राण, अघोष, द्वयोष्ठ्य स्पर्श व्यंजन का संकेतक है। पश्च स्वर के पूर्व आने पर ओठ थोड़े गोल हो जाते हैं। उदा० फूल, सफल, कफ।

§ १७५. उर्दू और दक्खिनी में अंत्य फ नहीं होता। दक्खिनी में फ का उच्चारण फारसी के संघर्षी फ़ जैसा होता है, जैसे सीताफ़ल, फ़िर।

§ १७६. ब्—इस संकेत के द्वारा अल्पप्राण, घोष, द्वयोष्ठ्य स्पर्श व्यंजन का बोध होता है। स्पर्श के आरंभ से अंत तक घोष तंत्रियों में कंपन होता रहता है। परवर्ती स्वरों की प्रकृति के अनुसार इसमें भी ओठों की स्थिति में थोड़ा सा परिवर्तन हो जाता है। उदा० बात, बबूल, कब।

§ १७७. भ्—इसका प्रयोग महाप्राण, घोष, द्वयोष्ठ्य स्पर्श व्यंजन के लिये किया जाता है। पर अंत्य भ अंशतः अघोष रहता है। परवर्ती स्वरों के अनुसार ओठों की स्थिति में उदासीनता या गोलपन आ जाता है। उदा० भोला, शोभा, जीभ।

बलाघातहीन अक्षरों के द्विस्वरांतर्गत भ और अंत्य भ के उच्चारण में स्पर्श कुछ शिथिल होता है और कभी कभी तो समुचित स्पर्श होता ही नहीं। किंतु क्षीण निःश्वासशक्ति के कारण संघर्ष बहुत धीमा होता है और सदैव लक्षित नहीं होता।

§ १७८. अंत्य भ का उच्चारण दक्खिनी में ब जैसा होता है, जैसे। चुभ > चुब। बाद में भी उच्चारण ब जैसा ही होता है; जैसेः चुबता है।

§ १७९. म और म्ह—इनका वर्णन अनुनासिक के अंतर्गत किया गया है (देखिए § १९६-२००)।

§ १८०. ʔ—यह चिह्न अंतर्राष्ट्रीय ध्वनिविज्ञान परिषद् द्वारा उस ध्वनि के लिये निर्धारित है, जिसके उत्पादन के लिये घोषतंत्रियों को दोनों ओर से पूरी तरह सटाकर कंठद्वारीय अवरोध कर लिया जाता है और फिर फेफड़े से निःसृत वायु के दबाव को घोषतंत्रियों के उन्मोच के साथ बाहर निकाल दिया जाता है। खाँसने में जो विस्फोट की ध्वनि सुनाई पड़ती है, वह इसी प्रक्रिया की अतिशयता से उत्पन्न होती है। यह न तो घोष है, न अघोष। इसे कंठद्वारीय स्पष्ट ध्वनि कहा जा सकता है। यह किसी स्वर के पहले या बाद में भी आ सकती है और जिस स्वर के बाद में आती है, उसकी कालमात्रा में बहुत कमी कर देती है।

§ १८१ हिंदी में इस ध्वनि का कोई स्वनिमात्मक महत्व नहीं है, केवल कुछ विशेष परिस्थितियों में रागात्मक रूप में ही इसका व्यवहार होता है। इसलिये इसकी ओर ध्यान नहीं दिया जाता।

आद्य स्वर के पहले या कभी कभी अंत्य स्वर के बाद इसका व्यवहार किया जाता है। कुछ लोग स्वतंत्र रूप में अ, आ, इ, ई आदि स्वरों का उच्चारण कंठद्वारीय स्पर्श के साथ करते हैं, जैसे ʔअ, ʔआ, ʔइ, ʔई आदि। कभी कभी किसी शब्द पर जोर देते समय आदि स्वर के पूर्व इसका व्यवहार किया जाता है,

जैसे ?एक भी नहीं, ?अभी आओ। इसके अंत्य प्रयोग के उदाहरण आवेगपूर्ण निषेध, जैसे ना? तथा विस्मयादिबोधक अव्यय के रूप में, जैसे जा?, पाया जाता है। राजस्थानी (मारवाड़ी) में मध्यवर्ती ह के स्थान में प्रायः कंठद्वारीय स्पष्ट ध्वनि ही सुनाई पड़ती है। जैसे—करघो (कह्यो (दे० § ४८२. ख)।

आनुनासिक

§ १८२. नासिका ध्वनियों के उच्चारण में कोमल तालु नीचे की ओर झुका रहता है, जिससे वायु उन्मुक्त रूप से नाक से बाहर निकलती है।

§ १८३. ङ्—इस संकेत द्वारा सूचित ध्वनि के उच्चारण में नासिकामार्ग खुला रहता है और जिह्वा का पिछला भाग कुछ पीछे जाकर नीचे झुके हुए कोमल तालु के अगले भाग को छूता है, जिससे अवरोधकाल में सारी वायु नासिकामार्ग से ही निकलती है। यह सघोष कंठ्यनासिक्य स्पर्श व्यंजन है, जो केवल मध्यवर्ती रूप में किसी कंठ्यस्पर्श व्यंजन के पूर्व प्रयुक्त होता है। शब्द के आदि और अंत में इसका व्यवहार नहीं होता। इसके तथा अन्य अनुनासिक व्यंजनों के लिये भी अनुस्वारसंज्ञक शीर्षबिंदुरूप चिह्न का प्रयोग होता है। उदा० गङ्गा या गंगा, पङ्क या पंक, पङ्खा या पंखा।

§ १८४. ञ्—चवर्गीय स्पर्शों के पहले मध्यवर्ती रूप में प्रयुक्त होनेवाले सघोष नासिका व्यंजन के लिये इसका प्रयोग होता है। अन्य चवर्गीय ध्वनियों के संबंध में जो बात कही गई है, वही इसके विषय में भी कही जा सकती है। स्थान की दृष्टि से हम इसे तालव्य के बदले पूर्वतालव्य या तालुवर्त्स्य या पृष्ठ-स्पर्श व्यंजन कह सकते हैं। कई लोगों के उच्चारण में इसके स्थान में प्रायः दंत्य न् का ही व्यवहार पाया जाता है। उदा० झंझट, पंच, शतरंज।

§ १८५. ण या ण—इस चिह्न का प्रयोग अल्पप्राण सघोष मूर्धन्य अनुनासिक व्यंजन के लिये होता है। इसके उच्चारण में जिह्वाग्र या जीभ की नोक का पिछला किनारा पश्चवर्त्स्य प्रदेश का स्पर्श करता है। अन्य मूर्धन्य व्यंजनों के समान इसके स्पर्श का स्थान भी अग्रस्वरों के साथ अग्रीकृत और पश्चस्वरों के साथ पश्चीकृत हो जाता है। कोमल तालु नीचे झुका रहता है और स्वरतंत्रियों में कंपन होता रहता है। उदा० प्रणाम, शरण, चंडिका, कंठा, पुण्य।

§ १८६. द्विस्वरांतर्गत ण के उच्चारण में जीभ की नोक स्पर्श के लिये ऊपर उठकर फिर झटके के साथ नीचे आती है तो उत्क्षेप के कारण उसका उच्चारण सानुनासिक उत्क्षिप्त 'ड़ँ' के समान हो जाता है। फलतः वाण के ण और

बाएँ के इँ के उच्चारण में कोई भेद नहीं प्रतीत होता (देखिए तालुचित्र २, ३)। आदि में इसका प्रयोग नहीं मिलता। इसका अधिक प्रयोग मूर्धन्य व्यंजनों के साथ मध्यवर्ती रूप में ही होता है। द्विस्वरांतर्गत और अंत्य ण का उच्चारण हिंदी प्रदेश के अधिकांश शिक्षित वक्ता ही संस्कृत से आगत तत्सम या अर्धतत्सम शब्दों में करते हैं। उर्दू, दक्खिनी तथा खड़ी बोली के पूर्वी भाग, कन्नौजी, ब्रजभाषा, बुंदेली, अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी, भोजपुरी, मैथिली, मगही, नेपाली आदि प्रदेशों के जनसाधारण में इसका उच्चारण प्रायः दंत्य न के रूप में होता है, जैसे पन्डित, खन्ड प्रनाम, चरन, मनि आदि। यही बात बँगला और आसामी के संबंध में भी है। परंतु इसके विपरीत मेरठ, मुजफ्फरनगर, राजस्थान आदि पश्चिमी भागों में दंत्य 'न' का उच्चारण भी 'ण' के रूप में होता है, जैसे मण, वण, पाण, (पान)। इसी प्रकार राजस्थान की सोंधवाड़ी में समजणो (समझना), रोवणो (रोना), कणी (कौन) आदि। डिंगल में जीवण, माण (मान), णणी (न)। निमाड़ी में कयणो (करना), खाणो (खाना), लिखणो (लिखना)। नागपुरी हिंदी में— कठीण।

'न' के स्थान में 'ण' के प्रयोग की इस प्रवृत्ति को संस्कृत के पंडितों ने बर्बरों की विशेषता बतलाया है।

§ १८७. न् यह अल्पप्राण सघोष वर्त्स्य अनुनासिक व्यंजन का संकेतक है। जिह्वा की नोक वर्त्स प्रदेश स्पर्श करके वायु का अवरोध करती है। नासिका से वायु के निःसरण के लिये कोमल तालु नीचे झुक जाता है। उदा० नाम, कनक, कान।

§ १८८. दंत्य व्यंजनों के पूर्व न् का स्पर्श ऊपर की दंतपंक्ति में होता है, जैसे सन्त, बन्द, धन्धा।

§ १८९. उर्दू के बहुतेरे शब्दों में आ, ई, उ के बाद अंत्य न का पृथक् उच्चारण नहीं होता और उसकी अनुनासिकता पूर्वस्वर में अंतर्भुक्त होकर उसे अनुनासिक बना देती है, जैसे जहान > जहाँ, जमीन > जमीं, आसमान > आसमाँ (दे० § १२६, ४५४)।

§ १९०. न्ह्—यह महाप्राण, सघोष, वर्त्स्य अनुनासिक व्यंजन का संकेत करता है। इसका उच्चारण न के समान ही होता है। अंतर केवल यह है कि इसके उच्चारण में घोषतंत्रियों का द्वार पूर्णतः खुला रहता है और स्पर्श का उन्मोच होते ही वायु का अधिकांश भाग नासिका से और कुछ भाग मुँह से निःसृत होता है। इसका प्रयोग द्विस्वरांतर्गत ही होता है। जैसे, उन्हें, किन्हें,

उन्हीं को। बलिया में न्ह का प्रयोग अधिक पाया जाता है, यथा अन्हार, चिन्हार; ब्रज—सबन्ह, कन्हैया।

§ १६१. निमाड़ी में न्ह का प्रयोग आद्य रूप में भी होता है, जैसे न्हाको ('फेंक देना' या 'डाल देना'), न्हार (शेर)।

§ १६२. सहारनपुर की खड़ी बोली, हरियानी कुमाउँनी आदि में भी न्ह के उदाहरण मिलते हैं, उदा० सहारनपुर में न्हात्ता (नहाता है), कुमाउँनी न्हाति (नहीं है)।

§ १६३. ब्रजभाषा, अवधी, भोजपुरी, मैथिली आदि में अंत्य न्ह का भी व्यवहार होता है, यथा—ब्रज०—कान्ह, बान्ह (बाँध), सेन्ह (सेंध), सबन्ह, चीन्ह।

§ १६४. कुछ शब्दों में इस ध्वनि ने स्वनिमात्मक महत्व अर्थात् भेदक तत्व अर्जित कर लिया है, जैसे कान्हा, काना।

§ १६५. चिन्ह, अपरान्ह, आदि कुछ तद्भव रूपों में न्ह का उच्चारण संयुक्त वर्णों के समान अपेक्षाकृत अधिक शक्ति के साथ करना पड़ता है।

§ १६६. म—यह संकेत सघोष अल्पप्राण द्वयोष्ठ्य अनुनासिक व्यंजन के लिये प्रयुक्त होता है और अनुनासिक स्पर्श व्यंजनों के समान इसके उच्चारण में भी नासिकामार्ग पूर्णतः उन्मुक्त रहता है। उदा० मामा, हमारा, काम।

§ १६७. म्ह—यह महाप्राण, सघोष, द्वयोष्ठ्य अनुनासिक व्यंजन का संकेतचिह्न है, जो द्विस्वरांतर्गत और अंत्य स्थानों में ही व्यवहृत होता है। उदा० तुम्हारा, तुम्हें सम्हाल, बाम्हन।

§ १६८. कुमाउँनी तथा निमाड़ी में म्ह का प्रयोग आदि स्थान में भी होता है, जैसे कुमा० म्हैन (महीना), निमाड़ी म्हारो (हमारा)।

§ १६९. भोजपुरी आदि बोलियों में म्ह ध्वनि हिंदी की अपेक्षा अधिक व्यवहृत है।

§ २००. ब्रह्म के तद्भव रूप ब्रह्म में म्ह का उच्चारण संयुक्त अक्षर के समान अधिक शक्ति के साथ करना पड़ता।

उत्क्षिप्त

§ २०१ ड़ ड के नीचे बिंदु देकर ड़ चिह्न से अल्पप्राण, सघोष, मूर्धन्य, उत्क्षिप्त व्यंजन को द्योतित किया जाता है। ड के नीचे बिंदु लगाकर इस ध्वनि का द्योतन संभवतः सर्वप्रथम बँगला में स्व० ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने किया था। उसके बाद ही नागरी में भी इसका प्रचलन हुआ। यह आद्य स्थान में व्यवहृत नहीं

होता; केवल द्विस्वरांतर्गत, मध्य तथा अंत्य स्थान में आता है। उ के साथ इसकी 'पूरक बाँट' है। इसके उच्चारण में जिह्वा को पीछे खींच लिया जाता है तथा जिह्वाफलक ऊपर उठकर पीछे की ओर कुछ उलटा मुड़ जाता है और जिह्वा की नोक की निचली सतह बर्त्स्य प्रदेश के पीछे के खुरदरे भाग तक पहुँचकर उसका स्पर्श करती है। संबद्ध भाषण में यह स्पर्श बहुत ही हलका या आंशिक ही होता है और कभी कभी तो बीच में न होकर केवल दोनों किनारों की ओर होता है। इसीलिये इसको ईषत्स्पृष्ट के अंतर्गत गया है। फिर बर्त्स्य प्रदेश के उपर्युक्त स्थान से तुरंत जिह्वाफलक का उत्क्षेप एक झटके के साथ आगे तथा नीचे की ओर किया जाता है, जिससे जिह्वांत तथा जिह्वाफलक का निचला भाग निचले दाँतों से टकराकर नीचे की सीधी विस्तीर्ण अवस्था में मसूड़ों से सट जाता है। कोमल तालु ऊपर उठा रहता है और स्वरतंत्रियाँ घोष की स्थिति में रहती हैं (देखिए तालुलेख सं० ४)।

§ २०२. इसका उच्चारण विदेशियों के लिये सबसे कठिन प्रतीत होता है और वे इसे प्रायः र का एक भेद मान लेते हैं, जो ठीक नहीं है। उपर्युक्त रूप में अभ्यास करने से इसका उच्चारण सुगम हो जाता है। उदा० बड़ा, चूड़ी, गुड़।

§ २०३. ड़ के निकटवर्ती स्वर या स्वरों में यदि अनुनासिकता हो तो उसके प्रभाव से ड़ में भी अनुनासिकता का संचार हो जाता है; जैसे साँड़, बड़ें को। ऐसी स्थिति में उच्चारण तथा श्रौत दोनों ही दृष्टियों से ड़ मूर्धन्य ण से अभिन्न हो जाता है। देखिए—ऊपर § १८६।

§ २०४. ड़ का उच्चारण साधारण बोलचाल में व्यवहृत नागपुरी हिंदी में नहीं होता। आदि, मध्य और अंत में सर्वत्र ड का ही उच्चारण होता है।

§ २०५. ढ़—यह मूर्धन्य सघोष महाप्राणउत्क्षिप्त व्यंजन का ध्वनिसंकेतक है। इसे ड़ का महाप्राण रूप समझा जा सकता है और यह उसी के समान केवल द्विस्वरांतर्गत तथा अंत्य स्थान में आता है। ढ के साथ इसकी 'पूरक बाँट' है। उदा० बूढ़ा, बाढ़।

§ २०६. समीपवर्ती सानुनासिक स्वरों के प्रभाव से ढ़ में भी अनुनासिकता आ जाती है। जैसे कोँढ़ा, बढ़ें।

§ २०७. ळ—यह संकेत पार्श्विक मूर्धन्य उत्क्षिप्त ध्वनि के लिये प्रयुक्त होता है। इसके विवरण के लिये 'ल' के अंतर्गत देखिए—§ २१८, २२०-२४।

लुण्ठाघात

§ २०८. र्—इस चिह्न द्वारा संकेतित व्यंजनध्वनि के उच्चारण में जिह्वा की नोक ऊपर उठकर ऊपर के मसूड़ों से तनिक पीछे बर्त्स्य प्रदेश पर एक या दो

लघ्वाघात करती है। 'राम' का तालुलेख देखिए, जिसमें दो लघ्वाघातों के चिह्न हैं। यह स्पर्श बहुत ही हलका होता है, इसीलिये इसे ईषत्स्पृष्ट की कोटि में जाता है। कभी कभी यह स्पर्श बीच में न होकर बर्त्स्य प्रदेश के दोनों किनारों पर ही होता है (देखिए तालुलेख सं० ५)।

§ २०९. यह अल्पप्राण सघोष बर्त्स्य व्यंजन है। प्रातिशाख्यों में इसे बर्त्स्य ही माना गया है। परंतु इसके उच्चारण में जिह्वांत के ऊपर उठने के कारण संस्कृत के व्याकरण ग्रंथों में इसे मूर्धन्य वर्ण माना गया है। उदा० रात, पूरा, सिर।

§ २१०. दक्खिनी में र का उच्चारण प्रायः कुछ पीछे के स्थान—पश्च-बर्त्स्य प्रदेश—से होता है।

§ २११. मूर्धन्य वर्णों के पहले या बाद में आने पर र का स्पर्श और पीछे होता है, जैसे रोटी, डोरी, कार्ड और बोर्ड में।

§ २१२. रेफ के रूप में द्वित्व र के उच्चारण में जिह्वाग्र बर्त्स्य प्रदेश पर क्षिप्र गति से कई आघात करता है और उसमें कुछ संघर्ष का भी समावेश हो जाता है, जैसे हर्रे, बर्राना।

§ २१३. संघर्षी व्यंजनों के साथ संयुक्त रूप में भी र् का कुछ संघर्षी उच्चारण होता है, जैसे वर्ष, मिश्र।

§ २१४. र्ह्—यह र का महाप्राण रूप है। इसका व्यवहार केवल द्विस्वरान्तर्गत स्थिति में होता है और वह भी केवल बोलियों में प्रचलित कुछ शब्दों में।[1] संयुक्त ध्वनियों में जो दीर्घत्व और तनाव रहता है, उसके अभाव के कारण इसे र के समान ही पृथक् ध्वनि माना गया है। पर स्वनिमात्मक वितरण की दृष्टि से हम इसे र का एक रागात्मक रूप मान सकते हैं। उदा०

अवधी—अर्'ही (अरहर)
भोज० - मार्हा (एक विशेष प्रकार का ऊन)
ब्रज —कर्हानो (कराहना)

[1] बोलचाल की ब्रजभाषा में आद्य रूप में र्ह् ध्वनि का व्यवहार पाया जाता है, जैसे र्हैनो।

पार्श्विक

§ २१५. ल —यह तरल सघोष बर्त्स्य पार्श्विक व्यंजन का संकेतक है। इसके उच्चारण में जिह्वांत मसूड़ों के पीछे बर्त्स्य प्रदेश को छूता है और जिह्वा के पीछे के भाग के दोनों किनारे ऊपरी चहुओं के निकट थोड़ा झुक जाते हैं जिससे वायु उन किनारों से होकर बाहर निकल जाती है। इसीलिये इसको ईषत्स्पृष्ट ही माना गया है। कई लोगों के उच्चारण में केवल एक ही किनारा दाईं या बाईं ओर का झुकता है। मेरे अपने उच्चारण में वायु के निःसरण का मार्ग प्रायः दाहिनी ओर बनता है। उदा० लाल, काला, मोल।

§ २१६. ल, न और र के उच्चारणस्थान में बहुत कुछ समानता है। तीनों ही बर्त्स्य ध्वनियाँ हैं। ल और न के लिये जिह्वा की नोक का संचरण प्रायः एक ही प्रकार से होता है। अंतर केवल यही है कि ल के उच्चारण में नासिका-*मार्ग बंद रहता है और वायु के बाहर निकलने के लिये जिह्वा और चहुओं के* बीच पार्श्विक मार्ग बना रहता है, जबकि न के उच्चारण में पार्श्विक मार्ग नहीं बनता और कोमल तालु नीचे झुककर नासिका से वायु के निकलने का मार्ग बना देता है। इसी कारण बोलियों में ल, न और र के बीच प्रायः हेर फेर या परिवर्तन के दृष्टांत मिलते हैं। शिष्ट हिंदी में जहाँ ल का प्रयोग है, वहाँ बोलियों में र का अथवा न के स्थान में ल का। र और ल के पारस्परिक विपर्यय के संबंध में प्राकृत में सूत्रबद्ध नियम ही है : रलयोरभेदः। उदा०

हिंदी	बोलियों के रूप
नंगा	लंगा (भोज०)
नोट	लोट
नीलाम	लीलाम
बिना	बिला
जलना	जरना
बाल	बार
तलवार	तरवार
थाली	थारी

बिहारी बोलियों में ल के स्थान में र के व्यवहार की प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है।

§ २१६. दंत्य स्पर्श वर्णों के पहले आने पर ल के उच्चारण में जिह्वा आगे

बढ़कर और फैलकर दंत्य प्रदेश में स्पर्श करती है, जैसे सुल्तान, जल्द, पालतू। चाहें तो इसे लू के रूप में संकेतित कर सकते हैं।

§ २१८. मूर्धन्य व्यंजनों के तुरंत बाद या पहले आने पर ल का उच्चारण पश्चीकृत हो जाता है और उसमें कुछ मूर्धन्यता भी आ जाती है, क्योंकि ऐसी स्थितियों में ल के उच्चारण में जिह्वा की नोक कुछ ऊपर उठकर स्पर्श करती है। उदा० बाल्टी, खटोला, गुठली, उलटा। यदि ल और मूर्धन्य वर्ण का उच्चारण संयुक्तवत् होता है, तो मूर्धन्यता अपेक्षाकृत अधिक होती है। ध्वन्यात्मक भेद प्रदर्शित करने के लिये चाहें तो इसका संकेत ळ के द्वारा कर सकते हैं।

§ २१९. प्राचीन साहित्य में मूर्धन्य ळ वैदिक और पाली में तो पाया जाता है, पर संस्कृत या परवर्ती प्राकृतों में नहीं है।

§ २२०. हिंदी प्रदेश की कुछ बोलियों में मूर्धन्य ळ का व्यवहार होता है। इसके उच्चारण में जिह्वा की नोक अन्य मूर्धन्य वर्णों के उच्चारण के समान ऊपर उठकर तालु प्रदेश का स्पर्श करती है और जिह्वा के पश्च भाग में वायु के निःसरण के लिये पार्श्विक मार्ग भी होता है। साथ ही स्वरांतर्गत स्थिति में उसमें ड़ ध्वनि के समान थोड़ा उत्क्षेप भी रहता है। ऊपर उठे हुए जिह्वाफलक को उत्कुंचित अवस्था से नीचे के दाँतों तथा दंतमूलों तक लाने में उत्क्षिप्त प्रयत्न होता है। मराठी तथा द्रविड़ भाषाओं में इस ध्वनि में अधिक मूर्धन्यता पाई जाती है। तेलुगु और कन्नड़ में इसे द्विस्पृष्ट या उत्क्षिप्त ध्वनियों में ही गिना जाता है।

§ २२१. पश्चिमी पहाड़ी बोलियों में तथा हिंदकी, लहँदी, सिंधी, गुजराती मराठी और उड़िया में भी मूर्धन्य ळ का व्यवहार होता है।

§ २२२. पंजाबी में भी इस मूर्धन्य ध्वनि का उच्चारण होता है, यद्यपि वह लिखी नहीं जाती, क्योंकि पूर्वी पंजाबी की गुरुमुखी लिपि में उसके लिये कोई पृथक् लिपिचिह्न या अक्षर नहीं है।

§ २२३. हिंदी प्रदेश में मूर्धन्य ळ का प्रयोग मध्यवर्ती तथा अंत्य रूप में सहारनपुर तथा मेरठ की खड़ी बोली और हरियानी में होता है। मेरठ की खड़ी बोली में इसका ड़ के स्थान में वैकल्पिक व्यवहार होता है।

§ २२४. राजस्थानी में मूर्धन्य ळ का प्रयोग आदि और मध्य में बर्त्स्य ल के स्थान में वैकल्पिक रूप से होता है। पुरानी राजस्थानी में भी यह ध्वनि थी, इसके प्रमाण मिलते हैं, यद्यपि उसके स्थान में लिखा जाता था ल ही।

§ २२५. लॅ—ल का एक दंत्याग्र कंठीकृत रूप गढ़वाली में प्रचलित है, जिसे हम लॅ के रूप में संकेतित कर सकते हैं। इसके उच्चारण में जिह्वांत से दाँतों का स्पर्श होता है तथा पश्चजिह्वा की ओर का अंश कोमल तालु की ओर

अपेक्षाकृत कुछ अधिक उठा रहता है। अंग्रेजी के फील (Feel), वेल (well), फील्ड (field) आदि शब्दों में जैसी ल ध्वनि उच्चरित होती है, उससे इसका कुछ साम्य प्रतीत होता है।

§ २२६. यह केवल द्विस्वरांतर्गत और अंत्य स्थान में ही प्रयुक्त होता है। ग्रियर्सन ने संभवतः इसी लॅ' को भ्रमवश ळ समझकर मध्य पहाड़ी में इसका अस्तित्व मान लिया था, यथा—गढ़०—कामलॅ (कंबल), कालॅ (काला), मोलॅ (मल या गोबर)। कुमाउँनी में इस अंत्य ल् के स्थान में व् का प्रयोग होता है, जैसे—कावो, मोव्, बारव्। जौनसारी में यह अंतिम व् पूर्ववर्ती अ के साथ संध्यक्षर स्वर औ का रूप ग्रहण कर लेता है; जैसे—बादौं।

§ २२७. ळ—विकल्पों में मूर्धन्य ळ की प्रवृत्ति लिखने और बोलने में भी कम होती जा रही है तथा इसके स्थान में वर्त्स्य ल का ही प्रयोय अधिक होने लगा है। राजस्थानी में आद्य तथा मध्यवर्ती रूप में ळ और ल में अर्थभेदकता नहीं है, परंतु अंत्य स्थान में कई ऐसे दृष्टांत मिलते हैं जिनमें इनके बीच अर्थ-भेदकता पाई जाती है, जैसे

चंचळ (घोड़ा)	चंचल (चपल)
महळ (स्त्री)	महल (राजमहल)
पाळ (बाँध)	पाल (बिछाने का कपड़ा)

§ २२८. कोटा, बूँदी और झालावाड़ में बोली जानेवाली राजस्थानी की हाड़ौती बोली में मूर्धन्य उत्क्षिप्त ळ का प्रयोग केवल मध्य और अंत में होता है।

§ २२९. निमाड़ी में ळ लिखा तो नहीं जाता, पर आ के बाद आनेवाले ल का उच्चारण मूर्धन्य ळ के रूप में ही होता है, जैसे—बाळ, काळ, माळ, (माला) कुछ शब्दों में मध्यवर्ती ल के स्थान में भी मूर्धन्य ळ का ही प्रयोग होता है, जैसे तळाव (तालाब), निमोळई (नीम का फल), पिळई (पीला)।

§ २३०. मालवी की सौंधवाड़ी बोली में जिसे सौंधिया जाति बोलती है, ल का उच्चारण मराठी ळ के समान ही मूर्धन्य होता है। मराठी के प्रभाव से नागपुरी हिंदी में ळ ध्वनि का प्रयोग होता है। मूर्धन्य ळ का व्यवहार हिंदी क्षेत्र की अन्य बोलियों या उपभाषाओं में तथा नेपाली, बँगला और असमी में नहीं होता।

§ २३१ ग्रियर्सन ने भूल से मध्य पहाड़ी में मूर्धन्य ळ का प्रयोग मान लिया था। वस्तुतः गढ़वाली और कुमाउँनी में मूर्धन्य ळ नहीं पाया जाता। गढ़वाली में ल का एक दंत्य पश्चीकृत या जिह्वामूलीय (veloriged) रूप प्रचलित है (देखिए § २२५, २२६)।

§ २३२ ल्ह्—यह ल का महाप्राण रूप है, जिसका प्रयोग केवल थोड़े से शब्दों में द्विस्वरांतर्गत मध्य स्थान में होता है। ल की अपेक्षा इसके उच्चारण में स्पर्श की प्रवृत्ति कुछ पीछे की ओर होती है। उदा० कुल्हाड़ी, दूल्हा, चूल्हा। व्रजभाषा—सल्हा (सलाह), अवधी पल्हावनु (गाय को दूध देने के लिये तैयार करना)।

§ २३३ हिंदी क्षेत्र की बोलियों में इस ध्वनि का अधिक प्रयोग होता है और उनमें से कुछ में आदिम स्थान में तथा कुछ में अंतिम स्थान में भी इसका व्यवहार पाया जाता है, जैसे कुमाउँनी में ल्हास (लाश), ल्हियौ (लिया), तब ल्है (तब तक)। अंतिम स्थान में भी इसका प्रयोग होता है, जैसे काल्ह (कल); अवधी, भोज०, व्रज० कुल्ह (सब)। बोलचाल की व्रजभाषा में आदि में ल्ह का व्यवहार पाया जाता है, जैसे ल्हेणो (भीड़), ल्हैहौं (प्रसन्न हुआ)।

§ २३४ इसे संयुक्त व्यंजन नहीं माना गया है, क्योंकि म्ह, न्ह और र्ह के समान ही इसके उच्चारण में भी दीर्घत्व और आसत्व का अभाव है तथा महाप्राणत्व मुखावरोध के उन्मोच के साथ साथ संबद्ध रहता है; उसका अनुगामी नहीं प्रतीत होता।

संघर्षी

महाभाष्य के अनुसार श, ष, स आदि संघर्षी व्यंजन ईषद्विवृत् ध्वनियों की कोटि में आते हैं।

§ २३५. श्—यह तालुवर्त्स्य अघोष संघर्षी ऊष्म व्यंजन का संकेतक है। इसके उच्चारण में जिह्वाफलक ऊपर की ओर उठता है और पीछे की ओर खिंचकर दोनों किनारों से वर्त्स्यप्रदेश के पीछे तथा तालुप्रदेश के आगे के दोनों किनारों का इस प्रकार स्पर्श करता है कि वर्त्स्य-तालु-प्रदेश तथा जिह्वाफलक के बीच वायु के निकलने के लिये एक संकीर्ण मार्ग छूटा रहता है, जिससे संघर्ष सुनाई देता है, उदा० आशा, शोक, बादशाह, केश (देखिए तालुलेख सं० ६)।

§ २३६. हिंदी क्षेत्र की बोलियों में इसके स्थान में प्रायः दंत्य संघर्षी ध्वनि स का प्रयोग होता है। संस्कृत में श् और स के बीच अर्थभेदकता पाई जाती है, जैसे शकल 'खंड', सकल। पर साथ ही दोलायमान प्रवृत्ति के भी कुछ उदाहरण दोनों के बीच मिलते हैं, जैसे, वशिष्ठ/वसिष्ठ, उर्वशी/उर्वसी।

§ २३७. ष्—मूर्धन्य अघोष संघर्षी ऊष्म व्यंजन ध्वनि के लिये इस चिह्न का व्यवहार किया जाता है। इसके उच्चारण में जिह्वा की नोक वर्त्स्य प्रदेश की

ओर ऊपर उठ जाती है और जिह्वाफलक के दोनों किनारे पहली चहू रेखा के पास तालु के दोनों किनारों का इस प्रकार स्पर्श करते हैं कि बीच में एक संकीर्ण मार्ग बन जाता है, जिससे होकर वायु संघर्ष के साथ बाहर निकलती है। उदा० भाषा, रोष, षट्पदी, कष्ट (देखिए तालुलेख सं० ७)।

§ २३८. संस्कृत के कुछ तत्सम शब्दों में तथा टवर्गीय व्यंजनों के साथ संयुक्त रूप का उच्चारण शिक्षित समाज में तो प्रचलित है, पर हिंदी क्षेत्र की बोलचाल की भाषाओं में साधारण जनता के द्वारा इसके स्थान पर प्रायः बर्त्स्य या दंत्य स का ही प्रयोग किया जाता है।

विभिन्न क्षेत्रों में लिखित ष का उच्चारण ख के रूप में भी होता है, जैसे, भूषण > भूखन, दोष > दोख, दूषण > दूखन, वर्षा > बरखा, भाषा > भाखा। वैदिक शाखाओं में भी ष/ख के उच्चारण भेद के संबंध में दो मत हैं।

§ २३९. संस्कृत के कुछ तत्सम शब्दों में क् के साथ इसके संयुक्त रूप के लिये एक विशेष लिपिचिह्न 'क्ष' का प्रयोग किया जाता है। इसके द्वारा संकेतित ध्वनि में ष की उपलब्धि अघोष मूर्धन्य स्पर्शसंघर्षी रूप में होती है। इसके उच्चारण में जिह्वापश्च दोनों किनारों से तालु के पश्च भाग में दोनों ओर दूसरे चहुओं के भागों का इस प्रकार स्पर्श करता है कि उनकी दाईं बाईं रेखाओं के बीच का थोड़ा सा संकीर्ण भाग खुला रहता है जिससे होकर वायु 'क' के स्पर्श के उन्मोच के साथ ही प्रबल संघर्ष की ध्वनि के साथ बाहर निकलती है। इस प्रयत्न में जिह्वा की नोक बर्त्स्य प्रदेश की ओर बीच में बिना स्पर्श किए हुए ऊपर उठी रहती है जिससे इस ध्वनि में मूर्धन्यता भी बनी रहती है। उदा० क्षमा, रक्षा, पक्ष। (देखिए तालुलेख सं० ८)।

§ २४०. बोलियों में तथा साधारण जनसमुदाय की बोलचाल में इसके स्थान पर प्रारंभ में प्रायः छ का और अन्य स्थानों में च्छ का व्यवहार किया जाता है, जैसे छमा, रच्छा, पच्छ।

§ २४१. स्—यह बर्त्स्य, अघोष, संघर्षी ऊष्म ध्वनि का संकेतक है। इसके उच्चारण में जिह्वा की नोक दंतमूलों की ओर इस प्रकार उठती है कि बर्त्स के अग्र भाग तथा दोनों ओर से ऊपर की ओर मुड़े हुए शुषिर जिह्वाफलक के बीच एक संकीर्ण मार्ग बन जाता है, जिससे वायु संघर्ष की सीत्कार ध्वनि के साथ बाहर निकलती है। तालव्य श् तथा मूर्धन्य ष् के उच्चारण की अपेक्षा इसके उच्चारण में वायु के निःसरण का मार्ग अधिक संकीर्ण रहता है। उदा० सफल, निवासी, दस।

§ २४२. प्राचीन ग्रंथों में इसका वर्णन दंत्य कहकर किया गया है क्योंकि इसके उच्चारण में जिह्वाग्र ऊपर के मध्यवर्ती दाँतों के निकट पहुँच जाता है। दंत्य व्यंजनों के साथ इसका उच्चारण पूर्णतः दंत्य ही होता है, जैसे हस्त, वत्स।

§ २४३. स के बाद कोई मूर्धन्य व्यंजन रहने पर जिह्वा ऊपर उठ जाती तथा मसूड़ों से वर्त्स की ओर खिंच जाती है। इस प्रकार उसमें कुछ मूर्धन्य प्रयत्न आ जाता है जो ष् से भिन्न और बहुत ही कम कहा जाएगा। उदा० मास्टर, बस ठीक है।

§ २४४. ह्—यह कंठद्वारीय महाप्राण ऊष्म ध्वनि का संकेतक है। उच्चारण में स्वरतंत्रियाँ पहले श्वास के निःसरण के लिये पूर्णतः उन्मुक्त रहती हैं, फिर उनका संवार होने लगता है और वे परवर्ती स्वर के लिये घोष की स्थिति में पहुँच जाती हैं अथवा स्वरतंत्रियाँ यदि पहले से घोष की स्थिति में रहीं तो उनका विवार हो जाता है और वे श्वास की स्थिति में पहुँच जाती हैं। स्वरतंत्रियों के श्वास की स्थिति से घोष की स्थिति में अथवा घोष की स्थिति से श्वास की स्थिति में पहुँचने के व्यापार में फेफड़े से जो सवेग वायु का निक्षेप होता है, उसी से ह् ध्वनि का निर्माण होता है।

§ २४५. इसके उच्चारण में प्रतिध्वन प्रकोष्ठ की स्थिति पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती ध्वनि की रहती है आरंभिक और अंतिम ह् के उच्चारण में श्वास का निर्गमन अघोष होता है, परंतु द्विस्वरांतर्गत अथवा स्वर और अघोष व्यंजन के बीच आने पर वह पूर्णतः सघोष रहता है। उदा० हाथ, सहाय, चाह (देखिए तरंगलेख १३, ३, ४)।

§ २४६. प्राचीन ग्रंथों में इसे ऊष्म तथा औरस्य अर्थात् उरस् से बनी हुई ध्वनि कहा गया है, क्योंकि इसके उच्चारण में फेफड़े से महाप्राणवायु जोर से निक्षिप्त होती है। इसके उच्चारण में कंठद्वार पूर्णतः खुला रहता है और वायु के निःसरण का नियमन प्रायः कंठप्रदेश में होता है। इसी कारण इसे कंठ्य ध्वनियों के साथ परिगणित किया जाता है। परंतु अंतःस्थ य या व के पूर्व संयुक्त रूप में यदि ह ध्वनि आए तो उसका नियमन क्रमशः कठोर तालु और ओष्ठ-प्रदेश के बीच होता है, जैसे बाह्य, विह्वल आदि में।

§ २४७. अंग्रेजी की ध्वनिविज्ञान की पुस्तकों में ह को संघर्षी ध्वनि माना गया है। पर हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में ह के उच्चारण में संघर्ष की अपेक्षा महाप्राणत्व का ही प्राधान्य पाया जाता है। प्रारंभिक और अंत्य ह में तो संघर्ष की मात्रा नाममात्र को ही रह जाती है। रह जाता है उसका केवल

महाप्राणत्व जो रागात्मक तत्व के रूप में अनेक रंग प्रकट करता है। (दे०—महाप्राणत्व के राग के अंतर्गत §§ ४५८, ४६१-६३, ४६६-६६, ४७१)।

§ २४८. हिंदी के ख, घ आदि महाप्राण व्यंजनों में जो महाप्राणत्व है वह इस स्वतंत्र ह से भिन्न है, क्योंकि उनके उच्चारण में स्पर्श व्यंजनों के साथ ह् का स्वतंत्र रूप में अनुगमन नहीं होता, वरन् उनमें महाप्राणवायु उनका अंतर्भुक्त अंग बनकर उनके उन्मोच के साथ यौगपदिक प्रयत्न के फलस्वरूप निःसृत होती है। अतः ख्, घ् आदि को क्+ह्, ग्+ह् आदि का संयुक्त या आनुक्रमिक रूप नहीं माना जा सकता।

§ २४६. : (विसर्ग)—यह चिह्न विसर्ग ध्वनि के लिये प्रयुक्त किया जाता है, जिसके उच्चारण में प्रयत्न तो वही रहता है जो ह् के उच्चारण में, अंतर केवल यह है कि यह प्रयत्न आद्योपांत अघोष रहता है क्योंकि इसके उच्चारण में कंठद्वार का विवार हो जाता है। इसमें संघर्ष की मात्रा साधारण ह् की अपेक्षा कुछ अधिक रहती है, क्योंकि वायु का निक्षेप बल और झटके से होता है। विसर्ग की ध्वनि वस्तुतः पूर्ववर्ती स्वर का अघोष प्रलंबन तथा 'आश्रय-स्थान-भागी' है। इसका प्रयोग मध्यवर्ती स्थान में व्यंजनपूर्व और अंत्य स्थान में होता है। छः, छिः, आः, ओः आदि जैसे कुछ बोलचाल के शब्दों के अतिरिक्त संस्कृत के तत्सम शब्दों में ही विसर्ग का व्यवहार पाया जाता है।[1] उदा० दुःख, अंतःपुर, अंतःकरण, मनःस्थिति, वस्तुतः, अतः, स्वतः, स्वभावतः, क्रमशः, प्रायः, निःसंदेह।

§ २५०. प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में विसर्ग या विसर्जनीय के दो प्रधान भेद बताए गए हैं, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय, जिनका प्रयोग क्रमशः क, ख के पूर्व तथा प फ के पूर्व होता था। जिह्वामूलीय विसर्ग में वायु का नियंत्रण कोमल तालु के पास जिह्वामूलीय प्रदेश में होता था और उपध्मानीय में दोनों ओठों के बीच। जिह्वामूलीय विसर्ग के लिये वज्राकार चिह्न निर्धारित था तथा उपध्मानीय के लिये गजकुंभाकृति चिह्न, जैसे

जिह्वामूलीय—अंतःकरण, (अंत×करण)
उपध्मानीय—अधःपतन ततः किम् (तत×किम्)।
(अध ⏜⏜ पतन), पुनः पुनः (पुन ⏜⏜ पुनः।)
परंतु अब ये भेद नगण्य हैं।

१ विसर्ग के उच्चारण में संस्कृत के बहुतेरे पंडित आजकल प्रायः उसके पीछे उसके पूर्ववर्ती स्वर को एक झटके के साथ दुहराकर उसे पूरा सघोष ही बना डालते हैं, जिससे वह घोष ह से भिन्न नहीं रह जाता, जैसे, रामः के स्थान में रामह, मुनिः के स्थान में मुनिहि।

§ २५१. इन संघर्षी ध्वनियों के अतिरिक्त विदेशी भाषाओं के आगत शब्दों में वैकल्पिक रूप से कुछ अन्य संघर्षी व्यंजनों के भी प्रयोग हिंदी में पाए जाते हैं, जिनका वर्णन नीचे किया जाता है :

§ २५२. ख़—इसके द्वारा काकलकीय या जिह्वामूलीय अघोष महाप्राण संघर्षी व्यंजन ध्वनि का संकेत किया जाता है। उर्दू में इसके लिये خ संकेत का प्रयोग किया जाता है। इस ध्वनि के उच्चारण में जिह्वामूल अलिजिह्वा से इस प्रकार जुड़ जाता है कि उससे वायु रुकती नहीं, बल्कि संघर्ष करती हुई बाहर निकलती है। ख़र्राटा, ख़ुर्राट जैसे बोलचाल के दो चार शब्दों को छोड़कर अन्यत्र अरबी फारसी से आगत, तत्सम शब्दों में ही जानकार शिक्षित व्यक्तियों द्वारा इसका प्रयोग होता है। अन्यथा इसके स्थान में स्पृष्ट ख का ही व्यवहार होता है। उदा० ख़बर, बुख़ार, शाख़।

§ २५३. फारसी के प्रभाव या मिथ्या सादृश्य के कारण दक्खिनी के अशिक्षित बोलनेवाले हिंदी के ठेठ शब्दों में तथा वहाँ भी जहाँ आगत शब्दों में इस ध्वनि का प्रयोग नहीं है, इसका व्यवहार कर डालते हैं, जैसे राख़, ख़ाख़ (ख़ाक), तोशख़ (तोशक)।

§ २५४. ग़—ग के नीचे बिंदु लगाकर काकलकीय या जिह्वामूलीय संघर्षी व्यंजन ध्वनि का संकेत किया जाता है। उर्दू में इसके लिये غ चिह्न का प्रयोग किया जाता है। इस ध्वनि का उच्चारण ख़ के समान ही किया जाता है; अंतर यही है कि इसके उच्चारण में स्वरतंत्रियाँ घोष की स्थिति में आ जाती हैं। 'ग़टरगूँ' आदि जैसे दो एक बोलचाल के शब्दों को छोड़कर अन्यत्र इसका व्यवहार केवल अरबी फारसी से आगत तत्सम शब्दों में ही जानकार शिक्षित व्यक्तियों द्वारा किया जाता है। अन्यथा इसके स्थान में स्पृष्ट ग का ही व्यवहार किया जाता है। उदा० ग़ैर, ग़लती, बग़ैर, बाग़।

§ २५५. दक्खिनी के अशिक्षित बोलनेवाले फारसी के प्रभाव या मिथ्या सादृश्य के कारण हिंदी के ठेठ शब्दों में तथा वहाँ भी जहाँ आगत शब्दों में यह ध्वनि नहीं है, इसका प्रयोग कर डालते हैं, जैसे बेग़ाम, उग़ालदान।

§ २५६. ज़—इस संकेत के द्वारा वर्त्स्य, संघर्षी सघोष ऊष्म ध्वनि को द्योतित किया जाता है। अरबी लिपि में स्थानभेद के अनुसार इस सघोष संघर्षी ध्वनि के लिये कई चिह्न प्रयुक्त होते हैं, पर उर्दू में उन सबका एक जैसा उच्चारण होता है। इस वर्त्स्य ध्वनि का उच्चारण स के उच्चारण से केवल इस बात में भिन्न है कि इसमें स्वरतंत्रियाँ घोष की स्थिति में आ जाती हैं और संघर्ष में विशेष तीव्रता नहीं होती। अरबी फारसी के आगत शब्दों में ही जानकार शिक्षित व्यक्तियों द्वारा इसका

व्यवहार होता है। अन्यथा इसके स्थान में स्पष्ट ज का ही प्रयोग होता है। उदा॰ ज़ोर, ज़्यादा, मज़ा, ख़ज़ाना, तेज़, नाज़।

§ २५७. ब्रजभाषा, अवधी तथा हिंदी क्षेत्र की अन्य बोलियों में इसके स्थान में कभी कभी द या र का भी व्यवहार होता है, जैसे कागज़ के स्थान में कागद या कागर।

§ २५८. मराठी में स्पर्श संघर्षी ज के उच्चारण में यही ध्वनि सुनाई पड़ती है, जैसे ज़िव्हाळा (प्रेम), ज़प (ध्यान दो)। परंतु कुछ शब्दों में बर्त्स्य संघर्षी ज़ और तालव्य संघर्षी ज़ में अर्थभेद का उदाहरण पाया जाता है, जैसे :

ज़प (बर्त्स्य संघर्षी ज़ के साथ) = प्रार्थना

किंतु ज़प (तालव्य संघर्षी ज़ के साथ) = ध्यान रखो।

§ २५९. संधि रूप में ह के पूर्व ज़ का प्रायः महाप्राण उच्चारण होता है, जैसे इज़हार > इज़्हार, मज़हब > मज़्हब।

§ २६०. फ़—यह दंत्यौष्ठ्य, अघोष, महाप्राण संघर्षी व्यंजनध्वनि का संकेतक है। उर्दू में इसके लिये ف चिह्न का प्रयोग होता है। इसके उच्चारण में नीचे के ओठ का भीतरी भाग और ऊपर के दाँत इस प्रकार हलके से सट जाते हैं कि वायु अवरुद्ध न होकर उनके बीच बचे हुए रंध्रों से संघर्ष के साथ निकलती है। स्वरतंत्रियों में कंपन नहीं होता। इसका व्यवहार फारसी, अरबी तथा अँगरेजी के आगत शब्दों में ही जानकार शिक्षित व्यक्तियों द्वारा किया जाता है, अन्यथा इसके स्थान में स्पष्ट फ का ही प्रयोग होता है।

उदा॰—फ़ारसी, सफ़ा, तरफ़

फ़ीस, आफ़िस, सेफ़, सोफ़ा

§ २६१. अनजान वक्ताओं द्वारा बोलचाल में इसके स्थान में प्रायः द्व्योष्ठ फ़ का व्यवहार किया जाता है, जिसके उच्चारण में दोनों ओठों के बीच संघर्ष की ध्वनि उत्पन्न होती है। आवश्यकतानुसार इसके लिये फ़ चिह्न का प्रयोग किया जा सकता है। मुँह से फूँककर चिराग बुझाते समय जैसा प्रयत्न होता है, वैसा ही प्रयत्न और वैसी ही ध्वनि इस द्व्योष्ठ उच्चारण में होती है।

§ २६२. फ—बोलचाल में स्पष्ट फ के भी अनाद्य स्थानों में प्रायः इस द्व्योष्ठ्य संघर्षी फ़ का व्यवहार पाया जाता है, जैसे फरफ़ंदी, बाफ़, कफ़, फरफ़राना, फ़ुफ़कार, बफ़ारा, हाँफ़ना।

§ २६३. मैथिली बोलनेवाले कुछ मुसलमान सफ़ा, फ़ेलेना आदि शब्दों में इसी फ़ का व्यवहार करते हैं।

§ २६४. व़्—इस चिह्न के द्वारा उस दंत्यौष्ठ्य सघोष महाप्राण संघर्षी व्यंजनध्वनि को संकेतित किया जा सकता है, जिसका व्यवहार जानकार शिक्षित व्यक्तियों द्वारा अँगरेजी के तत्सम आगत शब्दों में V के स्थान में प्रायः किया जाता है। फ़ और इसके उच्चारण में केवल यही अंतर है कि इसमें स्वरतंत्रियाँ घोष की स्थिति में रहती हैं और इसमें फ़ की अपेक्षा संघर्ष की तीव्रता कम होती है। अँगरेजी के V के उच्चारण से भी इसमें संघर्ष की मात्रा क्षीण होती है। उदा० व्हॉट, व्हैन, व्होलीबाल, प्राइव्हेट, ड्राइव्हर, स्टोव्ह। बराबिकोव्ह, मोलोटोव्ह आदि रूसी नामों में भी इसी ध्वनि का व्यवहार हिंदी क्षेत्र में होता है।

§ २६५. इस ध्वनि को व्+ह् का संयुक्त रूप नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसके उच्चारण में संयुक्त वर्णों में प्रयत्न की जो दृढ़ता होती है, उसका अभाव है तथा इसका महाप्राणत्व व् का एक अंतर्भुक्त अभिन्न अंग है।

§ २६६. दक्खिनी में व् के बाद कोई स्वर और पुनः उसके बाद ह् की ध्वनि आने पर इस ध्वनि का संभिगत प्रयोग होता है, यथा वहाँ > व्हाँ, वहीं > व्हई।

§ २६७. इस ध्वनि का प्रयोग अँगरेजी V के स्थान के अतिरिक्त मराठी के कुछ देशी शब्दों में भी होता है, जैसे व्हावा (होना चाहिए), जिव्हाळा (प्रेम)। संस्कृत के जिह्वा शब्द का उच्चारण भी मराठी भाषी जनसाधारण में 'जिव्हा' होता है।

§ २६८. इसके स्थान में साधारण बोलचाल में प्रायः इसके द्व्योष्ठ्य संघर्षी रूप का व्यवहार होता है, जिसे चाहें तो भ् चिह्न के द्वारा संकेतित किया जा सकता है। इसमें महाप्राणत्व का अंश विशेष नहीं होता। बहुतेरे लोग इसके लिये दंत्यौष्ठ्य व, द्व्योष्ठ्य व् अथवा स्पृष्ट भ का भी व्यवहार करते हैं।

§ २६९. अनाद्य स्पृष्ट स्थान में भी भ के शिथिल उच्चारण में कई लोग प्रायः भ् की ध्वनि का व्यवहार करते हैं, जैसे सुभानअल्लाह, स्वभाव, जीभ्।

§ २७०. मैथिली बोलनेवाले कई मुसलमान तथा कुछ अन्य लोग भी सभा, लोभार (लुआर का स्थान), गाभिन आदि शब्दों में इसी ध्वनि का व्यवहार करते हैं।

अर्धस्वर या अंतःस्थ[1]

§ २७१. य् और व् को भारतीय वैयाकरणों ने अंतःस्थ कहा है, क्योंकि इनका उच्चारण स्वर और व्यंजन दोनों के बीच में है। इसी दृष्टि से इन्हें अर्धस्वर

[1] य्, व् के अतिरिक्त र्, ल् को भी संस्कृत व्याकरण में अंतःस्थ माना गया है, क्योंकि ये ध्वनियाँ भी इन्हीं के समान तरल हैं।

भी कहा जाता है और ईषत्स्पृष्ट की कोटि में रखा जाता है। इनके उच्चारण में संघर्ष भी नहीं होता। स्वनिमात्मक मूल्य के अतिरिक्त अंतःस्थों का प्रचुर रागात्मक महत्व भी है। स्वरानुक्रमों के प्रसंग में इनके श्रुतिगत रागात्मक पक्ष की चर्चा की जा चुकी है (देखिए § ११७, ११८)।

§ २७२. य्—इसके द्वारा संकेतित तालव्य अथवा अग्र अगोलीकृत सघोष अर्धस्वर के उच्चारण में जिह्वाग्र संवृत या अर्धसंवृत स्थान की ओर उठता है और तालु के दोनों ओर इकार से कम विवृत और च, श आदि अन्य तालव्य व्यंजनों से कम संवृत स्थिति को पहुँचकर तुरंत परवर्ती स्वर की स्थिति के लिये संचरण कर देता है। इसके अनेक उच्चारणभेद या रागात्मक रूप संभव हैं जो पूर्ववर्ती और परवर्ती ध्वनियों के स्वरूप पर निर्भर हैं। हिंदी में प्रायः इसमें व्यंजनात्मक तत्व कम और रागात्मक तत्व ही अधिक पाया जाता है। उदा० यद्यपि, दया, गाय।

§ २७३. प्राचीन शिक्षाग्रंथों में 'य' के उच्चारण के विषय में बताया गया है कि वह आरंभ में 'गुरु', मध्य में 'लघु' और अंत में 'अतिलघु' होता है। यह वर्णन हिंदी के य के उच्चारण में अब भी ठीक बैठता है।

§ २७४. प्रारंभिक य अपने 'गुरु' उच्चारण के कारण ही हिंदी क्षेत्र की बोलचाल की भाषाओं में 'ज' व्यंजन के रूप में परिणत हो गया है, जैसे जद्यपि, जमुना, आदि। अशिक्षित या असावधान वक्ताओं द्वारा हिंदी के आद्य य के उच्चारण में प्रायः 'इ' का अग्रागम हो जाता है, जैसे याद—इयाद, यार—इयार। इसके विपरीत दक्खिनी में प्रारंभिक ए या ऐ के उच्चारण में य-श्रुति का अग्रागम होता है, जैसे, येक 'एक'।

§ २७५. अँगरेज आदि विदेशी लोगों के उच्चारण में य के व्यंजन गुण को अधिक प्राधान्य देने की प्रवृत्ति पाई जाती है जो ठीक नहीं जँचती।

§ २७६. इ अ, इ आ, ए अ, ए आ आदि स्वरानुक्रम के बीच य की श्रुति अधिक गुरु होती है, जैसे प्रिय, पूजनीय, क्रिया, लिया, पेय, श्रेय, खेया। संध्यक्षर स्वर ऐ (अइ) के बाद य-श्रुति की गुरुता और बढ़ आती है, यथा—ऐयार, मैया, तैयार, फैयाज। ऐसी स्थितियों में इस गुरुता को व्यक्त करने के लिये कुछ लोग लिखने में संयुक्त य् का प्रयोग करते हैं, जैसे ऐय्यार, मैय्या, तैय्यार।

§ २७७. ह् के परवर्ती य् का उच्चारण संघर्ष के साथ होता है, जैसे बाह्य, सह्य।

§ २७८. व्यंजनों के परवर्ती संयुक्त रूप में उच्चरित य उनके तालव्यीकरण की प्रक्रिया का साधन बन जाता है, जैसे प्यार, ध्यान, सत्य।

§ २७९. अय् अनुक्रम के उच्चारण में य् की उपलब्धि प्रायः संध्यक्षर स्वर के रूप में होती है, यथा—जय > जै, तय > तै, शयन > शैन, नयन > नैन।

§ २८० आय् अनुक्रम का भी अंत्य स्थान में संध्यक्षर स्वर के रूप में उच्चारण होता है, जैसे राय्, गाय्, जाय्।

§ २८१. निकटस्थ सानुनासिक स्वरों या व्यंजनों के प्रभाव से 'य्' में अनुनासिकता का भी संचार हो जाता है, यथा आयाँ, रम्यँ।

§ २८२. हिंदी क्षेत्र में संयुक्त ज्+ञ् (ज्ञ) का उच्चारण शिक्षित वक्ताओं द्वारा प्रायः 'ग्यँ' के रूप में किया जाता है, जिसका अंतिम 'यँ' अनुनासिक है (देखिए 'आज्ञा' का तालुलेख सं० ६)।

§ २८३. व्—यह संकेत सघोष दंत्यौष्ठ्य पश्च वर्तुल अर्धस्वर का द्योतक है, जिसके उच्चारण में जिह्वापश्च उकार के समान संवृत या अर्धसंवृत स्थान तक उठता है और तुरंत परवर्ती स्वर के स्थान में पहुँच जाता है। नीचे के ओठ का भीतरी अंश ऊपर के दाँतों से हलके से इस प्रकार सट जाता है कि उनके रंध्रों से बिना संघर्ष के वायु निकलती है। दोनों ओठ तनिक संकुचित होकर गोल बन जाते हैं और परवर्ती स्वरों के अनुसार इसके उच्चारण में अनेक रागात्मक भेद संभव हैं। हिंदी में प्रायः इसमें व्यंजनात्मकता से अधिक स्वरात्मकता ही पाई जाती है। उदा० विषय, युवक, झुकाव।

§ २८४. अधिकतर बोलचाल में दंत्यौष्ठ्य व के स्थान में द्वयोष्ठ्य व का ही व्यवहार होता है, जिसके उच्चारण में दोनों ओठ दोनों किनारों पर परस्पर स्पर्श करते हुए बीच में गोलाकार होकर वायु के निकलने का थोड़ा मार्ग छोड़ देते हैं। दंत्यौष्ठ्य व् से इसका उच्चारणभेद स्पष्ट करने के लिये इसे व़् चिह्न से द्योतित कर सकते हैं, जैसे विचार, जवाब, नाव।

§ २८५. संयुक्त अक्षरों के परवर्ती स्थान में व का उच्चारण बहुधा द्वयोष्ठ्य ही होता है, यथा ज्वाला, स्वाद, विश्व।

§ २८६. संघर्षी व्यंजन श, स और ह से संयुक्त व् में कुछ संघर्ष का संनिवेश हो जाता है, जैसे स्वामी, स्वर, स्वाहा, ह्रस्व, रिश्वत, विश्व, जिह्वा।

§ २८७. य के समान ही आद्यस्थान में व के उच्चारण में गुरुत्व या व्यंजनात्मक तत्व अधिक, मध्य में लघु और अंत में अतिलघु रहता है। इसी कारण बोलचाल की भाषाओं में आरंभिक व द्वयोष्ठ्य व्यंजन ब के रूप में परिणत हो गया है। जैसे—बट, बिहार, बचन, बिचार।[1]

[1] व और ब के बीच इस प्रकार की भ्रमात्मक प्रवृत्ति के उदाहरण संस्कृत में भी मिलते हैं, जिससे एक ही शब्द के दो रूप हो गए हैं, जैसे वृहत् और बृहत्, वहिर् और बहिर्।

§ २८८. असावधान या अशिक्षित वक्ताओं के उच्चारण में प्रारंभिक व के पहले प्रायः 'उ' का अग्रागम हो जाता है अथवा उ या ओ से उसका स्थानांतरण हो जाता है, जैसे

वादा—उवादा	वहाँ—उहाँ
वही—ओही	वजह—ओजह

§ २८९. कन्नौजी, भोजपुरी आदि कुछ स्थानीय बोलियों में मध्यवर्ती व् का उच्चारण प्रायः उ के रूप में होता है, जैसे कन्नौजी में बगावत के लिये बिगाउत, सोवत के लिये सोउत; भोजपुरी में कहाउत, राउत, चाउर।

§ २९०. ह् के परवर्ती व के उच्चारण में संघर्ष का संनिवेश हो जाता है, यथा विह्वल, गह्वर।

§ २९१. ओ अ तथा ओ आ स्वरानुक्रमों के बीच व का उच्चारण अपेक्षाकृत अधिक गुरु होता है, जैसे योवन, पोवा, सोवा।

§ २९२. संध्यक्षर औ (अउ) के बाद व् का उच्चारण और भी अधिक गुरुत्वपूर्ण होता है, जैसे कौवा, खौवा। इस गुरुता को व्यक्त करने के लिये लिखने में कभी कभी व के द्वित्व रूप का प्रयोग किया जाता है, यथा कौव्वा।

§ २९३. अव् अनुक्रम में व् संध्यक्षर स्वर औ (अव्) के श्रुतिरूप में उच्चरित होता है, यथा

नव > नौ	लव > लौ
जव > जौ	सवत > सौत
दवनी > दौनी	

§ २९४. आव् अनुक्रम में भी अंत्य स्थान में व् की प्रायः संध्यक्षर स्वर के रूप में श्रुत्यात्मक उपलब्धि होती है, यथा नाव, राव।

§ २९५. उर्दू, दक्खिनी तथा हिंदी क्षेत्र की अन्यान्य बोलियों में इ और ए के बाद भी व् प्रायः श्रुतिगत संध्यक्षर स्वर के रूप में उच्चरित होता है, जैसे

शिव > शिउ	जीव > जीउ
देव > देओ	सेव > सेओ

§ २९६. अनुनासिक स्वरों या व्यंजनों के समीपवर्ती व् का भी अनुनासिक उच्चारण होता है, यथा गाँवँ, नवाँ।

संयुक्त व्यंजन

§ २९७. व्यंजनात्मक इकाई से निर्मित उपर्युक्त ध्वनियों में से कई प्रायः संयुक्त रूप में भी व्यवहृत होती हैं। इन संयुक्त व्यंजनों में कुछ तो द्वित्व हैं और कुछ भिन्न इकाइयों से निर्मित। इनमें प्रायः अर्थभेदकता के उदाहरण मिलते हैं और इस आधार पर इन्हें विभिन्न स्वनिमात्मक तत्वों के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। उदा०

पका	पक्का	पता	पत्ता
लता	लत्ता	गदा	गद्दा
चपल	चप्पल	कथा	कत्था

§ २९८. कुछ ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जिनमें अल्पप्राण व्यंजनों के द्वित्वों तथा अल्पप्राण के साथ महाप्राण रूपों के द्वित्वों में परस्पर भेदकता पाई जाती है, जैसे कच्चा–कच्छा, पत्तर–पत्थर।

§ २९९. इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जिनमें अर्थ-भेदकता का तत्व नहीं पाया जाता और जो संयुक्त तथा असंयुक्त दोनों रूपों में उच्चरित होते हैं, जैसे

रखा	रक्खा	चखा	चक्खा
गिनी	गिन्नी	चुप	चुप्प

§ ३००. संयुक्त व्यंजनों के उच्चारण में असंयुक्त इकहरे व्यंजनों की अपेक्षा अवरोध अथवा संकोच की मात्रा कहीं अधिक होती है और अधिक शक्ति लगानी पड़ती है, जैसे पत्थर, हिस्सा, विक्रम, हड्डी। व्यंजन द्वित्वों को हम दीर्घ व्यंजन कह सकते हैं। स्पर्श तथा अनुनासिक व्यंजनों के द्वित्वों में पहले व्यंजन के स्फोट या उन्मोच तथा दूसरे के स्पर्श का लोप हो जाता है और प्रथम व्यंजन का स्तंभ दूसरे व्यंजन के उन्मोच तक बना रहता है। पता के 'त' से पत्ता के 'त्त' में स्पर्श और स्फोट के बीच का स्तंभ कहीं अधिक दीर्घ है (देखिए—तरंगलेख सं० ५-६)।

प्　अ　त्　आ

प्　अ　त्　त्　आ

(तरंग लेख ५–६)

§ ३०१. न्ह, म्ह, ल्ह के उच्चारण में अधिक शक्ति का उपयोग नहीं करना पड़ता और उनका उच्चारण असंयुक्त व्यंजनों के समान ही होता है। इसीलिये उन्हें शुद्ध महाप्राण व्यंजनों के रूप में ही ग्रहण किया है।

किंतु चिह्न, अपराह्न आदि तद्भव रूपों का ह्न और ब्रह्म के ह्म का उच्चारण संयुक्तवत् होता है। ऐसे कुछ शब्दों में इनके उच्चारण में भी वैसा ही तनाव और विलंबित स्तंभ होता है जैसा और संयुक्त व्यंजनों में। ऐतिहासिक दृष्टि

से भी क्ष, ह्न, इन संयुक्त व्यंजनों के विपर्यय के परिणाम और उनकी कालमात्रा के पूरक हैं।

§ ३०२. आद्य संयुक्त व्यंजनों के उच्चारण में भी विशेष शक्ति का प्रयोग नहीं करना पड़ता है, जैसे प्रसाद, प्यास, स्वर, क्षमा, ज्ञान, त्रास।

§ ३०३. हिंदी में अधिक से अधिक तीन व्यंजनों के संयुक्त रूप मिलते हैं, जैसे सपत्न्य, माहात्म्य, पत्र, शास्त्र, राष्ट्र, मत्स्य। कुछ संस्कृत रूपों में चार व्यंजनों का संयोग भी पाया जाता है, जैसे – बर्त्स्य, स्वातंत्र्य।

§ ३०४. संयुक्त व्यंजन आदि, अंत और मध्य तीनों स्थानों में पाए जाते हैं जैसे व्रत, प्याला, क्या, ध्रुव, गड्ढा, पुत्री, सत्तर, पुत्र, विप्र।

परंतु आद्य स्थान में द्वित्व व्यंजन नहीं पाए जाते। सिंधी में आद्य द्वित्व पाए जाते हैं, जैसे ड्ढो 'ढ्ढ', ग्गरो 'भारी', ग्गइणु 'जाना'। आद्य स्थान में स्पर्श, अनुनासिक तथा संघर्षी व्यंजनों का पारस्परिक संयोग भी नहीं पाया जाता परंतु य, र, ल, व के अनुक्रम के साथ उनके संयुक्त रूपों का व्यवहार होता है, जैसे प्रेम, श्रम, ह्रास, क्लीव, प्लुत, प्यार, क्यारी, श्याम, ग्वाला, स्वर, श्वास। इनके अतिरिक्त क्+ष् (क्ष्) और ज्+ञ् (ज्ञ) के संयुक्त खंड का भी आद्य स्थान में प्रयोग होता है (दे०—§ ३११, ३१६)।

§ ३०५. अनुनासिक व्यंजनों में केवल न और म के द्वित्व रूप मिलते हैं, जैसे, अन्न, पन्ना, अम्मा। ऐसे शब्दों के लिखने में अनुस्वार का प्रयोग नहीं किया जाता। किंतु सम् उपसर्ग के म् के स्थान में अनुस्वारप्रयोग वैकल्पिक रूप से होता है, जैसे सम्मति वा संमति, सम्मुख वा संमुख।

§ ३०६. अंतिम स्थिति में प्रयुक्त संयुक्त व्यंजनों के उन्मोच के समय उच्चारण में एक हलकी 'अ' ध्वनि सुनाई पड़ती है, जिसका घोष अघोष व्यंजनों के बाद प्रायः लुप्त ही रहता है, जैसे अवश्य, मध्य, धन्य, प्रसन्न, उजड्ड, शुद्ध, स्वप्न, प्रारंभ, गर्व, स्वतंत्र, द्वंद्व, तीव्र, विश्व, जिद्द, हद्द, लड्ड, कष्ट। परंतु स्वतंत्र रूप से उच्चरित होने पर स्पर्श व्यंजनांत ऐसे शब्दों के अंत में जो लघुतर 'अ' की ध्वनि सुनाई पड़ती है, वह वाक्य में प्रयुक्त होने पर प्रायः नहीं सुनाई पड़ती है, क्योंकि स्पर्श या संकोच का अंत होते ही परवर्ती व्यंजन का प्रयत्न प्रारंभ हो जाता है, जैसे—बंद हो गया, कष्ट नहीं होता, वे प्रसन्न हैं।

§ ३०७. महाप्राण व्यंजनों के द्वित्व तथा अघोष और सघोष व्यंजनों के संयुक्त रूप नहीं मिलते। व्यंजन द्वित्वों के दोनों तत्व या तो अघोष होते हैं या सघोष और महाप्राण के पूर्व संयुक्त व्यंजन अल्पप्राण ही हो सकता है।

परंतु वाक्यों में व्यवहृत शब्दों के अंत और आदि के व्यंजनों की संधियों

में ऐसे अनुक्रम मिलते हैं, जैसे वह अभी मेरे साथ था। यह दुर्लभ फल है। वहाँ एक बस्ती बस गई है।

§ ३०८. यह ध्यान रखने की बात है कि वाक्यों में व्यवहृत शब्दों के अंत और आदि के व्यंजनों में जो संधिगत संयोग होते हैं, उनका उच्चारण स्वतंत्र रूप से व्यवहृत संयुक्त व्यंजनों से इस बात में भिन्न होता है कि उनमें उतनी शक्ति का प्रयोग नहीं करना पड़ता और उनके उच्चारण में न तो अवरोध या संकोच की सी दीर्घता ही होती है, जैसे जब यह बात चली तब वह चुप रह गया। वाक्य में त्‌व् और प्‌र् के संयुक्त रूप 'बच्चा' या 'सच्चिदानंद' और 'विप्र' में जो उनके संयुक्त रूप हैं, उनसे स्पष्टतः लघुतर प्रयत्न के हैं।

यही बात 'बातचीत' जैसे हिंदी के समस्त शब्दों के मध्य में प्रयुक्त व्यंजनानुक्रमों के संबंध में भी कही जा सकती है, ऐसे उदाहरणों में त्‌ची = च्ची के संयुक्त रूप का उदाहरण 'बच्ची' के 'च्ची' के संयुक्त रूप के उच्चारण से भिन्न है। उसमें उतनी शक्ति का प्रयोग नहीं पाया जाता।

§ ३०९. वाक्यों में व्यवहृत शब्दांत्य तथा शब्दाद्य व्यंजनों के संयुक्त रूपों को यदि पृथक् पृथक् स्वनिमात्मक तत्वों के रूप में लिया जाय, जैसा कुछ भाषाविज्ञानियों का मत है, तो संयुक्त स्वनिमों की संख्यावृद्धि से एक बहुत विशाल वर्णमाला प्रस्तुत हो जायगी। अच्छा तो यही है कि उन्हें संधियों के रागात्मक तत्व के अंतर्गत ही ग्रहण किया जाय।

§ ३१०. हिंदी क्षेत्र की बोलियों में तथा उर्दू, दक्खिनी और पंजाबी में संयुक्ताक्षरों के उच्चारण में प्रायः स्वरभक्ति के उदाहरण मिलते हैं, जैसे परसाद, रतन, पिरीति, रामचंदर, इंदर, पयार, भगत, किशन या किशुन, तिरशूल।

बोलियों में आद्यस्थान में संयुक्त व्यंजनों का प्रयोग नहीं होता और उनका विप्रकर्ष हो जाता है, जैसे कलेश, किरिया, पिरीति, परान।

बोलचाल में प्रायः आद्यस्थान में 'स' के साथ संयुक्त रूपों के उच्चारण में 'अ' या 'इ' का आगम पाया जाता है जैसे असनान या अस्नान, अस्थिर, इस्त्री, अस्टेशन या इसटेशन, इसकूल। वैकल्पिक उच्चारण टेशन, अथवा पंजाब में सटेशन, सकूल, सथान आदि।

§ ३११. क्‌+ष् के संयुक्त रूप के उच्चारण में ऊष्म ध्वनि का उच्चारण प्रायः स्पर्श संघर्षी रूप में होता है। इसे एक विशेष लिपिचिह्न 'क्ष' द्वारा संकेतित किया जाता है (इसके विशेष विवरण के लिये देखिए—§ २३९ तथा तालुलेख ८.)। उदा० क्षमा, भिक्षा, दक्ष।

§ ३१२. गुजराती, तेलुगु और कन्नड़ में 'क्ष' का उच्चारण हिंदी के समान ही होता है।

§ ११३. यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना अप्रासंगिक न होगा कि 'प्रयोगरत्नमाला' व्याकरण में 'क्ष्' को एक पृथक् स्वतंत्र व्यंजन माना गया है। संभवतः इसी का अनुसरण करके कुछ कोशकारों ने क्षकार को षकार से पृथक् मानकर क्षकारांत शब्दों का पाठ पृथक् दिया है।

§ ११४. बोलियों में तथा जनसाधारण की बोलचाल में 'क्ष्' के स्थान में आदि में तो प्रायः 'छ्' और अन्यत्र 'च्छ्' का उच्चारण होता है, यथा छमा, भिच्छा, पच्छ (देखिए—§ २४०)।

§ ११५. बँगला तथा उड़िया में 'क्ष' का उच्चारण आद्यस्थान में 'ख' तथा अन्यत्र 'क्ख' के रूप में होता है, यथा खॆमा, भिक्खा। 'लक्ष्मी' के संयुक्त व्यंजनों का भी उच्चारण बँगला में 'लॅक्खी' होता है।

§ ११६. ज्+ञ् के संयुक्त रूप का उच्चारण हिंदी में प्रायः 'ग्यँ' के रूप में होता है। इस उच्चारण में कंठ्य स्पर्श का उन्मोच करते समय जिह्वा तालु की ओर संवृत या अर्धसंवृत स्थान तक उठ जाती है तथा नीचे झुका हुआ कोमल तालु भी कुछ ऊपर उठ जाता है, जिसके कारण वायु का कुछ अंश मुख से और कुछ नासिकाविवर से निकलता है। इसको अनुनासिक कंठ्यतालव्य सघोष ध्वनि कहा जा सकता है। देवनागरी में इसके लिये एक विशेष लिपिचिह्न 'ज्ञ' का प्रयोग किया जाता है। उदा० ज्ञान, आज्ञा, अभिज्ञ। कुछ संस्कृतज्ञ विद्वान् इसका शुद्ध उच्चारण 'ज्यँ' के रूप में करते हैं।

§ ११७. हिंदी के समान तेलुगु और कन्नड़ में भी इस संयुक्त ध्वनि का उच्चारण 'ग्यँ' जैसा ही होता है। तमिल में तो यह ध्वनि है ही नहीं। मराठी में इस व्यंजनानुक्रम का उच्चारण प्रायः 'द्न्यँ' के रूप में किया जाता है और गुजराती में 'ग्न्यँ' के रूप में।

§ ११८. त्+र् के संयुक्त रूप के उच्चारण में त् के स्पर्श का जिह्वोत्कंप के साथ स्फोट होता है। इस ध्वनि के लिये नागरी में 'त्र' इस विशेष लिपिचिह्न का प्रयोग किया जाता है। उदा० त्रिभुवन, क्षत्रिय, पुत्र।

§ ११९. संस्कृत में नियम था कि स्वरों के परे तथा कुछ अन्य विशेष परिस्थितियों में रेफ और ह के साथ संयुक्त व्यंजनों का विकल्प से द्वित्व रूप में प्रयोग होता है, जैसे अर्क्क या अर्क, सूर्य्य या सूर्य, पूर्व्व या पूर्व, धर्म्म या धर्म वर्त्तमान या वर्तमान, परिवर्त्तन या परिवर्तन, ब्रह्म्मा या ब्रह्मा, पुत्त्र या पुत्र, इन्द्द्र या इंद्र, राष्ट्ट्र या राष्ट्र।[1] इस संबंध में पाणिनि ने अपने से पूर्व के वैयाकरण शाकटायन, शाकल्य तथा कुछ अन्य आचार्यों के मतों का उल्लेख किया

[1] अष्टाध्यायी : अचो रहाभ्यां द्वे (८-४-४६) से दीर्घादाचार्याणाम् (८-४-५२) तक।

है और उनके अनुसार द्वित्वरहित विकल्प का निर्देश किया है। हिंदी की प्रवृत्ति द्वित्वरहित सरल रूपों की ओर ही है, यद्यपि लिखने में अब भी कुछ लोग प्रायः सूर्य्य, पूर्व्व, सर्व्व, धर्म्म, परिवर्त्तन, कर्त्ता, भर्त्ता, भर्तृहरि आदि रूपों का व्यवहार करते हैं।

§ ३२०. ध्यान रहे, तत्त्व, महत्त्व, सत्त्व, जैसे संस्कृत के तत्सम शब्दों के उच्चरित या लिखित रूपों में किसी प्रकार के विकल्प की गुंजाइश नहीं है और इनके द्वित्वरहित रूप चिंत्य ही समझे जायँगे, क्योंकि इनमें 'त्व' प्रत्यय तत्, महत् और सत् के साथ जोड़ा गया है, जिससे द्वित्व रूप ही सिद्ध होता है।

§ ३२१. हिंदी में व्यवहृत संयुक्त व्यंजनों या व्यंजनानुक्रमों की एक तालिका यहाँ दी जा रही है (दे० तालिका सं० ४)। इनकी संख्या कुल मिलाकर २१६ है; जिनमें कुछ तो केवल आगत शब्दों में या थोड़े से इने गिने शब्दों में ही व्यवहृत होते हैं। इन्हें बड़े कोष्ठकों में दिखाया गया है। उर्दू जाननेवाले लोग क, ख, ग, ज फ, के संयुक्त रूपों के व्यवहार में प्रायः क़, ख़, ग़, ज़, फ़ का यथास्थान प्रयोग करते हैं।

हिंदी का रागात्मक पक्ष

अक्षर

§ ३२२. उच्चरित भाषा की महत्तम इकाई यदि वाक्य है तो लघुतम इकाई अक्षर है, जो स्वरव्यंजनों की परिवृत्तियों तथा श्वास के एक अनवरुद्ध नाड़ी-स्पंदन में उच्चरित होता है। यह एक वाक्य, वाक्यखंड पूर्ण शब्द या शब्दखंड भी हो सकता है।

§ ३२३. हिंदी के अक्षर या तो स्वर से प्रारंभ होते हैं या व्यंजन से। यदि शुद्ध और संध्यक्षर स्वरों के लिये अ (अच्) और व्यंजनों में लिये ह (हल्) का प्रयोग किया जाय, तो उच्चारणप्रक्रिया की दृष्टि से हिंदी अक्षर निम्नलिखित प्रकार के हो सकते हैं :

अ, अ ह, ह अ, ह अ ह, ह ह अ, ह ह ह अ।

§ ३२४. अवधी, भोजपुरी, ब्रजभाषा आदि बोलियों में अ ह अ॒ य ह अ ह अ॒ के रूप में उच्चरित अक्षर भी मिलते हैं; जैसे आजु, आगि॒, मधु।

§ ३२५. जिन अक्षरात्मक उच्चारणखंडों का अंत ह में होता है, उन्हें बद्ध और जिनका अंत अ में होता है उन्हें मुक्त अक्षर कह सकते हैं; जैसे 'आ' मुक्त अक्षर है और 'आल' बद्ध।

§ ३२६. सब, राम, तुम, मन, तीन, इन शब्दों में यद्यपि लिखित रूप में दो अक्षर प्रयुक्त हुए हैं तो भी क्योंकि हिंदी में इनके उच्चारण में अंत्य अ

अनुच्चरित रहता है, ये शब्द उच्चारणप्रक्रिया की दृष्टि से द्व्यक्षरात्मक ही माने जाएँगे।

§ ३२७. अनादि व्यंजनद्वित्वों तथा संयुक्त व्यंजनों का पहला व्यंजन अपने पूर्व के स्वर या व्यंजन+स्वर के साथ उच्चरित होता है और अ ह या ह अ ह के ढाँचे का पाया जाता है, जैसे :

अन्न (अन् + न)
अच्छा (अच् + छा)
खट्टा (खट् + टा)
पत्थर (पत् + थर)
मंत्री (मन् + त्री)

§ ३२८. अ वाले रूप का एकाक्षरात्मक शब्द हिंदी में केवल एक ही है—'आ'। इसके अतिरिक्त 'ए' और 'ओ' का व्यवहार संबोधन के साथ या विस्मयादिबोधक के रूप में होता है। हिंदी में व्यवहृत अक्षरों में अधिक संख्या ह अ वाले रूपों की ही है।

§ ३२९. उच्चरित ध्वनिखंडों के अक्षरों में स्वनिमात्मक इकाइयाँ तो अ और ह हैं और रागात्मक विशेषताएँ निम्नलिखित हो सकती हैं :

मात्रा—ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत।	सुर
अनुनासिकता	महाप्राणीप्रकरण
य, व श्रुतियाँ	काकल्यन
उत्कर्ष	संधि
गति	

इनमें जिन रागात्मक तत्वों का निर्देश उपर्युक्त स्वनिमात्मक स्वरव्यंजनों के प्रसंग में नहीं किया जा सका है, उन्हीं का विवेचन यहाँ संक्षेप में किया जा रहा है।

मात्रा

§ ३३०. उच्चरित शब्द या संबद्ध वाग्धारा में भिन्न भिन्न ध्वनियाँ परस्पर एक दूसरी की कालमात्रा से अपेक्षाकृत ह्रस्वतर या दीर्घतर होती हैं। किसी के उच्चारण में कम समय लगता है, किसी के उच्चारण में उससे अधिक। एक ही ध्वनि के उच्चारण की कालमात्रा में भी विभिन्न परिस्थितियों में अनेक भेद लक्षित होते हैं। ध्वनियों का ह्रस्वत्व और दीर्घत्व वस्तुतः सापेक्ष भावना पर ही आधारित है। ऐसी कोई निश्चित, निरपेक्ष सीमा नहीं है कि इतनी देर में उच्चरित ध्वनि को ह्रस्व और इतनी देर में उच्चरित होनेवाली ध्वनि को दीर्घ कहें। उच्चारण-काल-मात्रा के अगणित भेद संभव हैं। हिंदी में सामान्यतः उनके

दो स्वर पर्याप्त माने जाते हैं : ह्रस्व, जिसे रागात्मक दृष्टि से 'लघु' कहा जाता है; और दीर्घ, जिसे रागात्मक दृष्टि से 'गुरु' कहा जाता है। एक लघु स्वर के उच्चारण की कालमात्रा को परिमाण की इकाई मानकर उसे एक मात्रा के बराबर गिना जाता है और गुरु स्वरों तथा संध्यक्षरों को दो मात्राओं के बराबर। अक्षर को उसके स्वर की मात्रा की लघुता या गुरुता के अनुसार ही लघु या गुरु मानते हैं। छंदःशास्त्र में इन्हें अंकित करने के लिये क्रमशः '।' और 'ऽ' चिह्न निर्धारित किए गए हैं। एक तीसरा स्वर और भी है जिसे प्लुत कहते हैं। यह दीर्घ से भी अपेक्षाकृत अधिक दीर्घ, प्रायः दूना तिगुना विलंबित, होता है और इसका प्रयोग जोर से पुकारने में, संबोधन में, अथवा फेरीवालों के विज्ञापन करने की आवाज में संज्ञापदों या उनके विशेषणों के अंतिम वर्णों के स्वरों में होता है, जैसे :

हे राऽऽऽऽम ! दूऽऽऽऽध लो। गर ऽऽऽऽम चाय !

§ ३३१. निमाड़ी आदि बोलियों में प्लुत का प्रयोग गुणों की अतिशयता के द्योतन के लिये किया जाता है, जैसे—लाऽऽऽऽल = अत्यंत लाल।

§ ३३२. संस्कृत तथा संस्कृत से संबद्ध अन्यान्य भाषाओं के समान हिंदी के रागात्मक तत्वों में मात्राओं का सर्वाधिक महत्व है। रागात्मक अनुरूपता के प्रमाण होने के कारण छंद किसी भाषा के रागात्मक स्वरूप के प्रकट परिचायक हैं और यह ध्यान देने की बात है हिंदी के छंद चाहे मात्रिक हों चाहे वर्णिक, चाहे तालमात्रिक (जो लोकगीतों में व्यवहृत होते हैं), वे स्वरों या वर्णों के गुरु लघु स्वरूप पर ही आश्रित हैं। वस्तुतः मात्राएँ हिंदी के शब्दों और वाक्यों की लय तथा गति का प्राण हैं।

§ ३३३. हिंदी में निम्नलिखित स्वरध्वनियाँ परंपरा से दीर्घ मानी जाती हैं : आ, ई, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ।

इसी प्रकार निम्नलिखित स्वरध्वनियाँ परंपरा से ह्रस्व मानी जाती है : अ, इ, उ

§ ३३४. ध्वनियों के वर्णन में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि ए और ओ के ह्रस्व रूप भी हिंदी में व्यवहृत होते हैं, यद्यपि वे लिखे नहीं जाते। इसी प्रकार हिंदी क्षेत्र की कई बोलियों में संध्यक्षर स्वर अय्, अइ, अव्, अउ के भी ह्रस्व रूप बोलचाल में व्यवहृत होते हैं।

§ ३३५. परंतु वास्तविक उच्चारण व्यवहार में इस परंपरागत क्रम में अनेक परिस्थितिजन्य भेद संभव हैं, जैसे 'आधा' का पहला आ दूसरे आ से अपेक्षाकृत ह्रस्वतर होगा और दूसरा आ 'अब' के ह्रस्व अ से कालमात्रा में प्रायः थोड़ा ही अधिक हो सकता है। फिर भी सामान्यतः अपेक्षाकृत दीर्घ कालमात्रावाला स्वर उसी स्थिति में प्रयुक्त अपेक्षाकृत ह्रस्व कालमात्रावाले

स्वर से दीर्घता में दूना होता है, जैसा तरंगलेख ३, ८, ९, १० में देखा जा सकता है।

जु — ज् आ प

जु — ज् अ ब्

जु — प् अ प् ई त् आ

जु — प् [illegible] त् त्
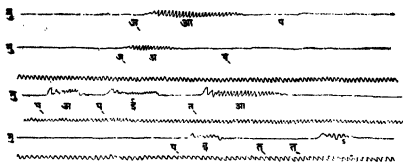
(तरंगलेख ३, ८, ९, १०)

सुनने में भी स्वरमात्राओं के ये अंतर पहचान में आते हैं, जैसे :

बाप का आ = २४ शति सेकेंड।

और जप का अ = १२ ,,

पपीता का ई = १४ ,,

और पित्त का इ = ७ ,,

§ ३३६. वही साघात स्वर जब अंतिम स्थान में या सघोष व्यंजनों के पहले प्रयुक्त होता है तो अघोष व्यंजनों के पहले प्रयुक्त होने की स्थिति से अपेक्षाकृत अधिक दीर्घ होता है, जैसे जी और जीभ का ई जो जीत के ई से अपेक्षाकृत थोड़ा अधिक दीर्घ होता है। इसी प्रकार 'बात' के 'आ' की अपेक्षा 'बाद' का 'आ' दीर्घ होगा (देखिए तरंगलेख ११, १२)।

बो

जु — ब् आ त्

घो

जु — ब् आ द्
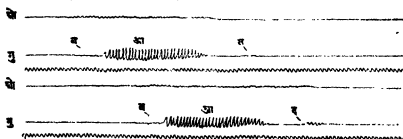
(तरंगलेख ११-१२)

§ ३३७. वही साघात या उत्कृष्ट स्वर जब अंतिम स्थान में या अंत्य व्यंजन के पूर्व होगा तो दूसरे अनाघात या अनुत्कृष्ट अक्षर के पूर्व की स्थिति से अधिक दीर्घ होगा;, जैसे—'आ' और 'आम' का आ 'आमदनी' के आ से अथवा 'पी' और 'पीठा' की ई से क्रमशः अधिक दीर्घ होंगे।

§ ३३८. एक ही स्वर एक ही स्थान में एकाक्षरात्मक शब्द में द्व्यक्षरात्मक शब्द से अपेक्षाकृत अधिक दीर्घ होता है। जैसे – दो और दोष का ओ दोनों के ओ से अपेक्षाकृत अधिक दीर्घ होगा।

§ ३३९. व्यंजन और ह्रस्व स्वर (ह्र अ) वाले स्वतंत्र एकाक्षरी शब्द हिंदी में केवल दो हैं—न और व ('और' के अर्थ में)। इनके अतिरिक्त, हिंदी के सभी व्यंजन ह्र अ के रूप में ही होते हैं; जैसे—क, ख, ग, घ, ङ, आदि। भारतीय वर्णमाला आद्योपांत अक्षरात्मक है।

उपर्युक्त उदाहरणों को छोड़कर स्वतंत्र रूप में उच्चरित मुक्त एकाक्षरात्मक शब्दों का अंत्य स्वर दीर्घ ही होता है, जैसे या, है, खा, जा, ला, यों, ओ, जो, क्या, ही, भी।

§ ३४०. दो ह्रस्व स्वरों का अनुक्रम होने पर उनकी मात्रा दीर्घ स्वर के बराबर हो जाती है।

§ ३४१. असंयुक्त अक्षरों की अपेक्षा संयुक्त अक्षरों के पूर्व का स्वर ह्रस्व होता है, जैसे—'अज' का अ 'अनन्त' के अ से अपेक्षाकृत ह्रस्व उच्चरित होता है।[1]

§ ३४२. वाक्यांतर्गत प्रयुक्त परसर्गों के पूर्वकालिक क्रिया के तथा वाक्यांत में प्रयुक्त 'दीर्घ' स्वरों की मात्रा की दीर्घता अपेक्षाकृत बहुत कम हो जाती है, यद्यपि उनके संवृत विवृतादि अन्य गुण बने रहते हैं। उदा०

आपके घर में आनंद है।
देख के चलिए!
मैं आता हूँ, आऊँगा, आदि।

§ ३४३. आघात या उत्कर्ष के बढ़ने या घटने से स्वर की मात्रा भी तदनुसार बढ़ती घटती है। उदाहरणार्थ, 'केश' का ए 'सके' के ए से अपेक्षाकृत अधिक दीर्घ होगा।

एक दूसरा उदाहरण इस वाक्य का लीजिए ऽ

'आज वहाँ बहुत भीड़ है।'

इसमें यदि आज पर आघात पड़ेगा तो आ की मात्रा जितनी दीर्घ उच्चरित होगी, उतनी दीर्घ तब नहीं होगी जब आघात किसी दूसरे शब्द पर पड़ेगा। यही बात भीड़ के ई के संबंध में भी पाई जायगी। बहुत का ह्रस्व उ भी उस

[1] पर पिंगल में इसे गुरु माना जाता है। इसकी व्याख्या के लिए देखिए §१५७।

शब्द पर आघात पड़ने पर दीर्घवत् उच्चरित होता है और कुछ स्थानों के बोलचाल में तो विलंबित होकर प्रायः ओ या औ के रूप में परिणत हो जाता है। 'नई दिल्ली' के 'नई' का दीर्घ ई अखिल भारतीय आकाशवाणी से ह्रस्व इ के समान उच्चरित होता है 'नई दिल्ली' नहीं, 'नइ दिल्ली।' एक और उदाहरण लें :

तुम भी चलो !
अथवा मैंने भी कहा।

इन वाक्यों में 'भी' दीर्घ ईकारांत है। पर यदि तुम के 'तु' अक्षर पर या मैंने के 'मैं' अक्षर पर विशेष आघात के साथ वाक्य का उच्चारण किया जाय तो 'भी' का उच्चारण ह्रस्ववत् होता है। मैंने अनेक शिक्षित वक्ताओं के भाषण व्यवहार में यह प्रवृत्ति पाई है।

§ १४४. दक्खिनी में जब एक ही शब्द के आसपास के दोनों अक्षर दीर्घ होते हैं तो पहला ह्रस्व उच्चरित होता है। पंजाबी में भी प्रायः यह प्रवृत्ति पाई जाती है, जैसे, भीगना > भिगना, आसमान > असमान, मेरे > मिरे।

§ १४५. इस प्रकार का विभेद दीर्घ स्वरों में ही अधिक पाया जाता है, ह्रस्व स्वरों में कम। ऐसे उदाहरणों से सिद्ध होता है कि ह्रस्वता और दीर्घता भाषण की लय गति पर निर्भर हैं, तथा उन्हें लयात्मक अथवा रागात्मक तत्वों के रूप में ही ग्रहण करना उपयुक्त है।

§ १४६. यह नहीं है कि किसी रागात्मक तत्व में किसी भी दशा में अर्थभेदकता का लक्षण न पाया जाय। कोई ध्वनि एक ही साथ स्वनिमात्मक तथा रागात्मक दोनों ही लक्षणों से समन्वित हो सकती है। संस्कृत के कुछ तत्सम शब्दों में ह्रस्व दीर्घ के मात्राभेद से अर्थभेदकता[1] के उदाहरण मिलते हैं; जैसे :

दिन—दीन
कुल--कूल
बहु —बहू

§ १४७. इसके अतिरिक्त ह्रस्व दीर्घ का विभेद व्याकरणिक रूपभेद का भी साधन है, जैसे

[1] दूसरी ओर ऐसे भी उदाहरण हैं जिनमें इस प्रकार का अर्थभेद नहीं पाया जाता; जैसे साधु साधू, छुटना छूटना। संस्कृत में भी ऐसे शब्दों की संख्या बहुत अधिक नहीं है जिनमें ह्रस्व दीर्घ की मात्राएँ परस्पर व्यतिरेकी हों। ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जिनमें मात्राभेद में विकल्प पाया जाता है, जैसे—हनुमान् और हनूमान आदि।

पीटना (सकर्मक)	पीसना (सकर्मक)	लूटना (सकर्मक)
पिटना (अकर्मक)	पिसना (अकर्मक)	लुटना (अकर्मक)

मूल धातु से प्रेरणार्थक बनाने के लिये पहले अक्षर के दीर्घ स्वर को ह्रस्व करना पड़ता है, जैसे :

सीखना	सिखाना	सिखवाना
जीतना	जिताना	जितवाना
लूटना	लुटाना	लुटवाना
सूखना	सुखाना	सुखवाना

ऐसी परिस्थितियों में हिंदी में ए और ओ इन गुण रूपों[1] के ह्रस्व रूप का बोध प्रायः इ और उ से किया जाता है, यद्यपि बोलियों में ह्रस्व ए और ह्रस्व ओ का ही व्यवहार बहुतायत से होता है, जैसे :

लेटना	लिटाना	लिटवाना
देखना	दिखाना	दिखवाना
डोलना	डुलाना	डुलवाना
बोलना	बुलाना	बुलवाना

'ऐ' और 'औ' के उच्चारण में भी प्रायः ह्रस्वत्व की यह प्रवृत्ति पाई जाती है, यद्यपि लिखित रूप में इस परिवर्तन को अंकित नहीं किया जाता, जैसे :

पैठना	पैठाना	पैठवाना
लौटना	लौटाना	लौटवाना

इन उदाहरणों में प्रेरणार्थक के ऐ और औ मूलधातु के ऐ और औ की अपेक्षा प्रायः कुछ ह्रस्व उच्चरित होते हैं।

§ १४८. इसी प्रकार दीर्घ ईकारांत या ऊकारांत शब्दों का बहुवचन बनाने के लिये भी दीर्घ को ह्रस्व करना पड़ता है, जैसे :

नारी—नारियाँ	बहू—बहुएँ
भाई ने—भाइयों ने	डाकू ने—डाकुओं ने

§ १४९. इस प्रकार हिंदी में मात्रा के रागात्मक तत्व का असाधारण प्रक्रियात्मक महत्व भी है, जिसके यथावत् ज्ञान और अनुमान के बिना हिंदी वर्णन्यास का ठीक ठीक अभ्यास हो पाना संभव नहीं।

[1] ध्वनिप्रक्रिया की दृष्टि से ए और ओ, इ और उ के गुणरूप माने जाते हैं तथा ऐ और औ वृद्धिरूप।

§ ३५०. हिंदी क्षेत्र की अनेक बोलियों में मात्राएँ वाक्य की लय और गति पर ही निर्भर रहती हैं। कुछ थोड़े उदाहरणों को छोड़कर उनमें अर्थभेदकता का अभाव है। इसलिये ह्रस्व का दीर्घ और दीर्घ का ह्रस्व हो जाने से उनमें कोई बाधा नहीं होती। ब्रजभाषा तथा अवधी के छंदों में ह्रस्व दीर्घ के ऐसे विभेद प्रायः पाए जाते हैं। भोजपुरी में धीरे धीरे या धिरे धिरे, छुरा का छूरा, पूरा पूरा या पुरा पुरा, सीखताड़े या सिखैताड़े आदि रूपों के व्यवहार में प्रायः दोलायमान स्थिति पाई जाती है। उनमें ह्रस्वत्व और दीर्घत्व प्रायः भाषण की लय और गति पर ही आश्रित हैं। यही बात उर्दू के छंदों में भी पाई जाती है। उनमें वजन को दुरुस्त रखने के लिये ये प्रायः दीर्घ को ह्रस्व और ह्रस्व को दीर्घ उच्चरित किया जाता है। परंतु शिष्ट हिंदी में मात्राओं का प्रक्रियात्मक महत्व होने के कारण ऐसा नहीं किया जाता और ह्रस्व दीर्घ के अंतर की ओर विशेष ध्यान रखना आवश्यक माना जाता है।[1]

§ ३५१. स्वरों के समान व्यंजनों के उच्चारणकाल की भी मात्राएँ होती हैं। संयुक्त तथा द्वित्व व्यंजनों का उच्चारण असंयुक्त तथा सरल व्यंजनों की अपेक्षा प्रायः दुगुना या इससे भी अधिक दीर्घ होता है। उनके उच्चारण में अवरोध या संकोच या संघर्ष अथवा अनुनासिक व्यंजन हों तो उनकी अनुनासिकता और अवरोध दोनों ही अपेक्षाकृत दीर्घ हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, पत्ता के त् के स्पर्शकाल की मात्रा पता के त् के स्पर्शकाल से प्रायः दुगुनी है। अन्न के न का स्पर्श तथा अनुनासिकता का अंश धन के न से अपेक्षाकृत अधिक दीर्घ होगा। परंतु आद्य स्थान के संयुक्ताक्षरों की मात्रा में इतना अंतर नहीं पाया जाता, जैसे—त्रिवेणी, प्रसाद, न्यारा।

§ ३५२. ह्रस्व स्वरों के परे अंत्य स्पर्श व्यंजन दीर्घ स्वरों के परे अंत्य स्पर्श व्यंजनों की अपेक्षा अधिक ह्रस्व होते हैं, जैसे 'भूत' का त 'बहुत' के त से अपेक्षाकृत ह्रस्व होगा।

§ ३५३. स्पर्श व्यंजनों के पूर्व अनुनासिक की मात्रा कुछ दीर्घ हो जाती है, जैसे—चंपा का म् चमार के म् से अपेक्षाकृत अधिक दीर्घ है।

§ ३५४. अघोष स्पर्श व्यंजन घोष स्पर्श व्यंजनों की अपेक्षा कुछ दीर्घ होते हैं।

[1] मेरा अनुभव है कि हिंदी प्रदेश के विद्यार्थियों की परीक्षा की उत्तरपुस्तिकाओं में सबसे अधिक भूल मात्रा संबंधी वर्णन्यास की ही होती है, जिसका परिमार्जन तभी संभव है जब ध्वनिविज्ञान की प्रणाली के अनुसार उनके मात्रा संबंधी रागात्मक ज्ञान के विकास की ओर यथोचित ध्यान दिया जाय।

§ ३५५. परंतु व्यावहारिक दृष्टि से व्यंजनों की इस प्रकार की ह्रस्वता और दीर्घता का अंतर नगण्य है।

§ ३५६. संबोधन या विज्ञापन की पुकार में प्रायः अनुनासिक व्यंजनों का प्लुत रूप भी व्यवहृत होता है, जैसे मोहन ऽऽऽ! कलम ऽऽऽ! इनके न और म के उच्चारण में अवरोध और अनुनासिकता की मात्रा बहुत दीर्घ हो जायगी।

§ ३५७. छंदःशास्त्र में संयुक्ताक्षरों के पूर्व स्वर को ही गुरु माना गया है, क्योंकि उच्चारण की दृष्टि से अक्षरविभाजन करने पर संयुक्ताक्षरों के पूर्व का अक्षर मुक्त नहीं, बद्ध उच्चरित होता और इसलिये उसके उच्चारण की मात्रा 'स्थानतः दीर्घ' मानी जाती है। उदाहरणार्थ चिट्ठी का अक्षरविन्यास होगा चिट्/ठी / इसमें चिट् के उच्चारण में प्रायः उतना ही समय लगेगा जितना ठी के। इसी कारण यद्यपि ध्वनिविज्ञान की दृष्टि से वास्तविक दीर्घता 'ट्' के स्पर्श या अवरोध में है, तो भी क्योंकि नाड़ीस्पंदन के एक धक्के में पूरे चिट् का उच्चारण किया जाता है, इसलिये रागात्मक दृष्टि से छंदःशास्त्र में चि के इ को ही 'स्थानतः दीर्घ' या 'गुरु' माना जायगा।

द्वित्व तथा मात्रासमतोलन

§ ३५८ ब्रजभाषा, अवधी, भोजपुरी आदि हिंदी क्षेत्र की अनेक भाषाओं और बोलियों में व्यंजनों के सरल उच्चारण की प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है। इसी कारण संयुक्त व्यंजनों का दीर्घ उच्चारण न करके प्रायः सरलीकरण हो जाता है और उनके पूर्व के स्वर का ही दीर्घीकरण होता है, जैसे

चिट्ठी	चीठी	बत्ती	बाती
पट्टी	पाटी	बुड्ढा	बूढ़ा

क्षतिपूरक दीर्घीकरण अथवा मात्रासमतोलन की यह प्रवृत्ति भी हमारी भाषा तथा बोलियों के मात्रापरक होने का एक प्रबल प्रमाण है।

§ ३५९. इसके विपरीत दक्खिनी में द्वित्व की प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है और दीर्घ स्वरों को ह्रस्व करके मात्रा समतोलन कर लिया जाता है, जैसे

हाथ > हत्ती।
मीठा > मिट्ठा।
चूना > चुन्ना।
सूखा > सुक्का।
फीका > फिक्का।
कीचड़ > किच्चड़।

§ १६०. कुछ शब्दों में यह प्रवृत्ति हिंदी क्षेत्र में भी, विशेषकर पूर्वी बोलियों में, पाई जाती है, जैसे चादर (फा०) > चद्दर, चाकू > चक्कू।

§ १६१. कई अन्य शब्दों में ह्रस्वीकरण के बिना भी (क्योंकि वे स्वतः ह्रस्व हैं) द्वित्व के उदाहरण दक्खिनी और उर्दू में पाए जाते हैं, जैसे :

नमक > नम्मक।
नदी > नद्दी (उर्दू में भी)
गली > गल्ली।
गला > गल्ला।
डली > डल्ली।
नली > नल्ली (उर्दू में भी)
उठा > उट्ठा (उर्दू)

§ १६२. व्यंजनों में द्वित्व का प्रयोग कभी कभी जोर देने के लिये या प्यार जताने के लिये किया जाता है, जैसे कब्भी नहीं, जिद्द, हद्द, चच्चा, फुप्फा, दद्दा, दिद्दी आदि।

उत्कर्ष

§ १६३. हिंदी उच्चारण में निःश्वास के जोरदार झोंके का प्रयोग नहीं किया जाता, अतः बलाघात का उसमें विशेष महत्व नहीं है। हिंदी या अन्य भाषाओं में वह न तो भेदक तत्व के रूप में पाया जाता है और न मात्राओं के समान उनकी लय के ही मुख्य आधार के रूप में। हमारी भाषाओं में पाया जानेवाला आघात इतना हलका और दुर्बल है कि उसे बलाघात कहना ही उचित नहीं प्रतीत होता। वह प्रायः मात्रा और सुरों से संबद्ध पाया जाता है, जिनसे उसका भेद करना भी कठिन हो जाता है। ऐसी दशा में उसे बलाघात के बदले उत्कर्ष कहना ही कहीं अधिक समीचीन जान पड़ता है।

§ १६४. एक से अधिक अक्षरों के शब्दों में कोई एक अक्षर ऐसा अवश्य होता है जो औरों की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट प्रतीत होता है तथा दूसरे अक्षर उसकी अपेक्षा अनुत्कृष्ट जँचते हैं। यह प्रमुख अक्षर वर्णविन्यास के धुरे का काम करता है। मात्रा के समान उत्कर्ष भी अपेक्षित तत्व है; अतएव एकाक्षरिक शब्दों में उत्कर्ष का कोई प्रश्न नहीं उठता। हाँ, वाक्य या वाक्यांश में स्थिति के अनुसार एकाक्षरिक शब्द पर भी उत्कर्ष का व्यवहार हो सकता है।

§ १६५. अंग्रेजी, जर्मन आदि बलाघातप्रधान विदेशी भाषाओं का कोई अनजान वक्ता जब हिंदी शब्दों या वाक्यों पर अधिक बल देकर उच्चारण करता है, तब वे विद्रूप हो जाते हैं। इसी प्रकार यदि अनुचित स्थान पर उत्कर्ष का प्रयोग

करके कोई हिंदीतर भाषाभाषी किसी शब्द या वाक्य का उच्चारण करता है तो वह हिंदी के दीक्षित श्रोता के कानों में तुरंत खटक जाता है। अतः रागप्रक्रिया की दृष्टि से उत्कर्ष भी शब्द और वाक्यध्वनि का महत्वपूर्ण और आवश्यक अंग है।

§ ३६६. लिखने में उत्कर्ष का संकेत करना अभीष्ट हो तो जिस अक्षर पर उत्कर्ष पड़ता है, उसकी शिरोरेखा के बाईं ओर -ˈ- इस चिह्न का प्रयोग किया जा सकता है, जैसे :

ˈघर घ-ˈरेलू
कि-ˈताब भगˈवान

§ ३६७. हिंदी में उत्कर्षभेद के द्वारा ही सामान्य भूतकाल और विधिकाल का भेद प्रकट किया जाता है, जैसे :

सामान्य भूत	विधिकाल
दूध में पानी न ˈमिला।	दूध में पानी न मि-ˈला !
उसका मकान अविलंब ˈबना।	उसका मकान अविलंब ब-ˈना।

§ ३६८. परसर्गों पर साधारणतः उत्कर्ष का व्यवहार नहीं किया जाता, जैसे ˈहमने, ˈउनको, मˈकान में, ˈदेश के लिए, सर-ˈकार की सेवा। परंतु किसी विशेष परिस्थिति में जोर देना अभीष्ट हुआ तो परसर्गों के साथ भी उत्कर्ष का प्रयोग किया जा सकता है, जैसे चोर मकान ˈपर नहीं, मकान ˈमें गया था।

§ ३६९. द्वयक्षरात्मक शब्दों में यदि दूसरा अक्षर केवल एक या दो मात्राओं का हो तो प्रथम अक्षर ही उत्कर्ष ग्रहण करता है, जैसे

ˈपिता (पि+ता)	ˈबाबा (बा+बा)
ˈदेखा (दे+खा)	ˈकहा (क+हा)
ˈसाधु (सा+धु)	ˈमधु (म+धु)
ˈयदि (य+दि)	

§ ३७०. यदि पहला या दूसरा अक्षर मुक्त नहीं, बद्ध हो अर्थात् स्वरांत नहीं हलंतवत् उच्चरित होता हो तो भी प्रथम अक्षर पर ही उत्कर्ष पड़ता है; जैसे :

ˈनगर (न+गर)	ˈसागर (सा+गर)
ˈप्रायः (प्रा+यः)	ˈअतः (अ+तः)
ˈइधर (इ+धर)	ˈदेखकर (देख+कर)
ˈबोलता (बोल+ता)	ˈधक्का (धक्+का)
ˈपत्ता (पत्+ता)	ˈपत्थर (पत्+थर)
ˈमंत्री (मन्+त्री)	ˈअंतर (अन्+तर)

पुस्तक (पुस्+तक)	'बिल्कुल (बिल्+कुल)
'मुश्किल (मुश्+किल)	'पंडित (पन्+डित)
	'रास्ता (रास्+ता)

§ ३७१. परंतु द्वयाक्षरिक शब्दों का दूसरा अक्षर यदि तीन मात्राओं का हो तो उत्कर्ष का वाहक दूसरा ही अक्षर होता है, जैसे

कि–'ताब (कि+ताब)	आ–'कार (आ+कार)
ता–'रीख (ता+रीख)	विश–'वास (विश्+वास)

§ ३७२. त्र्यक्षरात्मक शब्दों में यदि दूसरा अक्षर ह्रस्व हो तो उत्कर्ष प्रथम अक्षर पर पड़ता है; जैसे :

'कपड़ा (क+प+ड़ा)	'कितना (कि+त+ना)
'पुतली (पु+त+ली)	'आदमी (आ+द+मी)
'देखना (दे+ख+ना)	'सूचना (सू+च+ना)
'साधुता (सा+धु+ता)	'मंत्रिणी (मन्+त्रि+णी)
'संतति (सन्+त+ति)	

§ ३७३. त्र्यक्षरात्मक शब्दों में यदि दूसरा अक्षर प्रकृत्या या स्थानतः दीर्घ हो और तीसरा अक्षर एक या दो मात्राओं का हो तो उत्कर्ष दूसरे अक्षर पर पड़ता है, जैसे

भ–'लाई	(भ+ला+ई)	प 'ताका	(प+ता+का)
बु–'लाना	(बु+ला+ना)	म–'नोहर	(म+नो+हर)
अ–'चानक	(अ+चा+नक)	धु–'रंधर	(धु+रन्+धर)
मु–'रारि	(मु+रा+रि)	मु–'सल्लम	(मु+सल्+लम)
प्र–'तिष्ठा	(प्र+तिष्+ठा)	स्व–'तंत्र	(स्व+तन्+त्र)
स्व–'राज्य स्वराज्य	(स्व+रा+ज्य)	ब–'हुश	बहुश (ब+हु+श)
ना–'दानी नादानी	(ना+दा+नी)	आ–'जादी आज़ादी	(आ+जा+दी)
बे–'कारी बेकारी	(बे+का+री)		

§ ३७४. परंतु यदि तीसरा अक्षर तीन मात्राओं का हो तो उत्कर्ष उसी पर पड़ता है, जैसे

भग–'वान	(भ+ग+वान)	इत–'वार	(इ+त+वार)
बल–'वान	(ब+ल+वान)	अधि–'कार	(अ+धि+कार)
हिंदु–'स्तान	(हिन्+दुस्+तान)	इंत–'ज़ाम	(इन्+त+ज़ाम)

३७५. तीन से अधिक अक्षरों के शब्दों में उत्कर्ष प्रायः अंतिम अक्षर से

पूर्व के तीसरे अक्षर से पीछे नहीं जाता और प्रायः तीसरे अक्षर पर ही पड़ता है, जैसे

स-'फलता	मन-'मोहिनी
म-'धुरिमा	स्व-'तंत्रता
ल-'ड़कियाँ	स्वा-'धीनता
बहु-'रूपिया	अंतः-'करण
सुकु-'मारता	ल-'ड़कपन
ए-'कादशी	ब-'हकना
सज्-'जनता	हरि-'शयनी

§ ३७६. किंतु यदि उपधा प्रकृत्या या स्थानतः दीर्घ हो अथवा मिश्र शब्द में से जुड़े हुए किसी प्रत्यय का या समासगत शब्दों में परिवर्ती शब्द का आद्य अक्षर हो तो ह्रस्व होने पर भी उत्कर्ष उसी पर पड़ता है। जैसे, अधिकारी, चतुराई, घबराहट, बहकाना, बादशाही[1], महटियाना, पचहत्तर, मधुमक्खी, बचपना, कारीगरी[1], अधपका, चुलबुला, भुखमरी, भिखमंगा, मधुमती, सधुआई, चिड़चिड़ा, दुखहरण,।

§ ३७७. अंतिम अक्षर यदि निमात्रिक हो तो वह उत्कर्षवाहक होता है, जैसे मुसलमान, मेहरबान,

§ ३७८. दक्खिनी में तीन से अधिक अक्षरोंवाले शब्दों में यदि पहला प्रकृत्या या स्थानतः दीर्घ होता है, तो वह भी समोत्कर्ष ग्रहण करता है, पर ह्रस्व होने पर नहीं। यदि पहला अक्षर ह्रस्व हो और दूसरा अक्षर दीर्घ, तो वैसी हालत में दूसरा अक्षर ही समोत्कर्ष ग्रहण करता है।

§ ३७९. समस्त शब्दों में उत्कर्ष तीसरे अक्षर के पहले भी पड़ सकता है, जैसे, 'यथाशक्ति, 'सीताराम, 'धीरे धीरे, 'इधर उधर, 'जानकीजीवन, 'कहा सुनी, 'उठते बैठते, 'चलते फिरते, 'आते जाते, ।

§ ३८०. छंदों में प्रयुक्त होने पर शब्दों के उत्कर्ष के क्रम में छंद की गति के अनुसार प्रायः थोड़ा बहुत परिवर्तन हो जाता है, जैसे, 'इधर न कहकर इधर, 'कमर न कहकर कमर, 'चले न कहकर चले। "वाचक प्रथम सर्वत्र ही जय जानकीजीवन कहो।" (मैथिलीशरण गुप्त : जयद्रथवध) इस पंक्ति में कहो के 'क' पर उत्कर्ष न पड़कर 'हो' पर पड़ा है। इसी प्रकार 'जानकीजीवन' के 'व' पर उत्कर्ष पड़ा है। "'बहुरि बदन बिच 'अंचल ढाँकी।" यहाँ बदन का उत्कर्ष पहले अक्षर से खिसककर दूसरे अक्षर पर आ गया है।

[1] परंतु दक्खिनी में बादशाही, कारीगरी जैसे शब्दों में प्रथम अक्षर ही उत्कर्ष ग्रहण करता है।

§ ३८१. स्वराघात के कारण भी उत्कर्ष में कुछ क्रमांतर हो जाता है, जैसे, प्रश्नवाचक वाक्य में—'आप चले ?' — यहाँ 'च' पर उत्कर्ष न पड़कर 'ल' पर पड़ा है।

हिंदी में उत्कर्ष प्रक्रिया के संबंध में अभी और अनुशीलन की अपेक्षा है।[1]

वाक्योत्कर्ष

§ ३८२. प्रत्येक अनेकाक्षरी शब्द के अंतर्गत जैसे एक अक्षर औरों की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट होता है, वैसे ही प्रत्येक वाक्य के अंतर्गत वक्ता के अभिप्राय के अनुसार कोई न कोई शब्द, चाहे वह एकाक्षरी हो या अनेकाक्षरी, औरों की अपेक्षा अधिक उत्कर्ष का वहन करता है। उत्कर्षों में अंतर करके वाक्यार्थों में भेद किया जाता है, जैसे 'आपको मैं आज एक पुस्तक देना चाहता हूँ'। इस वाक्य के लिखित रूप में यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि वक्ता का अभिप्राय क्या है। उत्कर्षभेद से इस वाक्य के आशय में कितने भेद हो जाते हैं, देखिए :

'आपको मैं आज एक पुस्तक देना चाहता हूँ।
आपको 'मैं आज एक पुस्तक देना चाहता हूँ।
आपको मैं 'आज एक पुस्तक देना चाहता हूँ।
आपको मैं आज 'एक पुस्तक देना चाहता हूँ।
आपको मैं आज एक 'पुस्तक देना चाहता हूँ।
आपको मैं आज एक पुस्तक 'देना चाहता हूँ।
आपको मैं आज एक पुस्तक देना 'चाहता हूँ।

इस वाक्य के एक एक शब्द पर बारी बारी से उत्कर्ष का प्रयोग करके यह देखा जा सकता है कि उत्कर्षभेद से किस प्रकार भिन्न भिन्न अर्थों की सूचना होती है। वस्तुतः वक्ता का अभिप्राय क्या है, यह तो अभीष्ट उत्कर्षसहित उच्चारण के द्वारा ही जाना जा सकता है।

§ ३८३. किसी अनेकाक्षरी शब्द में प्रयुक्त वाक्योत्कर्ष उस शब्द के उत्कृष्ट अक्षर पर ही पड़ता है।

§ ३८४. साधारणतः वाक्यों में प्रथम महत्वपूर्ण शब्द पर ही चरम उत्कर्ष पड़ता है, परंतु सर्वनाम का व्यवहार होने पर यदि प्रयोजनवश उस पर जोर देना अभीष्ट नहीं रहा तो उत्कर्ष क्रियापद पर पड़ता है।

§ ३८५. विशेषण यदि विशेष्य के पहले प्रयुक्त होता है तो वही उत्कर्षों

[1] इस संबंध में अवधी में उत्कर्षविचार के लिये दे० डा० बाबूराम सक्सेना : 'एवोल्यूशन ऑव अवधी,' पृ० ९१-९२ और १६० ।

होता है। परसर्गों और समुच्चयबोधक अव्ययों पर प्रायः उत्कर्ष का व्यवहार नहीं होता।

§ ३८६. हिंदी प्रदेश की बोलियों के लोकगीतों में अथवा हिंदी के कवित्त, सवैया आदि कुछ छंदों में उत्कर्ष का क्रम स्पष्ट दिखाई पड़ता है। ऐसे छंदों का मापदंड वस्तुतः वर्णों की संख्या या कालमात्रा नहीं वरन् उत्कर्ष ही है।[1]

सवैया

"बनबीच बसे थे फँसे थे ममत्व में 'एक कपोत कपोती कहीं"

इसमें प्रत्येक दो अक्षरों को छोड़कर तीसरे अक्षर पर उत्कर्ष है और उनके बीच की स्वरमात्राओं में अंतर करके उच्चारण करना पड़ता है। 'बन बीच' और 'एक' के अंत्य व्यंजन का उच्चारण हलंतवत् न करके पूर्ण स्वरयुक्त—अंत्य 'अ' के साथ करना पड़ता है। 'थे', 'ने', और 'कपोती' के 'ती' के दीर्घ स्वर का ह्रस्व उच्चारण करना पड़ता है परंतु संपूर्ण पंक्ति में तालमात्राश्रित उत्कर्ष का क्रम अभंग है।

कवित्त

" 'बेद राखे 'विदित पुरान राखे 'सारयुत 'राम नाम 'राख्यौ—
अति 'रसना सुघर में"
(शिवराज भूषण)

यहाँ प्रत्येक तीन अक्षरों के बाद उत्कर्ष का क्रम स्पष्ट है जो तालबद्ध है। प्रत्येक खंड के अंतर्गत दीर्घ स्वर को ह्रस्व या ह्रस्व को दीर्घ उच्चरित करके तालमात्रा की पूर्ति करना आवश्यक है।

बरवै (अवधी)

'लागेउ 'आइ नवेलियहि 'मनसिज 'बान।
'उकसन 'लाग उरोजवा 'दृग तिरछान॥
(रहीम : "बरवै-नायिका-भेद")

यहाँ 'लागेउ' और 'नवेलियहिं' के 'ए' और 'उरोजवा' के 'ओ' का ह्रस्ववत् उच्चारण करना पड़ता है। दोनों पंक्तियों के उत्कर्ष का क्रम अभंग है।

सोहर (भोजपुरी)

" 'जाहि दिन 'राम जनम ले ले 'धरती आँ 'नँद भइलो 'हो।
ललना 'बाजे लागे 'आनँद बंधावा मंहल उठे 'सोहर हो॥

१ डे० धीरेंद्र वर्मा : हिंदी भाषा का इतिहास, पृ० २२०–२१

इन पंक्तियों में एक उत्कर्ष से दूसरे उत्कर्ष तक की तालमात्रा के अंतर्गत प्रयुक्त ह्रस्व स्वर को कहीं दीर्घ, दीर्घ को कहीं ह्रस्व, कहीं प्लुत उच्चरित करना पड़ता है। उपर्युक्त पंक्तियों में 'जाहि' और 'बाजे' के 'श्र' का ह्रस्ववत्, राम के 'श्र' का प्लुत और जनम के 'ज' के 'श्र' का दीर्घ उच्चारण करना पड़ता है।

वस्तुतः इस प्रकार के छंदों को वर्णिक या मात्रिक न कहकर तालवृत्त या तालमात्रिक कहना ही उपयुक्त होगा।

गतियों का रागात्मक वर्गीकरण

§ ३८७. वाक्य के अंतर्गत कुछ खंड ऐसे होते हैं जो परस्पर लयात्मक वर्ग के रूप में संबद्ध उच्चरित होते हैं। लघु या पूर्ण विराम किसी लयात्मक वर्ग के बाद ही संभव है। छोटे वाक्यों के उद्देश्य के बाद क्रियात्मक विधेय का उच्चारण अविराम रूप से होता है। परंतु यदि संज्ञावाचक उद्देश्य और क्रियावाचक विधेय के पहले कुछ और राग होते हैं, तो उद्देश्य खंड और विधेय खंड के बीच एक लघु विराम संभव है।

§ ३८८. विशेषण या विशेषणात्मक कृदंत या संज्ञावाचक विशेषण या विशेष्य एक साथ उच्चरित होते हैं। इसी प्रकार क्रिया तथा तत्संबंधी क्रियाविशेषण एक लयात्मक समुदाय में आते हैं।

§ ३८९. संबंध और संबंधी तथा संज्ञापद और उनके परसर्ग एक ही लयखंड के अंग हैं।

§ ३९०. निषेधवाचक शब्द क्रियापद से संयुक्त रहता है परंतु "न...तो .. न...ही" वाले रूप संज्ञापदों से संबद्ध रहते हैं।

§ ३९१. समुच्चयबोधक शब्द और उनसे संबंधित क्रियाविशेषण परवर्ती वाक्यों के साथ लयांवित रहते हैं।

जहाँ कई वाक्य समुच्चयबोधक शब्दों से जुड़े रहते हैं वहाँ प्रत्येक का उच्चारण उपर्युक्त क्रम के अनुसार वाक्यवत् ही होता है।

§ ३९२. विच्छेद और विराम, उच्चारण के वेग पर निर्भर हैं। क्षिप्र उच्चारण में उनकी संभावना कम हो जाती है।

स्वराघात

§ ३९३. संबद्ध भाषण की स्वरलहरी में नाना प्रकार के विभेद होते रहते हैं। प्रत्येक वाक्य या वाक्यांश शब्द या शब्दांश किसी न किसी गीतात्मक सुर में उच्चरित होता है। कभी तो सुर ऊपर उठता है, कभी नीचे आता है, और कभी कभी समस्तर पर रहता है। यह वक्ता की संपूर्ण व्यवहारपद्धति का अंग है जो उसकी परिस्थिति, प्रसंग और प्रवृत्ति पर आश्रित ही नहीं वरन् उनका द्योतक भी है।

वस्तुतः यह एक सूक्ष्म और जटिल विषय है, जिसका हिंदी अथवा किसी भारतीय भाषा के संबंध में यथावत् विवेचन अभी तक नहीं हो सका है।

हिंदी प्रदेश के विस्तार तथा संभावित विकास और प्रसार की दृष्टि से विस्तृत विवेचन अपेक्षित है। यहाँ तो हम इसका संक्षेप में निर्देश मात्र कर सकेंगे।

§ १६४. स्वरात्मक भाषाओं में स्वरों का व्यवहार भेदक तत्व के रूप में होता है। वैदिक भाषा में स्वराघातों का विशेष महत्व था। इस संबंध में वृत्रासुर की कथा प्रसिद्ध है।[1]

यह कथा शतपथ ब्राह्मण (१३-८/१/५) तथा शिक्षा, ५२ में दी हुई है। वृत्र के पिता का नाम त्वष्टा था। उनका पुत्र इंद्र का शातयिता या संहारक बने और उनपर विजय प्राप्त करे, इसके लिये उन्होंने अभिचारयज्ञ किया। परंतु प्रज्वलित यज्ञाग्नि के संमुख जब मंत्रोच्चार होने लगा तो स्वर का ठीक ठीक प्रयोग न होने के कारण उलटा अर्थ सिद्ध हुआ। 'स्वाहेन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' इस मंत्र में 'हे उत्पन्न होनेवाले पुरुष, तुम इंद्र के शत्रु अर्थात् शातयिता बनो और बढ़ो' इस अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये तत्पुरुष समास के रूप में समस्त पद ने उत्तरांश पर उदात्त स्वर का व्यवहार होना चाहिए था; पर असुरों ने प्रमादवश उसका अनुदात्त उच्चारण किया जिससे यह समस्त पद बहुव्रीहि समास के रूप में परिणत हो गया, क्योंकि बहुव्रीहि समास में कोई पद प्राधान्य नहीं ग्रहण करता और 'प्रथमोपस्थितत्स्य परित्यागे कारणाभावः' इस नियम के अनुसार प्रथम पद का स्वतंत्र स्वर अक्षुण्ण रहता है। इसका परिणाम यह हुआ कि यह मंत्र इंद्रशत्रु अर्थात् शातयिता (घातक) हो जिसका, ऐसा हो जाय (इंद्रः शत्रुः शातयिता यस्य तादृशः भवः) इस अर्थ का द्योतक हो गया। फलतः इंद्र के द्वारा वृत्रासुर का संहार हुआ और देवताओं की ही विजय हुई। यज्ञ किया बेचारे असुरों ने और स्वरदोष के कारण उसका फल मिला देवताओं को!

§ १६५. इस प्रकार स्वराघात के अनुचित प्रयोग से अनर्थों का अनुभव करके वैदिक ऋषि बहुत सतर्क हो गए थे। इसीलिये वेदों के स्वरों को बड़ी

[1]. दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा
मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति
यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥"

तथा

हतपुत्रस्ततस्त्वष्टा जुहावेन्द्राय शत्रवे।
इंद्रशत्रो विवर्धस्व मा चिरं जहि विद्विषम्॥
—भागवत (६-९-११-१२)

सावधानी से अंकित किया गया है। प्राचीन ग्रीक लोगों ने भी मृदु और तीक्ष्ण नादों के लिये बड़े ध्यान से संकेतचिह्नों का प्रयोग किया था।

§ ३६६. हिंदी में स्वराघात के भेद से हाँ, नहीं, जी, ओ, अच्छा आदि कुछ विस्मयादिबोधक अव्ययों को छोड़कर अन्य शब्दों के अर्थों में स्वतंत्र रूप से कोई अंतर नहीं होता।

उदाहरणार्थ 'अच्छा' शब्द के कुछ स्वरात्मक भेदों के उदाहरण संगीत के स्वरग्राह पर प्रत्येक अक्षर के लिये पृथक् पृथक् काली लकीर का प्रयोग करके, पृथक् चित्र में दिए जाते हैं।

§ ३६७. हिंदी प्रदेश की बोलियों और भाषाओं में केवल पूर्वी पंजाबी में, शब्दों के अर्थभेदक तत्व के रूप में सुरों के व्यवहार के दृष्टांत मिलते हैं :

मध्य सुर में उच्चरित	अवरोही आरोही स्वर में उच्चरित	आरोही अवरोही[1] स्वर में उच्चरित
कोड़ा (जहाज)	को`ड़ा 'घोड़ा'	कोड़ा 'कोढ़ी'
चड़ 'खूँटी'	चँड़ 'गिरना'	चँड़ 'चढ़ना'

§ ३६८. परंतु अन्यत्र वाक्यों तथा वाक्यांशों के भावों और आशयों के नाना भेदों तथा सूक्ष्मताओं की अभिव्यक्ति के साधन के रूप में ही स्वरलहरों का व्यवहार होता है।

हिंदी में ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जिनमें सुरों के परिवर्तन से शब्दों के प्रकृतार्थ में कोई परिवर्तन न होते हुए भी समस्त वाक्यगत ध्वनिसमूह का अर्थ उलट जाता है। संस्कृत में इस प्रकार के ध्वनिविकारगत विभेद को काकु[2] कहा गया है और व्यंग्यार्थ का एक साधन माना गया है।

§ ३६९. हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में भी अंग्रेजी के समान अधिक दायरे के स्वरगत भेदों से समन्वित तथा एक अक्षर से दूसरे अक्षर पर क्रमिक रूप से उतरते हुए सुरों के व्यवहार नहीं होते। उनके आरोह अवरोह का क्षेत्र अपेक्षा-

[1] पंजाबी में आरोही अवरोही स्वर के साथ उत्कर्ष का भी व्यवहार होता है।

[2] ध्वनिकार ने काकु को गुणीभूत व्यंग्य का भेद माना है और मम्मटाचार्य आदि ने वक्रोक्ति का। काकु की भिन्न भिन्न व्युत्पत्तियाँ बताई गई हैं—"कामरयर्थान्तरमिति काकुः। अथवा काकुर्जिह्वा तद्व्यापारविशेषसंपाद्यत्वाद्ध्वनेर्विकारोऽपि काकुः। अथवा काकलौल्य इत्यस्यधातोः काकुशब्दः प्रकृतार्थातिरिक्तमपि वाञ्छतीति लौल्यमस्याभिधीत में। पक्षेपदर्थे कुशब्दस्य कादेशः। तेन हृदयस्थवस्तु प्रतीतैरीषद्भूमिः काकुः।"

कृत संकुचित होता है और उनके विभेद अधिकतर सम सुर में आबद्ध मिलते हैं। कुछ भावावेशव्यंजक उच्चारों को छोड़कर अन्यत्र अधिक चढ़ाव उतार के दृष्टांत उनमें नहीं मिलते। इसी कारण जब कोई विदेशी बहुत अधिक दायरे में सुरों के उच्च और तीव्र चढ़ाव तथा द्रुत उतार के साथ हिंदी का उच्चारण करता है तो वह विद्रूप सा लगता है। हिंदी वाक्यों में अंतिम बिंदु तथा अधिकतम उत्कर्षवाले अक्षर को छोड़कर और सभी अक्षरों में एक प्रकार से अल्पाधिक एकतानता ही पाई जाती है; तथापि उस सीमित दायरे के अंतर्गत वक्ता की मनःस्थिति और प्रसंग के अनुसार स्वरतरंगों के अनेक सूक्ष्म विभेद होते हैं, जिनका विवेचन वैज्ञानिक तथा सामाजिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण होते हुए भी यहाँ संभव नहीं है। हिंदीभाषी जनसमुदाय में प्रचलित केवल कुछ सरल सामान्य रागात्मक सुर—व्यवहारों का परिचय मात्र यहाँ दिया जा सकता है जो साधारण दैनिक व्यवहार में प्रायः प्रयुक्त होते हैं।

§ ४००. हिंदी में 'हाँ' या 'नहीं' उत्तरापेक्षी प्रश्नवाक्यों में प्रायः प्रश्नवाचक शब्दों का प्रयोग नहीं होता। साधारण कथन या पुष्ट्यर्थक वाक्यों से उनमें अंतर करने के लिये स्वरलहर ही एक मात्र साधन है। यहाँ एक वाक्य की रूपरेखा संगीत के स्वरग्राह पर अंकित की जा रही है इसमें प्रत्येक अक्षर की ध्वनि का संस्थान एक पट्टीनुमा मोटी काली लकीर के द्वारा प्रदर्शित किया गया है। उत्कर्ष का भी अंकन उत्कृष्ट अक्षर के बाईं ओर पूर्ववत् उत्कर्षचिह्न (ˈ) के द्वारा कर दिया गया है।

आप जानते हैं?

निश्चयात्मक कथन के अर्थ में — आपˈजानते हैं। अथवा आपˈजानते हैं।
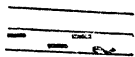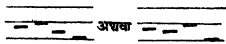
प्रश्न के अर्थ में — आप ˈजानते हैं?

ये दो भिन्न सुर दो भिन्न अर्थों के व्यंजक हैं।

§ ४०१. हिंदी जैसी सुदूर देशों में फैली हुई भाषा में प्रदेशभेद से सुर के रागों में कितना अंतर हो जाता है, यह इसी प्रश्नात्मक उदाहरण के बिहार के भोजपुरी, मगही और मैथिली प्रदेशों में प्रचलित रूप से समझा जा सकता है। वहाँ ऐसे प्रश्नात्मक वाक्यों के उच्चारण में स्थानीय बोलियों के प्रभाव के कारण पश्चिमी प्रदेशों के आरोही स्वर से सर्वथा भिन्न अवरोही स्वर का व्यवहार प्रायः किया जाता है।

हिंदी के विस्तार तथा संभाव्य विकास और प्रसार की दृष्टि से इस विषय के विस्तृत तथा तुलनात्मक विवेचन की अपेक्षा का अनुमान सुरव्यवहार के ऐसे प्रदेशगत अंतरों से किया जा सकता है।

§ ४०२. परंतु संप्रति ऐसे प्रदेशगत भेदों को ध्यान में न रखते हुए दिल्ली आगरे से लेकर लखनऊ प्रयाग तक शिक्षित जनमंडली के भाषाव्यवहार में जो सुरराग प्रचलित हैं और जो उर्दू तथा दक्खिनी में भी प्रायः समान रूप से व्यवहृत होते हैं उन्हीं के आधार पर यहाँ कुछ मुख्य लक्षण और विशेषताओं का उल्लेख किया जा रहा है।

§ ४०३. वाक्यों तथा वाक्यांशों के अंत के सुरसंस्थान के आधार पर कहा जा सकता है कि हिंदी के वाक्यों या वाक्यांशों में स्वरतरंगों के निम्नलिखित रूपों का व्यवहार किया जाता है :

[१] (क) -(‾_) ख)—(‾_)
[२] (—⁄)

§ ४०४. इनमें पहले दो अर्थात् (१) क और ख अवरोही हैं। इन दोनों विभेदों में अंतर केवल यही है कि एक दो सुरों के बीच अवरोह का अंतर कम है और दूसरे में अधिक। तीसरा स्वरसंस्थान अर्थात् सं० (२) आरोही है। इन तीनों के निदर्शन के लिये श्रुतिगत प्रभाव के आधार पर पृथक् चित्रों में कुछ वाक्यों की रूपरेखाएँ संगीत के स्वरग्राह पर उपर्युक्त प्रणाली से अंकित की जा रही हैं।

§ ४०५. हिंदी के पश्चिमी प्रदेशों में संबद्ध वाग्धारा में व्यवहृत सुरसंस्थान का अंदाज देने के लिये यहाँ एक प्रसिद्ध अंग्रेज ध्वनिविज्ञानी[१] द्वारा प्रस्तुत हिंदुस्तानी स्वरचित्र का नमूना दिया जा रहा है। इससे यह भी पता चलेगा कि निरपेक्ष वस्तुपरक विदेशी भाषाभाषियों के कानों में हमारी हिंदी-उर्दू स्वरलहरियों का क्या स्वरूप अंकित होता है। इसमें थोड़े बहुत विभेदों की संभावना है, परंतु सुरों के पारस्परिक सांस्थानिक संबंधों में कोई विशेष अंतर नहीं पाया जायगा।

[१] अप्रत्याशित स्थिति या घटना के संबंध में उत्कंठापूर्ण विस्मय के लिये देखिए : § ३३७. (स्वरग्राह ८)

§ ४०६. इस सुरसंस्थान के मुख्य लक्षण ये हैं :

(क) प्रारंभिक अनुत्कर्षी अक्षर मध्य सुर के प्रायः बीच की स्थिति से उच्चरित होते हैं। परंतु यदि जोर देने के लिये उस शब्द पर उत्कर्ष डाला जाता है तो उनका उच्चारण मध्य सुर में अधिक ऊँचाई से होता है।

(ख) इसमें प्रायः सम सुरों का ही व्यवहार होता है। अंतिम अक्षर का सुर बिल्कुल नीचे उतर आता है।

(ग) उत्कर्षवाही शब्द का सुर ऊपर चढ़ जाता है और वह प्रायः मध्य सुर की चरम ऊँचाई से उच्चरित होता है।

(घ) परंतु (क) और (ख) की उच्चारण शैली में यह अंतर है कि (क) में जहाँ उत्कर्षवाही क्रियापद का पहला अक्षर कुछ अधिक ऊँचाई से उच्चरित होता है और सहायक क्रिया से पूर्व का अंतिम अक्षर उससे अपेक्षाकृत नीचे सुर में, वहाँ (ख) में पहला अक्षर ही कुछ नीचे स्वर में उच्चरित होता है और सहायक क्रिया के पूर्व का अंतिम अक्षर अधिक ऊँचे मध्य सुर में उच्चरित होता है। फलतः इस शैली में अंतिम अक्षर और उसके पूर्व के अक्षर के सुर में कुछ अधिक फासला पड़ जाता है।

(ङ) (क) शैली में उत्कर्षी अक्षर के बाद स्वर का क्रमिक उतार पाया जाता है, जबकि (ख) शैली में वाक्यांतर के सुरसंस्थान में उतार चढ़ाव और फिर अंतिम उतार का क्रम पाया जाता है।

(च) यदि उत्कर्षी शब्द का पहला अक्षर प्रकृत्या और स्थानतः ह्रस्व हो और दूसरा दीर्घ तो दूसरे अक्षर का ही सुर ऊपर चढ़ता है और पहला उसकी अपेक्षा कुछ नीचे सुर से उच्चरित होता है। परंतु दोनों में बहुत अधिक फर्क नहीं रहता, पूर्ववर्ती सुर परवर्ती के निकट ही रहता है।

(८) अप्रत्याशित स्थिति या आकस्मिक घटना के संबंध में उत्कंठापूर्ण विस्मय

(छ) आदेशार्थक वाक्यों में यदि अधिक बल भरना रहता है तो उनका प्रारंभ प्रायः कुछ अधिक ऊँचे सुर में होता है। पर अंत में आरोह का यही क्रम रहता है।

§ ४०७. इस आरोही सुर के विशेष लक्षण ये हैं :

(क) पूर्वोक्त सुरसंख्या—१ के समान ही इस सुर में भी प्रारंभिक अनुत्कर्षी अक्षर का सुर मध्य और नीच के प्रायः बीच के स्तर पर ही रहता है।

(ख) अंतिम अक्षर के सुर में आरोह का खिंचाव होता है और वह ऊपर की ओर खिंचकर मध्य सुर को पार करने की स्थिति में आ जाता है। हाँ-नहीं-उत्तरापेक्षी प्रश्नवाक्यों में तो वह उसे प्रायः पार कर ही जाता है। इसके अतिरिक्त उत्कंठापूर्ण विस्मय तथा पुकारों में भी वह मध्य सुर से काफी ऊपर चढ़ जाता है। अन्यत्र मध्य सुर में ही वह चरम ऊँचाई तक जा पहुँचता है : यह अंतिम आरोही सुर ऊपर चढ़ता हुआ ही अनवरुद्ध रूप में क्षीण होकर विलीन हो जाता है, कंठद्वारीय स्पर्श के द्वारा अवरुद्ध नहीं होता।

(ग) उत्कर्षवाही शब्द पर स्वराघात पड़ता है और वह मध्य सुर में प्रायः चरम ऊँचाई से समरूप में उच्चरित होता है। उत्कर्षी शब्द के अक्षरों की सुर-संख्या—१ के संबंध में निर्दिष्ट की जा चुकी है (दे० § ४०६. (ग) से (छ) तक)।

§ ४०८. इन दोनों प्रकार के सुरसंस्थानों में प्रथम सुरसंस्थान का प्रयोग सामान्य तथ्यकथन में होता है, जिसमें अन्य कोई विवक्षा या प्रतीयमान अर्थ का प्रसंग न हो। इसके अतिरिक्त विशेष उत्तरापेक्षी प्रश्नवाचक शब्दों के साथ व्यवहृत प्रश्नवाक्यों में, आज्ञावाचक या साधारण अनुरोध या प्रार्थना करने में तथा तथ्यात्मक विस्मय प्रकट करने में अवरोही सुर का ही प्रयोग किया जाता है। यह सुर वाक्यांत तथा विवक्षा की पूर्णता का द्योतक है।

§ ४०९. द्वितीय सुरसंस्थान आरोही है। इसका प्रयोग निम्नलिखित स्थितियों में होता है :

वाक्यांत में अनिश्चय कथनों में,
हाँ–ना–उत्तरापेक्षी प्रश्नवाक्यों में,
अपूर्ण उत्कंठासूचक प्रश्नवाक्यों में,
विनम्र और साग्रह प्रार्थनावाले वाक्यों में,
व्यंग्यर्थक वाक्यों में जिनमें वक्ता का कुछ प्रतीयमान
आशय हो।

आकस्मिक स्थिति या अप्रत्याशित बात के संबंध में उत्कंठापूर्ण विस्मयबोधक वाक्यों में तथा पुकारों में भी इसका व्यवहार किया जाता है।

इस सुर में अतृप्त उत्कंठा का भाव निहित रहता है। श्रोता की ओर से स्वीकृति अस्वीकृति के विषय में वक्ता की अतृप्त आतुरता का यह द्योतक है। इसके अतिरिक्त अपूर्ण वाक्यों तथा वाक्यांतर्गत अनंत्य बोधवर्गीय वाक्यांशों में अल्प विरामों के पहले भी इसका प्रयोग होता है।

इससे वाक्य की असमाप्ति का बोध होता है और मालूम हो जाता है कि वक्ता को उसके बाद भी कुछ कहने को शेष रह गया है, जिसका प्रकट कथन न करने पर भी आगे जारी रखे जाने की संभावना रहती है। ऐसा प्रतीत होता है कि संभवतः श्रोता की ओर से कुछ उत्तर पा जाने पर ही वक्ता आगे का कथन फिर जारी करेगा।

§ ४१०. पूर्वी पंजाबी, राजस्थानी, व्रजभाषा आदि पश्चिमी क्षेत्र की बोलियों में भी सुरसंस्थानों के प्रायः ये ही क्रम व्यवहृत होते हैं, पर अवधी[1],

[1] अवधी के सुरसंस्थान के विषय में देखिए : बाबूराम सक्सेना, एवोल्युशन ऑव अवधी, १९३७, पृ० २०१–२,

भोजपुरी,[1] मगही, मैथिली आदि बोलियों के सुरसंस्थानों में अंतर पाया जाता है, जिसका संकेत ऊपर भी किया जा चुका है।

§ ४११. इन दोनों सुरसंस्थानों में जब किसी शब्द पर अतिशयता या विषमता के लिये विशेष जोर देना रहता है तो उसका उच्चारण विशेष उत्कर्ष के साथ किया जाता है और इसके लिये उस शब्द के उत्कृष्ट अक्षर की मात्रा बढ़ा दी जाती है अथवा उसके सुर को और ऊँचा कर दिया जाता है अथवा ये दोनों साधन साथ साथ काम में लाए जाते हैं, यथा—'मैंने 'नहीं (—), ' तुम्हीं (—) ने कहा।' यहाँ 'नहीं' और 'तुम्हीं' के अनुनासिक 'ई' को दीर्घतर करके तथा सुर का आरोह करके विषमता पर जोर दिया जायगा। इसी प्रकार 'मैं समझता था वह पटना गया है।' इस वाक्य में 'ना' की मात्रा को कुछ और दीर्घ और ऊँचा आरोही स्वर करके उसपर जोर दिया जा सकता है।

संधि

§ ४१२. संबद्ध वाग्धारा में प्रयुक्त ध्वनियाँ अपनी पूर्ववर्ती और परवर्ती अन्य ध्वनियों से प्रभावित होकर अगणित रंगों और रूपों में उच्चरित होती हैं। पूर्ववर्ती ध्वनियों के ऐसे पारस्परिक प्रभावजन्य विकारों का ही संधि के अंतर्गत विचार किया जाता है। ये संधिराग किसी एक शब्द के अंतर्गत व्यवहृत ध्वनियों में भी पाए जा सकते हैं और वाक्य या वाक्यांश में व्यवहृत अनेक शब्दों के बीच में आई हुई ध्वनियों में भी। किसी एक शब्दांतर्गत ध्वनिविकारों को अंतरंग संधि और कई शब्दों के बीच पारस्परिक साहचर्य से उत्पन्न ध्वनिविकारों को बहिरंग संधि कह सकते हैं। संस्कृत वैयाकरणों ने एक पद या वाक्य के अंतर्गत पूर्ववर्ती शब्द या शब्दांश के अंतिम और परवर्ती शब्द या शब्दांश की आदिम ध्वनि के संगम से जो संधिगत विकार होते हैं, केवल उन्हीं के कुछ प्रमुख रूपों के संबंध में नियम दिए हैं। उन्होंने ऐसे विकारों का किसी स्वीकृत स्वनिमात्मक रूप से समीकरण कर दिया है जैसे सत्+चित्+आनंद का संधिगत विकार है सच्चिदानंद। परंतु हिंदी में यद्यपि शब्द के अंतिम व्यंजन का हलंतवत् उच्चारण होता है, तो भी 'बातचीत' जैसे शब्द में अंत्य 'त' और आद्य 'च' के संगम का परिणाम 'च' कदापि नहीं माना जा सकता है। उनके संधिराग में न तो स्वनिमात्मक त्

[1]. भोजपुरी के सुरसंस्थान के विषय में देखिए, विश्वनाथप्रसाद, ए फोनेटिक ऐंड फोनोलॉजिकल स्टडी ऑव भोजपुरी, लंदन विश्वविद्यालय, १९५०.

रह जाता है, न च और न च का द्वित्व रूप 'ञ्च'। उसमें तो एक अभिनव संधि-ध्वनि प्रकट होती है जिसमें संयुक्त या द्वित्व 'ञ्च' की कालमात्रा तथा स्पर्श या स्पर्शसंघर्षी तनाव का सर्वथा अभाव पाया जाता है। इस प्रकार की अगणित नई ध्वनियाँ संधिरागों के द्वारा उदित होती हैं। वस्तुतः संधि प्रक्रिया के द्वारा ही अनेक शब्दों में ध्वनिगत विकार होते होते उनके नए रूप बन जाते हैं, जिनकी व्युत्पत्ति अथवा विकास का कालक्रमिक विचार ऐतिहासिक दृष्टि से किया जाता है। और वर्णनात्मक दृष्टि से तो इनका महत्व है ही, क्योंकि हमारी वाणी में जो ध्वनियाँ प्रवाहित होती हैं, वे दो विरामों के बीच आद्योपांत संधियों के राग में ही जुड़ी रहती हैं।

§ ४१३. संधियों के व्यवहार के विषय में संस्कृत में नियम है कि विराम के पूर्व छंद की पंक्तियों के बीच, पदों के अंतर्गत, उपसर्गों और धातुओं के बीच और समासों में संधि अनिवार्य है, परंतु स्वतंत्र वाक्यों के बीच वह वैकल्पिक है।[1] अनिवार्य और वैकल्पिक का अर्थ यहाँ केवल लिखित रूप में ही लिया जा सकता है। उच्चरित रूप में तो भाषण की गति और लय में आबद्ध ध्वनियों की संधियाँ अनिवार्य हैं, चाहे संस्कृत की बात हो चाहे हिंदी की।

§ ४१४. हिंदी में व्यवहृत संस्कृत के तत्सम शब्दों के ही अंतरंग रूप में संस्कृत की ध्वनियाँ व्यवहृत होती हैं, तद्भव, देशज तथा संस्कृतेतर भाषाओं से आगत शब्दों के अंतर्गत अथवा वाक्य में व्यवहृत पृथक् पृथक् शब्दों के बीच बहिरंग रूप में नहीं।

§ ४१५. संस्कृत व्याकरण में इनका विचार तीन श्रेणियों में रखकर किया जाता है :

(१) स्वर+स्वर (स्वर संधि)
(२) व्यंजन+स्वर या व्यंजन (व्यंजन संधि)
(३) विसर्ग+स्वर या व्यंजन (विसर्ग संधि)

तत्सम शब्दों में व्यवहृत इन संधियों के प्रधान नियम नीचे दिए जाते हैं :

[1] संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः ।
नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते ॥

[2] किंतु इधर कुछ नए शब्दों में संस्कृत संधियों का प्रयोग हुआ है (दे० § ४२०

स्वरसंधि

§ ४१६. (१) दो सवर्ण ह्रस्व या दीर्घ स्वरों की संधि से सवर्ण दीर्घ स्वर होता है। इसे दीर्घ संधि कहते हैं, यथा

क. अ+अ, अ+आ, आ+अ, आ+आ=आ
ख. इ+इ, इ+ई, ई+इ, ई+ई=ई
ग. उ+उ, उ+ऊ, ऊ+उ, ऊ+ऊ=ऊ
घ. ऋ+ऋ, ऋ+ॠ=ॠ

उदाहरणार्थ

क. राम+अयन=रामायण[1] (यहाँ ध्यान रहे कि संस्कृत में अंत्य अ का उच्चारण होता है; जैसे—राम के म के अंत्य अ का पूर्ण उच्चारण होगा।)
परम+आत्मा=परमात्मा
विद्या+अर्थी=विद्यार्थी
महा+आत्मा=महात्मा

ख. अभि+इष्ट=अभीष्ट
प्रति+ईक्षा=प्रतीक्षा
नदी+इत्यादि=नदीत्यादि
नदी+ईश=नदीश

ग. सु+उक्ति=सूक्ति
लघु+ऊर्मि=लघूर्मि
वधू+उत्सव=वधूत्सव

घ. मातृ+ऋण=मातॄण या मातृण[2]

(२) निम्नलिखित संधिविकारों को गुण कहते हैं :

क. अ+इ, अ+ई, आ+इ, आ+ई=ए
ख. अ+उ, अ+ऊ, आ+उ, आ+ऊ=ओ
ग. अ+ऋ, आ+ऋ =अर्

[1] यहाँ 'न' का 'ण' रूप भी संधि का ही एक विकार है, जिसका संस्कृत में ध्वनिविचार के अंतर्गत विचार होता है।

[2] ऋकार की दीर्घ संधि के उदाहरण संस्कृत में भी एक आध ही मिलते हैं।

उदाहरणार्थ,

क. स्व+इच्छा=स्वेच्छा
गण+ईश=गणेश
महा+इंद्र=महेंद्र
महा+ईश=महेश

ख. पुरुष+उत्तम=पुरुषोत्तम
नव+ऊढ़ा=नवोढ़ा
महा+उत्सव=महोत्सव
महा+ऊर्मि=महोर्मि

ग. सप्त+ऋषि=सप्तर्षि
महा+ऋषि महर्षि

परंतु कुछ शब्दों में इसका अपवाद पाया जाता है; जैसे :

स्व+ईरिणी=स्वैरिणी
प्र+ईष=प्रैष
प्र+ऊढ़ = प्रौढ़
अक्ष+ऊहिणी=अक्षौहिणी
सुख+ऋत=सुखार्त
दश+ऋण=दशार्ण

(३) निम्नलिखित संधिविकार को वृद्धि कहते हैं :

क. अ+ए, अ + ऐ, आ+ए आ+ऐ=ऐ
ख. अ+ओ, अ+औ, आ+ओ, आ+औ=औ

उदाहरणार्थ,

क. हित+एषी=हितैषी
मत+ऐक्य=मतैक्य
महा+ऐश्वर्य=महैश्वर्य

ख. अधर+ओष्ठ=अधरौष्ठ ('ओष्ठ' के साथ विकल्प से 'अधरोष्ठ' रूप भी होता है।)
परम+औषध=परमौषध
महा+ओजस्वी=महौजस्वी
महा+औदार्य=महौदार्य

(४) निम्नलिखित संधिविकारों को यण् कहते हैं :

क. इ या ई के परे कोई असवर्ण स्वर आवे तो इ < य् हो जाता है।

ख. उ वा ऊ के परे कोई असवर्ण स्वर आवे तो उ < व् हो जाता है।

ग. ऋ के परे कोई असवर्ण स्वर आवे तो ऋ < र् हो जाता है।

उदाहरणार्थ,

क. यदि+अपि=यद्यपि
इति+आदि = इत्यादि
अभि + उदय=अभ्युदय
नि + ऊन=न्यून
प्रति+एक = प्रत्येक
देवी+अनुग्रह = देव्यनुग्रह

ख. अनु+अय=अन्वय
सु+आगत=स्वागत
अनु+एषण=अन्वेषण
पितृ+आकृति = पित्राकृति
कर्तृ+ई = कर्त्री

(५) ए, ऐ, ओ या औ के परे कोई असवर्ण स्वर हो तो निम्नलिखित विकार होते हैं; जिन्हें अयादि कहते हैं :

ए > अय्
ऐ > आय्
ओ > अव्
औ > आव्

उदाहरणार्थ,

ने+अन=नयन
गै + अन=गायन
श्रो + अन = श्रवण
नौ + इक = नाविक

व्यंजनसंधि

§ ४१७. (१) क्, च्, ट्, प् के परे अनुनासिक को छोड़कर कोई घोष वर्ण रहे तो उनका भी घोषीकरण हो जाता है और उनके स्थान में क्रमशः ग्, ज्, ड्, ब् का व्यवहार होता है। जैसे,

दिक्+अंबर = दिगंबर
वाक्+ईश = वागीश

षट् + आनन=षडानन
अप्+ज=अब्ज
दिक्+गज = दिग्गज

(२) त् के परे ज्, झ्, ङ्, ढ्, ल्, ट् और अनुनासिक व्यंजनों को छोड़कर कोई अन्य घोष वर्ण रहे तो उसका भी घोषीकरण हो जाता है और उसके स्थान में द् का प्रयोग होता है। जैसे,

जगत् + ईश=जगदीश
सत्+गुण=सद्गुण
तत्+भव=तद्भव
आपत्+बंधु=आपद्बंधु

(३) त्, द् के परे यदि च्, छ्, हो तो त्, द् के स्थान में च्; ज्, झ् हो तो ज्; ट्, ठ् हो तो ट्; ड्,ढ् हो तो ड् और ल् हो तो ल् हो जाता है। जैसे,

सत्+चित्=सच्चित्
शरद्+चंद्र=शरच्चंद्र
सत्+जन=सज्जन
उत्+छल=उच्छल
तत् + लीन=तल्लीन

(४) परवर्ती वर्ण यदि अघोष हो तो अनुनासिक को छोड़कर पूर्ववर्ती वर्ण का अघोषीकरण हो जाता है और उसके स्थान में उसी वर्ग के प्रथम अक्षर का व्यवहार होता है, जैसे

उद्+तान=उत्तान
क्षुध्+पीड़ित=क्षुत्पीड़ित
शरद्+काल=शरत्काल
उद्+साह=उत्साह

(५) क्, ग्, ट्, ड्, त्, द्, प्, ब् के परे कोई अनुनासिक व्यंजन आवे तो उसके स्थान में उसी वर्ग का अनुनासिक हो जाता है, जैसे

वाक् + मय=वाङ्मय
प्राक्+मुख=प्राङ्मुख
षट् + मुख=षण्मुख
जगत्+नाथ+जगन्नाथ
तत्+मय=तन्मय
उद्+निद्रा=उन्निद्रा

(६) त्+श्=च्छ
त्+ह्=द्ध
जैसे, उत्+श्वास=उच्छ्वास
उत्+हार=उद्धार

(७) एक ही शब्द में किसी ह्रस्व स्वर या आ के परे छ् आवे तो उसके स्थान में च्छ् हो जाता है, जैसे

परि+छेद=परिच्छेद
अनु+छेद=अनुच्छेद
प्र+छन्न=प्रच्छन्न
आ+छादन=आच्छादन
छत्र+छाया=छत्रच्छाया

(८) म् के परे यदि य, व, श, ष, स या ह हो तो उसके स्थान में अनुस्वार हो जाता है, जैसे

सम्+यम=संयम
सम्+वत्=संवत्
सम्+वाद=संवाद
सम्+शोधन=संशोधन
सम्+सार=संसार
सम्+हार=संहार

अपवाद—

परंतु प्रत्यय जोड़ने में ऐसा नहीं होता जैसे रम्य, गम्य आदि। इसके अतिरिक्त सम्+राज्=सम्राज् (सम्राट्)।

(९) म् के परे यदि कोई स्पर्श वर्ण हो तो उसके स्थान में विकल्प से अनुस्वार अथवा उसी वर्ग के अनुनासिक का व्यवहार होता है, जैसे

किम्+कर=किंकर वा किङ्कर
सम्+चित्=संचित् वा सञ्चित्
सम्+ताप=संताप वा सन्ताप
सम्+पूर्ण=संपूर्ण वा सम्पूर्ण

(१०) न् के पूर्व या पश्चात् च् या ज् हो तो उसके स्थान में ञ् हो जाता है, जैसे

याच्+ना=याच्ञा, यांचा
यज्+न=यज्ञ

विसर्ग संधि

§ ४१८. यदि विसर्ग के पहले अ हो और आगे अ या घोष व्यंजन हो तो पूर्ववर्ती अ और विसर्ग के मेल से ओ हो जाता है जैसे,

मनः + अनुकूल = मनोनुकूल
अधः + गति = अधोगति
मनः + योग = मनोयोग
सरः + वर = सरोवर

ऐसी स्थिति में परवर्ती अ का विकल्प से अवग्रह हो जाता है और उसका अर्धाकारवत् लघुतर वा अपूर्ण उच्चारण होता है, जिसके लिये "ऽ" इस खंडाकार चिह्न का प्रयोग किया जाता है, जैसे

मनः + अनुकूल = मनोनुकूल वा मनोऽनुकूल

विसर्गस्थानीय र् अर्थात् र् के बदले प्रयुक्त विसर्ग के आगे कोई घोष वर्ण आए तो र् का र् ही रह जाता है, जैसे

पुनः + आगमन = पुनरागमन
पुनः + उक्ति = पुनरुक्ति
पुनः + जन्म = पुनर्जन्म
पुनः + वसु = पुनर्वसु

विसर्ग के पहले अ, आ को छोड़कर और कोई स्वर हो और आगे कोई स्वर या घोष व्यंजन हो तो उसके स्थान में र् हो जाता है, जैसे

निः + आधार = निराधार
निः + भय = निर्भय
दुः + गम = दुर्गम
आयुः + वेद = आयुर्वेद

परंतु यदि विसर्ग के बाद र् रहे तो विसर्ग का लोप हो जाता है और उसके पूर्ववाले ह्रस्व स्वर का दीर्घ हो जाता है, जैसे

निः + रस = नीरस
निः + रोग = नीरोग
निः + रव = नीरव

विसर्ग के आगे यदि च्, छ् हो तो उसका समीकृत रूप श्; ट्, ठ् हो तो ष् और त्, थ् हो तो स् हो जाता है, जैसे

दु: + चरित्र = दुश्चरित्र
नि: + छल = निश्छल
धनु: + टंकार = धनुष्टंकार
नि: + तेज = निस्तेज

विसर्ग के परे यदि श्, ष् या स् हो तो उसका विकल्प से पुरोगामी समीकरण हो जाता है, अर्थात् श् के साथ श्; ष् के साथ ष् और स् के साथ स् हो जाता है, जैसे

दु: + शासन = दु:शासन वा दुश्शासन
नि: + शंक = नि:शंक वा निश्शंक
नि: + ष्ठीवन = नि:ष्ठीवन वा निष्ठीवन
नि: + संतान = नि:संतान वा निस्संतान
नि: + संदेह = नि:संदेह वा निस्संदेह

यदि विसर्ग के पहले इ वा उ और आगे क, ख, प या फ हो तो विसर्ग के स्थान में ष् हो जाता है[1], जैसे

बहि: + कार = बहिष्कार
नि: + कलंक = निष्कलंक
दु: + कर = दुष्कर
चतु: + पाद = चतुष्पाद
नि: + फल = निष्फल
नि: + पक्ष = निष्पक्ष (विकल्प से 'नि:पक्ष' भी)

अन्यथा क्, ख्, प् या फ् के पूर्ववर्ती विसर्ग में कोई विकार नहीं होता, यथा

अंत: + करण = अंत:करण
तप: + पूत = तप:पूत
अंत: + पुर = अंत:पुर
प्रात: + काल = प्रात:काल

नम:, पुर: इन अव्ययों के आगे तथा तिरस् के परे क, ख, प, फ हो तो विसर्ग के स्थान में स् हो जाता है, जैसे

[1] परंतु दु:ख शब्द इसका अपवाद है।

नमः + कार = नमस्कार
पुरः + कार = पुरस्कार
तिरः + कार = तिरस्कार

इसी प्रकार,

भाः + कर = भास्कर
सरः + वती = सरस्वती

षत्व और णत्व विधान

§ ४१९. एक ही शब्द में ऋ, र या ष के बाद न आवे तो न का ण हो जाता है। उनके बीच में किसी स्वर, कवर्ग, पवर्ग, य, व, र, ह तथा अनुनासिक वर्ण रहें तो भी न का मूर्धन्यीकरण हो जाता है, जैसे

ऋ + न = ऋण
भाष् + अन = भाषण
प्र + मान = प्रमाण

परंतु 'रुदन' या 'रोदन' में न का ण नहीं होता क्योंकि यहाँ बीच में 'द' है।

अ, आ को छोड़कर अन्य किसी स्वर के बाद आद्य स् का ष् हो जाता है, जैसे

वि + सम = विषम
नि + सेध = निषेध
अनु + संग = अनुषंग
अनु + स्तुप् = अनुष्टुप्

परंतु अनुसंधान, अनुसंचरण में स ही होगा क्योंकि यहाँ स उपसर्ग का अंश है, शब्द का आद्य व्यंजन नहीं।

धातुनिर्मित रूपों में भी यदि स के बाद ऋ या र हो तो स का ष नहीं होता, जैसे

विस्मृत, विसर्ग, अनुसरण।

हिंदी संधियाँ

§ ४२०. कुछ विशेष स्थितियों को छोड़कर हिंदी शब्दों में अंतिम व्यंजन के बादवाले अंत्य अ का उच्चारण नहीं होता। इसलिये ऐसे अनुच्चरित अंत्य अ के बाद यदि एक ही लयात्मक वर्ग के अंतर्गत स्वर या व्यंजन आते हैं तो उनमें संधि हो जाती है, जैसे, बहुत अच्छा, यद्यपि वाक्यांतर्गत ऐसी संधियों को लिखित रूप में व्यवहृत नहीं किया जाता है, तथापि अंतरंग रूप में शब्दांतर्गत ऐसी संधियों को लिखा भी जाता है, जैसे,

हर + एक = हरेक	साथ + ई = साथी
कुछ + एक = कुछेक	नाग + इन= नागिन
एक + आध= एकाध	लड़ + आई = लड़ाई

इसी प्रकार बने हुए पाँचेक (पाँच+एक), सातेक (सात+एक) जैसे कुछ शब्द कुछ स्थानों में प्रचलित हैं।

संस्कृत की संधि के नियमों के अनुसार एकैक, कुछैक रूप ही बनते, परंतु हिंदी की प्रवृत्ति शब्द के व्यंजन के अंत्य अभिनिधान के कारण भिन्न है।

§ ४२१. उर्दू छंदों के वजन के संतुलन में हिंदी व्यंजन और स्वर की संधि की इस प्रवृत्ति का प्रायः लाभ उठाया जाता है, जैसे

१. खौफ उनको था कि नींद में बोसा न ले कहीं।

२. नींद ऐसी सो गई कि न आई तमाम रात।

३. न तो नींद आती है मुझको न कजा आती है।

४. बहार आई है भर दे बादए गुलगूँ से पैमाना।

५. फूलों की घटाओं से बरसता है गुलाब आज।

इन उदाहरणों में रेखांकित शब्दों का उच्चारण संधिगत रूपों में ही होता है, जैसे खौफुनको, नींदैसी, नींदाती, बहाराई, गुलाबाज।

अंतिम शेर की पंक्ति के उच्चारण में 'गुलाबाज' का 'बा' 'गलाबाज' के 'बा' से भिन्न नहीं रह जाता; परंतु लिखने में इनके पृथक् पृथक् रूप ही लिखे जाते हैं।

§ ४२२. इस संबंध में यह ध्यान रखना चाहिए कि गद्य के वाक्यों में ऐसी संधियों का व्यवहार होने पर भी उनके अक्षरात्मक विन्यास में शब्दगत उत्कर्ष का सूक्ष्म भेद किसी न किसी रूप में बना ही रहता है, उदाहरणार्थ

तुम आप आओ तो......(तुमापाओ तो)

तुम आ पाओ तो......(तुमापाओ तो)

इन दोनों वाक्यांशों में और तरह से संधिगत अभेद होते हुए भी शब्दगत उत्कर्ष का भेद सूक्ष्म रूप में बना रहता है जिससे अर्थग्रहण में कोई कठिनाई नहीं होती।

पहले वाक्य में उत्कर्ष का क्रम है 'आप 'आओ और दूसरे में 'आ पाओ (केवल प्रथम अक्षर पर)। इस प्रकार उनके अक्षरविन्यास में कुछ अंतर रह ही जाता है। पहले के 'आपा' का अक्षरविन्यास होगा आप+आ (अ ह+अ) और दूसरे का आ+पा (अ+ह अ)।

जब आप चले (जबाप)।
नबाब चले (नबाब)।

दोनों के 'बा' में यह उत्कर्षगत भेद स्पष्ट है। 'जब 'आप और नबाब। इसलिये संधिगत अभेद के होने पर भी दोनों के आक्षरिक विन्यास में भी अंतर पाया जाता है। पहले वाक्य के बा' का 'ब' प्रथम बद्धाक्षर का अंश है और 'आ' दूसरे बद्धाक्षर का, जबकि दूसरे वाक्य का उत्कर्षवाही 'बा' स्वतः एक पूर्ण अक्षर है।

§ ४२३. इसी प्रकार 'सब 'एक दिन' का 'बे' 'सबेरा' के 'बे' से सर्वथा अभिन्न नहीं हो पाता। इनमें व्यंजन और स्वर की संधि होने पर भी उत्कर्षगत और आक्षरिक भेद रह ही जाता है, जिसके आधार पर शब्दों की पृथक् इकाई का भान सहज ही में हो जाता है। यह एक ऐसा तथ्य है जो शब्दों की स्वतंत्र ध्वन्यात्मक सत्ता का प्रमाण है।

§ ४२४. व्यंजन के साथ व्यंजन की संधि के अंतर्गत भी उत्कर्ष और आक्षरिक विन्यास का यह अंतर किसी न किसी रूप में झलकता रहता है।

'जब 'बाप मिले......

'जब 'आप मिले......

जब्बाव मिले।

इनमें अंत्य 'ब' और आदि 'ब' की संधि, अंत्य 'ब' और आद्य 'आ' की संधि तथा 'बा' के उच्चारण में निस्संदेह बहुत कुछ अभिन्नता आ जाती है, पर उनमें आक्षरिक और उत्कर्षगत भेद रह जाता है, जिससे उनका अंतर समझना कठिन नहीं होता।

§ ४२५. वाक्य के अंतर्गत शब्दांत तथा शब्दादि के व्यंजनों की संधि से जो द्वित्व या संयुक्त ध्वनि बनती है, वह शब्दांतर्गत व्यवहृत स्वतंत्र द्वित्वों तथा संयुक्त व्यंजनों से इस बात में भिन्न होती है कि उसमें न तो वैसा दीर्घ स्तंभ ही होता है और न वैसे तनाव या शक्ति का प्रयोग होता है (दे० § ४१२)।

अंत्य वर्ण में अभिनिधान के कारण अवरोध के समय उच्चारण की शक्ति का ह्रास और द्वितीय वर्ण में उसकी वृद्धि हो जाती है। 'जब बाप मिले' का 'ब्+ब' 'धब्बा' के 'ब्+ब' से कहीं अधिक सरल है। असंयुक्त सरल 'ब' से इस संधिगत 'ब' में बहुत अधिक अंतर नहीं पाया जाता। द्रुत उच्चारण में तो यह अंतर सर्वथा मिट जाता है।

इसी प्रकार 'एक का' और 'एक्का' अथवा 'शक करना ठीक नहीं' और 'शक्कर ठीक नहीं' इनके 'क्+क' की संधि और 'क्क' के बीच में स्तंभ और प्रयत्न-

शक्ति का भेद बना रहता है। संयुक्त 'क्क' में कहीं अधिक शक्ति और स्तंभ का प्रयत्न करना पड़ता है।

§ ४२६. पिछले पृष्ठों में संस्कृत के जिन संधिनियमों का उल्लेख किया गया है, हिंदी में प्रचलित संस्कृत के कुछ समस्त शब्दों में उनकी अवहेलना पाई जाती है, जैसे—'अंतःप्रांतीय' के स्थान में 'अंतर्प्रांतीय', 'स्व्युपयोगी' के स्थान में 'स्त्रियोपयोगी', 'उपर्युक्त' के स्थान में 'उपरोक्त,' 'बहूद्देशीय' के स्थान में 'बहुद्देशीय,' 'अंताराष्ट्रिय' के स्थान में 'अंतर्राष्ट्रीय' आदि।

§ ४२७. संस्कृत के तत्सम शब्दों को छोड़कर हिंदी के अन्य शब्दों में संस्कृत की इन संधियों का व्यवहार नहीं होता। प्राकृत और अपभ्रंश में भी इन नियमों के अनुसरण में शिथिलता आ गई थी। परंतु प्राकृत के भी प्राचीन रूपों में इनका व्यवहार प्रायः होता था, जैसा हिंदी में उनसे विकसित कई रूपों में दिखाई पड़ता है।

§ ४२८. हिंदी में प्रचलित संस्कृत के तत्सम शब्दों को छोड़कर अन्य शब्दों या वाक्यों में संस्कृत संधियों का व्यवहार नहीं होता, यथा णत्व विधान के अनुसार संस्कृत के तत्सम शब्द 'कारण' में तो 'न' का व्यवहार नहीं होगा, पर 'करना' जो तद्भव शब्द है उसमें इस नियम का पालन नहीं किया जाएगा।[1] इसी प्रकार 'सदाकत आश्रम' के स्थान में 'सदाकदाश्रम' नहीं कहा जाता।

§ ४२९. परंतु इधर कई नवनिर्मित शब्दों में संस्कृत संधियों का अनुसरण किया गया है, जैसे—झंडारोहण झंडोत्तोलन।

§ ४३०. हिंदी शब्दों में प्रचलित अंतरंग स्वरसंधियों का निर्देश य और व श्रुतियों के विवेचन में पहले ही (§ ११६ से § ११९ तक) किया जा चुका है। जहाँ तक स्वरों की बहिरंग संधियों का प्रश्न है, संबद्ध भाषण में पृथक् पृथक् शब्दों के बीच सवर्ण तथा असवर्ण दोनों प्रकार के स्वरों के अनुक्रम के दृष्टांत मिलते हैं, जैसे

वह भला आदमी है।
उसे एक भी बात याद नहीं।
उसकी एक भी न चली।
मुझे इसी ओर जाना है।

[1] परंतु हिंदी क्षेत्र की कई बोलियों में, जैसे ब्रजभाषा, अवधी, भोजपुरी आदि में 'कारन' रूप ही प्रचलित है। दूसरी ओर, राजस्थानी (मारवाड़ी), गढ़वाली आदि में 'करना' के स्थान में 'करणा' जैसे रूप प्रचलित है, जिनमें 'ण' की ही प्रवृत्ति पाई जाती है।

वे बहुत बड़े आदमी हैं।
यह अच्छा उपाय है।
तुम्हारे ऊपर बहुत कुछ निर्भर है।
बहू आ रही है।

यहाँ लिखने में दो शब्दों के बीच जो अंतर छोड़ दिया जाता है, वही पूर्ववर्ती शब्द के अंतिम स्वर और परवर्ती शब्द के आदि स्वर की संधि का निर्देशक है। वास्तविक उच्चारण में इन अंतों को ध्वनिविज्ञान की दृष्टि से तथाकथित विवृत्ति (Hiatus) तो माना नहीं जा सकता, क्योंकि संबद्ध भाषण की धारा में ध्वन्यात्मक शून्य हो ही कैसे सकता है? यह तो सर्वथा असंभव है। यदि ध्यान से विचार करें तो इन स्वरानुक्रमों के संबद्ध और अविच्छिन्न उच्चारण में भी य श्रुति की कुछ न कुछ छाया—अतिशय क्षीण ही सही—पूर्वनिर्दिष्ट क्रमानुसार मिलेगी, क्योंकि किसी एक स्वर से दूसरे पर वागिंद्रियों को ले जाने में रागात्मक संसर्पण का परिहार कर पाना सर्वथा असंभव है। यदि परिहार हो सकता है तो कुछ विशेष परिस्थितियों में कंठद्वारीय स्पर्श के द्वारा। पर ऐसी परिस्थितियों में आखिर कंठद्वारीय स्पर्श भी तो एक संधिराग[1] ही होगा।

उपर्युक्त उदाहरणों में यदि पहले और अंतिम को ही लेकर तुलना करें तो पहले में वागिंद्रियाँ जहाँ पश्चविवृत से कुछ अग्रसंवृत की ओर संचरण करती हैं, वहाँ दूसरे में पश्चसंवृत से विवृत की ओर। इस प्रकार इनके उच्चारण में क्रमशः य-श्रुति के मार्ग और व-श्रुति के मार्ग का आभास संनिहित है। 'उसकी एक भी न चली' इस उदाहरण में यदि 'एक' पर विशेष जोर दिया जाय तो प्रायः 'ई' और 'ए' के बीच कंठद्वारीय स्पर्श का व्यवहार होता है जिसे 'उसकी ? एक भी न चली' इस प्रकार अंकित किया जा सकता है।

§ ४११. व्यंजन के साथ स्वर की अथवा व्यंजन की भी अगणित संधियाँ हिंदी में व्यवहृत हैं; परंतु संस्कृत की संधि के नियमों के द्वारा उनका विवेचन नहीं किया जा सकता। उनके अपने नियम हैं, अपनी व्यवस्थाएँ हैं[1]। परंतु एक स्वतंत्र,

[1] इस संबंध में उल्लेखनीय है कि बाबूराम सक्सेना ने अवधी की संधियों का सम्यक् विचार किया है। दे० एवोल्युशन ऑव अवधी, पृ० ६३—६८.
भोजपुरी संधियों के संबंध में देखिए: विश्वनाथप्रसाद, ए फोनेटिक ऐंड फानोलाजिकल स्टडी ऑव भोजपुरी (लंदन, १९५०), अध्याय ८.
दक्खिनी के संबंध में मोहिउद्दीन कादरी ने भी 'हिंदुस्तानी फोनेटिक्स' में संधियों के संकेत जहाँ तहाँ दिए हैं।

जीवित और व्यापक भाषा के रूप में हिंदी संधियों का यथावत् अनुसंधान अभी नहीं हो सका है। ऐसी दशा में यहाँ कुछ प्रमुख प्रवृत्तियों का ही उल्लेख किया जा सकेगा।

§ ४३२. अंत्य अघोष स्पर्श व्यंजन के परे सवर्ण या असवर्ण घोष स्पर्श व्यंजन आए तो उसका भी घोषीकरण हो जाता है, जैसे

बहुत देर हो गई > बहुद् देर।
भात दाल > भाद् दाल।
डाक घर > डाग् घर।
खिदमतगार > खिदमदगार।
साथ दो > साद् दो।
हट जा > हड् जा! (दे० तरंगलेख।)

तरंगलेख में अघोष 'ट' में भी घोषत्व का प्रवेश स्पष्ट लक्षित है।

इस प्रकार 'चुक गया' और 'चुग गया'; 'पक गया' और 'पग गया', 'बच गया' और 'बज गया' में प्रायः कोई भेद नहीं सुनाई पड़ता; परंतु उच्चारण की दृष्टि से दोनों में इतना अंतर प्रायः पाया जा सकता है कि क+ग या च+ज के क या च का प्रारंभ मात्र घोषरहित रूप में होता है और उसके बाद तुरंत घोष का प्रारंभ हो जाता है और दूसरे में (ग्+ग) या (ज्+ग) में आद्योपांत घोषत्व रहता है।

§ ४३३. यदि अंत्य व्यंजन घोष स्पर्श हो और परवर्ती व्यंजन अघोष हो तो घोष व्यंजन का भी प्रायः अघोषीकरण हो जाता है, जैसे

जगकर > जक्कर।
सब पर लागू है > सप्पर लागू है।
सबसे > सप्से।

ऐसी स्थिति में स्पर्श का प्रारंभ सघोष रूप में होने पर भी उसका उन्मोच सर्वथा अघोष ही होता है। उदाहरणार्थ, 'जब' 'से' और 'जप' 'से' के उन्मोच में कोई भेद नहीं रह जाता। भेद रह जाता है तो उनके प्रारंभिक स्पर्श में। 'जबसे' में प्रारंभ सघोष होता है और उसके बाद तुरंत अघोषीकरण की प्रक्रिया प्रारंभ हो जाती है, जब कि 'जप से' में आद्योपांत अघोष प्रयत्न रहता है।

यहाँ 'सबसे' के तरंगलेख से यह बात स्पष्ट की जा सकती है। इसमें घोष और अघोष का अनुपात इस प्रकार है:

स्पर्श व्यंजन का सघोष भाग = १ शति सेकंड।
अघोष भाग = ७ शति सेकंड।

एअबूसेलो

§ ४३४. संधि की ये पश्चगामी प्रवृत्तियाँ पंजाबी, दक्खिनी, उर्दू तथा हिंदी क्षेत्र की ब्रजभाषा, कन्नौजी, बुंदेली, राजस्थानी, मैथिली, मगही आदि बोलियों में भी पाई जाती हैं। बोलियों में तो इनका और भी अधिक व्यवहार पाया जाता है। अवधी, भोजपुरी आदि में बीच में यदि फुसफुसाहटवाला स्वर रहता है तो भी किसी व्यंजन संधि मे कोई बाधा नहीं आती। जैसे,

अवधी—कोइकु जूता > कोइग्जूता।
भाजि चला > भाच्चला।
भोज०—काँपि गइल > काँम्गइल।

§ ४३५. यदि अंत्य स्पर्श व्यंजन के पहले अर्धानुनासिक रहता है तो अर्धानुनासिक सहित वह व्यंजन परवर्ती सवर्ण व्यंजन के साथ पूर्णानुनासिक के रूप में उच्चरित होता है, जैसे :

पहुँच जाओ > पहुँजाओ।
पाँच सेर > पांसेर (आगरे की बोली में—पाँस्सेर)।

§ ४३६. अवधी, कन्नौजी आदि कुछ बोलियों में अंत्य स्पर्श व्यंजनों का परवर्ती सवर्ण अनुनासिक न या म के साथ प्रायः द्वित्व अनुनासिक हो जाता है, जैसे :

बाप मा > बाम्मा।
खत नाईं ला > खन्नाईं ला।
लोभ मत करौ > लोम्मत करौ।

§ ४३७. अंत्य र् के बाद यदि ड, ल, न या ज हो, तो उनकी संधि में भी पश्चगामी समीकरण की प्रवृत्ति पाई जाती है, जैसे :

मार डाला > माड्डाला।
घर लाओ > घल्लाओ।
भर लो > भल्लो।
करना > कन्ना (आगरे की खड़ी बोली)।
घर जाता है > घज्जाता है (आगरे की खड़ी बोली)।

§ ४३८. कन्नौजी में ड़ के बाद र और ल आने पर या र् के साथ चवर्ग तथा तवर्ग स्पर्शों की संधि में भी ऐसी ही प्रवृत्ति पाई जाती है, जैसे :

तोड़ ला > तोल्ला

पढ़ रश्रो है > पर्‌रश्रो है

खर्च > खच्चु

मिर्च > मिच्च

हर्दि > हद्दि।

§ ४३६. कुछ शब्दों में र् का लोप हो जाता है और उसका द्योतन उसके स्थानापन्न स्वर मात्र से होता है; जैसे, पर > प (ब्रजभाषा, उर्दू और दक्खिनी में), तर > त (भोजपुरी में), और > औ (हिंदी और उर्दू पद्य में), हमारो > हमाश्रो (बुंदेली), प्यारे > प्याए (बुंदेली)।

§ ४४०. कन्नौजी में स् के बाद ड, त, ल और न के आने पर स के परवर्ती व्यंजन के रूप में समीकरण की प्रवृत्ति पाई जाती है, जैसे :

घास् डार > घाड् डार

पुस्त > पुत्त

कस दश्रो > कद्‌दश्रो

रस ला > रल्ला

रस नाइँ ला > रन्नाइँ ला

§ ४४१. अवधी में भी अंत्य स् के बाद च, ज, द, ट या ड तथा च, छ, ज के बाद उ आवे तो संधि की यह प्रवृत्ति पाई जाती है, जैसे :

कस डारिस > कड्डारिस

दस जने > दज्जने

कुछु डारि देउ > कुड् डारि देउ

§ ४४२. स् का संघर्षी अंश कभी कभी पूर्ववर्ती दंत्य तथा बर्त्स्य व्यंजनों को आत्मसात् कर लेता है, जैसे :

सात साल > सास्साल

मुभ सा > मुस्सा

पाँच सै > पाँस्सै (पूर्वी ब्रजभाषा)

आधा सेर > आस्सेर > आसेर (भोजपुरी)।

§ ४४३. कुछ बोलियों में त या ट के पहले स् की ऊष्मता का द्योतन ह के द्वारा होता है, जैसे :

अवधी

रास्ता > राह्ता

बस्ती > बह्ती

भोजपुरी

मास्टर > माह्टर

§ ४४४. अंत्य त, थ, द, ध के परे च, छ, ज, झ और स आएँ तो तवर्ग के व्यंजनों के उच्चारण में पश्चगामी समीकरण की प्रक्रिया का आभास मिलता है और वे परवर्ती व्यंजन के अनुरूप सुनाई पड़ते हैं, जैसे :

बातचीत > बाच्चीत

मत जा > मज्जा

हाथ छोड़ दो > हाच् छोड़ दो

रतजगा > रज्जगा (दक्खिनी में भी)

बदजात > बज् जात

पतझड़ > पज्झड़

दूध जल गया > दूज् जल गया

आध सेर > आस् सेर > आसेर (भोज०)

बहुत से > बहुस् से

बादशाह > बास्साह या बास्साय (आगरे की खड़ी बोली, कन्नौजी आदि)

§ ४४५. त् के आगे ट, ड और ल के साथ भी संधि की ऐसी ही प्रवृत्ति पाई जाती है, जैसे :

मत डरो > मड्डरो

मत टहलो > मट्टहलो

खत लाओ > खल्लाओ

परंतु ऐसे दृष्टांतों के तालुग्राही चित्रों में देखा गया है कि न तो पूर्ववर्ती व्यंजन का स्थान और प्रयत्न अविकृत रह पाता है, न परवर्ती व्यंजन का ही। संधि के परिणाम से जो ध्वनि सुनाई पड़ती है, वह उन दोनों से ही भिन्न होती है। इसलिये इस प्रक्रिया को समीकरण मान बैठना ध्वनिविज्ञान की दृष्टि से भ्रांति होगी। उदाहरण के लिये पाँच, सौ और पाँच सौ के तालुलेख द्रष्टव्य हैं।

§ ४४६. इन तालुलेखों की तुलना करके यह देखा जा सकता है कि 'च्' जो स्पर्श (या स्पर्शसंघर्षी) व्यंजन है, जैसा 'पाँच्' के तालुलेख से स्पष्ट है, पाँच सौ' के उच्चारण में अपना स्पर्श खो देता है। 'सौ' के 'स' से

'पाँच सौ' का 'सौ' भी बहुत अंशों में भिन्न है। इसमें वर्त्स्य रेखा में प्रोंछन का क्षेत्र अधिक विस्तृत है जो अधिक संकीर्ण विवृति का सूचक है और उसके अंतर्गत स्पर्श का भी एक छोटा सा बिंदु है। ये सब संधि के चिह्न हैं, न कि 'च्' के 'स' से समीकरण के।

यही बात 'बातचीत', 'बदजात' आदि में प्रयुक्त संधियों के विषय में भी पाई जायगी। 'त्' और 'च्' दोनों के स्थानप्रयत्न में पर्याप्त अंतर पड़ जाता है, जो 'च्च' से भी भिन्न होता है। संस्कृत के वैयाकरणों ने उसे 'च्च' से समीकृत करके भले ग्रहण किया है, पर हिंदी के वास्तविक व्यवहार में उसे 'च्च' के समीकृत रूप में ग्रहण करना युक्तिसंगत नहीं होगा। इसलिये ऊपर 'बातचीत' आदि को जो 'बाच्‌ चीत' के रूप में संकेतित किया है, वह ध्वनि के उत्पादन की दृष्टि से नहीं, केवल संधि के श्रौत रूप की दृष्टि से एक कामचलाऊ संकेत है।

§ ४४७. ऊपर दिए हुए उदाहरणों में पश्चगामी प्रभाव ही प्रदर्शित होते हैं। पुरोगामी प्रभाव के भी कुछ दृष्टांत मिलते हैं, जैसे आगरे की खड़ी बोली में ल और र की संधि में।

चल रही है > चल्लई ऐ,
बोल रही है > बोल्लई ऐ।

अनुनासिकता का राग

§ ४४८. पुरोगामी प्रभाव का एक सुंदर उदाहरण हमें जनसाधारण की बोलचाल तथा दक्खिनी, कन्नौजी, अवधी, भोजपुरी, मगही, मैथिली आदि बोलियों में मिलता है, जिसे हम कोमल तालु या काकल संबंधी स्थानगत संधि के अंतर्गत रख सकते हैं। अनुनासिक स्पर्श व्यंजन म् और न् के परे जब सवर्ण सघोष व्यंजन आते हैं, तो वहाँ अनुनासिक का प्रायः द्वित्व हो जाता है, जैसे :

चुंबक > चुम्मक
तंबू > तम्मू
कंबल > कम्मल। र
लंबा > लम्मा[1]

[1] इनके दो दो और रूप भी व्यवहृत हैं :
लाँबा, लामा
चाँदा, चाना
छुछूँदर, छुछूनर
खाँभा, खाना

तंबाकू > तम्माकू > तमाकू
खंभा > खम्महा
चंदा > चन्ना[1] (अवधी, भोज०)
छुछुंदर > छुछुन्नर[1] (" , ")
खंधा > खंन्हा[1] (" , ")
चाँदनी > चान्नी (द०)

ऐसे उदाहरणों में नासिक्य व्यंजन के उच्चारण के लिये झुके हुए कोमल तालु को ऊपर उठाए बिना ही आगे के सवर्ण स्पर्श व्यंजन का उच्चारण कर दिया जाता है।

§ ४४६ अवधी और कन्नौजी में अंत्य निरनुनासिक स्पर्श व्यंजन का परवर्ती सवर्ण अनुनासिक न और म से द्वित्व हो जाता है, जैसे :

बाप महतारी > बाम्महतारी (अवधी और भोजपुरी में भी)
खत नाईं डारो > खन्नाईं डारो (कन्नौजी)

ऐसी संधियों को अनुनासिकता के राग के अंतर्गत गिना जा सकता है। किसी एक खंड की अनुनासिकता अपने आस पास के अन्य ध्वनिखंडों को भी प्रायः अपने रंग में रँग डालती है। इस संबंध में देखिए § १२१ और § १२७। वस्तुतः ऐसे प्रसंगों में एक लयात्मक वर्ग में आबद्ध पूर्ववर्ती और परवर्ती ध्वनियाँ एक दूसरे को अपने राग में संमिलित कर लेती हैं, जिसके फलस्वरूप उनके उच्चारण में अनेक आवयविक परिवर्तन हो जाते हैं।

§ ४५० अतः अनुस्वार और नासिक्य व्यंजन रागात्मक तत्व के ही अंग हैं। ङ् और ञ् का तो हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में आद्य तथा द्वित्व-रांतर्गत प्रयोग होता ही नहीं। ण् का भी 'णत्व' और 'णगण' इन दो शब्दों को छोड़कर आद्य प्रयोग नहीं होता। मध्य स्थिति में ही प्रत्येक अनुनासिक व्यंजन अपने अपने वर्गों के स्पर्शों के पहले आता है और अपने संदर्भानुसार रागात्मक रंग ग्रहण करता है। केवल वाङ्मय, तन्मय, मृण्मय, सम्राट्, धन्वंतरी जैसे संस्कृत के कुछ तत्सम शब्दों में तथा इन्कार और इन्क्लाब जैसे कुछ आगत शब्दों में इसका अपवाद पाया जाता है।[1] इस दृष्टि से सवर्गीय व्यंजन पूर्वप्रयुक्त ङ्, ञ्,

[1] इनके अतिरिक्त इनको, उनको, तुमको आदि रूपों में परसर्गों के पहले भी तथा जिनका तिनका आदि जैसे शब्दों में अपूर्ण अथवा हलंतवत् उच्चरित अनुनासिक व्यंजन अपने परवर्ती व्यंजन के सवर्गीय रूप में नहीं आता, क्योंकि उनके बीच में अपूर्ण अ के उच्चारण की संभावना सहज ही बनी रहती है।

ण्, न्, म् ये सभी अनुनासिक व्यंजन एक आधारभूत अनुनासिक के रागात्मक विभेद माने जा सकते हैं, जिसको द्योतित करने के लिये ही नागरी लिपि में अनुस्वार चिह्न का विधान किया गया है।[1] इस प्रकार—

स्पर्श

कंठ्य	ङ् + (क, ख, ग, घ,) = ं + (क, ख, ग, घ)
तालव्य	ञ् + (च, छ, ज, झ)[2] = ं + (च, छ, ज, झ)
मूर्धन्य	ण् + (ट, ठ, ड, ढ) = ं + (ट, ठ, ड ढ)
दंत्य	न् + (त, थ, द, ध) = ं + (त, थ, द, ध)
द्व्योष्ठ्य	म् + (प, फ, ब, भ) = ं + (प, फ, ब, भ)

अंतःस्थ

अनुस्वार + (य, र, ल, व) = ं + (य, र, ल, व)

संघर्षी

अनुस्वार + (श, स, ह,) = ं + (य, र, ल, व)

§ ४५१ अंतःस्थों तथा ऊष्म संघर्षी व्यंजनों के पूर्व भी अनुनासिक ध्वनि अपने परवर्ती व्यंजन के स्थान में ही अपना पूर्ण या ईषत्स्पृष्ट या ईषद्विवृत स्पर्श यथाक्रम संपन्न कर लेती है। उच्चारण के इन रागात्मक भेदों को स्पष्ट करने के लिये पृथक् लिपिचिह्न ध्वनिप्रक्रियात्मक दृष्टि से अनावश्यक हैं क्योंकि एक ही अनुस्वार से इन सबका काम चल जाता है।[3] ध्वनिविज्ञान की दृष्टि से संयम, संवत्, संरोध और संलाप जैसे शब्दों में अनुनासिक का ईषत्स्पृष्ट उच्चारण होता है और संसार, संशय, सिंह आदि शब्दों में ईषद्विवृत।

§ ४५२ संवत्, संवाद आदि शब्दों के हिंदी उच्चारण में व का प्रायः द्व्योष्ठ्य उच्चारण होता है। इसी कारण लोग भूल से लिखने में प्रायः अनुस्वार के बदले म् का प्रयोग कर देते हैं, जैसे 'सम्वत्' जो उच्चारण तथा संस्कृत संधि के नियम से असाधु ही माना जायगा। 'संसार' में अनुस्वार का उच्चारण वर्त्स्य या दंत्य न् जैसा होता है, क्योंकि 'स्' का स्थान भी वही है, परंतु प्रयत्न की दृष्टि

[1] अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः। पाणिनि : ८—४—५८

[2] इन वर्णों के पहले कुछ लोगों के उच्चारण में अनुनासिक का दंत्य न् जैसा उच्चारण होता है, क्योंकि चवर्गीय ध्वनियों का उच्चारण अब पूर्णतः तालव्य न होकर वर्त्स्य हो गया है। देखिए—§

[3] दे० विश्वनाथप्रसाद, द फोनोलॉजी ऑव द नैजल्स इन द भोजपुरी फानोलॉजिकल सिस्टम, इंडियन लिंग्विस्टिक्स, तारापुरवाला मेमोरियल वाल्यूम, जून १९५७, पृ० १८६—९९,

से वह प्रायः 'स्' के समान ईषद्विवृत उच्चरित होता है। कभी कभी 'सम्सार' इस स्पष्ट रूप में भी उसका उच्चारण होता है, जो संस्कृत संधिनियमों के अनुसार अग्राह्य माना गया है। 'संशय' की अनुनासिक ध्वनि का तालव्य ईषद्विवृत उच्चारण होता है। ह- पूर्व अनुनासिक का कंठ्य ङ् जैसा उच्चारण होता है और सुनने में ऐसा प्रतीत होता है जैसे ईषद्विवृत संघर्षी ह के पहले एक प्रक्षिप्त ग् का भी समावेश हो गया हो।

§ ४५३ उच्चारण के ये तथ्य अनुनासिक ध्वनियों के रागात्मक स्वरूप के प्रमाण हैं। ङ्, ञ् आदि विभिन्न अनुनासिक ध्वनियाँ विभिन्न स्थितियों पर निर्भर हैं और इसलिये केवल एक ही अनुस्वारचिह्न से उन सबके संकेत का काम निकलता है।

§ ४५४ उर्दू के अनेक शब्दों में आ, ई, ऊ के बाद अंत्य न का उच्चारण नहीं होता, पर उसकी अनुनासिकता का राग पूर्वस्वर को अपने रंग में अनुरंजित करके अपनी रागात्मक सत्ता कायम रखता है, जैसे – जहान > जहाँ, मकान > मकाँ, इंसान > इंसाँ, जमीन > जमीं, आसमान > आसमाँ, मजमून > मजमूँ। जमींदार, जहाँनारा, शाहजहाँ, जहाँगीर आदि शब्द इसी प्रक्रिया से बने हैं।

मूर्धन्यीकरण का राग

§ ४५५ उपर्युक्त प्रकार के रागात्मक परिवर्तन केवल दो पार्श्ववर्ती ध्वनियों में ही सीमित रहें, ऐसी बात नहीं है। संस्कृत के णत्व और षत्व विधान में समस्त देखा गया है कि कुछ विशेष ध्वनिगत परिस्थितियों में शब्द में मूर्धन्यता व्याप्त हो जाती है। निमाड़ी में 'दिन डूबे' की संधि में यह समस्त वाक्य 'डिण्डूबे' के रूप में उच्चरित होता है। मिलाइए-कन्नौजी व भोजपुरी-दंड > डंड; दंडवत > डंडवत। ऐसी स्थितियों में मूर्धन्यता एक राग के रूप में समस्त उच्चरित वर्ग पर छा सी जाती है।[१] मत डरो > मड् डरो; मार डाला < माड् डाला आदि उदाहरण मूर्धन्यता के राग के अंतर्गत ही आते हैं।

§ ४५६ व्याकरणिक रूपरचना के सिलसिले में मूर्धन्य व्यंजनों के विषय में ट > ड़ के अंतरण की रोचक रागात्मक प्रक्रिया पाई जाती है, जैसे :

१. इसके विपरीत दक्खिनी में यदि दो मूर्धन्य व्यंजन साथ आते हैं तो उनमें पहला यदि आद्य स्थान में रहा तो दंत्य उच्चरित होता है, जैसे तूटना, थंडा, दूंडा, थीढ, थूँकना। अमूर्धन्यीकरण भी तत्संबंधी रागात्मक विशेषता ही है।

अकर्मक	सकर्मक
छूटना	छोड़ना
फूटना	फोड़ना
कूटना	कोड़ना
टूटना	तोड़ना
जुटना	जोड़ना
फटना	फाड़ना

इन उदाहरणों में मूर्धन्य के स्पर्श संघटक की उत्क्षेप में तथा अघोष की घोष में परिणति हो गई है। साथ साथ पूर्ववर्ती स्वर का गुणीकरण या दीर्घीकरण भी हो गया है।

महाप्राणत्व का राग

§ ४५७ इस दृष्टि से हिंदी के संधिप्रसंग में महाप्राणता का राग सबसे अधिक रोचक और शक्तिवान् जान पड़ता है। स्वतः महाप्राण ह और महाप्राण स्पर्श व्यंजनों के अनेक रंग, अनेक संधिगत विभेद हिंदी में तथा हिंदी क्षेत्र की बोलचाल की भाषाओं में प्रकट होते हैं।

§ ४५८ 'ब्', 'म्', 'न्' से अंत होनेवाले कुछ शब्दों में 'ह' अंत्य व्यंजन से मिलकर उनमें अपना पूर्ण महाप्राणत्व भर देता है और उन्हें महाप्राण स्पर्श अथवा महाप्राण अनुनासिक का रूप दे देता है :

अब+ही=अभी
कब+ही=कभी
जब+ही=जभी
तब+ही=तभी
तुम+ही=तुम्हीं
किन+ही=किन्हीं
जिन+ही=जिन्हीं
उन+ही=उन्हीं

अंतिम चारो उदाहरणों में 'म' और 'न' के 'म्' और 'न्' की अनुनासिकता का राग भी 'ह' के परवर्ती स्वर 'ई' के भीतर प्रविष्ट होकर अपने पुरोगामी प्रभाव से उसे अनुनासिक स्वर के रूप में परिणत कर देता है।

§ ४५९ पूर्ववर्ती व्यंजन से मिलकर उसे महाप्राण रूप देने की प्रवृत्ति आगरे की खड़ी बोली के निम्नलिखित प्रयोगों में पाई जाती है :

महाराज > म्हाराज (किंतु बाह तहसील की भदौरी बोली में 'माराज' रूप प्रचलित है ।)

शाहजहाँ > साज्हाँ

§ ४६० दक्खिनी में 'ह' पूर्ववर्ती संघर्षी 'ज' से मिलकर 'ज्ह' महाप्राण रूप का निर्माण करता है, जैसे—मजहब > मज्हब, इजहार > इज्हार ।

§ ४६१ 'इस', 'उस' आदि सर्वनाम शब्दों के अंत्य व्यंजन के परे 'ही' का महाप्राणत्व 'स' की ऊष्मता में विलीन हो जाता है और उसका स्वरमात्र शेष रह जाता है, जैसे

इस+ही=इसी   जिस+ही=जिसी
उस+ही=उसी   तिस+ही=तिसी
किस+ही=किसी

§ ४६२ 'यहाँ', 'वहाँ' आदि स्थानवाचक सर्वनामों के पश्चात् 'ही' का महाप्राणत्व पूर्ववर्ती महाप्राण से अभिन्न होने के कारण केवल अंत्य 'आ' के स्थान में अपने स्वर 'ई' के द्वारा अपनी सत्ता सिद्ध करता है, जैसे

कहाँ+ही=कहीं
जहाँ+ही=जहीं
तहाँ+ही=तहीं
यहाँ+ही=यहीं
वहाँ+ही=वहीं

इनके अतिरिक्त एकाक्षरी शब्दों में अ के अनुवर्ती एक हकार के परे दूसरे हकार के आने पर अक्षरलोप की ध्वनिप्रक्रिया के अनुसार उन दोनों के महाप्राणत्व का बोध कराने को उच्चारण में एक ही अविच्छिन्न निःश्वसित महाप्राण पर्याप्त होता है, जैसे

वह+ही=वही ।
यह+ही=यही ।
कह+ही=कही   (जैसे, कही डाला) ।
रह+ही=रही   (जैसे, रही गया) ।
सह+ही=सही   (जैसे, इस कष्ट को भी सही लूँगा)

§ ४६३ शिष्ट हिंदी में लिखा तो जाता है 'यह', 'वह'; पर इनका उच्चारण होता है क्रमशः 'ये' और 'वो' । उर्दू में भी 'माजरा यह है' कोई नहीं कहता, 'माजरा ये है' यही रूप बराबर व्यवहृत होता है । उर्दू छंदों में तो बहुधा इनका लघुस्वरगत ये' और 'वो' के रूप में ही उच्चारण होता है ।

१. उसके कूचे में पहुँच के यह सदा देते हैं।

२. दिल को खुश रखने को गालिब यह ख्याल अच्छा है।

३. जो बिगड़ गया वह नसीब हूँ, जो उजड़ गया वह दयार हूँ

४. वह आए घर में हमारे खुदा की कुदरत है।

यहाँ पहली दोनों पंक्तियों में 'यह' का उच्चारण 'यँ' और अंतिम दोनों पंक्तियों में 'वह' का उच्चारण 'वाँ' होगा। इसी प्रकार हिंदी और उर्दू के वजह का उच्चारण प्रायः बजे और तरह का तरे किया जाता है।

§ ४६४ पश्चिमी प्रदेशों में 'ह' का उच्चारण पूर्ववर्ती और परवर्ती स्वरों में महाप्राणत्व भर देता है और उसके परवर्ती स्वर की प्रतिध्वनि बादवाले व्यंजन के पहले और पूर्ववर्ती स्वर के बाद एक दूसरे स्वरानुक्रम की भाँति सुनाई पड़ती है, जो बहुत ही हलकी होती है। पंजाबी में 'ह' की छाया भी स्वर में ही अंतर्भुक्त हो जाती है, जैसे—

	पश्चिमी रूप	पंजाबी
बहुत	बो^{ह}त	बोत
बहिन	बे^{ह}न	बेन
बहस	बे^{ह}स	बेस
कहता है	के^{ह}ता है[1]	केता है
पहले	पे^{ह}ले	पेले (दक्खिनी में भी)[2]
पहुँचना	पो$^{हँ}$चना (या पौं^{ह}चना)	पौंचना

§ ४६५ आगरे की खड़ी बोली में 'यहाँ', 'वहाँ', 'जहाँ' का द्विस्वरांतर्गत 'ह' परवर्ती स्वर 'आ' के घोष में अपने महाप्राणत्व का विसर्जन कर देता है, जिससे उनका उच्चारण 'याँ', 'वाँ', 'जाँ', के रूप में होता है। नजीर अकबराबादी की रचनाओं में इन रूपों का प्रयोग हुआ है। उर्दू के शायरों ने बहुधा इनका व्यवहार किया है। बाह तहसील (आगरा) की भदौरी बोली में ये ही रूप प्रचलित हैं आगरे की खड़ी बोली में 'जा रहा हूँ' के स्थान में 'जारियाँ ऊँ', 'कर रहा है' के स्थान में 'कर रिया ए', 'ला रहे हैं' के स्थान में 'ला रए एँ', 'कहाँ रहता है'

१. गुजरात की ओर 'कैता है' या 'केता है' रूप का ही अधिक व्यवहार है। गांधी जी ऐसा ही उच्चारण करते थे। आचार्य कृपालानी जी के भाषण में भी यही रूप पाया जाता है।

२. तुलना कीजिए : दक्खिनी—सहेली>सैली; कहानी>कानी।
आगरा जिले के पूर्वी भागों में तथा भदौरी बोली में 'कहानी' के लिये 'कानी' रूप प्रचलित है।

के स्थान में 'कौं रेता ए', 'साहब' के स्थान में 'साब' (बुंदेली में 'साइब'), 'बादशाह' के स्थान में 'बास्साय' का व्यवहार होता है। दिल्ली की बोलचाल की भाषा में भी तुम्हें, नन्हा आदि शब्दों में महाप्राण इतना कमजोर पड़ जाता है कि वह सुनाई नहीं पड़ता और उनका उच्चारण प्रायः तुमे, नन्ना के रूप में होता है। इन सबमें महाप्राण का सर्वथा लोप नहीं होता, बल्कि वह अपना संघर्ष मात्र खोकर प्राण वायु की धीमी गति के साथ पूर्ववर्ती स्वर में ही अपनी अक्षरात्मक तथा रागात्मक झलक व्यक्त करता है। अलीगढ़ में 'छाँह' की जगह 'छाँव' कहते हैं (मिलाइए—कदम की छाँव हो, जमुना का तट हो—'शोला')। आगरे की बोली में प्रयुक्त 'साज्हाँ' शब्द में एक ही साथ दोनों प्रवृत्तियों के उदाहरण मिलते हैं। इसमें पहले 'ह' का लोप हो गया है और दूसरे 'ह' ने पूर्ववर्ती 'ज' से मिलकर उसे महाप्राण रूप दे दिया है।

§ ४६६ व्रजभाषा और कन्नौजी दोनों में प्रायः अंतिम 'ह' का स्वर मात्र ही उच्चरित होता है, जैसे काहू > काऊ; गवाही > गवाई।

§ ४६७ बुंदेली में भी इसके बहुतेरे उदाहरण मिलते हैं, जैसे

राही > राई
दही > दई
कहत > कअत
रहत > रअत।

§ ४६८ इसी प्रकार दक्खिनी में भी अंतिम और द्विस्वरांतर्गत 'ह' का प्रायः लोप हो जाता है, जैसे

बादशाह > बादशा[1]
कहीं > कईं
कहाँ > काँ

§ ४६९ इस प्रवृत्ति के कारण आगरे की खड़ी बोली के समान दक्खिनी में भी वाक्यांत के क्रियापद के अंश का प्रायः प्रच्छन्न उच्चारण होता है। जैसे,

मैं जा रहा हूँ > मैं जा रऊँ।
हम जा रहे है > हम जा रएँ।

कभी कभी तो अंत्य अक्षर का ह फुसफुसाहट की ध्वनि के रूप में परिणत हो जाता है, जैसे मैं करता हूँ > मैं करता उ। बोल रही > बोल रइ।

§ ४७० 'ह' के लोप से पूर्ववर्ती स्वर में जो अंतर आ जाता है, उसमें यह प्रवृत्ति पाई जाती है कि यदि पूर्ववर्ती व्यंजन दंत्योष्ठ्य हो या पूर्ववर्ती स्वर ओ', 'औ' हो अथवा परवर्ती स्वर 'उ', 'ओ' हो तो संधिस्वर 'ओ' या 'औ'(ɔ)

के रूप में उच्चरित होता है। पर यदि पूर्ववर्ती स्वर 'अ' या 'ऱ' हो और परवर्ती स्वर 'अ', 'इ' या 'ए' हो तो संधिस्वर 'ए' या 'ऐ' (x) के रूप में उच्चरित होता है। उदा॰

कन्नौजी	सहर > सेॅर
आगरे की खड़ी बोली	कचहरी > कचेॅरी या कचेॅ^र^री
दक्खिनी	सह लेना > सेॅलेना
	तह करना > तेॅ करना
बुंदेली	रहम > रेॅहम
आगरे की खड़ी बोली	तोहका > तोका या तोॅका
	बहुत > भौॅत (द॰ 'भोत'),
भदौरी बोली	भौॅतु ।

§ ४७१ पूर्वी प्रदेशों में भी 'ह' के साहचर्य से उत्पन्न इस संधिराग के कई उदाहरण मिलते हैं, जैसे—सारन की भोजपुरी में,

बारह > बारे (मिलाइए—भदौरी : 'बारा')
तेरह > तेरे
चौदह > चौदे, आदि।

§ ४७२ दक्खिनी, उर्दू, बुंदेली कन्नौजी तथा व्रजभाषा के कुछ क्षेत्रों में, जैसे बाह की भदौरी में अंत्य तथा कुछ शब्दों में मध्यवर्ती महाप्राण व्यंजन की अल्पप्राणवत् उच्चारण होता है, जैसे,

भूख > भूक
हाथ > हात
हाथी > हातीं
दाख > दाक
सूखनो > सूकनो (कन्नौजी)
दूध > दूत
तुझकों > तुजको (द॰)
गाढ़ो > गाड़ो (व्रज)

[1] मिलाइए—नज़ीर अकबराबादी के ऐसे ही प्रयोग से :
दुनिया में बादशा है सो है वह भी आदमी।

भाभी > भाब्ही
टेढ़ा > टेड्हा
चुभ > चुप्ह
जाँघ > झाँग

§ महाप्राण ध्वनियों में स्थानांतरण की विशेष प्रवृत्ति भी पाई जाती है। आगरे और दिल्ली की खड़ी बोली में 'यहाँ', 'वहाँ' का एक वैकल्पिक उच्चारण 'ह्याँ', 'ह्वाँ' भी है। भोजपुरी में भी 'यहाँ', 'वहाँ' के स्थान में क्रमशः 'हियाँ', 'हुवाँ' का व्यवहार होता है।

§ ४७४ देखकर' या 'देखके लो' इस वाक्य के तरंगलेख से प्रकट होता है कि अंत्य 'ख्' और आद्य 'क्' की संधि में 'ख' का महाप्राण अंश स्थानांतरित होकर 'ख' के स्पर्श के पहले चला जाता है और उसका रूप हो जाता है—देहक्के लो !(तरंगलेख १५)

इसी प्रकार 'हाथ् धरो' में 'थ्' और 'ध्' की संधि का रूप उच्चारण में 'हाहद् धरो' इस रूप में प्रतिफलित होता है। इनमें 'ख्' और 'थ्' का उन्मोच नहीं होता। इससे इनका महाप्राण स्थानांतरित होकर अवरोध के पहले ही उच्चार में व्याप्त हो जाता है।

§ ४७५ मगही में महाप्राण अंश के स्थानांतरण की यह प्रवृत्ति कई भाषाओं और बोलियों में और अधिक स्पष्ट दिखाई पड़ती है, जैसे

मगही में चढ़के > चहड़के
ओठ > होट (कहीं कहीं 'होठ' भी)
पंजाबी में लखके > लहक के।

§ ४७६ ऐसी स्थिति में पंजाबी में दीर्घ स्वर के परे अघोष महाप्राण स्पर्श व्यंजन का उच्चारण संघर्षी रूप में होता है, जैसे देख के।

§ ४७७ मैथिली में ह्रस्व या दीर्घ 'उ' के बाद और अघोष महाप्राण स्पर्श के पहले एक लघुप्रयत्न 'ह' का व्यवहार होता है, जैसे

दुहपहरिया
भूहख।

§ ४७८ खड़ी बोली, ब्रजभाषा, कन्नौजी, बुंदेली, राजस्थानी और दक्खिनी के बोलचाल के रूपों में 'ह' स्थानांतरित होकर पूर्ववर्ती घोष अल्पप्राण व्यंजन से जा लगता है और उसे महाप्राण के रूप में परिणत कर देता है, जैसे

बहुत > भ्‍ौत (खड़ी बोली, द०, ब्रज—'भ्‍ौतु')
बहन > मॅ्‍न (मारवाड़ी—'बैण' या 'मैण')
बहू > भऊ (द०)
दही > धई (द०)
जगह > जग्रा (बुंदेली की लुधाँती बोली)
अगहन > अघन (" " ")
बहरे > भ्‍ैरे (पूर्वी आगरा, दक्खिनी)
बहना > भ्‍ैना (खड़ी बोली, दक्खिनी)

§ ४७९ राजस्थानी (मारवाड़ी) में सघोष महाप्राण व्यंजनों का ठीक ठीक महाप्राणवत् उच्चारण न होकर उनकी निष्पत्ति कंठद्वार को सिकोड़कर कंठद्वारीय स्पर्श सहित आश्वसित अल्पप्राण के रूप में होती है। आश्वसन के समय घोप-यंत्र-पिटक कुछ नीचे खिसक आता है। आद्य सघोष महाप्राण व्यंजन तो स्वतः आश्वसित अल्पप्राण के रूप में उच्चरित होते हैं, पर अनाद्य सघोष महाप्राण व्यंजन के अल्पप्राणीकरण के साथ साथ उनके पूर्व का अक्षर ही आश्वसित रूप में उच्चरित होता है। ग, भ, ठ, ध, भ, तथा ह के इस कंठद्वारीय स्पृष्ट आश्वसित रूप के द्योतन के लिये" इस चिह्न का व्यवहार किया जा सकता है। उदा०

आद्य सघोष महाप्राण व्यंजन

ग"ोड़ा 'घोड़ा'।
द"न 'धन'।
ब"लो 'भला'।
जू"ठ 'भूठ'।

अनाद्य सघोष महाप्राण व्यंजन

ब"ाग 'बाघ'।
प"ड़णो 'पढ़ना'।
स"ाँज 'साँझ'
ल"ाब 'लाभ'।

§ ४८० अघोष महाप्राण ध्वनियों में कोई परिवर्तन नहीं होता। जैसे—फीस मुख, खेल आदि।

* इस प्रकार के आश्वसित व्यंजन (ग, ज, द, ब) सिंधी में भी व्यवहृत होते हैं।

§ ४८१ कोटा डिवीजन की हाड़ौती बोली में 'ह' तथा सघोष महाप्राण व्यंजन केवल आद्य स्थान में टिक सकते हैं। अन्यत्र या तो वे लुप्त हो जाते हैं या यदि उनके पहले अघोष अल्पप्राण स्पर्श व्यंजन रहता है तो उनका महाप्राण अंश अपना पश्चगामी प्रभाव डालकर उसे अघोष महाप्राण रूप में परिणत कर देता है। स या अघोष स्पर्श के बाद अनाद्य अघोष महाप्राण वर्ग भी नहीं टिक पाते और यदि पूर्ववर्ती व्यंजन अल्पप्राण रहा तो अघोष महाप्राण स्पर्श के महाप्राण अंश का विपर्यय हो जाता है, जिससे पूर्ववर्ती अल्पप्राण में महाप्राणत्व भर जाता है।[1]

४८२ क. राजस्थानी (मारवाड़ी) में हकार के उच्चारण में एक और विशेष प्रकार का परिवर्तन पाया जाता है। आद्य ह के उच्चारण में तो कोई परिवर्तन नहीं होता, पर अनाद्य के उच्चारण में महाप्राण के ह के बदले पूर्व के अक्षर का अनुप्राणित उच्चारण हो जाता है[2] और ह् का पृथक् अस्तित्व नहीं रह जाता।

इस ध्वनि को संकेतित करने के लिये अक्षर के आगे ['] इस प्रकार का चिह्न लगाया जा सकता है :

क'यो (कह्यो) 'कहा'
चा'णो (चाहणो) 'चाहना'
कआँ' (क ? ँ) 'कहाँ'
र'आ 'रहा'
का'णी 'कहानी'
बा'र 'बाहर'

§ ४८२ (ख) राजस्थानी के तद्भव शब्दों में ह श्रुति के पहले आकार रहने पर महाप्राण के स्थान पर 'ऐ' का उच्चारण होता है, जैसे जैर=जहर, लैर = लहर।

§ ४८३ हिंद की (लहँदी), पूर्वी पंजाबी, सिंधी, गुजराती तथा पूर्वी बँगला में भी घोष महाप्राण व्यंजनों के उच्चारण में विकार की कुछ ऐसी ही प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं।

[1] दे० डब्ल्यू० एस० ऐलेन, ऐस्पिरेशन इन द हाड़ौती नामिनल, स्टडीज इन लिंग्वि-स्टिक एनैलिसिस (आक्सफोर्ड, १९५७), पृ० ६८-८६।
[2] इस विषय में डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के 'राजस्थानी भाषा', इंदौर, १९४९ पृ० १४, २७, २८ में परस्पर विरोधी और भ्रांतिपूर्ण बातें आ गई हैं।

§ ४८४ पूर्वी पंजाबी में आश्वसन के साथ सुरों का व्यवहार होता है। आद्य सघोष महाप्राण व्यंजन तो अघोष अल्पप्राण हो जाते हैं और उनके साथ अवरोही आरोही सुर का व्यवहार होता है, जैसे

को॑ड़ा	'घोड़ा
पाँई	'भाई'
चूँठ	'झूठ'
तॅरम	'धरम'
पोजॅन	'भोजन'।

§ ४८५ अनाद्य घोष महाप्राण व्यंजन घोष अल्पप्राण हो जाता है और अपने पूर्व के अक्षर में ही आरोहावरोही सुर भर देता है। जैसे,

दुद्ध	'दूध'
कुज्ज	'कुछ'।

§ ४८६ पूर्वी पंजाबी में आद्य 'ह' का उच्चारण तो होता है, पर उसके साथ अवरोहारोही स्वर का व्यवहार होता है। परंतु अनाद्य 'ह' का महाप्राणत्व नहीं रह जाता और वह अपने पूर्व के अक्षर के साथ आरोही अवरोही सुर के रूप में परिणत हो जाता है, जैसे

चाणा	'चाहना'
वैणा	'बैहणा'

(ख) हिंदी ध्वनियों का उद्गम और विकास

स्वर

प्राभाआ स्वरों का मभाआ में विकास

§ ४८७ प्राभाआ में अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ए, ऐ, ओ औ—ये स्वर थे। इनमें से मभाआ में ऋ, ॠ, ऌ[1] ऐ और औ—सर्वथा समाप्त हो

[1] ऌ संस्कृत के केवल एक शब्द 'क्लृप्त' में मिलता है। इसका मभाआ में 'कुत्त' होता है।

गए। मभाआ ने स्वयं दो स्वरों—ह्रस्व ए (ऍ) और ह्रस्व ओ (ऑ) की वृद्धि की, यद्यपि इन दोनों के लिये पृथक् लिपिचिह्न नहीं थे। इस प्रकार मभाआ में निम्नलिखित स्वर थे :

अ आ इ ई उ ऊ
ऍ ए ऑ ओ

प्रभाआ ऋ का विकास

§ ४८८ मभाआ और प्राभाआ ऋ का बहुमुखी परिवर्तन मिलता है। प्रायः ऋ का अ, इ अथवा उ (रेफ के साथ अथवा बिना रेफ के) हो जाता है। कहाँ ऋ का अ होगा, कहाँ इ, कहाँ उ—इसका कोई पूर्वनिर्णय संभव नहीं है। कुछ तो इसके मूल में बोलीगत विभिन्नता है और कुछ ध्वनिक वातारण की विभिन्नता है। हिंदी में मभाआ के ही परिवर्तित स्वर चले आए हैं, कोई परिवर्तन नहीं किया गया है।

ऋ > अ

नृत्य > नच्च (हिं० नाच)
मृत्तिका > मट्टिआ (हिं० माटी)
तृष्णा > तण्हा

ऋ > इ

मृग > मिग
शृगाल > सिगाल > सिआल (हिं० सियार)
घृत > घिअ (हिं० घी)
पृष्ठ < पिट्ठ (हिं० पीठ)

ऋ > उ

√पृच्छ > √पुच्छ (हिं० पूछना)
वृद्ध > बुड्ढ (हिं० बुड्ढा, बूढ़ा)
√शृ > √ सुण् (हिं० सुनना)

कहीं-कहीं दो-दो परिवर्तन, भी मिलते हैं :

ऋक्ष > अच्छ और इक्क
वृद्धि > वड्ढि और वुड्ढि
मृग > मग और मिग

प्राभाश्रा ऐ और औ का विकास

§ ४८६ प्राभाश्रा ऐ और औ मभाश्रा में क्रमशः ए और ओ हो गए हैं, जैसे

तैल > तेल	औषध > ओसध
ऐरावण > एरावण	कौशांबी > कोसांबी

प्राभाश्रा विसर्ग

§ ४६० प्राभाश्रा विसर्ग संस्कृत में स्वयं संधिनियमों के कारण प्रयोग में सीमित हो चुका था। मभाश्रा में इसका लोप हो गया और उसके स्थान पर 'उ' (जो पूर्व श्र स्वर के साथ जुड़कर 'श्रो') हो गया। शौरसेनी का यह 'श्रो' मागधी में 'ए' के रूप में मिलता है, जैसे

बालकः > बालको, (अथवा मागधी में 'बालके')

मभाश्रा ऍ और ऑ

§ ४६१ मभाश्रा में संयुक्त व्यंजन के पूर्व ए और श्रो का उच्चारण ह्रस्व हो गया था। इसके लिये पृथक् लिपिचिह्न नहीं था। उदाहरण :

एक > ऍक्क	यौवन > जॉव्वण
मैत्री > मॅत्ती	सौम्य > सॉम्म

प्राभाश्रा स्वरों का मभाश्रा में मात्रात्मक परिवर्तन

§ ४६२ प्राभाश्रा के श्रधिकांश शब्दों में मभाश्रा में कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता है। जहाँ कहीं स्वरों में परिवर्तन उपलब्ध है, वहाँ बहुलता से ह्रस्वीकरण या दीर्घीकरण के रूप में है, जिन्हें निम्नलिखित नियमों द्वारा प्रकट किया जा सकता है :

प्राभाश्रा दीर्घ स्वर+संयुक्त व्यंजन

§ ४६३ संयुक्त का समीकरण होता था या स्वरभक्ति से विप्रकर्ष। इस प्रक्रिया के साथ पूर्ववर्ती दीर्घस्वर ह्रस्वस्वर हो जाता था, जैसे

तीर्ण > तिरण	ऊर्णा > उरणा
राज्य > रज्ज	सूर्य > सुरिय
कार्य > कज्ज	श्राचार्य > श्राचरिय
शांत > संत	चैत्य > चेतिय

अपवाद : यह दीर्घ स्वर दीर्घ बना रहता है, यदि समीकृत व्यंजनयुग्म के स्थान पर एकाकी व्यंजन मात्र श्राए।

शीर्ष > सीस
शीघ्र > शीघ
दीर्घ > दीध

प्राभाआ ह्रस्वस्वर+संयुक्त व्यंजन

§ ४९४ कभी कभी संयुक्त व्यंजन के स्थान पर मभाआ में एकाकी व्यंजन मात्र मिलता है, ऐसे स्थलों पर पूर्व ह्रस्व स्वर का दीर्घ हो जाता है, जैसे

कर्तव्य > कातव्व
सर्षप > सासप
सिंह (≡ सिन्ह) > सीह
विंशति > वीसति

स्वराघात के कारण परिवर्तन

§ ४९५ (अ) त्र्याक्षरिक शब्दों में, कदाचित् प्रथम अक्षर पर बलाघात स्थानांतरित होने के कारण द्वितीयाक्षर का दीर्घस्वर ह्रस्व हो जाता है, जैसे

द्वितीय > दुतिय   अलीक > अलिक
तृतीय > ततिय   पानीय > पानिय

(आ) त्र्याक्षरिक से बड़े शब्दों में बलाघात अंतिम अक्षर पर स्थानांतरित होने के कारण प्रथमाक्षर का ह्रस्व 'अ' लुप्त हो गया था। जैसे,

अलाबुका > लाबुका   (हिं० लौकी)
अभ्यंतर > भिंतर   (हिं० भीतर)

प्रभाआ स्वरों का मभाआ में गुणात्मक परिवर्तन

§ ४९६ अ का इ या उ होना, इ का उ या अ होना—ऐसा परिवर्तन स्वरों का गुणात्मक परिवर्तन कहलाता है। ऐसे परिवर्तनों की व्याख्या बहुत कठिन है। केवल कुछ परिवर्तन कुछ मोटे नियमों का पालन करते हुए प्रतीत होते हैं, शेष संख्या में सीमित और नियम से जटिल हैं।

इ > ऍ : उ > ऑ

§ ४९७ संयुक्त व्यंजन के पूर्व कभी कभी इ, उ क्रमशः ऍ, ऑ और फिर ऍ ऑ क्रमशः ए ओ के रूप में मिलते हैं। ऍ ऑ के पश्चात् समीकृत व्यंजन-युग्म और ए ओ के पश्चात् इन समीकृत व्यंजनयुग्म का एकाकी व्यंजन मिलता है, जैसे

विष्णु > वेँण्हु उष्ट्र > ओँट्ठ > ओठ
निष्क > नेँक्ख पुस्तक > पोँत्थअ > पोथअ
इत्र > ऍत्थ
उरविल्ला > उरवेँल्ला > उरवेला
ऊर्जा > उज्जा > ओँज्जा > ओजा

अ > ऍ

§ ४९८ कभी कभी उपर्युक्त स्थिति में अ का भी ऍ भी हो जाता है, जैसे
फल्गु > फेँग्गु
शय्या > सेँय्या > सेँज्जा > सेज

§ ४९९ सीमित परिवर्तन
गैरिक > गेरुअ (हिं० गेरू)
गुरुक > गरुअ (हिं० गरुआ)

§ ५०० अक्षर संकोच अ य > ए, अव > ओ, जैसे,
जयति > जेति
लवण > लोण

अक्षरसंकोच : उद्वृत्त अ/आ

§ ५०१ उद्वृत्त (व्यंजनलोप के कारण अवशिष्ट) स्वर अ/आ के पूर्व ह्रस्व अ अथवा दीर्घ आ आने पर संकोच से 'आ' हो जाता है।

कुशीनगर > कुसीनअर > कुसीनारा

मभाआ स्वरों का हिंदी में विकास

§ ५०२ मभाआ के अ आ इ ई उ ऊ ऍ ए ओँ—ये सभी स्वर हिंदी में प्रायः अपरिवर्तित रूप में मिलते हैं। ऐ और औ—ये दो स्वर क्रमागत हिंदी-शब्दों में आविर्भूत हुए हैं। इनका संस्कृत के ऐ और औ से कोई संबंध नहीं है क्योंकि संस्कृत के ऐ और औ प्राकृत में आते ही समाप्त हो चुके थे।

हिंदी में इस प्रकार निम्नलिखित क्रमागत स्वर हैं

अ आ इ ई उ ऊ
ऍ ए ओँ ओ
ए औ

हिंदी ऐ का उद्गम

§ ५०३ हिंदी का 'ऐ' उद्वृत्त स्वर 'इ' और पूर्वस्थित अ/आ' के अक्षर-संकोच (कंट्रैक्शन) से उत्पन्न हुआ है। यह उद्वृत्त स्वर संस्कृत स्वर-मध्य-वर्ती ग, द, ज, क, च, य, के लुप्त हो जाने के बाद आया था। उदाहरणतः

मभाश्रा बइठ > बैठ
मभाश्रा कइत्थ > कैथ (I)

हिंदी औ का उद्गम

§ ५०४ हिंदी का 'औ' उद्वृत्त स्वर 'उ' और पूर्वस्थित 'अ/आ' के अक्षर-संकोच से उत्पन्न हुआ। यह उद्वृत्त स्वर प्रायः संस्कृत स्वर मध्यवर्ती प, म, व के लुप्त हो जाने के बाद आया था। उदाहरण :

सं० प	मभाश्रा	कसवट्टिया > कउट्टिया > कसौटी	(सं० कषपट्टिका)
	,,	कवड्डिआ > कउड्डिआ > कौड़ी	(सं० कपर्दिका)
	,,	सवत्त > सउत्त > सौत	(सं० सपत्नी)
सं० म	मभाश्रा	गवनअ > गउनअ > गौना	(सं० गमन)
	,,	बावनअ > बाउनअ > बौना	(सं० वामनक)
सं० व	मभाश्रा	लवंग > लउंग > लौंग	(सं० लवङ्ग)
	,,	जव > जउ > जौ	(सं० यव)
सं० त	मभाश्रा	चउत्थअ > चौथा	(सं० चतुर्थक)
सं० क	मभाश्रा	चित्तउड > चित्तौड़	(सं० चित्रकूट)

टिप्पणी—ऐ औ इन दोनों स्वर के पश्चात् मभाश्रा का संयुक्त स्वर एकाकी व्यंजन के रूप में मिलता है।

मभाश्रा स्वरों का हिंदी में मात्रात्मक परिवर्तन

§ ५०५ मभाश्रा में शब्दों में संयुक्त व्यंजनों का बाहुल्य था। हिंदी में ये सब संयुक्त व्यंजन एकाकी व्यंजनों के रूप में हो गए और पूर्वस्थित मभाश्रा ह्रस्व स्वर हिंदी में दीर्घ स्वर हो गया, जैसे

नच्च > नाच   अक्खि > आँख
कण्ण > कान   हत्थ > हाथ
सप्प > साँप   भिक्ख > भीख

अनुनासिक ध्वनियुक्त संयुक्त व्यंजन के पूर्व ह्रस्वस्वर का दीर्घीकरण होता है और अनुनासिकत्व उस पूर्वस्वर में आ जाता है, जैसे

दंत > दाँत
कम्प > काँप
गंठ > गाँठ
कंस्स > काँसा

§ ५०६ ऊपर की प्रवृत्ति के अपवाद भी हैं। कभी कभी संयुक्त व्यंजन अपरिवर्तित रूप में रहता है और पूर्ववर्ती स्वर भी अपरिवर्तित रूप में। किंतु कभी कभी मभाआ संयुक्त व्यंजन तो हिंदी एकाकी व्यंजन के रूप में आ जाता है, किंतु पूर्व ह्रस्व स्वर दीर्घ नहीं होता है, जैसे

सव्व > सब (सं० सर्व)

कल्ल > कल (सं० कल्य)

व्यावहारिक शब्दों में यह प्रायः पाया जाता है, जैसे

कप्पूर > कपूर (सं० कर्पूर)

कप्पास > कपास (सं० कर्पास)

पट्टार > पटार (सं० प्रस्तार)

मभाआ उद्वृत्त स्वरों का हिंदी में विकास

§ ५०७ मभाआ में स्वरमध्यवर्ती कुछ एकाकी स्पर्श व्यंजन उत्तरकाल तक पहुँचते पहुँचते लुप्त हो चुके थे। इनके स्थान पर स्वर मात्र रह गया था, जिसे उद्वृत्त स्वर कहते हैं। इन उद्वृत्त स्वरों का हिंदी में निम्नांकित प्रकार से विकास हुआ :

१. य श्रुति अथवा व श्रुति के सन्निवेश से

२. अक्षर संकोच से ऐ औ

३. एकाकार आ ई ऊ होना।

य श्रुति अथवा व श्रुति का संनिवेश

§ ५०८ जहाँ तक स्वरों का संबंध है, उद्वृत्त स्वर अपरिवर्तित मात्रा और गुण में इन य व की मात्रा बन जाते हैं। जैसे,

कातर > काअर > कायर

सूकर > सूअर > सूवर

शृगाल > सिआल > सियार

§ ५०९ अक्षरसंकोच से ऐ और औ होना : देखिए अनुच्छेद § ५०३, § ५०४।

§ ५१० अक्षरसंकोच से एकाकार दीर्घ स्वर होना :

(अ) अ/आ + अ/आ : यदि उद्वृत्त स्वर अ/आ के पूर्व अ/आ हो तो दोनों मिलकर—आ—बन जाते हैं, जैसे

चम्म-आर > चमार

सुण्ण-आर > सुनार

(आ) इ+अ/आ : यदि उद्वृत्त स्वर अ/आ के पूर्व इ हो तो दोनों मिलकर ई बन जाते हैं, जैसे

कवड्डिअ > कौड़ी
कसवट्टिअ > कसौटी

(इ) उ + अ/आ : यदि उदवृत्त स्वर अ/आ के पूर्व उ हो, तो दोनों मिलकर ऊ बनते हैं। जैसे,

अस्सुअ > आँसू
गेरुअ > गेरू

मभाआ स्वरों का हिंदी में गुणात्मक परिवर्तन

§ ५११ हिंदी में मभाआ स्वरों में प्रायः गुणात्मक परिवर्तन नहीं होता। कुछ सीमित उदाहरण अवश्य हैं किंतु उनमें कोई नियम दृष्टिगोचर नहीं होता। कदाचित् बोलीगत विभिन्नता के कारण ऐसा है।

§ ५१२ मभाआ 'अ' के स्थान पर हिंदी 'इ', जैसे,

√गण् > गिन (ना)
पंजरअ > पिंजड़ा
अमलिआ > इमली

ये सब प्रथम अक्षर में हुए हैं।

§ ५१३ मभाआ 'इ' के स्थान पर हिंदी 'अ', जैसे,

√परिक्ख > परखना गहिरअ > गहरा
तित्तिर > तित्तर, तीतर पहिल्लअ > पहिला, पहला

ये सब द्वितीय अक्षर में हुए हैं।

हिंदी स्वरों की उत्पत्ति

अ

§ ५१४ हिंदी अ < मभाआ अ

१. मभाआ अ < प्राभाआ अ : जैसे

हिंदी	मभाआ	प्राभाआ
कलस	कलस	कलश
कडुवा	कडुअ	कटुक
घड़ा	घडअ	घटक

२. मभाआ अ < प्राभाआ आ (संयुक्त व्यंजन के पूर्व), जैसे

बखान	वक्खाण	व्याख्यान
रज (-वाड़ा)	रज्ज	राज्य

३. मभाआ अ < प्राभाआ ऋ : जैसे,

बड्डा	बड्डअ	वृतक

४. मभाआ अ < प्राभाआ अन्य स्वर : सीमित परिवर्तन

अगर	अगरु	अगुरु

आ

§ ५१५ हिंदी आ < मभाआ आ

१. मभाआ आ < प्राभाआ आ : जैसे

हिंदी	मभाआ	प्राभाआ
पार	पार	पार
सियार	सिआर	शृगाल
पानी	पानिअ	पानीय

§ ५१६ हिंदी आ < मभाआ अ (संयुक्त व्यंजनों के पूर्व)

१. मभाआ अ < प्राभाआ आ : जैसे

काज	कज्ज	कार्य
फागुन	फग्गुन	फाल्गुन

२. मभाआ अ < प्राभाआ अ : जैसे,

सात	सत्त	सप्त
काम	कम्म	कर्म
दाँत	दन्त	दन्त

३. मभाआ अ < प्राभाआ ऋ : जैसे,

माटी	मट्टिआ	मृत्तिका
कान्ह	कण्ह	कृष्ण

§ ५१७ हिंदी आ < मभाआ अआ+उद्वृत्त स्वर

चमार	चम्म-आर	चर्मकार
जुआरी	जूअ-आर	द्यूतकार
कोठरी	कोट्ठ-आरिअ	कोष्ठागारिक

इ

§ ५१८ हिंदी इ < मभाआ इ

१. मभाआ इ < प्राभाआ इ : जैसे,

मानिक	माणिक्क	माणिक्य
गाभिन	गब्भिणी	गर्भिणी

२. मभाआ इ <प्राभाआ ऋ : जैसे,

सियार सिआर शृगाल

घिन घिणा घृणा

§ ५१९ हिंदी इ <मभाआ अ (सीमित परिवर्तन)

इमली अमलिआ अम्लिका

√गिन(ना)√गण् √गण्

पिंजड़ा पंजरअ पंजर

ई

§ ५२० हिंदी ई <मभाआ ई

कीड़ा कीडअ कीटक

खीर खीर क्षीर

§ ५२१ हिंदी ई <मभाआ इ (संयुक्त व्यंजनों के पूर्व)

१. मभाआ इ <प्राभाआ ई : जैसे,

तीखा तिक्ख तीक्ष्ण

२. मभाआ इ < प्राभाआ इ : जैसे,

ईख इक्ख इक्षु

भीख भिक्ख भिक्षा

३. मभाआ इ < प्राभाआ ऋ : जैसे,

पीठ पीट्ठ पृष्ठ

§ ५२२ हिंदी ई <मभाआ इ ई+उद्वृत्त स्वर

जैसे, कौड़ी कवड्डिअ कपर्दिका

कसौटी कसवट्टिअ कषपट्टिका

उ

§ ५२३ हिंदी उ <मभाआ उ

१. मभा उ <प्राभाआ उ : जैसे,

खुर खुर खुर

पुराना पुराणाअ पुराण (क)

उजला उज्जलअ उज्ज्वल (क)

२. मभाआ उ < प्राभाआ ऋ : जैसे,

बुड्ढा बुड्ढअ वृद्धक

√सुनना √सुण् √श्रृ

§ ५२४ हिंदी उ—सीमित परिवर्तन

उँगली	अंगुलि	अंगुलि

ऊ

§ ५२५ हिंदी ऊ < मभाआ ऊ

कपूर	कप्पूर	कर्पूर
जूड़ा	जूड़अ	जूटक
धूल	धूल	धूल

§ ५२६ हिंदी ऊ < मभाआ उ (संयुक्त व्यंजनों के पूर्व)

१. मभाआ उ < प्राभाआ ऊ : जैसे,

दूब	दुब्बल	दूर्वा
सूना	सुराणअ	शून्य

२. मभाआ उ < प्राभाआ उ : जैसे,

दूध	दुद्ध	दुग्ध
ऊँच	उच्च	उच्च

३. मभाआ उ < प्राभाआ ऋ : जैसे,

√पूछ (ना)	√पुच्छ	√पृच्छ
बूढ़ा	बुड्ढअ	वृद्धक

§ ५२७ हिंदी ऊ < मभाआ उ ऊ+उद्वृत्त स्वर

आँसू	अस्सुअ	अश्रु (क)
गेरू	गेरुअ	गैरिक

ए

§ ५२८ हिंदी ए < मभाआ ए एँ

१. मभाआ ए < प्राभाआ ऐ : जैसे,

तेल	तेल	तैल
केवट	केवट्ट	कैवर्त

२. मभाआ एँ < प्राभाआ ए : जैसे,

खेत	खेँत	क्षेत्र
सेठ	सेँठ	श्रेष्ठ
एक	एँक्क	एक

३. मभाआ एँ < प्राभाआ इ : जैसे,

छेद	छेँद	छिद्र
बेल	बेँल्ल	बिल्व

ओ

§ ५२६ हिंदी ओ < मभाआ ओ ओँ

१ मभाआ ओ < प्राभाआ औ : जैसे,

गोरा	गोर	गौर

२ मभाआ ओँ < प्राभाआ ओ : जैसे,

ओंठ	ओँट्ठ	ओष्ठ
कोठारी	कोँट्ठआरिअ	कोष्ठागारिक

३ मभाआ ओ, < प्राभाआ ओ : जैसे,

घोड़ा	घोडक	घोटक

४ मभाआ ओँ < प्राभाआ उ/ऊ : जैसे,

पोथी	पोँत्थिअ	पुस्तिका
मोल	मोँल्ल	मूल्य
कोख	कोँक्ख	कुक्षि

§ ५३० ऐ, औ इसकी उत्पत्ति के लिये देखिए अनुच्छेद § ५०३, § ५०४।

व्यंजन

प्राभाआ व्यंजनों का मभाआ में विकास

एकाकी व्यंजनों का विकास (आदि स्थान में)

§ ५३१ संस्कृत असंयुक्त आदिव्यंजन प्रायः मभाआ भाषाओं में अपरिवर्तित रूप से आए थे। केवल य, व, न, श, ष, इन व्यंजनों में कुछ परिवर्तन मिलते हैं और एकाध स्थलों पर महाप्राणत्व का आगम और दंत्य व्यंजनों का मूर्धन्यीभाव मिलता है। किंतु ये सब परिवर्तन मभाआ में हो चुके थे; हिंदी ने स्वयं मभाआ से क्रमागत शब्दों में इस दिशा में कोई परिवर्तन नहीं किया।

१. संस्कृत य—इसका मभाआ में सर्वत्र 'ज' हुआ है।

२. संस्कृत व/ब—इसका अनेक रूपों में परिवर्तन उपलब्ध है। किन्हीं बोलियों में यह 'व' 'ब' बना रहा, किन्हीं में 'व' तो 'व' ही बना रहा किंतु साथ में 'ब' भी 'व' बन गया। किन्हीं में सर्वत्र 'व' 'ब' में परिवर्तित हो गया। (हिंदी उस बोली से विकसित हुई जिसमें 'व' सर्वत्र और अवश्यतः 'ब' में परिवर्तित हुआ था)

३. संस्कृत न—यह मभाश्रा में ण में परिवर्तित हो गया। किंतु हिंदी में न केवल आदि में अपितु मध्य में भी 'ण' का 'न' मिलता है।

४. संस्कृत श ष स—इन तीन ऊष्मवर्णों के स्थान पर मभाश्रा में एक रहता था। बोलीभेद से कहीं यह 'स' था और कहीं 'श'। हिंदी जिस मभाश्रा बोली से निकली है, वहाँ सर्वत्र 'स' होता था।

५. महाप्राणत्व का आगम और दंत्य व्यंजनों का मूर्धन्यीभाव—ये परिवर्तन सीमित परिवर्तन हैं और इने गिने शब्दों में मिलते हैं। ये उपरिलिखित १–४ के समान व्यापक नहीं हैं। उदाहरण :

संस्कृत	प्राकृत	हिंदी
कील	खील	कील
फरशु	फरसु	फरसा
बुष	बुस	भूसा
√दश	√डस	√डस (ना)

एकाकी व्यंजनों का विकास (स्वरमध्यवर्ती स्थानों में)

§ ५१२ स्वरमध्यवर्ती स्थानों में स्पर्श व्यंजनों में अनेक परिवर्तन मिलते हैं :

१. —ड···ढ···>ल···ल्ह : जैसे
निगड>निगल
मूढ>मूल्ह

२. —ग···क>ग द ब>φ
—द···त >य श्रुति
—ज···च व श्रुति जैसे,
कुंभकार>कुंभ-आर
शुक >सुव-अ
कातर >कायर
राज >राय, राव
शृगाल >सियार
केदारिका>केआरिआ
वचन >वयन

१. प>व जैसे
कूप >कुअ
कपर्दिका>कवड्डिअ

दीपक > दियअ
अपर > अवर

४. ड > ल जैसे,

तडाग > तलाव

५. र ~ ल

रौद्र > लुद्द
तरुण > तलुण
√श्लाघ् > √सराह्

६. य ~ व

आयुध > आवुध
आयुष्मान् > आवुसो
मृगया > मिगवा

७. ख, घ, थ, ध, फ, भ > ह्

आखेटिक आहेडिअ
मुख मुह
मेघ मेह
शातिघर सइहर
√कथ् √कह्
गोधूम गोहूँ
गभीर गहिर-अ
√भू √हो

८. मूर्धन्यीभाव—दंत्य व्यंजनों का ऋ र के संपर्क में

प्रति पटि
प्रथम पठम
विकृत विकट

एकाकी व्यंजनों का विकास—अंतिम स्थान में

§ ५३३ मभाआ के अंत में कोई एकाकी व्यंजन (बिना बाद के स्वर के) नहीं रह सकता। अतएव

(अ) अंतिम व्यंजन का लोप हो जाता है और शब्द स्वरांत बन जाता है, जैसे भगवान् > भगवा

(आ) अंतिम व्यंजन में एक स्वर लगाकर स्वरांत बना दिया जाता है, जैसे,

सरित् > सरिता
आपद् > आपदा

संयुक्त व्यंजनों का विकास आदि और अंत में

§ ५३४ मभाआ में, जहाँ अंत में एकाकी व्यंजन तक नहीं आ सकता है, अंत में संयुक्त व्यंजन आने का प्रश्न ही नहीं उठता है। आदि में पूरा संयुक्त व्यंजन समीकरणों के नियमों से समीकृत होता है और सबसे सबल एकाकी रूप में रहता है।

स्वरमध्यवर्ती संयुक्त व्यंजन

§ ५३५ मभाआ में केवल तीन प्रकार के संयुक्त व्यंजन संभव थे। अन्य सभी संस्कृत के संयुक्त व्यंजन समीकरणों के सिद्धांत से समीकृत होकर इन्हीं तीन मान्य प्रकारों में अंतर्भुक्त हो जाते हैं।

१. क्क, ग्ग आदि अल्पप्राण व्यंजन+वही व्यंजन,
२. क्ख, ग्घ आदि अल्पप्राण स्पर्श व्यंजन+उसी का महाप्राण,
३. न्त, न्द आदि स्पर्श व्यंजन और उसके पूर्व सवर्गीय नासिक्य।

इन समीकरणों में सबल व्यंजन निर्बल व्यंजन को अपना सा बना देता है। यदि दोनों सबल हों तो बादवाला अधिक सबल माना जाता है। सबलता निर्बलता का तारतम्य निम्नलिखित भाँति है :

१. स्पर्श व्यंजन (सबलतम)
२. अनुनासिक
३. ल, ष, स, व, य, र। (ये क्रमशः निर्बल और
निर्बलतर हैं, र सबसे निर्बल है)

उदाहरण — चक्र > चक्क; कर्म > कम्म; काष्ठ < कट्ठ; सर्व > सव्व, तप्त > तत्त; निम्न > निम्न।

मभाआ में इस ऊपर दिए नियम के साथ साथ अन्य गौण प्रक्रियाएँ भी चलतीं थीं, जिनसे समीकृत रूप प्रभावित होता था। वे प्रक्रियाएँ ये हैं :

(अ) दंत्य स्पर्श और न+य इन व्यंजनसंयोगों के समीकरण के पूर्व य (एक तालव्य ध्वनि) के प्रभाव से पूर्वस्थित दंत्य तालव्य बन जाता था, और तब समीकरण होता था, जैसे

सत्य > * सच्य > सच्च विद्या > * विज्या > विज्जा

ध्यान > * झ्यान > झ्झान अन्य > * अञ्यय > अञ्ञ

त्याग > * च्याग > च्याग > चाग

(आ) दंत्यस्पर्श और न, र अथवा ऋ के संपर्क में

इन व्यंजन संयुक्तियों में समीकरण के पूर्व र अथवा ऋ के प्रभाव से पूर्व-स्थित दंत्य मूर्धन्य बन जाता था, तब समीकरण होता था, जैसे

अर्थ > * अर्ठ > अट्ठ आर्त > * आर्ट > अट्ट

अर्ध > * अर्ढ > अड्ढ वृंत > * वृंट > वंट

√-स्था > * √-स्ठा > ट्ठा (आदि में √ठा)

(इ) संयुक्त व्यंजन, जहाँ एक व्यंजन महाप्राण है

जहाँ दोनों संयुक्त व्यंजनों में से एक भी महाप्राण है, वहाँ पूरे संयुक्त व्यंजन का अल्पप्राण मानकर समीकरण कर देना चाहिए, और फिर समीकृत रूप के अंत में महाप्राणत्व ले आना चाहिए, जैसे

अर्थ > * अर्त+महाप्राणत्व > * अत्त्+महाप्राणत्व > अत्थ

अर्ध > * अर्द > * अर्द+महाप्राणत्व > * अद्द्+महा प्राणत्व > अद्ध

(ई) संयुक्त व्यंजन, जहाँ एक व्यंजन स श ष है और दूसरा स्पर्श :

यहाँ स श ष संलग्न स्पर्श के सामने दुर्बल होकर अपना स्वरूप खो बैठता है, किंतु समीकृत रूप के अंत में ऊष्मत्व महाप्राणत्व के रूप में छोड़ देता है, जो समीकृत दोनों स्पर्शों में से बादवाले को समहाप्राण कर देता है, जैसे

हस्त > * हत्त्+महाप्राणत्व > हत्थ

स्पर्श > * प्प+महाप्राणत्व+स्पर्श > * प्फरस > फस्स

निष्क > * निक्क्+महाप्राणत्व > निक्ख

(उ) संयुक्त व्यंजन, जहाँ एक व्यंजन स श ष ह है और दूसरा अनुनासिक :

यहाँ भी पूर्व नियम (ई) सदृश कार्य होता है और समीकृत रूप के अंत में ऊष्मत्व 'ह' के रूप में छोड़ देता है :

उष्ण > * उण्णह > उण्ह चिह्न > * चिन्ह > चिण्ह

ग्रीष्म > * गिम्मह > गिम्ह जिह्म > * जिम्मह > जिम्ह

(ऊ) क्ष का द्विधा समीकरण है—क्ख या च्छ, जैसे

अक्षि > अक्खि कक्ष > कच्छ

(ए) त्स और प्स > च्छ, जैसे

वत्सतर > वच्छ-तुअ। अप्सरस् > अच्छरा

(ऐ) सीमित परिवर्तन,

√क्षर > √झर्, √क्षर्। √ज्ञा > √ञ्ञा, √ग्ण

-ज्ञ > ञ्ञ,-ग्ण—आत्म > अप्प

§ ५३६ संयुक्त व्यंजन, जहाँ दो से अधिक व्यंजन हैं :

ऐसे स्थलों पर उपरिदत्त नियमानुसार समीकरण होता है, सर्वाधिक निर्बल व्यंजन सबसे पहले लुप्त होता है उससे प्रबल किंतु शेष सभी से निर्बल उसके बाद लुप्त होता है, जैसे

चंद्र > चंद ('र' सबसे पहले लुप्त)
उष्ट्र > ओट्ठ ('र' सबसे पहले लुप्त)

§ ५३७ स्वरभक्ति से संयुक्त व्यंजनों का पृथक्करण :

मभाआ में अमान्य संयुक्त व्यंजनों को स्वरभक्ति से भी दो एकाकी व्यंजनों के रूप में परिवर्तित किया जा सकता है। -र्य- यह युग्म प्रायः स्वरभक्ति से विभाजित हुआ है। अन्य संयुक्त व्यंजन र्ह-श्ल-ष्ण आदि हैं। उदाहरण :

र्य··· आर्य > अरिय
सूर्य > सुरिय
र्ह··· गर्हा > गरहा
श्ल··· √श्लिष् > सिलिस्
म्ल··· √म्लान > मिलान
ह्ल··· ह्लाद > हिलाद
स्न··· स्नान > न्हान > नहान
√स्ना > √नहा और √सिना
क्ल··· क्लेश > किलेस

मभाआ व्यंजनों का हिंदी में विकास

§ ५३८ पिछले अनुच्छेदों के अनुसार प्राभाआ व्यंजनों में मभाआ भाषाओं में आकर अनेक परिवर्तन हो गए थे। इन परिवर्तनों के बाद, हिंदी जिस प्राकृत रूप से निकली है, उसकी व्यंजन प्रणाली संभवतः निम्नलिखित थी :

केवल आदि में (और मध्य में अनुस्वार के बाद)		केवल मध्य में
वर्ग १	वर्ग ४	वर्ग ५
क ख ग घ	क्क क्ख ग्ग ग्घ	
च छ ज झ	च्च च्छ ज्ज ज्झ	
त थ द ध	त्त त्थ द्द द्ध	न्त न्थ न्ध
प फ ब भ	प्प प्फ ब्ब ब्भ	म्प म्फ म्ब म्भ
	म्म	

केवल स्वरमध्यवर्ती स्थिति में

वर्ग २ ळ, व (<सं० प)

आदि और मध्य में

वर्ग ३	वर्ग ४	वर्ग ५ (आ)
ट ठ ड ढ	ट्ट ट्ठ ड्ड ड्ढ	ण्ट ण्ठ ण्ड ण्ढ
ण/न म	ण्ण/न्न	
ल र	ल्ल	
स	स्स	
ह		

§ ५३६ मभाआ व्यंजनों का हिंदी में परिवर्तन

१. ळ, ण का लोप - इन दो का हिंदी में लोप हो गया। ळ के स्थान पर ड़ मिलता है; और 'ण' के स्थान में सर्वत्र 'न' हो जाता है।

२. मध्यवर्ती ट ठ ड—स्वरमध्यवर्ती ट ठ क्रमशः हिंदी में ड़-ढ़ हो गए। स्वरमध्यवर्ती ड-ढ स्वयं भी हिंदी में ड़-ढ़ हो गए।

३. मध्यवर्ती ड—उपरिलिखित नियमानुसार ड हिंदी में ड़ हो गया है, किंतु कुछ स्थलों में ड के स्थान पर र भी मिलता है।

३. (अ) मध्यवर्ती म—म के स्थान पर हिंदी में व श्रुति और पूर्वस्वर का सानुनासिकीकरण मिलता है।[1]

४. वर्ग ४ के संयुक्त व्यंजन—हिंदी में ये मध्यवर्ती संयुक्त व्यंजन, प्रधानतया, एक व्यंजन (क्क, ग्ग आदि में क, ग और क्ख, ग्घ आदि में महाप्राण ख, घ आदि) के रूप में मिलते हैं। इन संयुक्त व्यंजनों के पूर्व यदि ह्रस्व स्वर होता है तो प्रधानतया उसका दीर्घीकरण होता है।

[1] हिंदी की कुछ बोलियों में व र (फ्री वैरिएशन) में भी मिलता है।

६. शेष स्थल—शेष स्थलों पर कोई परिवर्तन नहीं होता। कुछ सीमित परिवर्तनों के उदाहरण निस्संदेह मिल सकते हैं, जैसे कंधा <मभाआ खंदा।

५. वर्ग ५ के संयुक्त व्यंजन—ये या तो अपरिवर्तित रूप में रहते हैं, या स्पर्शनासिक्य के स्थान पर स्पर्श और पूर्वस्वर का सानुनासिकीकरण होता है। ऐसी स्थिति में पूर्व ह्रस्व स्वर का दीर्घीकरण भी होता है।

§ ५४० हिंदी व्यंजनों का उद्भव—मभाआ व्यंजनों से

१. हिंदी के एकाकी आदि व्यंजन—वर्ग १ और वर्ग ३ से

२. हिंदी के एकाकी मध्यवर्ती और पदांत व्यंजन—वर्ग ४ से (पिछले अनुच्छेद के नियम ४ से परिवर्तित कर) और वर्ग ३ से (पिछले अनुच्छेद के नियम १, २, ३ से यथोचित परिवर्तित कर)।

३. हिंदी के मध्यवर्ती संयुक्त व्यंजन—वर्ग ४ से, जहाँ पिछले अनुच्छेद के नियम ४ के अपवाद स्वरूप संयुक्त व्यंजन के स्थान पर एक व्यंजन नहीं किया गया है। ऐसे स्थलों पर पूर्व ह्रस्व स्वर ह्रस्व ही रहता है।

४. हिंदी के मध्यवर्ती और पदांत संयुक्त व्यंजन—वर्ग ५ से जहाँ पिछले अनुच्छेद के नियम ५ के अनुसार संयुक्त व्यंजन का स्पर्श व्यंजन मात्र हुआ है और पूर्व स्वर का सानुनासिकीकरण नहीं हुआ है। ण का सर्वत्र उच्चारण न है।

§ ५४१ हिंदी में स्वतः अनुनासिकता

हिंदी में अनेक ऐसे शब्दों में सानुनासिक स्वर दिखलाई पड़ता है, जहाँ प्राभाआ और मभाआ में कोई नासिक्य ध्वनि नहीं है। इसे अकारण अनुनासिकता अथवा स्वतः अनुनासिकता कहा जा सकता है। यह स्वतः अनुनासिकता कुछ मात्रा में मभाआ में और पर्याप्त मात्रा में अन्य आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में मिलती है।

ये प्रधानतया वे स्थल हैं जहाँ वर्ग ४ के संयुक्त व्यंजन एकाकी व्यंजन के रूप में परिवर्तित हुए हैं। उदाहरण

आँख (अक्खि, अक्षि); आँच (अच्चि, अर्चि); माँगना (मग्ग्. मार्गय्) साँप (सप्प, सर्प) आदि।

हिंदी एकाकी व्यंजनों की उत्पत्ति

क

§ ५४२ आदि क् (<मभाआ क्)

१. मभाआ क् <प्राभाआ क् जैसे,

हिंदी	मभाआ	प्राभाआ
कल	कल्ल्	कल्य
काम	कम्म	कर्म
कीड़ा	कीडअ	कीट (क)
कुँवा		कूप (क)
केला		कदल् (ई)
कोढ़	कुड्ढ	कुष्ठ
कौड़ी	कवड्डिआ	कपर्दिका

२. मभाआ क् <प्राभाआ क्र, क्व : जैसे

हिंदी	मभाआ	प्राभाआ
कोस	कोस	क्रोश
काढ़ा	काढ़-अ	क्वाथ (क)

३. सीमित परिवर्तन—संस्कृत स्कंध > मभाआ खंध हिंदी में 'कंधा' के रूप में मिलता है।

§ ५४३ स्वरमध्यवर्ती एवं पदांत क्

१. <मभाआ क्क् <प्राभाआ क से संयुक्त संयुक्त व्यंजन : जैसे

	हिंदी	मभाआ	प्राभाआ
सं० क्क······	चिकना	चिक्कण	चिक्कण
	√भूँक	√भुक्क्	√बुक्क्
सं० क्य······	मानिक	माणिक्क	माणिक्य
सं० क्व······	पका	पक्क्-अ	पक्व (क)
सं० क्र······	चाक	चक्क	चक्र
	नाक	नक्क	नक्र
सं० र्क······	मकड़ा	मक्कड अ	मर्कटक
सं० ष्क······	चौक	चउक्क	चतुष्क

२. <मभाआ क्क जैसे,

(अ) संस्कृत 'एक' से······एक ऍक्क एक

(आ) संस्कृत √ कृ और तत्पूर्व 'त्' से

······√चमक	√चमक्क	चमत्कृ
√चूक	√चुक्क	च्युत+√कृ

(इ) देशी शब्दों में

······√हाँक् √हक्क् —

ख

§ ५४४ आदि ख (<मभाआ ख)

१. मभाआ ख<प्राभाआ ख : जैसे

	हिंदी	मभाआ	प्राभाआ
	खजूर	खज्जूर	खर्जूर
	खाट	खट्ट-आ	खट्वा
	खुर	खुर	खुर
	खैर	खइर	खदिर

२. मभाआ ख<प्राभाआ संयुक्त व्यंजन स्क, क्ष जैसे,

	हिंदी	मभाआ	प्राभाआ
सं० स्क······	खंभा	खम्भ-अ	स्कम्भ (क)
सं० क्ष······	खार	खार	क्षार
	खीर	खीर	क्षीर
	✓ खेत	खेत्त	क्षेत्र

३. सीमित परिवर्तन—संस्कृत 'कर्पर' मभाआ में ही 'खप्पर' रूप में मिलता है और हिंदी में भी 'खप्पर', 'खप्पड़', 'खपड़ा' आदि रूपों में मिलता है।

§ ५५५ स्वरमध्यवर्ती एवं पदांत ख

१. <मभाआ क्ख<प्राभाआ के संयुक्त व्यंजन ष्क, ख्य, क्ष, क्ष्ण जैसे

	हिंदी	मभाआ	प्राभाआ
सं० ष्क···	√सूख्	सुक्ख्	शुष्क
सं० ख्या······	बखान	वक्खाण	व्या + √ख्या
	लीख	लिक्खा	लिख्या
सं० क्ष······	काँख	कक्ख	कक्ष
	√रख	√रक्ख	√रक्ष्
	लाख	लक्ख	लक्ष
	✓ आँख	अक्खि	अक्षि
सं० क्ष्ण·····	तीखा	तिक्ख-आ	तीक्ष्ण

२. सीमित परिवर्तन

<मभाआ ख<प्राभाआ 'ख' और 'ष' जैसे,

हिंदी	मभाआ	प्राभाआ
लिख्	लिख्	लिख्
पाखंड	पाखंड	पाषंड

ग

§ ५५६ आदि ग<मभाआ ग

१. मभाआ ग<प्राभाआ ग : जैसे,

हिंदी	मभाआ	प्राभाआ
गहरा	गहिर-अ	गभीर (क)
गाभिन	गब्भिण	गर्भिणी
गिद्ध	गिद्ध	गृध्र

२. मभाआ ग<प्राभाआ आदि संयुक्त व्यंजन ग्र : जैसे,

√गाँठ (ना)	√गंठ्	√ग्रंथ्
गाँव	गाम	ग्राम

३. मभाआ ग (देशी शब्दों में) : जैसे,

गाड़ी गड्डिआ

§ ५५७ स्वरमध्यवर्ती और पदांत ग

१. <मभाआ ग्ग<प्रभाआ संयुक्त व्यंजन ग्य, ग्र, ग्न, द्ग, र्ग, ल्ग : जैसे,

	हिंदी	मभाआ	प्राभाआ
सं. ग्य	सोहाग	सोहग्ग	सौभाग्य
सं. ग्र	आग (ला)	अग्ग	अग्र
	पगहा	पग्गह	प्रग्रह
सं. ग्न	आग	अग्गि	अग्नि
	नंगा	नग्गअ	नग्न (क)
सं. द्ग	मूँग	मुग्ग	मुद्ग
	√उगल (ना)	√उग्गल्	√उद् गिल्
सं. र्ग	गागर	गग्गर	गर्गर
	√माँग (ना)	√मग्ग	√मार्गय्
सं. ल्ग	फागुन	फग्गुण	फाल्गुन

२. सीमित परिवर्तन: < मभाआ ग < प्रभाआ क : जैसे

साग	साग	शाक
बगुला		बक
पलंग	पल्लंग	पर्यंक

घ

§ ५५८ आदि घ < मभाआ घ

१. मभाआ घ < प्राभाआ घ : जैसे,

हिंदी	मभाआ	प्राभाआ
घड़ा	घड (अ)	घटक
घाव	घाअ	घात
घी	घिअ	घृत
घोड़ा	घोड (अ)	घोट

२. मभाआ घ (देशी शब्दों में)

√घुलना	√घुल्	— (√घूर्ण्)
√घुसना	√घुस्	— (√घृष्)
√घूमना	√घुम्म्	— (√घूर्ण्)
√घोटना	√घुट्ट/घोट्ट्	— (√घृष्)

§ ५५६ स्वरमध्यवर्ती और पदांत घ

< मभाआ ग्घ < प्राभाआ घ्र : जैसे, बाघ बग्घ व्याघ्र

च

§ ५६० आदि च < मभाआ च

१ मभाआ च < प्राभाआ च : जैसे,

हिंदी	मभाआ	प्राभाआ
चकवा	चक्कवाअ	चक्रवाक
चंदा	चंद (अ)	चंद्र
चिकना	चिक्कण	चिक्कण
चीता	चित्तअ	चित्रक
चोर	चोर	चौर

२ मभाआ च < प्राभाआ च्य : जैसे,

√चू (ना) √चु √च्यु

३ मभाआ च (देशी शब्दों में)

चढ़ना √ चड (इ) —

§ ५६१ मध्यवर्ती और पदांत च

१. <मभाआ च्च<प्राभाआ संयुक्त व्यंजन च्य, च्च, र्च, त्य : जैसे,

सं. च्च······ऊचा उच्च (आ) उच्च

कचड़ा कच्चडआ कच्चर

सं. च्य······√कच् √रुच्च् √रुच्य्

सं. र्च······आँच अच्चि अर्चिः

कूँची कुच्चिआ कूर्चिका

सं. त्य······नाच नच्च नृत्य

साँच (सच्चा) सच्च सत्य

२. सीमित परिवर्तित : <मभाआ च्च<प्राभाआ च :

काँच कच्च काच

छ

§ ५६२ आदि छ < मभाआ छ

१. मभाआ छ् <प्राभाआ छ् : जैसे,

हिंदी	मभाआ	प्राभाआ
छल	छल	छल
छाता	छत्तअ	छत्र (क)
छेद	छिद्द	छिद्र

२. मभाआ छ् < प्राभाआ क्ष् : जैसे,

छार	छार	क्षार
छुरी	छुरिआ	क्षुरिका

३. सीमित परिवर्तन : मभाआ छ् < प्राभाआ श् ष्

सं० श्······छकड़ा छक्कड (अ) शकट (क)

सं० ष्······छ— छह— षट्—

४. मभाआ-देशी शब्दों में : जैसे, छोटा छिः आदि

§ ५६३ मध्यवर्ती और पदांत छ

१. <मभाआ च्छ < प्राभाआ संयुक्त व्यंजन च्छ, क्ष, श, त्स, प्स: जैसे :

सं० च्छ······√उछल (ना) √उच्छल् √उच्छल्

कछुवा कच्छव अ कच्छप (क)

बिछौना विच्छावण-अ विच्छादन (क)

√पूछ (ना) √पुच्छ √पृच्छ्

सं० श्च······बीछी   बिच्छिअ   वृश्चिक
तिरछा   तिरच्छ-अ   तिरश्च (क)
सं० श्र······मूँछ   ॐ म्हच्छु   श्मश्रु (सीमित परिवर्तन)
सं० त्स······बछड़ा   वच्छडअ   वत्सलक
सं० क्ष······रीछ   रिच्छ   ऋक्ष
बिछोह   विच्छोह   विक्षोभ

ज

§ ५६४ आदि ज < मभाआ ज

१. मभाआ ज < प्राभाआ ज, जैसे :

जड   जट   जट
जीभ   जिब्भा   जिह्वा

२. मभाआ ज < प्राभाआ संयुक्त व्यंजन ज्य, ज्व, द्य : जैसे,

सं० ज्य····· जेठ   जेट्ठ   ज्येष्ठ
सं० ज्व······√जल (ना)   √जल्   √ज्वल्
सं० द्य······जुआ   जूअ अ   द्यूत (क)

३. मभाआ ज < प्राभाआ य : जैसे,

जूँ   जूआ   यूका
जौ   जव   यव
√जूझ (ना)   √जुज्झ्   √युध्य्
√जा (ना)   √या/जा   √या

४. मभाआ ज (देशी शब्दों में) : ग्जम (ना)

§ ५६५ मध्यवर्ती और पदांत ज

१. < मभाआ ज्ज < प्राभाआ संयुक्त व्यंजन ज्ज, ज्ज्व, ज्य, र्ज, र्य, द्य

सं० ज्ज······काजल   कज्जल   कज्जल
लाज   लज्जा   लज्जा
सं० ज्ज्व······उजला   उज्जल (अ)   उज्ज्वल (क)
सं० ज्य······राज   रज्ज   राज्य
सं० र्ज······खजूर   खज्जूर   खर्जूर
√माँजना   √मज्ज्   √मार्ज्

सं० र्य······(काम)	काज	कज्ज	कार्य
सं० द्य······	आज	अज्ज	अद्य
	बाजा	बज्ज (अ)	वाद्य (क)
	√खीज् (ना)	√खिज्ज्	√खिद्य्

२. <प्रत्ययों में मभाआ उज < * ज्य < प्राभाआ य

दूज	दुइज्ज दुअज्ज	द्वितीय
तीज	तिइज्ज	तृतीय
भतीजा	भत्तीज्ज	भ्रात्रीय

संस्कृत शय्या शब्द भी शय्या > सेज्ज > सेज बना है ।

झ

§ ५६६ आदि झ < मभाआ झ

१. मभाआ झ-देशी शब्दों में—झोंपड़ी (<झुंपड़ा) झोली (<झोलिआई)।

२. मभाआ झ-देशी-अनुरणात्मक शब्दों में-झमझम, झट, झग्ग आदि

३. मभाआ झ < (कदाचित्) प्राभाआ ज : जैसे,

हिंदी	झूठा	संस्कृत	जुष्ट
हिंदी	झरोखा	संस्कृत	जाल गवाक्ष

४. सीमित परिवर्तन

मभाआ झ < प्राभाआ ह्व

हिंदी √झर् का उद्गम मभाआ √झर, प्राभाआ √ह्वर्, हिंद ईरानी * zhar g'zhar और आदिम भारतयूरोपीय * $g^{w}h^{x}oer$, * $g^{w}\,{}^{x}oher$ से माना जाता है।

§ ५६७ मध्यवर्ती और पदांत झ

१. <मभाआ ज्झ < प्राभाआ संयुक्त व्यंजन ध्य और ह्य : जैसे

सं० ध्य······	बाँझ	वंझ	वंध्या
	√बूझ (ना)	√बुज्झ्	√बुध्य्
	ओझा	उवज्झाअ	उपाध्याय
सं० ह्य···(सर्वनाम)	तुझ	तुज्झ	तुह्यम्
	मुझ	मुज्झ	मह्यम्
	बोझा	* बुज्झअ	वह्य (क)

ट

§ ५६८ आदि ट < मभाआ ट

१. मभाआ ट < प्राभाआ त् (र, ऋ के संपर्क) : जैसे,

हिंदी	मभाआ	प्राभाआ
√टल (ना)	√टल्	√तर्
√टूट (ना)	√टुट्ट्	√त्रुट्य्
टीका	टीक	तिलक (> *तिल्क)

२. मभाआ ट – देशी शब्दों में : जैसे, टीला, टोकरी, टक्कर, आदि।

§ ५६९ मध्यवर्ती और पदांत ट

१. < मभाआ ट्ट < प्राभाआ ट्ट, स्थ, ट्व, र्त, (ऋ) त, र्त्य, ष्ट, ष्ट्र :

जैसे,

सं० ट्ट······अटारी	अट्टालिया	अट्टालिका
सं० स्थ······√टूटना	√टुट्ट्	√त्रुट्य्
सं० ट्व······खाट	खट्टा	खट्वा
सं० र्त······केवट	केवट्ट	कैवर्त
सं० (ऋ) त्······माटी	मट्टिआ	मृत्तिका
सं० र्त्म······बाट	वट्ट	वर्त्म
सं० ष्ट·ष्ट्र······ईंट	इट्ट	इष्टिका
ऊँट	उट्ट	उष्ट्र

२. < मभाआ ट्ट—देशी शब्दों में

मोटा	मोट्ट (अ)
पेट	पेट्ट

ठ

§ ५७० आदि ठ < मभाआ ठ

१. मभाआ ठ—देशी शब्दों में, जैसे, ठेला, ठोकर, ठाकुर आदि।

२. मभाआ ठ < (कदाचित्) स्त, स्थ

डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने ठग को सं० स्थग और ठंढा को सं० स्तब्ध से संबद्ध किया है। पुनश्च संस्कृत √स्था का प्राकृतकाल में √ठा हो चुका था। उससे बोली के ठान, ठावँ आदि शब्द व्युत्पन्न हैं।

§ ५७१ मध्यवर्ती और पदांत ठ

१. < मभाआ ट्ठ < प्राभाआ ष्ठ, ष्ट, √स्था : जैसे,

सं० ष्ठ······	जेठ	जेट्ठ	ज्येष्ठ
	काठ	कट्ठ	काष्ठ
	कोठारी	कोट्ठारिअ	कोष्ठागारिक
सं० ष्ट······	ढीठ	ढिट्ठ	धृष्ट
	मीठा	मिट्ठ-अ	मिष्ट (क)
सं० √स्था······	√उठ (ना)	उट्ठा	उत्‌*√स्था
सं० स्त (सीमित परिवर्तन)	पठार	पट्ठर पत्थर	प्रस्तर

ड

§ ५७२ आदि ड < मभाआ ड

१. मभाआ ड देशी शब्दों में : जैसे, डिब्बा, डोंगी, डेरा आदि।

२. मभाआ ड < कदाचित् प्राभाआ द : जैसे,

हिंदी	संस्कृत
डर	दर
डोली	दोलिका
डंडा	दंड (क)

§ ५७३ मध्यवर्ती और पदांत ड (< ड़)

१. मभाआ ड < प्राभाआ ड : जैसे,

पीड़ा	पीडाअ	पीडा
नाड़ी	नाडिआ	नाडिका
ताड़न	ताडण	ताडन

२. मभाआ ड < प्राभाआ ट : जैसे,

कड़ा	कडाअ	कटक
कड़वा	कडुव (अ)	कटुक
अखाड़ा	अक्खाडअ	अक्षवाट (क)

३. मभाआ ळ < प्राभाआ ल : जैसे,

ताड़	ताळ	ताल (वृक्ष)
गुड़	गुळ	गुलिका

४. मभाआ ड़ < प्राभाआ संयुक्त व्यंजन ड्ड, ड्य, ड्र : जैसे,

सं० ड्ड······√उड़(ना)	√उड्ड	√उड्डेति
सं० ड्य······जाड़ा	जड्ड	√जाड्य
सं० ड्र······बड़ा	बड्ड-अ	वड्र-क (उत्तरकालीन संस्कृत)

५. मभाआ ड़ – देशी शब्दों में : जैसे,

गाड़ी	गड्डिका
गोड़	गोड्ड

ढ

§ ५७४ आदि ढ < मभाआ ढ

१. मभाआ ढ देशी शब्दों में : जैसे, ढोलक, ढक्कन, ढीला आदि।

२. सीमित परिवर्तन : मभाआ ढ < प्राभाआ धृ :

ढीठ	ढिट्ठ	धृष्ट

§ ५७५ मध्यवर्ती और अंतिम ढ (< ढ़)

१. < मभाआ ढ < प्राभाआ ढ : जैसे,

गाढ़ा	गाढअ	गाढक
सीढ़ी	सेढी	श्रेढी

२. < मभाआ ढ < प्राभाआ ठ : जैसे,

पढ़ना	√पढ	√पठ्
पीढ़ा	पीढिआ	पीठिका

३. < मभाआ ड्ढ < प्राभाआ संयुक्त व्यंजन र्ध, ध्य, द्ध, ष्ट, ष्ठ, ष्ट्र, ड्र, ड्य : जैसे,

*सं० र्ध·········बढ़ई		बड्ढकिअ	वर्धकिन्
सं० द्ध (र ऋ के संपर्क में)	बूढ़ा	बुड्ढअ	वृद्ध (क)
सं० ष्ठ	कोढ़	कुढ कुड्ढ	कुष्ठ
सं० ष्ट······	√काढ़ (ना)	√कड्ढ	कृष्ट
सं० ष्ट्र······	दाढ	दड्ढा	दंष्ट्रा
सं० ढ्र······	मेंढा	मेड्ढअ	मेढ्र (क)
सं० ढ्य······	आढ्-त	अड्ढ	आढ्य

*सं० ध्य (ऋ. र. √वढ़ (ना) √वड्ढ √वृध्य्
के संपर्क में)

हिंदी कढ़ी और काढ़ा का संबंध प्राकृत धातु √कड्ढ से है जिसकी उत्पत्ति संस्कृत √क्वथ् से है।

त

§ ५७६ आदि त < मभाआ त

१. मभाआ त < प्राभाआ : जैसे,

	हिंदी	मभाआ	प्राभाआ
	तिल	तिल	तिल
	तिन–का	तिण	तृण
	तीखा	तिक्ख	तीक्ष्ण
	तेल	तेल	तैल
	ताँबा	तंब-अ	ताम्र (क)

२. मभाआ त < प्राभाआ संयुक्त व्यंजन त्र, त्व : जैसे,

सं० त्र	तीन	तिण्णि	त्रीणि
	तीस	तिंस	त्रिंश
	तोड़ना	√तोड (?)	√त्रोट्य्
सं० त्व	तुरंत		*त्वर-न्त

§ ५७७ मध्यवर्ती और पदांत त

१. > मभाआ त्त > प्राभाआ संयुक्त व्यंजन त्त, त्र, क्त, क्त्र, न्त्र, प्र, र्त, त्न : जैसे,

	हिंदी	मभाआ	प्राभाआ
सं० त्त······	√उतरना	√उत्तर्	उत्+तर्
	भीत	भित्ति	भित्ति
	पीतल	पित्तल	पित्तल
सं० त्र······	आरती	आरत्तिआ	आरात्रिका
	खेत	खेत्त	क्षेत्र
	छाता	छत्तअ	छत्र (क)
सं० क्त······	भात	भत्त	भक्त
	आलता	आलत्तअ	आलक्तक

सं० क्त्र······जोत	जोत्त	योक्त्र
सं० न्त्र······आँत	अंत्त	आंत्र
सं० प्त······सात	सत्त	सप्त
नाती	नत्तिअ	नप्तृ (क)
सं० र्त······बाती	वत्तिआ	वर्तिका
बात	बत्त	वार्ता
सं० त्न······सौत	सवत्ति	सपत्नी

सीमित परिवर्तन

२. >मभाआ त्त >प्राभाआ त

जीत	*जित्त	जित

थ

§ ५७८ >आदि थ मभाआ थ

१. मभाआ-थ देशी शब्दों में : जैसे, थप्पड़, थूक आदि।

२. मभाआ थ-अनुरणनात्मक शब्दों में : थरथर, थिरकना आदि।

३. मभाआ थ<प्राभाआ संयुक्त व्यंजन स्त, स्थ, : जैसे,

सं० स्त······थन	थण	स्तन
थोड़ा	थो-ड‌अ	स्तोक
सं० स्थ······थाली	थल्लिआ	स्थालिका

§ ५७९ मध्यवर्ती और पदांत थ

१. >मभाआ त्थ>प्राभाआ त्थ, स्त, र्थ, न्थ : जैसे

सं० त्थ······कैथा	कवित्थअ	कपित्थ (क)
कुलथी	कुलत्थ	कुलत्थ
सं० स्त······हाथी	हत्थि-अ	हस्ति (क)
माथा	मत्थ-अ	मस्तक
सं० र्थ······चौथ	चउत्थ	चतुर्थ
साथ	सत्थ	सार्थ
सं० न्थ······मथानी	मत्थणिआ	मंथनिका

द

§ ५८० आदि द >मभाआ द

१. मभाआ द>प्राभाआ द : जैसे

दही दहि दधि । दूध दुद्ध दुग्ध

२. मभाआ द > प्राभाआ संयुक्त व्यंजन द्र, द्वि, जैसे

दोना दोणअ द्रोणक । दु-दो दु द्वि

§ ५८१ मध्यवर्ती और पदांत द

१. मभाआ द > प्राभाआ संयुक्त व्यंजन द्र, र्द, द्द, जैसे

सं० द्र……हल्दी	हरिद्दिआ	हलिद्रिका
नींद	निद्दअ	निद्रा
सं० र्द……गदहा	गद्दह-अ	गर्दभ (क)
सं० द्द……कुदाल	कुद्दाल	कुद्दाल

ध

§ ५८२ आदि ध > मभाआ ध

१. मभाआ ध > प्राभाआ ध, जैसे

धन धण धन । धोना √धोव् √धोव्

धुँआ धुँव धूम

§ ५८३ मध्यवर्ती और पदांत ध

> मभाआ द्ध > प्राभाआ संयुक्त व्यंजन द्ध, ग्ध, ध्र, र्ध, जैसे

सं० द्ध…… ऊधो	उद्धव	उद्धव
सं० ग्ध……दूध	दुद्ध	दुग्ध
सं० ध्र…… गीध	गिद्ध	गृध्र
सं० र्ध…… आधा	अद्ध (अ)	अर्ध

प

§ ५८४ आदि प < मभाआ प

१. मभाआ प < प्राभाआ प, जैसे

हिंदी	मभाआ	प्राभाआ
पानी	पाणिय	पानीय
पूत	पुत्त	पुत्र
पोथी	पोत्थिअ	पुस्तिका

२. मभाआ प < प्राभाआ प्र, जैसे

√पखार (ना)	√पिक्खाल्	√प्रक्षालय्
पगहा	पग्गहअ	प्रग्रह (क)
पहिला	पढिल्लअ	प्रथ् (इल्ल)

३. मभाआ प : देशी शब्दों में, जैसे पेट < पेट्ट

§ ५८५ मध्यवर्ती और पदांत प

१. < मभाआ प्प < प्राभाआ संयुक्त व्यंजन प्प, प्र, त्प, र्प, प्य, जैसे,

सं० प्प......पीपल	पिप्पल	पिप्पल
सं० प्र......बाप	बप्पग्र	वप्र (क) (उत्तरकालीन संस्कृत)
सं० त्प......√उपज (ना)	√उप्पज्ज्	√उत्पद्
सं० र्प......कपास	कप्पास	कर्पास
सं० प्य......रुपिया	रुप्पिया	*रूप्यिका

२. सीमित परिवर्तन < मभाआ प्प < त्म (आत्मन् में) और प्रत्यय त्व (न)।

आप, अपना < अप्पण < आत्म —पन < —प्पण < —त्वन

३. देशी शब्दों में, जैसे, झापड़, टोपी।

फ

§ ५८६ आदि फ < मभाआ फ

१. मभाआ फ > प्राभाआ फ, जैसे

हिंदी	मभाआ	प्राभाआ
फूल	फुल्ल	फुल्ल
फल	फल	फल
फेन	फेण	फेन

२. मभआ फ < प्राभाआ संयुक्त व्यंजन स्प, स्फ, जैसे

सं० स्फ......√फोड़ना	√फोड़	√स्फोट्य
सं० स्प......√फाँदना	√फंद्	√स्पंद्

३. सीमित परिवर्तन फ < संस्कृत स्प अथवा प

हिंदी	संस्कृत
फाँस	स्पाश
फरसा	परशु

टिप्पणी : मध्यवर्ती एवं पदांत फ के उदाहरण अप्राप्य हैं।

ब

§ ५८७ आदि ब < मभाआ ब

१. मभाआ ब < प्राभाआ ब, जैसे

बहिरा	बहिरअ	बधिर (क) :	√बूझना	√बुज्झ्	√बुध्य

२. मभाआ ब < प्राभाआ व, जैसे

बहू	बहू	वधू :	बीस	बीस	विंश

३. मभाआ ब < प्राभाआ व्य, जैसे

बाघ	बग्घ	व्याघ्र :	बखान	बक्खाण	व्याख्यात

४. सीमित परिवर्तन संख्यावाचक द्वि

'द्वि' शब्द का मभाआ ही में द्विधा परिवर्तन मिलता है—दो, दोहरा आदि में द-प्रधान और बीस, बाईस आदि में ब-प्रधान। हिंदी में दोनों प्रकार के परिवर्तन उपलब्ध हैं :

बारह	बारह	द्वादश :	बाइस	बाइस	द्वाविंश

५. सीमित परिवर्तन सं० भगिनी शब्द में महाप्राण विपर्यय

सं० भगिनी शब्द 'बहिन' के रूप में हिंदी में मिलता है।

§ ५८८ मध्यवर्ती और पदांत ब

१. < मभाआ ब्ब < प्राभाआ र्ब, र्व, जैसे

सं० र्ब......दुबला	दुब्बल	दुर्बल
सं० र्व......दूब	दुब्बा	दूर्वा
सब	सब्ब	सर्व

२. < मभाआ म्ब < प्राभाआ म्र

ताँबा	तंब (अ)	ताम्र (क)

भ

§ ५८९ आदि भ < मभाआ भ

१. मभाआ भ < प्राभाआ भ जैसे,

भीख	भिक्खा	भिक्षा
भात	भत्त	भक्त

२. मभाआ भ < प्राभाआ संयुक्त व्यंजन भ्र जैसे,

भौंरा	भँवर (अ)	भ्रमर (क)
भाई	भाइ (अ)	भ्रातृ (क)

सीमित परिवर्तन :

३. मभाआ भ <प्रभाआ—भ्य-, प्रारंभिक अ के लोप के बाद :

भीतर भिंतर अभ्यंतर : √भीग (ना) √भिंज् √अभ्यंज्

४. सीमित परिवर्तन : हिंदी भ- <मभाआ म्ह- <प्राभाआ मह—

भैंस	म्हेस	महिष

५. मभाआ भ देशी शब्दों में, जैसे भेंट, भूल, भोला आदि।

§ ५६० मध्यवर्ती और पदांत भ

१. <मभाआ ब्भ <प्राभाआ र्भ और ह्व

सं० र्भ······गाभिन्	गाब्भिणि	गर्भिणी
सं० ह्व्······जीभ	जिब्भ	जिह्वा

अनुनासिक व्यंजन न, म

§ ५६१ मभाआ में संस्कृत के पाँच नासिक्य व्यंजनों के स्थान पर केवल तीन नासिक्य ण, न, म रह गए थे। हिंदी में ण के स्थान पर सर्वत्र न हुआ और दो ही नासिक्य ध्वनियाँ न और म रहीं। क्रमागत शब्दों में शेष तीन नासिक्य व्यंजन नहीं हैं।

न

आदि न <मभाआ न/ण[1]

१. मभाआ न/ण <प्राभाआ न, जैसे

नाच	नच्च	नृत्य
नीच	णिच्च	*नीच्य
नाम	णाम	नाम

२. सीमित परिवर्तन : संस्कृत √स्ना <मभाआ न्हा

नहा (ना) √न्हा √स्ना

[1] ञ का उच्चारण संस्कृतगृहीत शब्दों में प्रयास करने से होता है। ञ केवल सानुनासिक स्वर के बाद अंतिम तालव्य ध्वनि 'य' के संपर्क से उच्चरित सा प्रतीत होता है। ऐसी स्थिति में तालव्य नासिक्य अर्धव्यंजन का उच्चारण हो जाता है, पूर्ण तालव्य नासिक्य व्यंजन का नहीं।

३. सीमित परिवर्तन : न < न्त्र < ज्ञ (धातु √ज्ञा का)

नैहर णोहर णाइहर ज्ञाति-घर

मध्यवर्ती और पदांत न

१. < मभाआ ण < प्राभाआ न, ण, जैसे

सं० न······पानी पाणिअ पानिय

थन थण थन

सं० ण ······कंगन कंगण कंकण

√गिन (ना) √गण् √गण्

२. < मभाआ ण्ण < प्राभाआ न्न, र्ण, ज्ञ, न्य, जैसे

सं० न्न अनाज अण्णज्ज अन्नाद्य

सं० र्ण कान कण्ण कर्ण

सं० ज्ञ जनेऊ *जण्णवईअ यज्ञोपवीत

सं० न्य सूना सुण्णअ शून्य

म

§ ५६२ आदि म < मभाआ म

१. मभाआ म < प्राभाआ म, जैसे

मन मण मन : मूँग मुग्ग मुद्‌ग

२. मभाआ म प्राभाआ म्र, श्म, जैसे

सं० म्र मक्खन मक्खण म्रक्षण

सं० श्म (सीमित) मोंछ *मुञ्छु श्मश्रु

§ ५६३ मध्यवर्ती और पदांत म

१. < मभाआ म्म/म्ब < प्राभाआ म्ब, म्र, र्म, जैसे

सं० म्ब······नीम णिम्म निंब

जामुन जम्मुण जंबु

सं० म्र······आम अम्ब आम्र

सं० र्म······काम कम्म कर्म

सं० म्ब······√चूमना √चुंब् √चुंब

न्ह, म्ह

§ ५६४ मभाआ में प्राभाआ संयुक्त व्यंजन ष्ण और ष्म क्रमशः ण्ह और म्ह हो चुका था। हिंदी में कुछ स्थलों पर स्वनिमात्मक विश्लेषण से

इन्हें व्यंजनसंयोग न मानकर महाप्राण न, म मानना अधिक उचित प्रतीत होता है।

सं० ण्ण······कान्ह <कण्ह <कृष्ण
सं० ष्म······तुम्हारा <तुम्ह <*तुष्म

र

आदि र <मभाआ र

१. मभाआ र <प्राभाआ र : जैसे,

रात रत्ति रात्रि : रंग रंग रंग

मध्यवर्ती और पदांत

१ <मभाआ र <प्राभाआ र, जैसे

आरती आरत्तिअ आरात्रिका : कायर काअर कातर

२. मभाआ र <प्राभाआ ल, जैसे

√सराह (ना) √सराह √श्लाघ्

३. सीमित परिवर्तन : उत्तरपद में 'दश' के द का र होना :

द <* ड <र बारह बारह बारस द्वादश

तेरह तेरह त्रयोदश

४. सीमित परिवर्तन : ट <ड <र

अहेरी अहेडीअ आखेटिक

ल

§ ५६५ आदि ल <मभाआ ल

१. मभाआ ल <प्राभाआ ल : जैसे,

लोहार लोहआर लौहकार
√लगना √लग्ग लग्न

§ ५६६ मध्यवर्ती और पदांत ल

१. <मभाआ ल <प्राभाआ ल, जैसे

काजल कज्जल कज्जल
दुबला दुब्बल दुर्बल

२. <मभाआ ल <प्राभाआ र, जैसे

हलदी हलिदिया हरिद्रिका

३. <मभाआ ल < प्राभाआ द, जैसे

द<ड<ल सोलह सोडह षोडश

४. <मभाआ ल <प्राभाआ ड, जैसे

तलाव तलाव-तळाव तडाग

५. <मभाआ ल्ल, <प्राभाआ ल्ल, ल्य, ल्व, र्य, जैसे

सं० ल्ल......फूल	फुल्ल	फुल्ल
सं० ल्य......मोल	मुल्ल	मूल्य
सं० ल्व......बेल	बेल्ल	बिल्व
सं० र्य......पलंग	पल्लंग	पर्यंक

६. सीमित परिवर्तन सं० भद्र के द्र का ल्ल >होना

भला भल्लअ भद्रक

य, व

§ ५६७ य

उत्तरकालीन मभाआ में प्राभाआ के य का पूर्ण लोप हो गया था। प्रारंभ में 'य' का ज' हो चुका था, स्वरमध्यवर्ती का लोप हो चुका था, संयुक्त व्यंजन में 'य' सबसे दुर्बल होने के कारण सदैव अन्य व्यंजन के रूप में परिवर्तित हो जाता था।

अतएव हिंदी में 'य' या तो आगत शब्दों में मिलता है या य श्रुति के कारण आया हुआ, जैसे, राय <राजा (सं०), कायर <कातर (सं०) आदि।

§ ५६८ व

उत्तरकालीन मभाआ में प्राभाआ के ब, व का द्विधा विकास मिलता है। कहीं ब का व बन जाता है, और कहीं व का ब बन जाता है। जैसा पहले कह चुके हैं, हिंदी उस बोली का विकसित रूप है जहाँ 'व' का सर्वत्र 'ब' होता है। अतएव प्राभाआ का व हिंदी में क्रमागत शब्दों में नहीं मिलता।

मभाआ में 'व' प्राभाआ 'प' से विकसित रूप में भी मिलता है। हिंदी तक आते आते इस 'व' का भी प्रायः लोप हो गया।

मभाआ के -म-का भी हिंदी में आते आते व्यंजनत्व नष्ट हो चुका था, केवल अनुनासिकत्व रह गया था जो पूर्वस्वर को सानुनासिक कर देता था। उद्वृत्त स्वर के स्थान पर व श्रुति का आगम हो जाता है।

उदाहरण :

१. व श्रुति	राव < राजा (सं०)		
२. < प (सं०)	कुँवा	कुँवअ	कूपक
	महाव्रत	महावत्त	महापात्र
	सवाया	सवाअ-अ	सपाद (क)
३. < म (सं०)	साँवला	साँअलअ	श्यामलक
	कुँवर	कुँअर	कुमार

स

§ ५९९ आदि स < मभाआ स

१. मभाआ स < प्राभ.आ श ष स, जैसे

सं० श······साड़ी	साडिआ	शाटिका
सोंठ	सुंठ	शुंठि
सं० ष······सोलह	सोडह	षोडश
सं० स······सात	सत्त	सप्त

२. मभाआ स < प्राभाआ संयुक्त व्यंजन श्य, श्र, श्ल, श्व स्व, जैसे

सं० श्य······साला	सालअ	श्याल (क)
सं० श्र······सेठ	सेट्ठ	श्रेष्ठिन्
सं० श्ल······सराह(ना)	√सराह	√श्लाघ्
सं० श्व······ससुर	ससुर	श्वसुर
सं० स्व······साँई	सामि-सामि	स्वामी

§ ५०० मध्यवर्ती और पदांत स

१. मभाआ स < प्राभाआ स, श, जैसे

सं० स······मॉस	मांस	मांस
√हस(ना)	√हन्	√हस्
सं० श······केसर	केसर	केरश
आस	आस	आशा

२. मभाआ स्स < प्राभाआ संयुक्त व्यंजन श्व, र्श्व, श्म, श्र, र्ष, ष्व, ष्य, स्म, स्य, जैसे

सं० श्व······परसों	परस्सो	परश्वः
सं० र्श्व······पास	पस्स	पार्श्व

सं० श्म······रास	रस्सि	रश्मि
सं० श्र······आँसू	अस्सु	अश्रु
सं० र्ष······सीस	सीस-सिस्स	शीर्ष
सं० स्व······मौसी	माउस्सिअ	मातृष्वस
सं० ष्य······पूस	पुस्स	पुष्य (पौष)
सं० स्म······√बिसरना	√विस्सर	√विस्मृ
सं० स्य······आलस	आलस्स	आलस्य

ह

§ ५०१ आदि ह < मभाआ ह

मभाआ ह < प्राभाआ ह, जैसे

√हम (ना) √हम् √हस्: √हर (ना) √हर् √हर्

§ ५०२ मध्यवर्ती और पदांत ह

१. < मभाआ ह < प्राभाआ ह, जैसे

लोहार लोह-आर लौहकार √सह् √सह् √सह्

२. < मभाआ ह < प्राभाआ ख, घ, थ, ध; फ, भ, ढ, जैसे

सं० ख······अहेरी	अहेडिअ	आखेटिक
	णाहर (लिख् आदि अपवाद हैं)	
सं० घ······नैहर	नइहर	ज्ञातिघर
सं० थ······√कह्	√कथ्, कह	√कथ्
सं० ध······गेहूँ	गोहूँ	गोधूम
दही	दहिअ	दधि
सं० फ······कटहल	कट्ठफलं	काष्ठफलं
सं० भ······गहरा	गहिर-अ	गभीर (क)
√होना	√हो	√भू (भवति)
सं० ढ······पहिला	पढिल्लअ	प्रथ-इल्लक
	पहिल्लअ	

३. सीमित परिवर्तन—उत्तर पद में दश के श का ह होना।

बारह	बारह	द्वादश

हिंदी संयुक्त व्यंजन

§ ६०३ हिंदी में भी मभाआ के समान तीन प्रकार के संयुक्त व्यंजनसमूह मिलते हैं :

वर्ग (१) क्क, ग्ग, न्न, (व्यंजन+वही व्यंजन),
वर्ग (२) क्ख, त्थ (अल्पप्राण व्यंजन+उसी का महाप्राण),
वर्ग (३) न्त, न्द (स्पर्श और उसके पूर्व सवर्गीय व्यंजन)
वर्ग (३ अ) न्क, न्च, न्स (न्+ कवर्ग, चवर्ग और स)

§ ६०४ वर्ग १) क्क, ग्ग आदि और वर्ग (२) क्ख, त्थ आदि

ये संयुक्त व्यंजन मभाआ के तत्समान संयुक्त व्यंजनों से निकले हैं। प्रायः इन मभाआ संयुक्त व्यंजनों के स्थान पर अकेला व्यंजन हो जाता है और पूर्व ह्रस्व स्वर प्रधानतया दीर्घ हो जाता है, किंतु अनेक स्थलों पर ये मभाआ संयुक्त व्यंजन हिंदी में अपरिवर्तित रूप में मिलते हैं। निम्नलिखित उदाहरणों में दूसरा सामान्यतया परिवर्तित रूप भी मिलता है :

क्क···चक्कर (चाक), मक्कड़ (मकड़ा)
क्ख···रक्खूँगा (रखना), मक्खी (माखी, बो०)
ग्ग···गुग्गुल (गूगुल)
च्च···सच्चा (साँच, सच), कच्चा (काँचा, बो०)
च्छ···अच्छा
ज्ज···गुज्जर (गूजर)
ट्ट···मिट्टी (माटी, बो०)
ट्ठ···पिट्ठू
ड्ड···गड्डी (देशी शब्द)
ड्ढ···बुड्ढी (बूढ़ा)
त्त···पत्ता (पाती, बो०), बत्ती (बाती, बो०)
त्थ · मत्था (माथा)
द्द···गद्दी (देशी शब्द)
द्ध···गिद्ध (गीध)
प्प···खप्पड़ (खप्पड़) (खपड़ा), थप्पड़ (थापड़-देशी)
न्न···अन्न

§ ६०५ वर्ग ३ न्त, न्द आदि

ये संयुक्त व्यंजन मभाआ के तत्समान संयुक्त व्यंजनों से निकले हैं, जैसे

न्त···अन्त, अंत ण्ट···घंटा म्प···कम्पन, कंपन
न्द···चन्दन, चंदन ण्ड···अंडा म्ब···चुम्बन, चुंबन

न्थ···पन्थ, पंथ　　न्ठ···कंठी　　म्फ···गुम्फन, गुंफन
न्ध···अन्धा, अंधा　　न्ढ···ढूंढना (देशी) म्भा···खम्भा, खंभा
वर्ग ३ (अ)
<मभाआ
वर्ग ३ (अ) मभाआ

§ ६०६ अनुस्वार+एकाकी स्पर्श और स

मभाआ में संस्कृत के ङ्, और न् (आंशिक रूप मे), लुप्त हो गए थे। संस्कृत में ङ् और म् सवर्गीय स्पर्श के पूर्व आते थे, उनके स्थान पर मभाआ में अनुस्वार+सवर्गीय स्पर्श हो गया। हिंदी में इनके स्थान पर न् हो गया। अतएव

कंगन　[कन्गन्]
चंचल　[चन्चल्]

किंतु लिपि में इसके लिये पृथक् संकेत नहीं है।

मभाआ के स के पूर्व स्थित अनुस्वार का भी इसी प्रकार हिंदी में न् हो गया है। अतएव

हंस　[हन्स]
कंस　[कन्स]

द्वितीय खंड

रूपतत्व

रूपतत्व

विदेशी भाषा से आगत शब्दों की ध्वनिप्रक्रिया

प्रारंभिकी

§ ६०७ प्रत्येक भाषणसमुदाय (स्पीच कम्युनिटी) अन्य भाषा-भाषियों के संपर्क में न्यूनाधिक मात्रा में सांस्कृतिक तत्वों (कल्चरल आइटेम्स) का आदान प्रदान करता है और इस आदान प्रदान में कभी कभी उन तत्वों के साथ उनको व्यक्त करनेवाले शब्द भी एक भाषा से दूसरी भाषा में प्रविष्ट हो जाते हैं। अधिक संपर्क होने पर इन विदेशी शब्दों का किसी भाषा में अंतःप्रवेश और भी सघन तथा गहरा हो जाता है एवं शब्दों (लेक्सिकल आइटेम्स) के अतिरिक्त व्याकरण एवं वाक्यरचना और कभी कभी ध्वनिसमूह को भी प्रभावित करता है।

जहाँ तक इन आगत (विदेशी) शब्दों के आचरण का संबंध है, उनका उच्चारण बहुत कुछ वक्ता के उस विदेशी भाषा के उच्चारण के परिचय और दीक्षा पर निर्भर है। एक ओर वे वक्ता हैं जो उस विदेशी भाषा के बोलनेवालों के बीच अपने देश या उन्हीं के देश में पले हैं या ऐसे गुरुजनों से पढ़ा है जिनकी वह विदेशी भाषा स्वयं मातृभाषा थी। ऐसे वक्ताओं का अपनी निजी भाषा बोलते समय भी उन विदेशी शब्दों का उच्चारण बहुत कुछ मूल विदेशी उच्चारण से मिलता जुलता होता है, या यह कहिए कि प्रायः अपरिवर्तित होता है। दूसरी ओर वे वक्ता हैं जिन्होंने उस विदेशी भाषा को न तो कभी पढ़ा सुना है। न उस भाषा के नैसर्गिक वक्ताओं के संपर्क में कभी आए हैं और न ऊपर कहे विदेशी भाषा से सुपरिचित जनों से मिलते जुलते हैं। ऐसे वक्ताओं का विदेशी शब्दों का उच्चारण मूल उच्चारण से पर्याप्त भिन्न होता है। वे इनका उच्चारण बिल्कुल देशी ढंग से करते हैं। इन दोनों पराकाष्ठाओं के बीच अगणित वर्गश्रेणियाँ हैं और इनके वक्ता न्यूनाधिक मात्रा में विदेशी ध्वनियों को निजी ध्वनियों से पृथक् अथवा अपृथक् रखते हैं। अतएव विदेशी ध्वनियों की सूची (फोनेटिक इनवेंटरी) बहुत कुछ वक्ता के संस्कार और तज्जन्य वैयक्तिक बोली (आइडियालेक्ट) के अनुसार घटती बढ़ती है।

उदाहरण के लिये फारसी के सैकड़ों शब्द हिंदी में आ चुके हैं। इनका उच्चारण वक्ता के फारसी भाषा के परिचय और दीक्षा पर निर्भर है। जिन लोगों

ने मकतब में पढ़ा है या परिवार के फारसीदाँ लोगों से पढ़ा है, उनका शीन काफ दुरुस्त होता है। उनकी वैयक्तिक बोली में [फ] [फ़] पृथक् पृथक् स्वनीय (फोनीम) होते हैं क्योंकि वहाँ [कफ़] [कफ] का न्यूनतम युग्म (मिनिमल पेयर) मिलता है। दूसरी कोटि में अनपढ़ लोग आते हैं जो इन फारसी ध्वनियों को क्रमागत (इनहेरिटेड) ध्वनियों के रूप में बोलते हैं। उनकी बोली में फोनीम /फ़/ नहीं है और /कफ़/ [कफ] /कफ/ का भेद उसी प्रकार स्पष्ट होता है जैसे अन्य समध्वनिक (होमोफोनिक) युग्मों का। इन दोनों के बीच अनेक ऐसे व्यक्ति हैं जिनके यहाँ [फ] [फ़] किन्हीं स्थितियों में मुक्त अंतर (फ्री वैरिएशन) में हैं और किन्हीं स्थितियों में विरोधी (कांट्रैस्ट्राइन) रहते हैं। इस प्रकार उनकी फोनेमिक सूची निरंतर बदलती रहती है।

§ ६०८ (विदेशी) आगत शब्दों की उच्चारण प्रक्रिया

आगत शब्दों की ध्वनियों में प्रायः कुछ न कुछ परिवर्तन मिलते हैं। ये परिवर्तन भाषा के विभिन्न स्तरों पर होते हैं :

(क) ध्वनिस्तर पर :

विदेशी भाषा की सभी ध्वनियाँ निजी भाषा में मिल जाएँ, यह लगभग असंभव है। कुछ ध्वनियाँ मिल जाती हैं, और कुछ नहीं मिलतीं। अतएव प्रत्येक विदेशी भाषा से आगत शब्दों में किसी न किसी मात्रा में परिवर्तन हो ही जाता है। इस संबंध में निम्नलिखित तथ्य ज्ञातव्य हैं :

(१) जो ध्वनियाँ स्वनिमात्मक रूप में मिल भी जाती हैं, उनका उच्चारण निजी ध्वनियों के स्थान प्रयत्न और विधि के अनुसार होता है, न कि विदेशी स्थान, प्रयत्न और विधि के अनुसार; जैसे, अंग्रेजी [h] हिंदी में [ɦ] के रूप में उच्चरित होता है, आदि (देखिए § १२३)

(२) जो ध्वनियाँ नहीं मिलती हैं उनके स्थान पर उस विदेशी भाषा से अनभिज्ञ व्यक्ति निजी ध्वनियों में से निकटतम ध्वनि द्वारा उन्हें उच्चरित करते हैं जैसे, फारसी या अंग्रेजी के संघर्षी हिंदी में तत्स्थानीय स्पर्श से अर्थात् [f], [फ] से, आदि (देखिए § ११८, १२४)

(३) यदि कोई विदेशी ध्वनि ग्राहक भाषा में अन्य स्रोतों से आगत शब्दों में भी मिलती है, तो उसकी ग्राहक भाषा में आने की संभावना बढ़ जाती है। जैसे, संस्कृत, फारसी, अंग्रेजी और पूर्वांचलीय भारतीय भाषाओं में प्राप्त [ʃ] ध्वनि [श] के रूप में पूर्णतया आ गई है (केवल बहुत बेपढ़े [s] करके बोलते हैं)। फारसी और अंग्रेजी दोनों में मिलने के कारण [f] [x] हिंदी में आ सकती हैं।

(४) विदेशी ध्वनियों के विविध संस्वन (ऐलायफोन्स) पृथक् पृथक् रूप से आगत शब्दों में उच्चरित नहीं होते। केवल मूल संस्वन की ध्वनि का उच्चारण निर्धारित होता है जैसे, अंग्रेजी में /l/ के दो संस्वन [ḷ] और [ꞎ] हैं, किंतु हिंदी में दोनों के स्थान पर [ल] है। (विशेष देखिए § १२५,१)

किंतु यदि निजी भाषा में वे विदेशी भाषा के संस्वन स्वनिमात्मक स्तर पर भिन्न हैं, अर्थात् निजी भाषा में वे पृथक् पृथक् ध्वनियाँ हैं तो विदेशी भाषा के संस्वनात्मक भेद पृथक् भी बने रह सकते हैं।

(५) यदि विदेशी भाषा भी उस देश में पढ़ाई जाती है और उसकी पढ़ाई में स्वयं मूल विदेशी उच्चारण से भिन्न उच्चारण प्रयुक्त होता है, तो उस विदेशी भाषा से आगत शब्दों की ध्वनिप्रक्रिया का आधार वह तद्देशीय भिन्न उच्चारण होगा, न कि मूल विदेशी उच्चारण; जैसे, हिंदी प्रदेश में अंग्रेजी भी पढ़ाई जाती है और वह उच्चारण मूल ब्रिटिश उच्चारण न होकर हिंदुस्तानी उच्चारण होता है। ऐसी स्थिति में हिंदी में आगत अंग्रेजी ध्वनियों की ध्वनि-प्रक्रिया का आधार यह हिंदुस्तानी उच्चारण होगा, न कि ब्रिटिश उच्चारण। ऐसी स्थिति में आगत शब्दों में वह परिवर्तित उच्चारण (यहाँ हिंदुस्तानी उच्चारण') स्वयं आ जाएगा।

(६) जहाँ विदेशी भाषा का ज्ञान उच्चारण की अपेक्षा लिखित माध्यम से अधिक है, वहाँ विदेशी वर्तनी का (न कि विदेशी उच्चारण का) प्रभाव परिलक्षित होगा, जैसे हिंदी में आगत अंग्रेजी ध्वनियों पर अंग्रेजी वर्तनी का।

(७) आगत शब्दों में निजी भाषा की ध्वन्यात्म प्रवृत्तियाँ (फोनेटिक हैबिट्स) भी परिलक्षित होती हैं; जैसे,

(क) स्+स्पर्श—इस आदि संयुक्त व्यंजन के पूर्व ह्रस्वतर 'इ' का पूर्वागम; जैसे, [इस्टेशन्] [इस्कूल्]।

(ख) अमान्य संयुक्त व्यंजनों को अपनी भाषा के अनुसार समीकरण या स्वरभक्ति से सरल करना; जैसे, गिलास (ग्लास), हुकुम (फा० हुक्म्)।

(ग) हिंदी में आदि 'व' का न होना, अतएव 'ब' में बदलना; जैसे, बास्कट (वेस्टकोट), बिदा (फा० विदइ्)।

(घ) ग्रामीणों की बोली में 'न', 'ल' का व्यत्यय—लंबर (नंबर)

(ख) ध्वनिप्रक्रिया के स्तर पर

(१) आगत शब्दों में निजी भाषा के अनुसार आक्षरिक विभाजन (सिलैबिक ब्रेक्) कर दिया जाता है और तदनुसार स्वरध्वनियों का लोप या आगम हो जाता है; जैसे, सामान्य हिंदीभाषी फारसी अरबी 'बे-वकूफ़्' 'बे-ईमान्' 'आमद्-नी' को [बेव्-कूफ़्,], [बेई-मान्], [आम्-दनी] बोलते हैं।

(२) आगत शब्दों को निजी भाषा के आक्षरिक विन्यास (सिलैबिक स्ट्रक्चर) के अनुकूल बना दिया जाता है। हिंदी में C ə c c [c=कोई व्यंजन, ə=अ] अक्षर ग्राह्य नहीं है, अतएव ऐसे सभी [C ə/C ə C] के रूप में बदल जाते हैं, जैसे, सदर (फा० सद्र), तरफ (फा० तर्फ़)।

(३) आगत शब्दों में यदि ध्वनिक्रम (साउंड सीक्वेन्स) निजी भाषा में अनुपलब्ध है, तो कुछ ऐसा परिवर्तन अवश्य होगा कि परिचित ध्वनिक्रम आ जाए; जैसे, अंग्रेजी डजन' में 'दंज़' यह ध्वनिक्रम हिंदी के लिये पूर्ण अपरिचित है। अतएव इसे 'दर्‌जन' किया गया जहाँ दर् और जन दोनों परिचित ध्वनिक्रम हैं।

(ग) पदिमस्वनिमात्मक (मार्फोफिनेमिक) स्तर पर

प्रत्येक भाषा में पदरचना के स्तर पर पद के किसी न किसी पदिम में ध्वन्यात्मक परिवर्तन परिलक्षित होते हैं; जैसे हिंदी में–मीठा : मिठास, चूहा : चुहिया, पानी : पनडुब्बी, आम : अमरस। इनसे प्रकट होता है कि प्रथम अक्षर में दीर्घ स्वर रखनेवाले शब्द अपने से बृहत्तर संरचना में पड़ने पर प्रथम दीर्घ स्वर को ह्रस्व करते हैं। इसी के अनुसार

आफिस (ऑफिस), किंतु अफसर (ऑफिसर)

(घ) शब्दस्तर पर

(१) विदेशी भाषा के आगत शब्दों में वक्ता प्रायः निजी भाषा के शब्दों की झलक पाने लगता है; यदि कुछ अर्थविषयक साहचर्य (सिमैंटिक एसोसिएशन) होता है तो निजी शब्द विदेशी शब्द को अपना स्वरूप दे देता है; जैसे, लेमन चूस (लेमनज्यूस) में 'चूस' है क्योंकि वह 'चूसा' जाता है; (§ १२८-३) बेपढ़ों की बोली में ऐसा परिवर्तन प्रायः पाया जाता है, जैसे, बाबूराम सक्सेना की पुस्तक 'सामान्य भाषाविज्ञान' में दिए उदाहरण— "बाबू, लाट कमंडल (लार्ड कमांडर)) होइ गा. 'आठ' (आर्ट) कालेज', 'अनवरसीटी (युनिवर्सिटी)

(२) विदेशी भाषा से आगत शब्द भी आपस में एक दूसरे को सादृश्य से प्रभावित कर सकते हैं; जैसे, अंग्रेजी आगत 'कर्नल' से 'जर्नल' (जनरल) संस्कृत आगत 'स्वर्ग' से 'नर्क'।

इस प्रकार विदेशी ध्वनियों पर विभिन्न स्तरों का प्रभाव पड़ता है।

फारसी अरबी से आगत शब्दों की ध्वनिप्रक्रिया

§ ६०६ हिंदी में सब से अधिक विदेशी शब्द फारसी अरबी के हैं। भारतीय इतिहास के मध्यकाल में ऐसे विदेशियों का राज्य था जिनकी शासनिक भाषा फारसी थी। अतएव स्वाभावतः फारसी का संपर्क इतना पुराना और गहरा है कि हिंदी में उसके न केवल अर्थवाचक शब्द मिलते हैं, अपितु अनेक संबंध-वाचक शब्द—प्रत्यय, अव्यय आदि—भी मिलते हैं। सामान्य हिंदीभाषी को कभी कभी आभास भी नहीं होता कि ये विदेशी शब्द हैं। ऐसे आत्मसात् होने पर इन फारसी शब्दों और प्रत्ययों में हम निःशंक अन्य हिंदी शब्द और प्रत्यय लगाकर नव-शब्द-निर्माण (मिश्रित निर्माण--हाइब्रिड फारमेशन) करते हैं।

इतने दीर्घकालीन, बहुमुखी और गंभीर संपर्क के कारण हिंदीभाषियों में अभी कुछ दिन पूर्व तक बहुत काफी संख्या में फारसीदाँ मिलते थे। पश्चिमी उत्तर प्रदेश और दिल्ली के आसपास इन लोगों का उच्चारण प्रायः फारसी के मूल उच्चारण जैसा था (और कुछ मात्रा में अब भी है)। अब अंग्रेजी के अधिक संपर्क से और भाषात्मक एकता की प्रतीक संस्कृत भाषा के प्रति अधिक रुचि होने से ऐसे फारसीदाँ लोगों की संख्या कम होती जा रही है और हिंदी के अच्छे पढ़े लिखे भी फारसी की क्रमागत हिंदी या अंग्रेजी में न मिलनेवाली ध्वनियों को फारसीवत् नहीं बोलते हैं। किंतु सामान्य वक्ता सभी शब्दों को हिंदी ध्वनि-प्रक्रिया के अनुसार बोलता है, विशेषतः जहाँ आगत शब्द में फारसीपन स्पष्ट नहीं झलकता।

§ ६१० फारसी अरबी ध्वनिसमूह

प्रयत्न	स्थान	←—ध्वन्यात्म रूप—→ अरबी	फारसी	हिंदी	←—लिपि—→ देव-नागरी	फारसी	फारसी नाम	विशेष
स्पर्श								
स्पर्श संघर्षी	द्वयोष्ठ्य [p]	—	p	p	प	پ	पे	
	[b]	b	b	b	ब	ب	बे	
	दंत्य/दंत्यमूलीय [t̪]	t̪ (ت) }	t̪	t̪	त	ت	ते	
	[*t*]	*t* (ط)(.त) }						
	[d̪]	d̪ (د	d̪	d̪	द	د	दाल	
	[d]	d (ض) (..द)	(संघर्षी *z*)	—	—	—	—	
	तालव्य/कोमलतालव्य							
	स्पर्श [j]	j (ج)	(स्पर्श संघर्षी)	—	—	—	—	
	[k]	k	k	k	क	ک	काफ़	
	[j]	g (ج)	g (گ)	g	ग	گ	गाफ़	
	तालव्य स्पर्शसंघर्षी							
	[č]	—	č	č	च	چ	चे	
	[ǰ]	—	ǰ	ǰ	ज	ج	...	

	अलिजिह्वीय	[q]	q	(संघर्षी z)	p/k	क़/क	ق	क़ाफ़	(केवल अरबी से)
	काकल्य	[ʔ]	ʔ	—	—	—	أ	—	(हमज़ा अलिफ़)
नासिक्य	द्व्योष्ठ्य	[m]	m	m	m	म	م	मीम	
	दंत्य	[n]	n	n	n	न	ن	नून	
पार्श्विक	वर्त्स्य/तालव्य	[l]	l	l	(l)	ल	ل	लाम	
		[l]	l (ل) (ल़)	(l)	—	—	—	—	
		[dd]	dd (ض) (ब्ज़)	(संघर्षी z)	—	—	—	—	
लुंठित	वर्त्स्य	[r]	r	r	r	र	ر	रे	
संघर्षी	द्व्योष्ठ्य	[f]	*f*	*f*	*f*/ph	फ़/फ	ف	फ़े	
		[v]	—	v	v/w	व़/व	و	वाव	
	दंत्य/वर्त्स्य	[θ]	θ (ث) (थ़)	s	s	स	س	सीन	
		[s]	s (س)						
		[ṣ]	ṣ (ص) (स़)						
		[d]	d (ذ) (द़)	...(d) z	d. z/j	(द) ज़/ज	ز	ज़े	
		[z]	z (ز)						
		[ẓ]	ẓ (ظ) (ज़)						

	वर्त्स्य तालव्य	[ʃ]	ʃ	ʃ	ʃ	श	ش	शीन
		[ʒ]	ʒ (ج)	ʒ (ژ)	(ʒ/z)	झ़/ज़	ژ	झ़े
	कोमल तालव्य	[x]	x	x	x/kh	ख़/ख	خ	ख़े
		[∝]	∝	∝	∝/g	ग़/ग	غ	ग़ैन
	गलबिलीय	[ħ]	ħ (ح)(ह़)	(काकल्य ɦ)	—	—	—	—
		[ʔ]	ʔ (ع) (अ़)	—	—	—	—	—
अर्धस्वर	काकल्य	[ɥ]	µ	ɥ	ɥ	ह	[illegible]	हे
	ओष्ठ्य	[w]	w	w	w	व	[illegible]	वाव
	तालव्य	[j]	j	j	j	य	ى	ये

ऊपर दिए कोष्ठक से विदित होता है कि अधिकांश फारसी व्यंजनों का हिंदी व्यंजनों से मेल है। निम्नलिखित व्यंजनों का हिंदीभाषी दो प्रकार से उच्चारण करते हैं—पहला, शुद्ध फारसीवत्; दूसरा, सबसे अधिक मिलती क्रमागत हिंदी ध्वनि से। कौन सा उच्चारण कौन व्यक्ति करेगा, यह वक्ता की फारसी दीक्षा पर निर्भर है।

क़ [q] के लिये [क़] या [क]
फ़ [f] ...... [फ़]... [फ]
व़ [v] ...... [व़]... [व]
ज़ [z] ...... [ज़]... [ज]
झ़ [ž] ...... [झ़]... [झ]
ग़ [ɤ] ...... [ग़]... [ग][1]

एकाकी व्यंजन

§ १११

(१) अरबी ʿ का हिंदी में व्यवहार (ट्रीटमेंट)

आदि में या मध्य में इसका लोप हो जाता है और लोप हो जाने से संपर्क में आए दो समान स्वर दीर्घ हो जाते हैं। अंत में µ लुप्त होने के साथ पूर्व ह्रस्व 'अ' को दीर्घ 'आ' कर देता है, और यदि पूर्व में केवल व्यंजन है तो स्वयं दीर्घ 'आ' बन जाता है।

अरब	(µarab)	इनाम	(inµam)
आम	(µām)	जमात	(Jamaµat)
इज्जत	(µJzzat)	विदा	(widaµ)
ईद	(µid)	मुनाफा	(munāfaµ)
उर्फ़	(µurf)	जमा	(jam')

(२) फारसी *h* का हिंदी में व्यवहार

फारसी में ही अरबीµ, [λ] में परिवर्तित हो गया था। हिंदी में भी आदि में और स्वरमध्यवर्ती स्थिति में यह 'ह्' रहता है। अंत में फारसी शब्दों का 'हा-इ- मुख्तफी' अर्थात् अनुच्चरित 'ह' पूर्व 'अ' के साथ मिलकर 'आ' बन जाता है। सही (<सहीह्) में अंत्य 'ह' का लोप है।

[1] [ž] अरबी में ج से और फ़ारसी में ژ से द्योतित ध्वनिवाले अरबी फारसी शब्द हिंदी में विरल हैं। इसका उच्चारण [झ़] या [झ] होता है।

हफ्ता	दाना
हवा	हफ्ता
बहाल	
आहिस्ता	आहिस्ता

(३) अ/आ + ʔ का व्यवहार

इस संयोग में ʔ का व्यवहार विशेष द्रष्टव्य है :

(i) आदि में ā – के स्थान पर [आय्/आइ]—जैसे, आयंदा/आइंदा आयना/आइना।

(ii) मध्य में-āʔ i- के स्थान पर [आय्]- जैसे, कायम, लायक, नायब, फायदा।

(iii) अन्त में-āʔ ī में केवल ʔ का लोप—जैसे, कलई, मुद्दई।

(iv) अन्त में-aʔ ī में केवल ʔ का लोप—जैसे, कसाई, हलवाई।

(४) अंत्य न् फारसी के अंत्य न् के स्थान पर हिंदी में पिछला स्वर सानुनासिक हो जाता है; जैसे, खाँ, (xān) मियाँ (miyān)।

(५) सीमित परिवर्तन

(i) फारसी द् का द्विधा उच्चारण है, द या ज़ :

कागज (फ़ा काग़द्) खिदमत (फ़ा ख़िद्मत्)

(ii) क्रमागत ध्वनियों में प्राप्त प्रवृत्तियों का प्रभाव किसी किसी आगत शब्द में दिखलाई पड़ता है। जैसे,

(अ) सघोषीकरण	—नगद	(फ़ा॰ नक़्द्)
	तगादा	(फ़ा॰ तक़ादह्)
(आ) र > ल	—मलहम	(फ़ा॰ मर्हम)
	दीवाल	(फ़ा॰ दीवार)
(इ) द > ड	—डेगची	(फ़ा॰ देगची)
(ई व > ब	—ताबीज	
	बिदाई	(फ़ा॰ विदाई)
(उ स्वतः अनुनासिकता	—पेंच	(फ़ा॰ पेच)
	—हँसिया	(फ़ा—हसिया)

[1] कुछ स्थलों में यह अंतिम 'ह' ह्रस्वतर 'अ' के अंत्यागम से सुरक्षित रखा गया है : शाह, राह, निकाह, तह।

(iii, विविध :

फ़लीता (पलीता)	(फ़ा फ़तीलह्)
लहमा	(फ़ा० लम्हा)
मुचल्का	(फ़ा० मुकल्चह्)
तन्दूर	(फ़ा तन्नूर)
भिश्ती	(फ़ा बिहिश्ती)

§ ६१२ संयुक्त व्यंजन

संयुक्त व्यंजन अधिकतर संयुक्त व्यजनों के रूप में ही बोले जाते हैं। लिखने में निस्संदेह कुछ स्थलों पर उन्हें पृथक् पृथक् लिखते हैं, फिर भी उच्चारण में प्रथम व्यंजन स्वरहीन ही होता है, जैसे, सरदार/सर्दार [सर्-दार्], दूरबीन [दूर्-बीन], चपरासी [चप्-रासी] आदि।

संयुक्त व्यंजन निम्नलिखित स्थलों पर पृथक् पृथक् मिलते हैं :

(१) ह् के साथ का संयुक्त व्यंजन :

संयुक्त व्यंजन 'ह+अन्य व्यंजन' ह्रस्व अथवा ह्रस्वतर अ के मध्यागम से अनिवार्य रूप से पृथक् कर दिया जाता है जैसे,

ओहदा, मेहनत, शहनाई, मेहराब, दहशत, तोहफा, महल नहर, शहर, पहलवान, बहस, मुहर, सुबह, फतह, सुलह आदि।

(२) संयुक्त व्यंजन 'अन्य व्यंजन+या' :

यह संयुक्त व्यंजन अनिवार्य रूप से इ' के मध्यागम से पृथक् कर दिया जाता है; जैसे,

बखिया (Baxyah)	दुनिया (Dunyā)
तकिया (Takyah)	दरिया (Darjā)

टिप्पणी : इसी प्रकार 'ल्वा' ('वा' के पूर्व केवल 'ल' व्यंजन से ही बना संयुक्त प्रायः मिलता है) के बीच 'उ' के मध्यागम से संयुक्त व्यंजन पृथक् कर दिया जाता है जैसे, हलुवा (halwā)

(३) CəCC प्रकार के संयुक्त व्यंजन

हिंदी ने निजी ध्वनिप्रक्रिया के अनुसार ऐसी संरचना के संयुक्त व्यंजनों को पृथक् पृथक् कर दिया और उच्चारण [Cə/CəC̣] रखा, यद्यपि लिपि में CəCəCə लिखते हैं :

(xabr) खबर [xə/bər]
(sadr) सदर [sə/dər]
(tarf) तरफ [tə/rəf]
(taxt) तखत [tə/xət]
(hazm) हज़म [hə/zəm]
(vazn) वज़न [və/zən]
(kafn) कफ़न [kə/fən]
(sarm) शरम [sə/rəm]

(४) -य्य—(तय्यार), (सैयाद) आदि शब्दों में -yy- के स्थान में एक 'य' रह जाता है और क्षतिपूर्तिरूप पूर्वह्रस्वस्वर संयुक्त स्वर 'ऐ' रूप में बोला जाता है [təi/yar]] [səi/yəd]।

(५) अंतिम द्वित्व व्यंजन

यह प्रायः एक व्यंजन के रूप में मिलता है जैसे, ज़िद (zidd), खत (xatt)।

स्वर

§ ६१३ फारसी स्वरों में साधारणतया कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। उच्चारण निस्संदेह हिंदी के अपने स्थानों और विधियों से हुआ है। निम्नलिखित स्थलों पर परिवर्तन दिखाई पड़ा है :

(१) तीन या तीन से अधिक व्यंजनवाले शब्दों में प्रारंभिक अक्षर के फारसी, 'इ' 'उ' का ह्रस्व 'ऍ' 'ऑ' होता है।

मेहनत (Mihnat)
मेहतर (Mihtar)
मेहराब (Mihrab)
मेहरबानी (Mihrbāni)
शोहरत (Suhrat)
तोहफा (Tuhfah)
मोहर/मुहर (Muhr)

(२) फरसी संयुक्त स्वर 'अइ', 'अउ' हिंदी में क्रम से 'अऍ' 'अऑ' द्वारा 'ऐ' 'औ' बन गए हैं :

मैदान (Maidān)
मौसम (Mausim)

(३) सीमित परिवर्तन : गुणात्मक

(i) उ<अ पुलाव (Palāw)
हुज़ूर (Hazūr)
जुर्माना (Jarmānah)

(ii) अ<इ — साहब (Sahib)
सन्दूक (Sinduk)
मौसम (Mausim)
जंजीर (Jinzir)

(iii) विविध — इस्तीफा (Ista*μ*fa)
अफीम (Afyum)

(४) सीमित परिवर्तन : मात्रात्मक

(i) ई<इ — मीनार (Minar)
कीमत (Qimat)
तारीख ('Iarix)

(ii) इ<ई — सिवाय (Siway)

(iii) उ<ऊ — रुमाल (Rumal)
खुशी (Xusi.i)

(५) सीमित परिवर्तन : स्वरलोप

मामला — मु*μ*आमलह
माफिक — मुवाफिक
तैनात — त*μ*अय्युनात

अंग्रेजी से आगत शब्दों की ध्वनिप्रक्रिया

§ ६१४ हिंदी में विदेशी भाषाओं से आगत शब्दों में फारसी अरबी शब्द के बाद अंग्रेजी शब्दों का बाहुल्य है। अंग्रेजी राज्य की स्थापना से अंग्रेजी राज्यभाषा बनी और आधुनिक ज्ञान विज्ञान अंग्रेजी के माध्यम से भारतीयों को मिला। अंग्रेजी भाषा का ज्ञान भारतीय शिक्षित वर्ग के लिये इतना आवश्यक हो चुका है कि बिना अंग्रेजी पढ़े हुए शिक्षित व्यक्ति की कल्पना तक नहीं हो पाती है। फलस्वरूप हिंदी पर (तथा अन्य भारतीय भाषाओं पर) अंग्रेजी भाषा का अत्यंत गहरा और व्यापक प्रभाव पड़ा है।

व्यंजन

§ ६१५ अंग्रेजी के कुछ स्वनिम हिंदी के स्वनिमों से मेल खाते हैं, और कुछ स्वनिम हिंदी में नहीं मिल पाते। हिंदी से मेल खानेवाली ध्वनियाँ निम्नलिखित हैं :

p प b ब   k क g ग

č च ǰ ज

m म n न

l ल

r र

s स

j य   w व

इन अंग्रेजी ध्वनियों के स्थान पर संमुख दी हिंदी ध्वनियाँ प्रयुक्त होती हैं, किंतु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि स्पर्श स्थान या प्रयत्न बिल्कुल एक सा है। इन अंग्रेजी ध्वनियों के स्थान, प्रयत्न, और विधि में यथानुकूल परिवर्तन करके आगत शब्दों को बोला जाता है। यह उच्चारणात्मक (आर्टीक्युलेटरी) विभिन्नता उस सीमा तक सह्य है जहाँ तक श्रवणात्मक प्रभाव (आडीटरी इफेक्ट) में विभिन्नता नहीं आती है। उदाहरणार्थ हिंदी 'च' तालुचित्र के अनुसार अग्रतालव्य (प्री पैलेटल) है जबकि समकक्ष अंग्रेजी 'च' मध्य-तालव्य (मिड पैलेटल) है।

§ ६११ हिंदी और अंग्रेजी में असमान ध्वनि होने पर अंग्रेजी ध्वनि को हिंदी की क्रमागत ध्वनियों में निकटतम ध्वनि से उच्चरित किया जाता है। नीचे इन अंग्रेजी ध्वनियों का व्यवहार (ट्रीटमेंट) दिया जा रहा है :

संघर्षी ध्वनियाँ

हिंदी में केवल दो क्रमागत संघर्षी स' 'ह' हैं। संस्कृत से आगत ध्वनि 'श' है। अंग्रेजी में हिंदी से कहीं अधिक संख्या में संघर्षी हैं। उनके लिये निम्न लिखित प्रकार से हिंदी ध्वनियाँ हैं :

[f] अंग्रेजी पढ़े लिखे दंत्योष्ठ्य अघोष संघर्षी [f] का सामान्यतया शुद्ध उच्चारण [फ़] करते हैं। इसके उच्चारण में कोई विशेष दिक्कत भी नहीं होती, क्योंकि अंग्रेजी से पहले से ही यह ध्वनि फारसी के माध्यम से आ चुकी थी। कम पढ़े लिखे या असावधानी में पढ़े लिखे इसे द्वयोष्ठ्य महाप्राण स्पर्श [फ] से उच्चरित करते हैं. जैसे, फीस, आफिस, सेफ आदि।

[v] अंग्रेजी पढ़े लिखे भी हिंदी प्रदेश में इसे [w] बोलते हैं और देवनागरी में लिखने में भी 'व' से प्रदर्शित करते हैं। इस प्रकार हिंदी में अंग्रेजी /w/ और /v/ दोनों एक रूप हो गए हैं। बँगला और मराठी में [v] का उच्चारण [w] से भिन्न है, उसमें कुछ महाप्राण का आगम है और लिपि में

क्रमशः वह म और व्ह से व्यक्त किया जाता है। हिंदी के उदाहरण हैं, वोट, ड्राइवर।

[θ] [γ] : इनका हिंदी सामान्य उच्चारण क्रमशः दंत्य 'थ' और 'द' है। इस अंतर्दंत्य संघर्षी से नितांत अपरिचित होने के कारण पढ़े लिखे और बे-पढ़े-लिखे सभी इसका स्पर्श उच्चारण करते हैं; जैसे, थर्मामीटर, थर्ड, फ़ादर, मदर।

[z] अंग्रेजी पढ़े लिखे इस संघर्षी का सामान्यतया शुद्ध उच्चारण करते हैं। यह ध्वनि अंग्रेजी से पहले भी फारसी के आगत शब्दों में आ चुकी थी। बे-पढ़े-लिखे या असावधानी से पढ़े लिखे इसे [ज] बोलते हैं; जैसे, दर्जन, लेजर पेपर आदि।

[ʃ] यह वर्त्स्य-कठोरतालव्य संघर्षी संस्कृत से आगत और फारसी से आगत [श] ध्वनि से प्रायः अभिन्न है। इसके लिये लिपिचिह्न 'श' का प्रयोग होता है जैसे, पालिश, फैशन, शो।

[ʒ] अंग्रेजी में स्वयं इस ध्वनि का प्रयोग विरल और आगत शब्दों में था। हिंदी ने इसे [z] से मिलाकर [ज़] से उच्चरित और प्रदर्शित किया है। जैसे, गैरेज़ आदि।

[h] अंग्रेजी का यह संघर्षी अघोष है। हिंदी में इस स्थान और प्रयत्न पर सघोष संघर्षी [ɦ] का प्रयोग होता है। अतएव हिंदीभाषी इस अघोष के स्थान पर सघोष [ɦ] का प्रयोग करते हैं; जैसे, होटल, हैट आदि।

स्पर्शी ध्वनियाँ

[t] अंग्रेजी में यह वर्त्स्य जिह्वानोकीय स्पर्शध्वनि है। हिंदी में इसके स्थान पर [तt] और [ट] दोनों प्रकार के उच्चारण मिलते हैं; जैसे, तंबाकू, अस्पताल, कप्तान, केतली/केटली, स्ट्रीट, डाक्टर, कोट।

[d] ऊपर की भाँति इसका भी दो प्रकार से [d̪] [d] ([द]- [ड]) उच्चारण मिलता है, जैसे, दर्जन, गोदाम, डाक्टर, ड्राम, पाउडर।

नासिक्य

[ŋ] इस स्वनिम का अंग्रेजी में मध्य में और अंत में प्रयोग होता है। हिंदी में यह ध्वनि क्रमागत शब्दों की ध्वनि में नहीं है। संस्कृत से आगत शब्दों में संस्कृत में दीक्षित कुछ व्यक्ति सप्रयास उच्चारण कर सकते हैं। सामान्य हिंदी वक्ता इसका उच्चारण [न] से करता है, जो लिपि में पूर्वस्वर के ऊपर अनुस्वार चिह्न से प्रदर्शित होता है। अंत में [ŋ] अंग्रेजी में अनुच्चरित किंतु हिंदी में उच्चरित पर-वर्ती 'ग' के साथ बोला जाता है; जैसे, कांग्रेस, बैंक; पेंटिंग मीटिंग।

§ ६१७ विशेष

(१) अंग्रेजी ध्वनिमों के मुख्य संस्वनों को ही हिंदी में अपनाया या रूपांतरित किया गया है। अन्य किंतु गौण संस्वनों की उपेक्षा की गई है। उदाहरणार्थ, /l/ के दो संस्वन [l] [ɫ] थे, किंतु हिंदी में दोनों के लिये [ल] है। इसी प्रकार /p/ के संस्वन [p] [pʰ] थे किंतु हिंदी में दोनों के लिये [प] है। इसी प्रकार /r/ के संस्वन [ɹ] [ɾ] के स्थान पर [र] है।

(२) वर्तनी के प्रभाव से अंतिम 'r' और ing का अंतिम 'g', जो अंग्रेजी में अनुच्चरित है, हिंदी में उच्चरित होता है: जैसे, फादर, मदर, मीटिंग आदि।

(३) कुछ ऐसे सीमित परिवर्तन भी मिलते हैं, जिनमें क्रमागत ध्वनियों की प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं :

(i) सघोषीकरण—डिगरी (डिक्री) [अन्य शब्द डिग्री से भी प्रभावित हो सकता है]

—काग (कार्क)

(ii) व > ब —वास्कट (वेस्ट कोट)

(४) ग्रामीणों की बोली में कुछ अन्य ऐसी प्रवृत्तियाँ भी दिखाई पड़ती हैं, किंतु परिनिष्ठित हिंदी में उनका प्रचलन नहीं है;

जैसे, (i) समीकरण—कलट्टर (कलेक्टर)

(ii) विपर्यय —सिंगल (सिगनल) डिकस (डेस्क)

(iii) न > ल—लंबर (नंबर), लमलेट (लेमोनेड)

स्वर

§ ६१८ हिंदी ने अंग्रेजी स्वरों को उतने ध्वन्यात्मक रूप से नहीं अपनाया है, जितना लिपिचिह्नों (वर्तनी) के आधार पर। यही वर्तनी 'हिंदुस्तानी अंग्रेजी' के उच्चारण के मूल में है। व्यंजनों में बहुत कुछ अंग्रेजी उच्चारण का अनुसरण किया गया है, किंतु स्वरों में ऐसी बात नहीं है। अंग्रेजी का स्वरसमूह हिंदी से विशाल है। उसमें १२ मूल स्वर और ६ प्रचलित संयुक्त स्वर हैं। हिंदीभाषी अंग्रेजी सीख लेने पर भी इन सब २१ स्वरों का सही सही पृथक् पृथक् उच्चारण नहीं कर पाते। हिंदी में आगत शब्दों में उच्चारण बनाए रखने का प्रश्न ही नहीं उठता है, इन आगत शब्दों को सामान्य हिंदीभाषी बहुत कुछ वैसा ही बोलता है, जैसा अंग्रेजी भाषा बोलते समय। अतएव अंग्रेजी के 'ब्रिटिश उच्चारण' से आगत ध्वनियों की संगति स्थापित करना अनुचित है। इसी कारण इस भाँति का कोई

प्रयत्न नहीं किया गया है। 'हिंदुस्तानी उच्चारण' से इन आगत ध्वनियों का सीधा संबंध है, और हिंदी ने आगत ध्वनियों को अंग्रेजी के 'हिंदुस्तानी उच्चारण' से प्रायः अभिन्न रखा है।[1]

§ ६१९ विशेष

अनेक स्थल ऐसे हैं जहाँ ऊपर दी हुई ध्वनिसंगतियाँ आगत शब्दों पर घटित दिखलाई नहीं पड़तीं। स्थलों पर अंग्रेजी ध्वनि से हिंदी ध्वनि के संबंध के आधार पर सीमित ध्वनिपरिवर्तन संबंधी नियमों का स्थापन अनावश्यक है, क्योंकि जैसा पहले, § ११६ में, लिख आए हैं, आगत शब्दों को केवल अपनी ध्वनिप्रणाली में ही समन्वित करना नहीं होता है अपितु उससे भी बड़ी भाषा की इकाइयों और संरचनास्तरों पर उनका तालमेल बैठाना पड़ता है।

(१) सादृश्य : कर्नल के सादृश्य से जर्नल (जेनरल), इकन्नी, दुअन्नी के सादृश्य पर गिन्नी (गिनी) रसीद (रिसीट) (रसद के सादृश्य से)।

(२) निजी पदिमस्वानिमी (मार्फोफोनेमिक) : आफिस किंतु अफसर (देखिए § ११६ ग)

(३) निजी शब्दों की झलक आगत शब्दों में पाना : लालटेन (लैंटर्न), रंगरूट (रेक्रूट), लैमचूस (लाइमजूस), बिस्कुट (बिस्किट), कमान (कमांड) लाट साहब (लार्ड) आदि।

(४) निजी ध्वन्यात्मक प्रवृत्तियों के कारण (जो सभी स्रोतों के शब्दों में परिलक्षित हैं) :

(i) [इस्कूल], [इस्टेशन]

(ii) गिलास [ग्लास]

(iii) अंतिम ह्रस्व इ का ई करके बोलना : कमेटी (कमिटी)

संस्कृत से आगत शब्दों की ध्वनिप्रक्रिया[2]

§ ६२० संस्कृत भाषा हिंदी तथा अन्य सभी आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं का मूल स्रोत है। उसका भारतीय संस्कृति पर और तद्द्वारा प्रत्येक हिंदू भारतीय के जीवन पर अमिट प्रभाव है। भारत की सभी आधुनिक—आर्य एवं

[1] हिंदीभाषियों का अंग्रेजी का भारतीय उच्चारण कैसा है, यह पृथक् प्रश्न है और हिंदी भाषा के विवेचन में इसका कोई सीधा संबंध नहीं है।

[2] लिपि में सभी आगत संस्कृत शब्द मूल वर्तनी का अनुसरण करते हैं, उच्चारण अवश्य भिन्न होता है।

आर्येतर—भाषाएँ अपने नव - शब्द - निर्माण में सदैव सदैव शब्दों को निःशंक अपनाती रही हैं और अपना रही हैं। इस प्रकार संस्कृत का प्रत्येक संज्ञावाचक और विशेषणवाचक शब्द हिंदी में आ सकता है और उसी के साथ सभी संस्कृत ध्वनियाँ और ध्वनिक्रम भी हिंदी में आ सकते हैं।

किंतु संस्कृत के आगत शब्दों में भी वे ही सिद्धांत (§ ११६ में वर्णित) लागू होते रहे हैं जो फारसी और अंग्रेजी शब्दों में। हिंदीभाषी अपनी ओर से संस्कृत गृहीत शब्दों को संस्कृत के समान शुद्ध बोलने का प्रयास करता है और मन में यह समझता भी है कि वह शुद्ध बोल रहा है। किंतु अनजाने में वे सब परिवर्तन कर डालता है, जो ध्वनिस्तर पर प्रायः आगत शब्दों में होते हैं।

§ ६२१ संस्कृत व्यंजनों में अधिकांश (ङ, ञ, ण, श, ष, छोड़कर) हिंदी में क्रमागत शब्दों में पाए जाते हैं। किंतु इन सब का उच्चारण उस स्थान और प्रयत्न से नहीं होता है, जो प्राचीनकाल में संस्कृत का था। इन सभी व्यंजनों का स्थान और प्रयत्न हिंदी का निजी है, जो हिंदी ध्वनिविज्ञान (हिंदी फोनेटिक्स) के खंड में दिया जा चुका है। शुद्ध संस्कृत पढ़ने के चक्कर में कभी कभी आगत शब्दों में टवर्ग को संस्कृत टवर्ग के समान मूर्धन्य बोलने का प्रयास अलबत्ता लोग करते हैं, किंतु चवर्ग को कोई स्पर्श नहीं बोल पाता है और न कवर्ग को कंठ्य।

'श' का उच्चारण संस्कृत व्याकरणों में तालव्य संघर्षी निर्दिष्ट है, किंतु शेष व्यंजनों (ङ, ञ, ण, ष) का उच्चारण सामान्य हिंदीभाषी शुद्ध रूप में नहीं करता। प्रायः इनका उच्चारण क्रमशः [न] [न] [न] [श] है।

§ ६२२ स्वरों में भी गुणात्मक भेद है। ऋ का उच्चारण अब स्वरप्रधान न होकर व्यंजनप्रधान 'रि' हो गया है। 'ए', 'ओ', 'ऐ', 'औ' संस्कृत के समान संयुक्त स्वर 'अइ' 'अउ' 'आइ' 'आउ' अब उच्चरित नहीं होते। 'ए', 'ओ' तो मूल स्वर हो गए हैं। विसर्ग हिंदी में नहीं मिलता है। संस्कृत के आगत शब्दों में यदि उसे बोलना ही हो तो अंतिम स्वर में बलाघात न देकर दीर्घत्व दे देते हैं जिससे विसर्गपूर्व स्थित ह्रस्व स्वर दीर्घ सा, और दीर्घ स्वर दीर्घतर सा बन जाता है।

§ ६२३ संयुक्त व्यंजनों में 'ज्ञ' का विचित्र व्यवहार है। संस्कृत के ज्+न के स्थान पर यह [ग्यँ] हो गया है। संस्कृत पढ़े लिखे (विशेषतः आर्यसमाजी) इसका [ज्यँ] उच्चारण कर देते हैं।[1]

[1] मराठी में [द्यँ] उच्चारण होता है।

संयुक्त व्यंजनों को वैसा ही बनाए रखा जाता है क्योंकि संयुक्त व्यंजनों का वैविध्य ही प्रभाभा का वैशिष्ट्य है जो मभाभा और क्रमागत आभाभा में नहीं है। निस्संदेह संस्कृत से प्राचीन हिंदी में आगत शब्दों में संयुक्त व्यंजनों का सरलीकरण, विशेषतः स्वरभक्ति से, अवश्य हो गया था। किंतु इन 'धरम' 'भगत' आदि शब्दों का परिनिष्ठित हिंदी में प्रयोग बहुत विरल है।

ध्वनिप्रक्रिया के अनुसार आगत संस्कृत शब्दों में अंतिम ह्रस्व 'अ' हिंदी शब्दों के समान अनुच्चरित रहता है। अन्यत्र संस्कृत ध्वनिप्रक्रिया को बनाए रखने का सचेष्ट प्रयास रहता है।

फारसी और अंग्रेजी के अतिरिक्त फारसी के द्वारा तुर्की भाषा के और अंग्रेजी के द्वारा अन्य योरोपीय भाषाओं के कुछ शब्द भी हिंदी में आ गए हैं। इनकी संख्या कम है, और वे प्रायः सीधे संपर्क से नहीं आए हैं, अतएव उनपर विचार नहीं किया गया है।

आधुनिक हिंदीतर भारतीय आर्यभाषाओं से भी कुछ शब्द आए हैं। कलकत्ते और बंबई के निकट सबसे पहले बसे पुर्तगालियों, डच और फ्रांसीसियों की भाषाओं से भी कुछ शब्द हिंदी में बँगला, मराठी, गुजराती द्वारा आए हैं। ये अन्य भाषाओं के माध्यम से आए हैं, हिंदी प्रदेश कभी इनके सीधे संपर्क में नहीं आया है, अतएव इनपर भी विचार नहीं किया गया है।

द्राविड़ भाषाओं से आजकल कोई विशेष शब्द नहीं आ रहे हैं। पहले संस्कृत में पर्याप्त मात्रा में और प्राकृतों में भी प्रचुर मात्रा में इन भाषाओं से शब्द आए थे। हिंदी में ये क्रमागत रूप से संस्कृत और प्राकृतों से आए हैं, या संस्कृत शब्द मानकर लिए गए हैं। अतएव इनकी पृथक् प्रक्रिया नहीं दी गई है।

प्रत्यय

स्वदेशी प्रत्यय

§ ६२४ नीचे हिंदी के तद्भव प्रत्ययों पर अकारादि क्रम से विचार किया जाता है। यथासंभव इन प्रत्ययों के इतिहास पर प्रकाश डालने का भी प्रयास किया जाएगा।

अ

§ ६२५ इसके योग से निष्पन्न शब्द पुल्लिंग एवं स्त्रीलिंग, दोनों लिंगों में मिलते हैं और यह प्रा० भा० आ० भाषा के पुल्लिंग 'अः' (पु), स्त्रीलिंग 'आ'

एवं नपुंसक लिंग, 'अम्', तीनों का प्रतिरूप है। हिंदी में इसके योग से निष्पन्न शब्द पुल्लिंग एवं स्त्रीलिंग, दोनों, में पाए जाते हैं; यथा—

चकोर (सं० <चकोरः; पा० चकोरो, प्रा० चअोर); चाँद (<सं० चंद्रः > म० भा० आ० भा० चंद -); चँवर (<सं० चमरः > म० भा० आ० चमर -) बोल (< म० भा० आ० भा० बोल —(पु० लिं०)।

घर (< सं० गृहम् > म० भा० आ० भा० घरं , न० लिं०)
भात (सं० को० भक्तम् > म० भा० आ० भा० भत्त (न० लिं०)
चाक (< सं० चक्रम > म० भा० आ० भा० चक्क (न० लिं०)

जीभ (< सं० जिह्वा > म० भा० आ० भा० जिब्भा, जिब्भ); जाँघ (< सं० जङ्घा > म० भा० आ० भा० जंघा, जंघ -), बात (< सं० वार्ता > म० भा० आ० भा० वात्ता-वत्त) : दाढ़ (सं० दंष्ट्रा > म० भा० आ० भा० दाठा)। (स्त्री० लिं०)

हिंदी उच्चारण में पदांत 'अ' का लोप होने से इस प्रत्यय का बोलचाल में बोध नहीं होता है, परंतु लिखने में ये पद अकारांत ही लिखे जाते हैं।

'अ' प्रत्यय के योग से हिंदी में भाववाचक संज्ञाएँ भी बनती हैं, यथा— चाल, जाँच, समझ, पहुँच, आड़; इत्यादि।

भोजपुरी में भी यह प्रत्यय संस्कृत, पु० लिं० सु (:) स्त्री० लिं०—आ, तथा न० लिं०—अम् का प्रतिनिधि है—यथा-बात (वार्त्ता); बोल प्रा० बोल्ल) चाल (चाल:); समुझ (सम्बुध्य) समझ; इत्यादि।

§ ६२६ अक्कड़—इसकी उत्पत्ति प्रा० अक्क+ट > अक्कड > अक्कड़ है। इससे स्वभाववाची विशेषण शब्द बनते हैं; यथा; घुमक्कड़ (√घूमना); पियक्कड़ (√पीना); भुलक्कड़ (√भूलना; यह प्रत्यय भोजपुरी में भी मिलता है और इससे संज्ञापद बनते हैं। यथा—

बुझक्कड़ (√बूझ्—समझना), समझनेवाला; इत्यादि।

§ ६२७ अता (पु० लिं०),—अती (स्त्री० लिं०) <सं० अन्त। इसके योग से शतृ-अन्त शब्द बनते हैं; यथा—उड़ता (√उड़ना) पंछी; दौड़ता (<दौड़ना) घोड़ा; बहता पानी; चलता पुर्जा। चलती फिरती गाड़ी, लौटती डाक, हँसती गाती लड़की।

'—अती' प्रत्यय से भाववाचक संज्ञाएँ भी बनती हैं; यथा उठती (√उठना) : घटती (√घटना); बढ़ती (√बढ़ना); इत्यादि।

भोजपुरी तथा उत्तर भारत की सभी भाषाओं एवं बोलियों में 'अती' प्रत्यय प्रयुक्त होता है। यथा—

(भो० पु०) चलती—(√चल, चलना); प्रसिद्धि; उठती (√उठ, उठना); उन्नति; इत्यादि।

§ ६२८—अती—ती—हार्नले ने इस प्रत्यय की व्युत्पत्ति प्रा० भा० आ० भा० 'आसिका' (णिजन्त प्रत्यय—'आप्'+ति+स्वार्थे प्रत्यय 'क') से मानी है और चाटुर्ज्या इसका संबंध शतृ प्रत्यय 'अंत'+भाववाचक-'ई,-इ' से जोड़ते हैं। हार्नले की व्युत्पत्ति में वह विशेषणात्मक अर्थ नहीं दीखता जो इस प्रत्यय से निष्पन्न अन्य शब्दों में मिलता है और वह ध्वनिविकास की दृष्टि से भी अमान्य है। डा० चाटुर्ज्या का मत मानने में ऐसी कोई बाधा नहीं उपस्थित होती। यथा—चलती चक्की; बहती नाली; उठती उमर (√उठ<सं० उत् √ स्था): ढलती दोपहरी (√ढल्<प्रा० ढल (इ) <सं० ढल (ति); इत्यादि।

चाटुर्ज्या का विचार है कि इस प्रत्यय की उत्पत्ति में सं०-ति का प्रभाव रहा है।—ति प्रत्यय से निष्पन्न अनेक संस्कृत शब्द तत्सम अथवा अर्धतत्सम रूप में आ० भा० आ० भा० में वर्तमान थे; यथा : युक्ति ('जुगति' अ० त०); भक्ति (भगति अ० त०), मति, गति; इत्यादि। ऐसा प्रतीत होता है कि इन शब्दों के प्रभाव से इस प्रत्यय का प्रचलन हुआ होगा। अरबी फारसी से गृहीत —'अत्' प्रत्ययांत तथा ई प्रत्यययुक्त अनेक शब्दों ने भी इस प्रत्यय से निष्पन्न शब्दावली की संख्या बढ़ाई है; यथा —

वकालत् से वकालती;
अदालत् से अदालती; इत्यादि।

§ ६२६ अन्,—न् इस प्रत्यय की उत्पत्ति प्रा० भा आ० भा०—अन् से है और इससे साकार रूप (कांक्रीट फार्म) वाले भाववाचक क्रियामूलक विशेष्य पद (ऐब्स्ट्रैक्ट वर्बल नाउन बनते हैं; यथा—चलन्='रिवाज्' (√चल् (ना) < म० भा० आ० √चल्—<सं० √चल् , चर);

ऐंठन (√ऐंठ् (ना) <सं० आ √ वेष्ट्), जलन् (√जल् (ना) <म० भा० आ० √जल्—<सं० ज्वल्); अन्य आ० भा० आ० भा० में भी यह प्रत्यय मिलता है; यथा—बं० चलन्, भो० पु० चलन्, पं० जलन्, गुज० जलण्, मरा० जलण्। न के योग से कुछ भाववाचक संज्ञाएँ भी बनती हैं; यथा—लेन् देन् (√ले (ना) <प्रा० लहइ, पा० लभति <सं० लभते; संभवतः संस्कृत, ददाति >पा० देति, प्रा० देइ के सादृश्य पर √'लइ' >√ले—हो गया। इसी प्रकार खान् पान्; इत्यादि।

§ ६३०—अंत् इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत—अंत (शतृ) से है; परंतु हिंदी में, इसके अर्थ में, कुछ परिवर्तन आ गया है।

इसके उदाहरण अल्पसंख्यक हैं, यथा—

मन 'गढ़न्त', तोता 'रटन्त'; इत्यादि। यह तथा इसका स्त्री० लिं० रूप भो० पु० में भी मिलता है; यथा—चलन्ती; बढ़न्ती।

§ ६३१ - ना यह प्रत्यय—'अन्, - न' का विस्तार है और इसमें 'आ' के योग से शब्द निष्पन्न होते हैं। इसलिये अनेक शब्दों के दोनों प्रत्ययांत रूप मिलते हैं; यथा बिछावन् (अव०) –बिछौना (√बिछा (ना)—मिलाइए पालि 'विच्छादनन्'; 'छिपाना', सं० 'विच्छादयति' खोलता है, उघाड़ता है):

—अन् प्रत्यय के समान यह भी अन्य भा० आ० भा० में विद्यमान है; यथा—बं० ढाकना, भो० पु० ढकना, पं० टकणा, अस० 'बजना' बाजा।

§ ६३२-नी यह भी—अन्,—न् प्रत्यय का विस्तार है तथा इससे निष्पन्न शब्द वस्तु का लघु रूप प्रकट करते हैं। अतः इससे बननेवाले शब्द स्त्रीलिंग होते हैं; यथा—

ढकनी छोटा ढक्कन्'; छावनी (सं० छादनिका) ओढ़नी (ओढ़ने का छोटा या हल्का वस्त्र), मथनी या मथानी (सं० मन्थनिका); छलनी, सुमरनी सुमिरनी 'माला (√सुमिर् : ना) सं० √स्मर--);।

यह प्रत्यय भी प्रायः सभी आ० भा० आ० भाषाओं में प्रचलित है; यथा—

अस० साउनि 'छावनी'; बं० छावनी भो० पु०, छावनी; गुज०, पं० छावणी।

इस प्रत्यय के योग से कुछ भाववाचक संज्ञाएँ भी बनती हैं; यथा—

करनी, चाँदनी, इत्यादि।

§ ६३३ - आ इसकी उत्पत्ति प्रा० भा० आ० भा० 'आक' से निष्पन्न होती है। वैदिक 'युष्माकं' 'तुम्हारा', 'अस्माकं' 'हमारा' (इन शब्दों के अंग (बेस) 'युष्म' 'अस्म' हैं)। 'पावक' 'पवित्रकारी अग्नि', 'जल्पाक' 'बकवादी' 'भिक्षाक' 'भिखारी' इत्यादि शब्दों में यह प्रत्यय मिलता है।

इसका विकासक्रम यह है—

प्रा० भा० आ०—आक > म० भा० आ०-आअ > आ० भा० आ०-आ।

इस प्रत्यय का प्रयोग भिन्न भिन्न अर्थों में पाया जाता है—निश्चय, गुरुत्व, लघुत्व एवं संबंध के अतिरिक्त इसका स्वार्थे प्रयोग भी मिलता है, यथा—

निश्चय—बकरा (सं० बर्कर—';

गुरुत्व—ऊँचा (सं० उच्चैस्);

लकड़ा (छोटा-रूप 'लकड़ी', हंडा इत्यादि।

लघुत्व—नीचा (सं० नीचैस्);
संबंध—ठेला 'गाड़ी' (<ठेल् (ना));
मेला—(√मिल्ना -); तीता (सं० तिक्त -)
भड़-भूँजा (< भूँज्० (ना)),।
स्वार्थे—कौआ (<काउ (+ आ) <काओ <काको <सं० काक:);
पत्ता (<पत्त (+ आ) <स० पत्र-);
सुआ (सं० शुक—); कुँआ (सं० कूप -) ।

असमिया, बँगला, भोजपुरी आदि प्राच्य प्रदेश की आ० भा० आ० भाषाओं में यह प्रत्यय स्वार्थे अर्थ में प्रयुक्त होता है, यथा -

अस०—कणा 'काना', हरिणा 'हिरन्';

बँगला—पाता 'पत्ता', बाघा 'बाघ्', थाला 'थाली'; भो० पु०—चोषा 'चोर्' हर्ना 'हिरन्', बबुआ, फगुआ, इत्यादि ।

§ ६३६—आ इसके योग से कर्मवाच्य कृदंत, (पैसिव पार्टिसिपुल) तथा क्रियाजात विशेष्य पद बनते हैं। इसकी उत्पत्ति प्रा० भा० आ०—'त',—'इत'> म० भा० आ० भा०-'अ';-इअ+स्वार्थे—'आ' से निष्पन्न होती है। यह विकास-क्रम निम्नलिखित उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगा :

हिं० गया <म० भा० आ० भा० गअ+—'आ'<सं० गत:;

हिं० किया <किय्+ आ'<'किअ'+'आ' <सं० कृत: ।

अन्य उदाहरण—

कर्मवाच्य—कृदंत प्यासा (सं० पिपासित:), भूखा (सं० बुभुक्षित:) ।
क्रियाजात विशेष्य—झगड़ा (√झगड़्) (ना);
झटका—√झटक (ना); फेरा - √फेर् (ना ।

म० भा० आ०—'इआ' के—'इ'—का आ० भा० आ० भा० के विकास के साथ लोप हो गया। यह लोप की प्रक्रिया बँगला, असमिया बिहारी, पंजाबी, राजस्थानी इत्यादि में द्रष्टव्य है; यथा—

सं० चलित—, चालितक—> शौर० प्रा०
चलिद—, चलिदअ, (कर्ता का० ए० व०
चलिदो चलिदओ) > शौर० अप० चलिउ,
चलिअउ>ब्र० भा० चल्यु, चल्यउ, पु० हिं०
चल्या, पं० चलिआ, चालेआ > आ० हि०
चला, बुंदेली—कन्नौजी 'चलो' पं० चल्या ।

§ ६३७—आइ, आई इसके योग से संज्ञा एवं विशेषण पदों से भाववाचक संज्ञापद तथा क्रियाजात विशेष्यपद निष्पन्न होते हैं।

चाटुर्ज्या ने इसकी उत्पत्ति निम्नलिखित प्रकार से बताई है—

प्रा० भा० आ० भा० णिजंत—'आप्'+—'इका' > —आविआ,—आविअ,—आवीं > —आई,—आइ। बानीकांत काकती ने क्रियाजात विशेष्य पदों के लिये तो चाटुर्ज्या को समर्थित किया है, परंतु भाववाचक संज्ञापदवाले—'आई' (बँ०, असं०—आइ) की उत्पत्ति प्रा० भा० आ० भा०'—ताति'> म०भा० आ० भा०—'ताइ' > आ० भा० आ० भा०—आइ,—'आई' मानी है।

'ताति' प्रत्यय का व्यवहार केवल वैदिक भाषा में ही प्राप्त है, लौकिक संस्कृत में इसके उदाहरण अप्राप्य हैं। वैदिक उदाहरण निम्नलिखित है—

अरिष्टताति 'अक्षतता', ज्येष्ठताति 'ज्येष्ठता', देवताति 'देवत्व', वसुताति 'धनिकता', सर्वताति 'संपूर्णता', दक्षताति 'दक्षता', 'निपुणता' इत्यादि। इनसे प्रकट है कि वैदिक भाषा में 'ताति' प्रत्यय का प्रयोग संज्ञा अथवा विशेषण पदों से भाववाचक संज्ञापद बनाने में किया जाता था।

हिंदी में—'आई' प्रत्ययांत क्रियाजात विशेष्य पद; यथा—कमाई (√कमाना, प्रा० कम्मावइ <सं० कर्मापयति, कर्म+'आप्' (णिजंत));

भो० प्र० में भी यह प्रयुक्त होता है, यथा—

रजाई (राजत्व राजा); सचाई (साच, सत्य)

भाववाचक संज्ञापद—

मिठाई ('मीठा' से), भलाई (भला' से), बुराई ('बुरा' से) इत्यादि।

§ ६३८—आऊ—इस प्रत्यय से क्रियामूलक विशेषणपद निष्पन्न होते हैं जो योग्यता अथवा स्वभाव द्योतित करते हैं। इसकी व्युत्पत्ति प्रा० भा० आ० 'णिच्'—आप्—+उक (क्रियामूलक विशेषण प्रत्यय) से सिद्ध होती है। प्रा० भा० आ० भा० में इसके उदाहरण निम्नलिखित हैं किंतु हिंदी में बहुत कम शब्द मिलते हैं—

वादुक 'वाचाल', नाशुक 'नाशकारी', उपक्रामुक 'उन्नतिशील', वेदुक 'जाननेवाला', भावुक (√भू 'होना'), हारुक (√हृ 'हरण करना'), दंशुक (√दंश् काटना'), वर्षुक (√वृष् 'बरसना') हिंदी में आऊ के उदाहरण निम्नलिखित हैं—योग्यतार्थक—बिकाऊ (√बिक् ना; सं० वि० √क्री—'विक्रीयते' 'बेचा जाता है', प्रा० विक्केइ विक्कइ ('बेचता है'). (काम—चलाऊ (√चल् (ना), सं० √चल्), टिकाऊ (√टिक् (ना); परंतु जड़ाऊ ('जड़ा हुआ') गहना में यह प्रत्यय भूतकालिक कृदंत के योग में प्रयुक्त होता है।

स्वभाव या गुणवाची—'उड़ाऊ' 'फजूल खर्ची' (√उड़ा (ना), खाऊ (√खा (ना) ।

बँगला, नेपाली आदि कुछ आ० भा० आ० भाषाओं में इससे क्रियामूलक संज्ञापद भी बनते हैं यथा—बं० छाड़ाउ 'छुटकारा', घाबराउ 'घबराहट'; ने० 'अराउ' 'आदेश'।

भो० पु० में इस प्रत्यय की सहायता से धातु से संज्ञापद निष्पन्न होते हैं, यथा—

चलाऊ (सं० √चल्, चलने योग्य, जैसे कामचलाऊ में; बिकाऊ (सं० √बिक्री-) बिक्री योग्य; टिकाऊ (√टिक्, जो बहुत दिनों तक चले; दिखाऊ या देखाऊ (प्रा० √दिक्ख या √देक्ख; उड़ाऊ (प्रा० √उड्डुयन, रुपया पैसा उड़ाने या नष्ट करनेवाला।

उत्पत्ति

इस प्रत्यय की उत्पत्ति आप+उक से बने हुए क्रियामूलक विशेष्य से हुई है और इसका संबंध भी '—आई' से है।

§ ६३९—आक्,—आका गुणवाचक विशेषण पद सिद्ध करने में इन प्रत्ययों का उपयोग किया जाता है।

हार्नले महोदय ने इन प्रत्ययों की व्युत्पत्ति सं० 'आपक' से बताई है; यथा हिं० उड़ाका <उड्डाअक<मा० उड्डावक <सं० उड्डापक परंतु चाटुर्ज्या के अनुसार इसकी व्युत्पत्ति प्रा० अक्क या आक्क से सिद्ध होती है।

उदाहरण पैराक, तैराक—पैर् (ना), तैर् (ना), लड़ाका (√लड़ (ना) इत्यादि। चालाक (फा० से गृहीत) शब्द भी इसी समूह के अंतर्गत हैं।

अनुरागात्मक (ओनामेटोपोएटिक) शब्दों के भाववाचक रूप भी आका, प्रत्यय से निष्पन्न होते हैं; यथा—

सड़ाका ('सड़्-सड़् की आवाज), पटाका (पट्-पट् ध्वनि) धड़ाका ('धड़-धड़् की ध्वनि),

भो० पु० एवं मैथिली भाषाओं में भी इस प्रत्यय का प्रयोग होता है।

§ ६४०—'आटा' ध्वन्यात्मक शब्दों के भाववाचक रूप सिद्ध करने में इसका प्रयोग किया जाता है।

यथा—सन्नाटा ('सन')

§ ६४१ यह प्रत्यय—आरी <सं० कारी का ही अन्य रूप है और र् > ड् के कारण बना है।

उदाहरण—खिलाड़ी (√खेल (ना);

अनाड़ी (<प्रा० अराराअ—'मूर्ख'+आरी-ड़ी)।

प्रायः सभी आ० भा० आ० भाषाओं में इसका प्रयोग होता है। यथा—हिं० अनाड़ी, बँ० अनाड़ी, पं०, सिं० अनाड़ी, गुज० अनाड़ी (—र् > —ड्) मरा० अडाणी (वर्णव्यत्यय)

§ ६४२—आत इसका संबंध—'अत्व' या 'त्व' से है। यथा अहिवात पति के जीवित रहने की अवस्था।

§ ६४३—आन् प्रेरणार्थक क्रियाओं से क्रियामूलक विशेष्य पद बनाने में इसका उपयोग किया जाता है।

इसकी उत्पत्ति 'णिच्' (प्रेरणार्थक)+आपन,—आपनक > आवण,—आवणअ > —आणअ > —'आण' > —'आन्' है।

यथा—मिलान् (√मिलाना); उड़ान् (उड़ाना); उठान् (√उठाना, सं० उत्-स्था); लगान (√लगाना)।

यह प्रत्यय भोजपुरी में भी वर्तमान है। यथा—चलान् चलापन; रिवाज, फैशन; उठान् (उत्थापन) अभिवृद्धि; मिलान् (सं० √मिल) तुलना; उड़ान, उड़ाना < उड़ना (उड्डापन—)।

§ ६४४—आप- क्रियाजात विशेष्य पद सिद्ध करने में इसका प्रयोग किया जाता है; यथा—

मिलाप -/ √मिलना, सं० मिलति, प्रा० मिलइ; उहि० मिलाप, भो० पु० मिलाप् पं० मिलाप्, गुज० मेलाप्)

टर्नर महोदय ने इसकी व्युत्पत्ति प्रा० भा० आ० भा०—'त्व' > —'त्प' > 'त्प' > '(प)'+प से बताई है; परंतु सं० 'आत्मन्' शब्द से इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार सिद्ध की जा सकती है—आत्मन् > अप्प या आप्प > आप > आप्।

§ ६४५—आपा इसके योग से संज्ञा अथवा विशेषण पदों के भाववाचक रूप सिद्ध होते हैं; यथा—

पुजापा (पूजा), अपनापा ('अपना')। यह प्रत्यय आप् का विस्तृत रूप है।

§ ६४६—आर इससे कर्तृवाचक संज्ञापद सिद्ध किए जाते हैं; यथा—

सुनार—सोनार (< सुराण-आर; सोराण आर, < स्वर्णकार);

गँवार—(< ग्राम-कार); कुम्हार (कुंभ-कार); कहार (< स्कंध-कार); लोहार-लुहार (< लौहकार; गोहार; ज्योनार। चमार (> चम्म-आर > चर्मकार);

इसकी व्युत्पत्ति सं०—कार > म० भा० आ० भा०—आर > आ० भा०—आर्।

इस प्रत्यय से निष्पन्न शब्द सभी आ० भा० आ० भा० में मिलते हैं; यथा—

हि० चमार, अस० समार् 'चूने का काम करनेवाला', बँ० चामार्, उ० चमार 'टोकरी बनानेवाला', बिहा० चमार्'—पं० चमार् चमिआर; सिं० चमारु; गुज० चमार्; मरा० चाम्हार्; सिंहा० सोम्मारु।

भो० पु० में इस प्रत्यय के योग से कर्तृवाचक संज्ञाएँ बनती हैं, यथा—कोहार् (कुम्भकार) पियार (प्रियकार); छठिआर (षष्ठिकार)।

§ ६४७ आरा—इस प्रत्यय से भाववाचक संज्ञाएँ निष्पन्न होती हैं, यथा—निबटारा निपटारा (√निपटाना निवट्टना) < निर्वर्त कर।

मि० सं० निर्वर्तते लौटता है, संपन्न होता है, समाप्त होता है; पा० निब्बत्तेति 'संपन्न करता है'; पा० निब्बत्तेइ निब्बट्टेइ)।

इसकी उत्पत्ति सं० कार > म० भा० आ० भा० आर (+आ) से है।

§ ६४८ आर—इस प्रत्यय की उत्पत्ति सं० 'आगार' संग्रहालय, (खजाना) से है।

उदाहरण—भंभार् (सं० भण्डागार भंडार); कुठार कोठार् (सं० कोष्ठागार)।

यह प्रत्यय सभी आ० भा० आ० भाषाओं में है हि० भंडार, बं० भांडार्, उड़ि० भंडार्, गुज० भंडार, मरा० भांडार्।

असमिया में 'र्' के स्थान पर 'ल्' हो गया है—भंराल्'।

§ ६४९ आरी—इस प्रत्यय से भी कर्तृवाचक-संज्ञापद बनते हैं; यथा—भिखारी < भिक्ख—आरिअ < भिक्षा—कारिक टर्नर इसकी व्युत्पत्ति < प्रा० भिक्खायर—भिच्छुअर /—पा० भिक्ख चरिया < सं० भिक्षाचरः से बताते हैं। पुजारी (पूजा-कारिक); जुवारी (प्रा० जुआरिअ, सं० द्यूतकार—) इसकी उत्पत्ति सं०—कारिक > कारि—अ > आरिय > आरी है। प्रायः सभी आ० भा० आ० भाषाओं में इससे सिद्ध शब्द प्राप्त होते हैं, यथा –

हि० जुवारी, असमि० जुवारी, बं० जुवारि, उड़० जुआरि, भो० पु० जुआरी, पं० जुआरी सिं० जुआरी।

§ ६५० आरी—इससे व्यवसाय—सूचक शब्द बनते हैं। यथा—भंडारी (सं० भाण्डागारिक, पा० भण्डागारिको, प्रा० भंडागारिअ, कुठारी (सं० कोष्ठागारिक) कोठारी।

इसकी व्युत्पत्ति सं० आगारिक से है। प्रायः सभी आ० भा० आ० भाषाओं में यह प्रत्यय मिलता है, यथा—

हि० भंडारी, बं० भँड़ारी, उड़ि० भण्डारि, बिहा० भँड़ारी, पं० भंडारी, गुज० भंडारी, मरा० भांडारी।

असमिया—'भंरालि'।

§ ६५१ आल् या आर् इस प्रत्यय से गुणवाचक पद सिद्ध होते हैं, यथा—छिनाल्—छिनार् (< छिराण+आल, प्रा० छिराणा—, सं० को० छिन्ना—'वेश्या'; प्रा० छिराणाल—'व्यभिचारी' पु० लि०; छिराणा-लिआ, 'वेश्या')।

§ ६५२ —आल्,—आला इससे स्थानवाचक पद सिद्ध होते हैं; यथा—ससुराल (सं० श्वसुरालय) दिवाला; पनाला (पनारा) इत्यादि। इसकी उत्पत्ति सं० आलय 'घर' से है!

§ ६५३ आली इससे समूहवाची संज्ञापद निष्पन्न होते हैं; यथा—दीवाली (<सं० दीपावलि) इसकी उत्पत्ति सं० 'अवली' 'पंक्ति' शब्द से है।

§ ६५४ आलू इससे स्वभावसूचक विशेषणपद सिद्ध होते हैं, यथा-झगड़ालू (√झगड़ना); लाज-लजालू, डर—डरालू, इसका संबंध सं०—आलु प्रत्यय से है, जिससे श्रद्धालु, दयालु, ईर्ष्यालु, शयालु, स्वप्नालु क्रोधालु, इत्यादि शब्द निष्पन्न होते हैं।

§ ६५५ —आव्—आवा इससे भाववाचक संज्ञाएँ सिद्ध होती हैं; यथा-चढ़ाव् (√चढ़ना, प्रा० चडइ ; जमाव (√जमना); झुकाव (√झुकना); बचाव (√बचना ; लगाव (√लगना); घुमाव (√घूमना ; बहाव (√बहना); छिड़काव (√छिड़कना); '—आवा' इसका गुरुरूप है। उदाहरण—भुलावा (√भुलाना ; बुलावा √बुलाना ; पहिरावा (√पहिरना); बढ़ावा (√बढ़ाना सं० वधपिक>बड्ढावअ<बढ़ावा।

इस प्रत्यय की उत्पत्ति 'णिच्' (प्रेरणार्थक)—आप्+अ+क से निष्पन्न हुई है।

§ ६५६ आवट् इससे भाववाचक संज्ञापद बनते हैं—यथा, सजावट् (√सजना ; लिखावट् (√लिखना); रुकावट् (√रुकना; लगावट् (√लगना); मिलावट् √मिलना ; थकावट (√थकना); छिपावट (√छिपना); बनावट (√बनना); अमावट, महावट आदि।

इसकी उत्पत्ति सं० आप्+वृत्ति से है। हिंदी के प्रभाव से यह प्रत्यय भो० पु० आदि कुछ अन्य आ० भा० आ० भाषाओं में भी मिलता है। भो० पु० में सजावट्, लिखावट्, तरावट् आदि उदाहरण मिलते हैं।

§ ६५७ आवना इससे विशेषणपद सिद्ध होते हैं; यथा—सुहावना (√सुहाना; सं० √शोभ्- प्रा० √सोह); लुभावना (√लुभाना); डरावना (√डराना)। इसकी उत्पत्ति सं०—आप्+न्+आ (गुरु-रूप) से है। भो० पु० में डेरावन्, डर; चुमावन (√चुम्ब) (विवाह के समय का चुम्बनसंस्कार) आदि शब्द निष्पन्न होते हैं।

§ ६५८—आस् इस प्रत्यय द्वारा, क्रिया से भाववाचक संज्ञा बनती है; यथा - उँघास् (ऊँघना) प्यास (√पीना), रूँआस √रोना)। मिठास।

हगास् (√हगना); मुतास् (√मूतना)।

इसकी उत्पत्ति सं० आप्+वश से है।

§ ६५९ आहट्—इस प्रत्यय से क्रियामूलक विशेष्यपद (भाववाचक शब्द, सिद्ध होते हैं; यथा खनखनाहट् (< खनखनाना); गड़गड़ाहट (√गड़गड़ाना); गुर्राहट्, घबराहट् (√घबराहट्) (√घबराना); चिल्लाहट (√चिल्लाना); जगमगाहट (√जगमगाना); झनझनाहट (√झनझनाना); भनभनाहट (√भनभनाना); कड़ुवाहट, चिकनाहट इत्यादि।

इसकी उत्पत्ति टर्नर ने प्रा० भा० आ० भाषा धा > हा,—आहा + आवट् से अनुमान की है। हिंदी से यह प्रत्यय भो० पु० में 'आहटि' रूप में आया; यथा-'चिल्लाहटि', 'घबराहटि', 'खन्खनाहटि'; इत्यादि।

§ ६६० इन—आइन्—ये स्त्रीलिंग प्रत्यय हैं; यथा—

बरेठिन (बरेठा);
पंडिताइन (पंडित)।

§ ६६१ इया—इस प्रत्यय से कर्तृवाचक-संज्ञापद, गुणवाचक विशेषणपद, देशवासी वाचकपद, संज्ञाओं के लघुरूप तथा कुछ वस्त्रवाचकपद भी निष्पन्न होते हैं;

यथा—

कर्तृवाचक—धुनिया (√धुनना) जड़िया (√जड़ना)

गुणवाचक—विशेषण—बढ़िया (< प्रा० वड्ढिअ+ आ) पा० वड्ढितो < सं० वर्धितः; √बढ़ना, सं० वर्ध < म० भा० आ० भा० वद्ध—वड्ढ, घटिया (घटना, प्रा० घट्टइ)।

देशवासी-वाचक-कनौजिया ('कन्नौज' का); कलकतिया ('कलकत्ता' का)—भोजपुरिया ('भोजपुर' का); मथुरिया ('मथुरा' का); सखरिया ('सखार' का)।

लघु रूप—डिबिया (डिब्बा), लुटिया (लोटा), चुटिया (चोटी),-पुड़िया (पूड़ा), फुड़िया (फोड़ा)। खटिया (खाट); बिटिया (बेटी), इत्यादि।

वस्त्रवाचक—अँगिया (अंग), जाँघिया (जाँघ)। इस प्रत्यय की उत्पत्ति सं० इक < म० भा० आ० भा० इअ+आ से है।

लघु रूप बनानेवाले—इया < सं०—इका (स्त्रीलिंग, प्रत्यय) गुणवाचक विशेषणवाले शब्द इया √सं० इत—।

§ ६६२ उआ—इस प्रत्यय से अनेक संज्ञा एवं विशेषणपद सिद्ध होते हैं; यथा—

खरुआ (सं० √क्षारक-'क्षार' > 'खार' से), बँधुआ 'बँधा हुआ' (√बँधना);

मँडुआ (मण्डक) गेरुआ (गैरिक)' टहलुआ। यह प्रत्यय सं० उक > प्रा० उअ का दीर्घरूप है।

§ ६६३ ऊ—इस प्रत्यय से, क्रियाओं से, कर्तृवाचक संज्ञापद तथा करणवाचक, संज्ञा से विशेषण तथा प्यार के शब्द अथवा छोटी जातियों के नाम बनते हैं—क्रिया से—

कर्तृवाचक—खाऊ (√खाना, सं० √खाद्+उक);

रट्टू (√रटना), चालू (√चलना)। करणवाचक—झाड़ू (झाड़ना)।
संज्ञा से—

विशेषण—ढालू (ढाल), पेट्टू (पेट), बाजारू (बाजार)।

प्यार के शब्द-बच्चू (बच्चा), लल्लू (लल्ला)। छोटी जातियों के नाम कल्लू, झगड़ू आदि। इसकी उत्पत्ति सं०—उक > भा० आ० भा०—'उअ' से हुई है।

§ ६६४ ई—यह प्रत्यय आ० भा० आ० भाषा का सर्वाधिक प्रसिद्ध प्रत्यय है। इससे क्रियाओं से भाववाचक तथा करणवाचक संज्ञाएँ, संज्ञापदों से विशेषण, लघुतावाचक, व्यापारवाचक तथा भाववाचक संज्ञाएँ और संख्यावाचक विशेषणों से समुदायवाचक तथा भाववाचक संज्ञाएँ बनती हैं; यथा—
क्रियाओं से—

(१) भाववाचक—हँसी (√हँसना), बोली (√बोलना), धमकी (√धमकाना)—भरी (√भरना), घुड़की (√घुड़कना)।

(२) करणवाचक--रेती (√रेतना; चिमटी (√चिमटना); फाँसी (√फांसना)।
संज्ञापदों से--

(३) विशेषण - भारी (भार), ऊनी (ऊन), देशी (देश); गुलाबी (गुलाब), मारवाड़ी (मारवाड़), बंगाली (बंगाल)।

(४) लघुरूप--टोकरी (टोकरा), रस्सी (रस्सा), डोरी (डोरा)।

(५) व्यापारवाचक—तेली, माली, धोबी।

(६) भाववाचक—गृहस्थी, बुद्धिमानी, सावधानी, गरीबी, नेकी, खेती।

विशेषणों से—

(७) समुदायवाचक—बीसी (बीस), बत्तसी, पच्चीसी।

(८) भाववाचक—चोरी (चोर), डाक्टरी, दलाली, महाजनी।

इस प्रत्यय का संबंध सं० इक–इका से है; बाद में फारसी के विशेषणीय तथा संबंधवाची—ई प्रत्यय ने भी इसे संपुष्ट किया है। भो० पु० में यह प्रत्यय प्रयुक्त होता है; यथा—दामी, भारी, दागी, हिसाबी, तमोली। लघुतावाचक—कटारी, पोखरी, कियारी इत्यादि।

§ ६६५ ईला—इस प्रत्यय से विशेषणपद सिद्ध होते हैं; यथा—पथरीला (पत्थर); रंगीला (रंग); पहिला; फुर्तीला; रेतीला; सजीला; जोशीला; छबीला (छवि); लजीला; रसीला; खर्चीलो; ('खर्च अरबी); चमकीली (चमक)।

इसकी उत्पत्ति सं०—इल—>प्रा० इल्ल+(आ) से है।

सं० 'इल' से विशेषणपद निष्पन्न होते हैं; यथा ('फेन' से) फेनिल। म० भा० आ० भा० में इस प्रत्यय के भूतकालिक कृदंतीय विशेषण सिद्ध किए जाने लगे; यथा—अ० भा० आ० पुच्छिल्ल 'पूछा गया', प्रा० लोहिल्ल 'लुब्ध हुआ'।

रेतीला ('रेत', सं० को० रेमम् 'सुगन्धित चूर्ण')।

§ ६६६ एला—इसके योग से संज्ञा एवं विशेषणपद सिद्ध होते हैं; यथा—बघेला (बाघ); अधेला (आधा); अकेला (एक); सौतेला (सौत); मुरेला (मोर)। इसकी उत्पत्ति सं० स्वार्थे तथा विशेषणीय प्रत्यय इल > प्रा० इल्ल >—एल (+ आ) से है। भो० पु० में भी मथेला बघेला अकेला आदि प्रयोग होते हैं।

§ ६६७ ऐल – ऐला—इससे गुणवाचक विशेषण निष्पन्न होते हैं; यथा—

दंतैल (दाँत);	खपरैल (खपरा);	
दुधैल (दूध);	बनैला (बन)	तोदैल (तोंद)
घुमैल (घूम);	मुँछैला (मूँछ)।	

§ ६६८—एल इससे संज्ञा एवं विशेषणपद सिद्ध होते हैं; यथा—फुलेल (फूल); नकेल (नाक)।

इसकी उत्पत्ति सं०—इल > प्रा०—इल्ल >—एल है।

§ ६६९ एली इससे संज्ञा तथा विशेषणपद सिद्ध होते हैं, यथा—

हथेली (हाथ)

इसकी उत्पत्ति भी सं०—इल > प्रा०—इल्ल >—एल (+ई) से है।

§ ६७० एरा इससे कर्तृवाचक, व्यापारसूचक तथा भाववाचक संज्ञापद निष्पन्न होते हैं; यथा—

कर्तृवाचक—

लुटेरा (√लूटना, सं० √लुण्ठ > पा० √लुठ्—प्रा० √लुट्—लड्)।

ठठेरा (<ठट्ठकर+प्रा० ठटार); कमेरा (>सं० कर्म-कर—); चितेरा (<चित्रकर)।

भाववाचक—

बसेरा (सं० √वस > म० भा० आ० भा० √वस्)। इसकी उत्पत्ति सं० —अ—कर— > —अ—अर > —एर (+आ) से है।

§ ६७१—एरा इससे गुणवाचक विशेषणपद निष्पन्न होते हैं; यथा—घनेरा ('घना', सं० घनतर);

बहुतेरा ('बहुत' <प्रा० बहुत्त— <सं० बहुत्व);

अँधेरा (सं० अन्ध—तर—)।

इसकी उत्पत्ति सं०—अ—तर— > —अ—अर > —एर (+आ) से है।

§ ६७२ — एरा इससे संज्ञाओं के एवं संबंध सूचकरूप सिद्ध होते हैं; यथा—

संबंधसूचक—

ममेरा; (मामा का पुत्र; यथा 'ममेरा भाई');

ककेरा; (काका का पुत्र; यथा 'ककेरा भाई');

चचेरा; (चाचा का पुत्र; यथा 'चचेरा भाई');

फुफेरा; (फूफा का पुत्र; यथा 'फुफेरा भाई');

इसकी उत्पत्ति सं० कार्यक > केरअ—केर > एर -(+आ)।

यह प्रत्यय भोजपुरी में भी प्रयुक्त होता है; यथा—लुटेरा, लमेरा (बिना बोते बोए अपने आप उगनेवाली फसल) ठठेरा इत्यादि।

§ ६७३—क्,—अक्,—इक्,—उक् इस प्रत्यय से धातु से संज्ञापद बनते हैं; यथा, फाटक् (√फाड़ना, सं० स्फाटयति, प्रा० फड्डइ); अटक् (सं० आर्तक प्रा० अट्टक, मि० बं० आटक्); बैठक् (√बैठना < म० भा० आ० भा० √बइट्ठ < सं० उप-विष्ट—; सड़क्, झलक्, फूँक् (सं० फूत्कार); जाँचक (सं० याचक) धड़क्, धमक्, चमक्, चौक (< म० भा० आ० भा० चउक्क < सं० चतुष्क)।

भो० पु० में भी यह प्रत्यय प्रयुक्त होता है, यथा, टनक, टन् टन् आवाज (मि०, बं टनक्, टन, √टन, खींचना); झलक (झलक्क), प्रकाश; सड़क; फाटक, दरवाजा (√फाट्, फटना); अटक्, रुकावट (मि० बं० आटक्, आड़; बैठक (बइट्ठ < उपविष्ट); फूँक (मि० सं० फूत्कार); चिल्हिक, दर्द; चुक, चूक, सुरुक (मि० बं० सुड़ुक), जल्दी पी अथवा खा जाना।

म० भा० आ० भाषा में इस प्रत्यय का रूप—अक्क होगा; यथा, मलक्क; उवइट्ठक (हि० बैठक), इत्यादि।

शौ० अप० में खुडुक्कै (शल्यायते); घुडुक्कै (गर्जति) आदि रूप मिलते हैं। प्राकृत वैयाकरणों की प्रणाली पर विचार करने से यह बात प्रतीत होती है कि आ० भा० आ० के अक् तथा म० भा० आ० भाषा के अक्क का संबंध प्रा० भा० आ० भाषा के क्रियामूलक विशेषण (पार्टीशिपल)-अ (न्) त+कृत (<√कृ) से है यथा, हि० चमक् <म० भा० आ० चमक्क—चमक्कअ—चमक्किअ <सं० चमत्कृत।

इसी प्रकार चुक् (च्युत्—कृत); संस्कृत का अक्। प्राकृत तथा अपभ्रंश—अक्क का संबंध मागधी हडक्क=हृद+अ+क, हग्गे = अहक्के=अहकं < अहम् से स्पष्टतया प्रतीत होता है। (मि० लेडु (डु) क्क = लेष्टुक; णाअक्क = नायक आदि।

ब्लाख के अनुसार इसका संबंध संस्कृत विशेषण तथा स्वार्थे—क्वं से है। यथा—पारक्य <पर—(मि०, माणिक्य <मणि) पुनः ब्लाख ने द्रविड़ भाषाओं में अति प्रचलित—क्क ,—क—तथा—ग—प्रत्ययों की ओर भी हमारा ध्यान दिलाया है। वहाँ धातु से क्रियामूलक—विशेष्य (वरबल नॉउन) बनाने में भी प्रत्यय सहायक होते हैं। यथा—नङ, चलना > नड़क्के, नड़क्कुदल, चलना, √इरु, होना, इरुक्कै, होकर।

ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी उत्पत्ति कृत तथा √कृ के अन्य रूपों से हुई है। इस पर संस्कृत के—अक् प्रत्यय का भी प्रभाव प्रतीत होता है। यही अक् प्राकृत अक्क में परिणत हो गया है। यह संभव है कि म० भा० आ० काल में द्रविण भाषाओं के—क,—ग, —क, प्रत्यय उत्तरी भारत में प्रचलित हों और इसका प्रभाव प्राकृत के—अक्क प्रत्यय पर पड़ा हो।

—अक् का—इक्,—उक्, में परिवर्तन स्वरसंगति (वावेल हारमोनी) के कारण हुआ है। (यह अ > इ तथा उ। —क् अथवा - अक् का—अका या—का के रूप में विस्तार मिलता है। यह विशेषणीय तथा स्वार्थे प्रत्यय है; यथा, फट्का 'रूई धुनने का औजार'; भप्का 'अर्क खींचने का यंत्र' ('भाप' से); धच्का गाड़ी के चलने से धक्का'; छिल्का (√छीलना)।

—अकी (= अक्+ई) से संज्ञाओं के लघुतावाचक रूप बनते हैं; यथा बैठकी (बैठक); खिड़की; फिर्की; डुब्की।

—अक् का दीर्घरूप आक् निम्न शब्दों में मिलता है—तड़ाक् फड़ाक, सटाक् इत्यादि।

—क् प्रत्यय तथा इसके विविध विस्तार सभी आ० भा० आ० भाषाओं में प्रचुर संख्या में मिलते हैं; यथा,

हि० चमक्, असं० समक्, बं० चमक्, उड़ि० चमक, भो० पु० चमक्, पं० चमक्, सिं० चमक, गु० चमक्, मरा० चमक्।

§ ६७४ जा,—जी—इस प्रत्यय के योग से कुछ संबंधवाचक पद सिद्ध होते हैं; यथा,

भानजा—(सं० भागिनेय, पा० भागिनेय्य प्रा० भाइणेअ—खाइणेज्ज—भाइणिज्ज—);

भानजी—(सं० भागिनेया);

भतीजा—(सं० भ्रातृयः, प्रा० भत्तिज्ज);

भतीजी – (सं० भ्रातृया);

इस प्रत्यय की उत्पत्ति संस्कृत 'जात' से है।

§ ६७५ जा—इससे कुछ संज्ञापद निष्पन्न होते हैं; यथा,

खाजा—(<प्रा० खज्जय—<सं० खाद्य—)।

इसकी उत्पत्ति सं०—य > अ (+ आ)

§ ६७६ ट्—आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में इस प्रत्यय का बहुविधि विस्तार मिलता है। यह किसी प्रकार के सादृश्य, संबंध अथवा प्रकृत-शब्द में विकार का बोध कराता है तथा व्यवसाय या स्वभाव का भी अर्थ प्रकट करता है, परंतु प्रायः यह प्रत्यय स्वार्थरूप में प्रयुक्त होता है।

इसकी व्युत्पत्ति प्रा० भा० आ० भा० वर्त (√वृत्) > म० भा० आ० भा० वट्ट से मानी गई है। इसके विस्तारों पर नीचे विचार किया जा रहा है।

—ट् (ट्) < म० भा० आ० भा० वट्ट < सं० वर्त।

इसके योग से भाववाचक अथवा सरूप—वस्तुबोधक (कंक्रीट) संज्ञाएँ बनती हैं. यथा—झपट् (सं० झम्प्); प्रा० √झप्प्; दपट्; लपट् 'डाँट—डपट्' में (बं० दापट); लपट्; उचाट्।

—टा (= — ट् + आ)—इसके योग से संज्ञा एवं विशेषणपद सिद्ध होते हैं; यथा—झपटा (√झपट्ना); चिम्टा, चिप्टा = चप्टा + (√चिप्, दबाना, फैलाना, म० भा० आ० भा० निविद्‌अ सं० चिपिटक।

— टी (= — ट + ई (स्त्रीलिंग प्रत्यय)—यथा चिम्टी, चिप्टी-चप्टी।

— ट्—कुछ शब्दों में यह प्रत्यय सं० 'पट्ट' शब्द का प्रतिरूप है; यथा—लँगोट् (सं० लिंग, लंग पट्ट)।

— टी (= – ट + ई (स्त्री प्रत्यय—यह ऊपर के प्रत्यय का लघुतावाचक रूप है; यथा लँगोटी (सं० लंग + पट्टिका)

§ ६७७ ड़—ड़ी—यह प्रत्यय आ० भा० आ० भाषाओं में स्वभाव, व्यापार तथा संबंध प्रकट करता है; यथा—

खिलवाड़ ('खेल'), गँजेड़—भँगेड़, भँगेड़ी, गँजेड़ी इत्यादि।

—ड़ की उत्पत्ति सं० √वृत् से प्रतीत होती है। 'वृत्ता' शब्द ऋग्वेद में मिलता है और यह कार्य, परिश्रम तथा गति का बोधक है। प्राकृत में इससे वट > वड्ड > वड़ शब्द बनते हैं। सं०—इक > ई के विस्तार से—ड़ी (— ड़ + ई) प्रत्यय बनेगा; यथा—

अगाड़ी (< सं० अग्र वाट); पिछाड़ी, इत्यादि।

§ ६७८ ड़ा—संस्कृत तथा प्राकृत—'वाट'। 'बाड़ा' घेरा से इसकी उत्पत्ति सिद्ध हुई है। यह वट < सं० वृत (√वृ) से आया है, यथा—

अखाड़ा (सं० अक्ष-वाट, म० भा० आ० अक्खवाड़ > अक्खाड़)।

§ ६७९ ड़—ड़ा—ड़ी—यह स्वार्थे प्रत्यय है। इसकी उत्पत्ति प्राकृत—ड— से हुई है। म० भा० आ० भाषाओं में इसके प्रयोग की अधिकता दिखाई देती है; यथा—

वच्छ—ड़ (सं० वत्स), दिअह—डा (सं० दिवस), गोर—डी (सं० गौरी, हिं० गोरी)।

हेमचंद्र के उदाहरणों में इस प्रत्यय का प्रचुर प्रयोग मिलता है; यथा—

'जे महुँ दिगणा दिअहड़ा' (जो मुझको दिए दिन),

'हिअइ खुडुक्कइ गोरडी' (हिए में खुटकती है, गोरी)।

इसी प्रकार दुक्ख-डा (हिं० दुखड़ा) इत्यादि है। ऐसा प्रतीत होता है कि म० भा० आ० भाषाकाल में यह प्रत्यय उत्तरी भारत में बहुत प्रचलित था। आ० भा० आ० भाषाओं में—ड की उत्पत्ति प्रा० भा० आ० भा० अथवा प्राकृत—ट (या 'र्' 'ऋ' से संपृक्त अथवा असंपृक्त—त्) से हुई है।—ट प्रत्यय से बने अनेक शब्द संस्कृत में प्राप्त हैं किंतु ये प्रायः बाद की संस्कृत के हैं। हाँ, 'मर्कट' शब्द अवश्य बौद्धयुग के पूर्व का है (भाषाविज्ञानी इसकी उत्पत्ति द्रविड़ भाषा से मानते हैं)। इसी प्रकार 'पर्क टी', 'कुक्कुट', 'लकुट' आदि शब्द भी संस्कृत भाषा में विद्यमान हैं। वैदिक भाषा में—ट प्रत्यय का अभाव है। अनार्य भाषाओं (द्रविड़, कोल आदि) का भी इसपर प्रभाव नहीं लक्षित होता, क्योंकि वहाँ भी यह प्रत्यय नहीं है। ऐसी अवस्था में इस अत्यधिक प्रचलित प्रत्यय की उत्पत्ति संस्कृत से ही माननी होगी।

ऐसा प्रतीत होता है कि इस—ड < ट की उत्पत्ति सं०—त से हुई है। —त कर्मवाच्य कृदंतीय प्रत्यय है जो तद्धित प्रत्यय के रूप में, संज्ञा तथा विशेषण

पदों, में लगता है; यथा —'एक—त', 'द्वि—त', 'त्रि—त', 'मुहू—र्त', 'रज—त', 'पर्व-त' इत्यादि। स्वतः मूर्धन्यीकरण (स्पानटेनियस सेरीब्रलाइजेशन) के वश संभवतः बोलचाल की भाषा में यह—त—ट में परिणत हो गया होगा। इस प्रकार सं० बिभतिक > बिभी—ट—क < प्रा० बहेड्अ > आ० भा० आ० भाषा बहेड़ा; सं० आम्रा—त—क > आम्रा ट—क > प्रा० अम्बाडअ > आ० भा० आ० भा० आम्रड़ा; 'शृंगातक' > सं० प्रा० शृंगा-टक > सिंघाड़ा।

ऐसा जान पड़ता है कि कथ्य आर्यभाषा में—त > —ट > —ड प्रत्यय सदैव लोकप्रिय रहे और समय की प्रगति से जब संस्कृत प्रत्ययों में ध्वन्यात्मक परिवर्तन होने लगे तब आगे चलकर ड-प्रत्यय बहुत प्रचलित हो गया। प्राकृत तथा अपभ्रंश काल में ड—को —ट में परिणत कर संस्कृत रूप देना भी इस प्रत्यय की लोकप्रियता का परिचायक है।

हिंदी में—ड़—ड़ा, ड़ी के उदाहरण—'अंधड़', 'आँधी', चमड़ा (सं० चर्म —) झगड़ा, मुखड़ा (मुख)।

दुःखड़ा (दुःख), बछड़ा (वत्स), टुकड़ा (टूक), लँगड़ा, चिउड़ा (सं० चिपिटक < प्रा० चिविडअ कूटा हुआ; फैला हुआ'); पँखड़ी (पँख), टँगड़ी (टाँग), अँतड़ी (आँत)।

§ ६८० ता—इससे भाववाचक संज्ञाएँ निष्पन्न होती हैं; यथा ममता (सं० ममत्व); समता; आदि।

इसकी उत्पत्ति सं० —त्व से है।

§ ६८१ त—इस प्रत्यय से भाववाचक-संज्ञा-पद बनते हैं, यथा—चाहत (चाह), रंगत (रंग), मिलत (मेल), हजामत (हज्जाम), इत्यादि।

इसकी उत्पत्ति सं० त्व > म० भा० आ० भा०—त्त से हुई है। बाद में अरबी फारसी प्रत्यय -त ने भी इसको पुष्ट किया।

§ ६८२ ता—इससे संज्ञा शब्द में विकार का बोध होता है; यथा—
रायता ('राई का बना' सं० राजिक [—अंत])।
इसकी उत्पत्ति सं०—अंत से हुई है।

§ ६८३ ती—ता—इसके योग से धातुओं के वर्तमान कालिक कृदंत रूप बनते हैं; यथा देखता-देखती (√देखना), बढ़ता-बढ़ती (√बढ़ना, घटता-घटती (√घटना जाता-जाती (√जाना, चुकता-चुकती (√चुकना, भरता-भरती (√भरना, चढ़ता-चढ़ती (√चढ़ना-ता)

उत्पत्ति सं०-अत् से है तथा-ती इसका स्त्री-लिंग का रूप है—
अत्+ई)।

§ ६८४ था,—थी यह प्रत्यय संख्यावाचक 'चार' के साथ क्रमवाचक अर्थ प्रकट करता है; यथा—'चौथा (सं० चतुर्थ –> म० भा आ० चउत्थ)। इसकी उत्पत्ति सं०—थ (आ) से है।—यही संस्कृत प्रत्यय 'षष्' (हिं० छै०) के साथ लगने पर ठ हो जाता है और हिंदी में इसका विस्तार कर 'ठा' बना लिया जाता है, यथा—छठा (सं० षष्ठ–> म० भा० आ० छट्ठ।—थी,–ठी, इस प्रत्यय के स्त्रीलिंग रूप हैं, चौथी, छठी।

§ ६८५ —नी,—इनी,—अन् ये स्त्रीलिंग प्रत्यय हैं और सभी आ० भा० आ० भाषाओं में मिलते हैं। इनकी उत्पत्ति के संबंध में चाटुर्ज्या ने वं० लै० § ४५५ में पूर्णतया विचार किया है। देखने में ऐसा प्रतीत होता है कि ये संस्कृत –नी तथा–आनी प्रत्ययों के अवशिष्ट हैं; किन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है। व्यावहारिक रूप में नी—आनी प्रत्ययों से निष्पन्न कोई भी शब्द आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में नहीं आए हैं। सं० सपत्नी शब्द हिंदी आदि आ० भा० आ० भाषाओं में 'सौत' बन गया है। इसी प्रकार ध्वनिपरिवर्तन के कारण प्रा० भा० आ० भा० के ये स्त्री-प्रत्यय आ० भा० आ० भाषाओं में अनुभव नहीं होते। वास्तव में संस्कृत का गुणवाची प्रत्यय-इन, जिसका स्त्रीलिंग कर्ताकारक एकवचन का रूप 'इनी' हो जाता है, आ० भा० आ० भाषाओं में अनेक स्त्रीलिंग-प्रत्ययों का मूल है। आगे चलकर लोग इस बात को भूल गए कि यह स्त्रीलिंग प्रत्यय है और पुंलिंग संज्ञा पदों के साथ भी इसका प्रयोग आरंभ हुआ। जब यह अकारांत पुलिङ्ग-संज्ञापदों के साथ प्रयुक्त होने लगा तब-इ-का लोप हो गया और वह-अ-नी में परिवर्तित हो गया।

इस प्रकार आ० भा० आ० भाषाओं में—इनी,—अनी इत्यादि प्रत्ययों का आगम हुआ, किंतु इनका प्रयोग 'ई' की अपेक्षा कम हुआ है।

नी—भाववाचक—

करना—करनी, भरना—भरनी, कटना—कटनी, बोना—बोनी।

कर्मवाचक—चटनी, सुँघनी, कहानी।

करणवाचक—धौंकनी, ओढ़नी, कतरनी, छननी, कुरेदनी, लेखनी, ढकनी, सुमरनी।

विशेषण—

कहनी (कहने के योग्य), सुननी (सुनने के योग्य) आदि।

§ ६८६—पन् इसके योग से अवस्थासूचक भाववाचक संज्ञाएँ निष्पन्न होती हैं, यथा—बचपन् (बच्चा), पागलपन् ('पागल'); बड़प्पन् ('बड़ा'); छुटपन् ('छोटा'); कालापन् ('काला'); लड़कपन ('लड़का'); इत्यादि।

इस प्रत्यय की उत्पत्ति प्रा० भा० आ० भाषा—त्वन से है।—त्वन प्रत्यय से निष्पन्न शब्द, वैदिक भाषा में और मुख्यतः ऋग्वेदसंहिता में मिलते हैं तथा भाववाचक नपुंसकलिङ्ग हैं; यथा—मर्त्यत्वन् (मर्त्यत्व); महित्वन् (महत्व) सखित्वन् (मित्रत्व;) इत्यादि।—त्वन् से बने शब्दों के—त्व प्रत्यययुक्त रूप भी मिलते हैं। अतः—त्व एवं—त्वन् समान प्रत्यय थे। म० भा० आ० भाषाकाल में त्व > प्प से आ० भा० आ० भाषा का—पन् प्रत्यय अस्तित्व में आया है। म० भा० आ० भाषा काल के प्रथम वर्ष में त्व > —प्प दक्षिण-पश्चिम-प्रदेश में प्रारंभ हुआ और वहाँ से यह प्रवृत्ति सर्वत्र फैली।

§ ६८७—पा—इस प्रत्यय से भी अवस्थासूचक भाववाचक संज्ञाएँ बनती हैं;। यथा बुढ़ापा (म० भा० आ० भा० बुड्ढप्प < सं० वृद्धत्व);

मुटापा—(मोटापन), अपनापा (अपनापन), इत्यादि। इस प्रत्यय की उत्पत्ति भी प्रा० भा० आ० भा० त्व > म० भा० आ० भा० 'प्प' से है।

§ ६८८ री,—रू—आ० भा० आ० भा० में य—प्रत्यय स्वार्थे रूप में प्रयुक्त होते हैं। पूर्वी भाषाओं में—रु के प्रचुर उदाहरण मिलते हैं. अन्यत्र-री के; यथा—कोठरी; कोठा < म० भा० आ कोट्ठ < सं० कोष्ठ); गठरी (गाँठ); छतरी (छाता), बाँसुरी (बाँस), मोटरी-(मोट), इत्यादि।

गोरू (गो-रूप), गभरू (सं० गर्भ-रूप), इत्यादि। इनकी उत्पत्ति सं० रूप शब्द से मानी गई है।

§ ६८९—ल,—ली—'ला' प्रत्यय से गुणवाचक विशेषण पद बनते हैं, यथा—अगला < अप० अग्गलउ < सं० अग्र-ल); मंझला (मांझ' < म० भा० आ० मज्झ < सं० मध्य+ल (—आ); धुँधला ('धुँध' < सं० धूम+अन्ध), इत्यादि। आगे—अगला, लाड़—लाड़ला, पीछे—पिछला, बाव—बावला।

'ला' प्रत्यय संस्कृत के विशेषण प्रत्यय ('ल', का विस्तार है। ली—ल+स्त्री प्रत्यय 'ई'—इससे कुछ शब्दों के लघुरूप बनते हैं; यथा—खुजली, ('खाज' से); टिकली (टीका' से); डफली (डफ, से), सुपली (सूप से); घंटाली ('घंटा' से), इत्यादि।

§ ६९०—ल—इस प्रत्यय से कुछ संज्ञा एवं विशेषण पद निष्पन्न होते हैं; यथा—

घायल ('घाव'-युक्त); पायल ('पाँव' का आभूषण) इसका संबंध सं०—ल प्रत्यय से है।

§ ६९१—वाँ—इस प्रत्यय से कुछ विशेषण पद सिद्ध होते हैं; यथा—कटवाँ (√काटना), चुनवाँ (√चुनना), ढलवाँ (√ढालना)।

इसका संबंध सं०—व (न् त प्रत्यय से विदित होता है ।

§ ६६२ —वाँ—इस प्रत्यय से क्रमवाची संख्याएँ बनती हैं, यथा—पाँचवाँ (पाँच् < सं० पञ्च+ म-]), छठवाँ ('छै < सं० षट्); सातवाँ (सात् < सप्त—[मा], आठवाँ ('आट्' < अट्ठ < अष्ट-[म]) ।

इसकी व्युत्पत्ति सं० म > म० भा० आ०—वँ > -वँ+आ है ।

§ ६६३—वाल्—यह प्रत्यय कुछ जातिबोधक शब्दों में प्राप्त होता है, जिनका नामकरण किसी नाम के स्थान पर हुआ है; यथा—

प्रयागवाल्, गयावाल्, काशीवाल्, पल्लीवाल् (पालीवाल्), ।

इसकी उत्पत्ति सं० 'पाल' (रक्षक) शब्द से सिद्ध होती है । कोतवाल (= कोट्ट-पाल) शब्द भी इसी प्रकार का जान पड़ता है, परंतु यह भारतीय भाषाओं में फारसी से आया हुआ प्रतीत होता है ।

§ ६६४—वाला इस प्रत्यय से कुछ संज्ञा पद निष्पन्न होते हैं; यथा—धनवाला, टोपीवाला, गाड़ीवाला, छातावाला, कामवाला, हाथीवाला, पहरावाला, पालकीवाला, इत्यादि ।

इसकी उत्पत्ति सं० पालक से हुई है । भो० पु० में भी यह प्रत्यय इसी स्वरूप में वर्तमान है; यथा - घोड़ेवाला हाथीवाला ।

§ ६६५ —स् यह समानता तथा सरूपता द्योतित करता है । हार्नले ने इसकी उत्पत्ति 'सदृश' शब्द से बताई है (गौडियन ग्रामर § २६२), किंतु चाटुर्ज्या ने इसकी व्युत्पत्ति 'श' से मानी है जो प्रा० भा० आ० लोम-श ('लोम'—युक्त) कपि-श ('कपि' सदृश वर्णवाला), युव-श ('युवक'-सदृश) आदि शब्दों में वर्तमान है (बै० लै० § ४५०) हिंदी में इसके निम्नलिखित उदाहरण हैं, यथा—

आपस् (सं० आत्म-श); घमस् (घर्म-श); उमस् (उष्म-श) ।

क्रमवाचक प्रयोग—ग्यारह-ग्यारस, बारह-बारस, तेरस, चौदस इत्यादि ।

भो० पु० में भी यह प्रत्यय प्रयुक्त होता है, यथा—भापस, आपस, घामस इत्यादि ।

§ ६६६ – सर - सरा इससे कुछ संख्याओं के क्रमवाचक रूप बनते हैं; यथा—दूसरा ('दो'), तीसरा ('तीन') ।

हार्नले ने इसकी उत्पत्ति भूतकालिक कर्मवाच्य कृदंतीय 'सृतः' से की है (गौ० ग्रा० § ३७१) किंतु डा० चाटुर्ज्या के अनुसार इसकी उत्पत्ति सं० सर < √सृ 'रेंगना' से हुई है ।

भो० पु० में इसका प्रयोग होता है, यथा—एक-सर, दो-सर, ति-सर इत्यादि।

§ ६६७ —सा यह प्रकारवाचक प्रत्यय है; यथा—यह, वह, सो, जो, कौन के साथ; यथा, ऐसा, वैसा, कैसा, जैसा, तैसा।

§ ६६८—सा-निम्नलिखित शब्दों में यह प्रत्यय मिलता है। ऊनवाचक—लालसा, अच्छासा, उड़तासा, एकसा, मरासा, ऊँचासा, आदि।

परिणामवाचक—थोड़ा सा, बहुत सा, छोटा सा।

§ ६६९—सों—यह प्रत्यय पूर्वदिन सूचित करता है; यथा—

परसों, नरसों।

§ ७०० —सार इसके योग से किसी का निवासस्थान सूचित किया जाता है; यथा—चटसार, हथिसार, घोड़सार।

हर्—हर प्रत्यय से कुछ स्थानवाचक संज्ञापद सिद्ध होते हैं; यथा—खँडहर; नैहर; पीहर, इत्यादि।

इसकी उत्पत्ति प्रा० ह+सं० र (यथा, मधु-र) से जान पड़ती है।

भो० पु० में भी इस प्रत्यय का प्रयोग वर्तमान है; यथा—लम - हर्; लंबा; फर—हर, तेज चलनेवाला मनुष्य; छर-हर, दुबला पतला शरीर; किंतु फर—हर् तथा छर-हर् भात, अच्छा बना हुआ भात जो गीला न हो)!

§ ७०१ हरा—इससे गुणवाचक विशेषण पद सिद्ध होते हैं, यथा—

इकहरा ('एक' से), दुहरा ('दो' से), तिहरा, चौहरा, सुनहरा ('सोना' से) रुपहरा ('रूपा' से) रूपा < सं० रूप्य) इत्यादि।

इसकी उत्पत्ति सं० हार—'विभाग' से बतलाई जाती है।

§ ७०२ हा—यह भी गुणवाचक प्रत्यय है; यथा हल—हलवाहा, पानी—पनिहा, कबीर—कबिरहा।

§ ७०३ हारा—यह प्रत्यय वाला का पर्यायी है, परंतु इसका उपयोग उसकी अपेक्षा कम पाया जाता है; जैसे—लकड़ी—लकड़हारा, पनहारा, चुड़िहारा, मनिहारा इत्यादि।

इसकी उत्पत्ति सं० हारक ले जानेवाला' > हारअ > हार—हारा से सिद्ध है।

विदेशी प्रत्यय

§ ७०४ अ—यह फारसी प्रत्यय है। इसका प्रयोग भाववाचक अर्थ में होता है; यथा आमद (आया), खरीद (खरीदा), बरदाश्त (सहा), दरख्वास्त (माँगा), रसीद (पहुँचा)।

§ ७०५ आ—इस प्रत्यय के द्वारा कुछ विशेषणों से भाववाचक संज्ञाएँ बनती हैं; जैसे गरम—गरमा, सफेद सफेदा, खराब—खराबा इत्यादि।

§ ७०६ आना—इससे कुछ विशेषण शब्द बनाए जाते हैं: यथा—साल—सालाना; रोज—रोजाना, मर्द मर्दाना, शाह—शाहाना, जन से जनाना। नजर—नजराना, हर्ज हर्जाना, मिहनत—मिहनताना, बय (बिक्री) - बयाना। (विविध अर्थ में)—

दस्त—दस्ताना (हाथ का मोजा): इत्यादि।

इस प्रत्यय की उत्पत्ति फा० आन: से हुई है।

भो० पु० में भी बबुआना, ससियाना, सुकाना, जुर्माना, घराना आदि इसके अनेक उदाहरण हैं।

§ ७०७ इंदा—फारसी प्रत्यय है, इससे निम्नलिखित शब्द बनते हैं; यथा—

(कर्तृवाचक)—

कुन (करना)—कुनिंदा (करनेवाला), जी (जीना)—जिंदा (जीने वाला, जीता), बाश (रहना) बाशिंदा, परिंदा (उड़नेवाला, पक्षी)।

हिंदी क्रिया चुनना के साथ यह प्रत्यय लगाने से चुनिंदा शब्द बना है; पर यह अशुद्ध है।

इश—फारसी का यह प्रत्यय भाववाचक अर्थ में प्रयुक्त होता है; यथा—

परवर (पालना)—परवरिश, कोश (उपाय करना)—कोशिश, नाल (रोना)—नालिश, माल (मलना)—मालिश, फरमान (आज्ञा) फरमाइश।

§ ७०८ ई—यह भाववाचक अर्थ में प्रयुक्त होता है; यथा—रफतन (जाना) — रफतनी, आमदन (आना)—आमदनी।

ईना—इससे निम्निलिखित प्रकार के शब्द बनते हैं; यथा-कम—कमीना, माह (चंद्रमा)—महीना।

७१० अंदाज—संज्ञाओं में कुछ कृदंत जोड़ने से दूसरी संज्ञाएँ और विशेषण बनते हैं। ये यथार्थ में समास हैं; पर सुभीते के कारण यहाँ लिखे जाते हैं।

अंदाज (फेंकनेवाला)—

बर्क (बिजली)—बर्कदाज (सिपाही) तीर—तीरंदाज, गोला (हि०)—गोलंदाज; दस्तंदाज।

§ ७११—क यह फारसी का ऊनवाचक प्रत्यय है; यथा—तोप—तुपक।

§ ७१२—कार इससे कर्तृवाचक संज्ञाएँ बनती हैं; जैसे, पेश (सामने)—पेशकार (सहायक), बद (बुरा)—बदकार (दुष्ट), काश्त (खेती)—काश्तकार (किसान्), सलाह—सलाहकार।

§ ७१३—खाना यह स्थानवाची प्रत्यय है। इसकी उत्पत्ति फा० खान से हुई है। इससे निम्नलिखित शब्द बनते हैं—

छापाखाना 'प्रेस'; दवाखा्ना 'औषधालय'; डाकखाना 'पत्रालय'; जनानखाना 'अंतःपुर';

यह प्रत्यय भो० पु० में भी इसी रूप में विद्यमान है।

§ ७१४ खोर् इस प्रत्यय की उत्पत्ति फा०—'खोर' से सिद्ध होती है, जिसका अर्थ है 'खानेवाला'। इससे निम्न प्रकार के शब्द निष्पन्न होते हैं—

घुस् खोर्—घूस-खोर् 'घूस खानेवाला', गमखोर 'क्षमाशील'।

भो० पु० में कर्जखोर, नसाखोर, लतखोर, घुसखोर आदि इसके प्रयोग मिलते हैं।

§ ७१५ गर् इस प्रत्यय की उत्पत्ति फा० गर् से हुई है। यह व्यवसाय-सूचक प्रत्यय है; यथा—

कारीगर, जादूगर, सौदागर, कलईगर आदि।

भो० पु० में इसके अँखिगर, गोड़गर, कँटगर, हथगर जादूगर आदि प्रयोग मिलते हैं।

§ ७१६—गार यह प्रत्यय भी फारसी का है। इसका कर्तृवाचक प्रयोग निम्नलिखित रूप में होता है; यथा—

मदद—मददगार, खिदमत—खिदमतगार, याद—यादगार, गुनाह गुनाहगार।

§ ७१७—चा इस प्रत्यय का मूल तुर्की चा है और आ० भा० आ० में यह फारसी से होते हुए आया है; यथा—

बगीचा, गलीचा—'कालीन', चमचा, डेगचा-देग्चा।

§ ७१८—ची यह प्रत्यय भी मूलतः तुर्की का है और फारसी से होते हुए आ० भा० आ० भा० में आया है। तुर्की में इसके जी—ची रूप होते हैं और फारसी में केवल—ची। हिंदी में इसके उदाहरण हैं—

तबल्—ची 'तबला बजानेवाला', मसाल्—ची मशाल दिखानेवाला।

§ ७१९ दान,—दानी इस प्रत्यय का मूल फा० दान या—दानी है। यथा—कलमदान, उगलदान, पीकदान, धूपदानी, दीपदानी इत्यादि।

§ ७२० दार् इस प्रत्यय का मूल फा० दार् है। इसके उदाहरण ये हैं—

ईमान्दार, इज्जतदार्, दुकान्दार्, चौकीदार्, जमींदार्, समझदार् इत्यादि।

§ ७२१ —नवीस् इसका मूल फा० 'नवीस्' है, जिसका अर्थ है 'लेखक' यथा—नकल्‌नवीस 'नकल लिखनेवाला', अर्जीनवीस् अर्जी लिखनेवाला, इत्यादि।

§ ७२२ —नसीन इसका मूल फा० 'नशीन' है; इसके ये उदाहरण हैं: यथा—'बैठनेवाला'—तख्तनशीन, परदानशीन इत्यादि।

§ ७२३ —नाक यह फारसी प्रत्यय है; इसके ये उदाहरण हैं; यथा—दर्दनाक—दर्द, खौफनाक—खौफ खतरनाक—खतरा इत्यादि।

§ ७२४—नामा फारसी में बहुधा इसका प्रयोग अन्य प्रत्ययों की भाँति ही करते हैं; यथा—इकरारनामा सरनामा, मुख्तारनामा।

§ ७२५ —नुमा इसका अर्थ फारसी में 'दिखानेवाला' होता है, इससे कुतुबनुमा, क़िबलानुमा आदि शब्द बनते हैं।

§ ७२६ पोश—फारसी में इसका अर्थ पहिननेवाला, छिपानेवाला होता है। इससे बने शब्दों के उदाहरण ये हैं:—यथा—

जीनपोश, पापोश (जूता), सरपोश (ढक्कन), सफ़ेदपोश (सभ्य)।

§ ७२७ बंद-बंदी इस प्रत्यय का मूल फा० बंद् है; यथा—चक्‌बंदी 'खेतों को एक चक में लाना'; 'हद्‌बंदी' 'सीमा बाँधना'; 'कमरबंद' 'कमर बाँधने की पेटी', बिस्तरबंद 'बिस्तर बाँधने की रस्सी', मालबंद, इजारबंद इत्यादि।

§ ७२८ बीन—यह फा० का प्रत्यय है; इससे सिद्ध शब्दों के उदाहरण ये हैं; यथा—

बीन (देखनेवाला)—

खुर्द (छोटा)—खुर्दबीन, दूरबीन, तमाशबीन।

§ ७२९ बाज्—इस प्रत्यय का मूल फा० बाज् है जिसका अर्थ है 'करनेवाला' इसके उदाहरण ये हैं—

धोखाबाज्, दगाबाज्, मुकदमाबाज्, कबूतरबाज्, नकलबाज्।

इसमें—ई प्रत्यय जोड़कर भाववाचक संज्ञाएँ बनती हैं; यथा धोखाबाज़ी, जुआबाजी, नकल्‌बाजी इत्यादि।

भो० पु० में भी इसके अनेक उदाहरण प्राप्त हैं।

§ ७३० माल—यह फारसी का प्रत्यय है जिसका अर्थ होता है मलनेवाला, पोंछनेवाला। इससे निष्पन्न शब्दों के उदाहरण ये हैं यथा—

रू (मुँह) माल (पोंछनेवाला)—रूमाल।

§ ७३१ वर—यह फारसी का प्रत्यय है, इससे जानवर, ताकतवर, हिम्मतवर, नामवर, इत्यादि शब्द बनते हैं ।

§ ७३२ वान्—इस प्रत्यय का मूल फा० का वान् है । इससे कर्तृवाचक संज्ञाएँ बनती हैं; यथा

कोचवान्, दरवान्, गाड़ीवान्, इक्कावान् ।
भो० पु० में भी यह प्रत्यय विद्यमान है ।

§ ७३३ वार—यह फारसी का प्रत्यय है इससे निष्पन्न शब्द ये हैं; यथा—उम्मीदवार, माहवार, तफसीलवार, तारीखवार इत्यादि ।

§ ७३४ सार—फारसी के इस प्रत्यय के योग से शर्मसार, खाकसार (खाक=धूल); इत्यादि शब्द बनते हैं ।

उपसर्ग

स्वदेशी उपसर्ग

§ ७३५ हिंदी में कतिपय तद्भव एवं तत्सम उपसर्गों का व्यवहार होता है। यहाँ ये दिए जाते हैं—

§ ७३६ अ—, अन्—ये संस्कृत के तत्सम उपसर्ग हैं और अभावसूचक हैं; यथा अबोध, अजान, अबेर, अनगिनत, अनमोल ।

§ ७३७ अति—यह भी संस्कृत तत्सम उपसर्ग है । उदाहरण ये हैं - अतिकाल 'देर', अति-अंत (अत्यंत), अतिअधिक ।

§ ७३८ अव्—सं० अव् हिंदी के अवगुन इत्यादि शब्दों में प्राप्त है ।

§ ७३९ कु—यह भी संस्कृत का तत्सम उपसर्ग है । उदाहरण ये हैं—
कुचाल, कुचैला, कुनजर, कुकाठ आदि ।

§ ७४० दु—, दुर् सं० दुर् > हि० दु—, यथा दुबला < सं० दुर्बल, दुलार इत्यादि । तत्सम शब्दों में दुर् रूप मिलता है, यथा—दुर्बुद्धि ।

§ ७४१ नि—सं० निर् > हि० नि—, यथा—निरोग, निहंग, निधड़क । तत्सम—शब्दों में निर् प्रयोग मिलता है, यथा निर्दय, निर्बल ।

§ ७४२ सु, स—सं० सु हिंदी में सु तथा स दोनों रूपों में व्यवहृत होता है; यथा— सुफल, सुजान, सपूत ।

विदेशी उपसर्ग

§ ७४३ कम्—इसका मूल फा० कम है; यथा— कमजोर, कमउमर, कमअसल इत्यादि ।

§ ७४४ खुस्—इसका मूल फा० खुश है। यथा— खुसामद, खुस्बू, खुस्दिल्।

§ ७४५ गैर—इसका मूल फारसी ग़ैर है, यथा—गैरआबाद, गैरहाजिर, गैरजगह।

§ ७४६ दर्—इसका मूल फारसी दर—'भीतर' है; यथा— दर्बार, दर्कार्, दर्असल्।

§ ७४७ ना—इसका मूल फारसी ना है, यथा— नाबालिग, नालायक, नापसंद।

§ ७४८ ला—इसका मूल फारसी ला—है; यथा— लापता, लावारिस् लाचार्।

§ ७४९ फी—इसका मूल फारसी अरबी फी (प्रत्येक) है; यथा—फी मकान, फी आदमी, फी दुकान।

§ ७५० बद्—इसका मूल फारसी बद् (बुरा) है; यथा— बद्नाम् बद्चलन्, बद्जात्।

§ ७५१ बे—इसका मूल फारसी बे—'बिना' है; यथा— बेधड़क, बेचैन बेजान।

§ ७५२ हर्—इसका मूल फारसी हर्—'प्रत्येक' है, यथा— हर रोज, हर बार, हर घड़ी।

§ ७५३ अंग्रेजी के हेड (Head), हाफ्— (Half) तथा सब्— (Sub) उपसर्ग भी कई शब्दों में मिलते हैं; यथा— हेड पंडित्, हाफ् कमीज, सब डिप्टी।

संज्ञा

§ ७५४ प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के दुरूह एवं विविध रूप म० भा० आ० भाषा एवं संक्रांतिकाल में धीरे धीरे विलीन हो गए। इसी प्रवृत्ति के कारण आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में एकरूपता एवं सरलता आई। अतः प्रा० भा० आ० के शब्दरूपों की जटिल पद्धति से मुक्त आ० भा० आ० भाषाओं ने भिन्न भिन्न लिंग, वचन एवं कारक रूपों को प्रकट करने के लिये अपभ्रंश काल से प्रचलित नवीन प्रणाली का विकास किया। नीचे संज्ञा रूपों के विभिन्न तत्वों पर विचार किया जाता है :

प्रातिपदिक

§ ७५५ म० भा० आ० भाषाकाल के अंत तक व्यंजनांत प्रातिपदिक का लोप हो गया और भाषा में केवल स्वरांत प्रातिपदिक ही अवशिष्ट रहे। यह स्थिति

संक्रांति काल में भी यथावत् रही। परंतु आ० भा० आ० भाषाओं में पदांत ह्रस्व स्वरों के लोप की प्रवृत्ति विकसित हुई। इससे पुनः व्यंजनांत प्रातिपदिक दिखाई देने लगे। हिंदी में स्वरांत और व्यंजनांत दोनों प्रातिपदिक मिलते हैं। अंत्य स्वर अधिकतकर निम्नलिखित मिलते हैं :

आ—लड़का, घोड़ा, कपड़ा, राजा, प्रजा इत्यादि।
इ—विधि, मुक्ति, शक्ति इत्यादि; इकारांत तत्सम शब्द ही मिलते हैं।
ई—लड़की, रानी, कहानी, माली इत्यादि।
उ—भानु, बाहु इत्यादि तत्सम शब्दों में।
ऊ आलू, भालू, बालू, इत्यादि।
ए—चौबे, दुबे, पांडे, इत्यादि।

अंत्य व्यंजन साधारणतः निम्नलिखित हैं :

क्—नाक्, चाबुक्, चमक्, इत्यादि।
ख्—राख्, पख्, बैसाख्, इत्यादि।
ग्—साग्, मूंग्, रोग्, आग्, काग्, इत्यादि।
घ् बाघ्, जाँघ्, ऊघ्।
च्—आँच्, नाच्।
छ—छाछ्।
ज्—राज्, अनाज्, जहाज्।
झ्—साँझ्; बाँझ्।
ट्—नट्, घाट्, भाट्, पेट्।
ठ्—ओठ्, काठ्, सेठ्।
ड् साँड्, राँड्।
ड़्—अंधड़्, पतझड़्, कूबड़्।
ढ़् डेढ़्, असाढ़्, कोढ़्, बाढ़्।
त्—आदत्, खेत्, रेत्, आंत्।
थ्—हाथ्, साथ्।
द् खाद्, नाँद्।
ध्—काँध्, बाँध, सौंध्।
न्—कान्, आँगन्, उबटन्।
न्ह्—कान्ह्।
प्—साँप्, नाप्, छाप्,।
फ्—बरफ्, सौंफ्।
ब्—अरब्, खरब्, गरब्।

म्—लाभ्, लोभ्, गरभ्।
म—काम्, नाम्, आम्, बाराम्।
र्—हार्, खुर्, अगर्, कहार्।
ल्—बेल्, मेल्, कोंपल्।
व्—नाव्, घाव्, आँव्।
स्—बाँस्, साँस्, आलस्।
ह्—राह्, छाँह्, बाँह्, उछाह्।

§ ७५६ लिंग—प्रकृति में वस्तुतः पुरुष, स्त्री तथा नपुंसक ये तीन वर्ग मिलते हैं। अनेक भाषाओं में प्राकृतिक अवस्था का अनुसरण कर नामवाचक शब्दों को इन्हीं तीन वर्गों अथवा श्रेणियों में विभक्त किया जाता है तथा पुरुषजातीय वस्तुवाचक शब्दों को पुल्लिंग, स्त्रीजातीय वस्तुवाचक शब्दों को स्त्रीलिंग, एवं नपुंसकजातीय वस्तुवाचक शब्दों को नपुंसकलिंग से अभिहित किया जाता है। अनेक भाषाओं में विशेष प्रत्ययों तथा विभक्तियों द्वारा नामशब्दों का लिंगपार्थक्य प्रदर्शित किया जाता है।

प्राचीन भारतीय आर्यभाषा का लिंगविधान प्रत्ययों के आधार पर था। म० भा० आ० भाषाओं तक में लिंगविधान प्राकृतिक अवस्था का द्योतक न होकर व्याकरणिक हो रहा; परंतु शब्दरूपों में एकरूपता लाने की प्रवृत्ति के फलस्वरूप अपभ्रंश में भी नपुंसकलिंग लुप्त हो चला था। नपुंसक शब्दों के रूप पुल्लिंग शब्दों के समान बनने लगे, जिससे नपुंसकलिंग से पुल्लिंग का भेदभाव मिट गया। इस प्रकार हिंदी से नपुंसकलिंग सदा के लिये समाप्त हो गया। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में मराठी और गुजराती में ही नपुंसकलिंग बच रहा है। हिंदी में लिंग के केवल दो ही भेद हैं, पुल्लिंग एवं स्त्रीलिंग और यह लिंगभेद भी व्याकरणिक ही है।

यद्यपि हिंदी में नपुंसकलिंग नहीं है, तथापि प्रकृत्यानुसारी पुल्लिंग एवं नपुंसकलिंग का थोड़ा सा भेद कर्म कारक के परसर्ग 'को' प्रयोग में दिखाई देता है। साधारणतया कर्मकारक के परसर्ग 'को' का प्रयोग अप्राणिवाचक शब्दों के साथ नहीं होता। हिंदी के वाग्व्यवहार के अनुसार 'धोबी को बुलाओ', 'गाय को खोल दो', तो कहते हैं, परंतु 'कपड़ों को लाओ', 'घास को काटो' न कहकर 'कपड़े लाओ', 'घास काटो' ही कहा जाता है।

पुल्लिग एवं स्त्रीलिंग तद्भव शब्दों का लिंग, हिंदी में साधारणतया वही है जो संस्कृत या प्राकृत अपभ्रंश में है। परंतु प्रा० भा० आ० के प्रत्यय हिंदी तक आते आते इतने घिस गए हैं कि उनके मूलरूप को पहिचान लेना दुष्कर सा प्रतीत होता है। अतः अहिंदी प्रदेश के लोगों को हिंदी के लिंगनिर्धारण में बहुत अधिक

कठिनाई पड़ती है और जनसाधारण की यह धारणा बन गई है कि हिंदी का लिंगविधान बहुत ही अनियमित है। परंतु भा० आ० भाषा के विकासक्रम को ध्यान में रखने पर हिंदी के लिंगविधान की व्याख्या सरलता से की जा सकती है।

हिंदी में नपुंसकलिंग का लोप होने के कारण प्रा० भा० आ० भा० के नपुंसकलिंग शब्द पुल्लिंग अथवा स्त्रीलिंग में अंतर्भूत हो गए हैं। इसके कारण भी हिंदी शब्दों का लिंगविधान बहुत कुछ दुर्बोध सा हो गया है। इसके अतिरिक्त हिंदी में प्रा० भा० आ० भा० से गृहीत अनेक शब्दों का लिंग, संस्कृत से भिन्न है; यथा सं० 'अग्नि' पुल्लिंग है, किंतु हिंदी में इसका तद्भव रूप 'आग्' स्त्रीलिंग है। सं० 'देवता' शब्द स्त्रीलिंग है, परंतु यही शब्द हिंदी में पुल्लिंग है। इस लिंग-व्यत्यय का कारण है एकरूपता की प्रवृत्ति और हिंदी के अन्य शब्दों के साथ सादृश्य।

स्त्रीप्रत्यय

§ ७१७ हिंदी में मुख्यतः निम्नलिखित स्त्रीप्रत्ययों का व्यवहार होता है :

(१)—ई,—इया, (२)—इन्,—नी, (३)—आनी। नीचे इनपर विचार किया जाता है :

(१)—ई,—इया—स्त्रीलिंग रूप बनाने में इन प्रत्ययों का सर्वाधिक प्रयोग होता है। मूलतः वस्तुओं के लघु रूप प्रकट करने लिये इनका व्यवहार होता था, यथा, पोथा—पोथी, चिड़ा-चिड़िया; इत्यादि। स्त्रीत्व के साथ कोमलता, लघुता के भावों का घनिष्ठ संबंध होने से ये प्रत्यय स्त्रीप्रत्यय बन गए। इनकी व्युत्पत्ति प्रा० भा० आ० इका >—इआ, इअ से सिद्ध होती है।

(२)—इन्—नी—इन् प्रत्यय का प्रयोग प्रायः व्यवसायवाचक शब्दों के स्त्रीलिंग रूप बनाने में प्रयुक्त होता है; यथा —

धोबिन्, नाइन्, चमारिन्, सुनारिन् इत्यादि और-नी प्रत्यय प्रायः पशुओं के स्त्रीलिंग रूप बनाने के लिये होता है—यथा,—शेरनी, मोरनी, बाघनी; इत्यादि। इसकी व्युत्पत्ति सं०—नी,—इनी प्रत्ययों से है।

(३) आनी—इस प्रत्यय की व्युत्पत्ति सं०—आनी से है और यह मुख्यतः संस्कृत से लिए गए तत्सम शब्दों में प्रयुक्त होता है— यथा—पंडितानी, इंद्राणी; इत्यादि। परंतु कुछ विदेशी शब्दों के साथ भी यह जोड़ा जाता है; यथा—फा० मेहतर् से हिं० मेहतरानी।

वचन

§ ७१८ प्रा० भा० आ० भा० में तीन वचन थे—एकवचन, द्विवचन और बहुवचन। म० भा० आ० भा० काल के प्रारंभ में ही द्विवचन लुप्त हो गया, और

उसका निर्देश शब्द के साथ 'द्वि' शब्द लगाकर किया जाने लगा। अशोक के अभिलेखों में 'दुवे मजुला' (दो मोर) इत्यादि प्रयोग प्राप्त हैं। इस प्रकार आ० भा० आ० भाषाओं को उत्तराधिकार में केवल दो ही वचन प्राप्त हुए - एकवचन तथा बहुवचन। हिंदी की एक विशेष शैली उर्दू में 'वाल्दैन', 'क़ुतुबैन, 'फरीक़ैन' जैसे अरबी के द्विवचन रूपों का भी प्रयोग मिलता है; परंतु यह हिंदी की प्रकृति के विरुद्ध है। संस्कृतगर्भित हिंदी में संस्कृत के द्विवचन रूपों का प्रयोग नहीं मिलता।

ध्वनिविकास के कारण प्रा० भा० आ० भाषा के बहुवचन प्रत्यय आ० भा० आ० भाषाओं में पूर्णतया सुरक्षित न रह सके। उनका इस प्रकार से क्रमिक ह्रास एवं लोप आरंभ हो गया। आ० भा० आ० भाषाओं के प्रारंभिक काल तक प्रा० भा० आ० भा० का पुल्लिंग प्रथमा बहुवचन का प्रत्यय 'आ :' अपभ्रंश की पदांत-ह्रस्व-स्वर-लोप की प्रवृत्ति के कारण समाप्त हो गया; यथा, सं० पुत्र— ए० व० पुत्रः > अप० पुत्त० > हिं० पूत; ब० व० पुत्राः > अप० पुत्तु > पूत। परंतु स्त्रीलिंग एवं नपुंसकलिंग के प्रथमा बहुवचन के प्रत्यय पश्चिमी आ० भा० आ० भाषाओं (मराठी, गुजराती, राजस्थानी, सिंधी, लँहदी, पंजाबी, पश्चिमी हिंदी) में थोड़े बहुत सुरक्षित रहे, यद्यपि बहुत कुछ उलट फेर के साथ यथा, सं० माला : ('माला' स्त्रीलिंग शब्द का ब० व०) > म० भा० आ० मालाओं, मालाओं > मरा० माला (इसके ए० व० के रूप क्रमशः सं० माला > म० भा० आ० माला, माला > मरा० माल हैं); सं० सूत्राणि (सूत्र' न० लिं० का ब० व०) > मरा० सुतै; सं० पितरः ('पितृ') > सिं० 'पिउ' शब्द का बहुवचन) > सिं० पउर, सं० वार्ताः ('वार्ता' स्त्रीलिंग शब्द का बहुवचन) हिंदी बातें (हिंदी का ब० व०—एँ > सं० न० लिं०, आनि) इत्यादि, कर्म, संप्रदान, अपादान तथा अधिकरण बहुवचन के प्रत्यय भी आ० भा० आ० भाषाकाल के पूर्व ही लुप्त हो गए थे। अतः हिंदी आदि आ० भा० आ० भा० को ब० व० के केवल तीन ही कारक म० भा० आ० भाषा से मिले—कर्ता ब० व०, करण कारक बहुवचन तथा संबंध कारक ब० व० के रूप। करण तथा संबंध कारक ब० व० के रूपों का उपयोग हिंदी आदि आ० भा० आ० भाषाओं ने अन्य कारकों का बहुवचन रूप प्रकट करने के लिये भी किया।

करण कारक ब० व० प्रत्यय का प्रयोग पश्चिमी हिंदी में 'आकारांत' पुल्लिंग शब्दों के कर्ताकारक ब० व० के लिये किया गया; यथा घोड़े दौड़ते हैं—इस वाक्य में घोड़े > म० भा० आ० घोडेहि, घोडहि, अप० घोडही > प्रा० भा० आ० घोटेभिः। पूर्वी हिंदी के संबंध कारक ब० व० का रूप भी कर्ता ब० व० में प्रयुक्त होता है, यथा, घोड़नन=प्रा० भा० आ० घोटकानाम्। परंतु पश्चिमी हिंदी, मराठी,

सिंधी, पंजाबी इत्यादि पश्चिमी आ० भा० आ० भाषाओं में संबंध कारक ब० व० का रूप कर्ता ब० व० के लिये प्रयुक्त नहीं होता।

संबंध कारक—ब० व० रूप का व्यवहार कर्ता कारक ब० व० के अतिरिक्त अन्य सभी कारकों के ब० व० में किया जाता है, यथा, हिं० घोड़ों, पं० घोड़ाँ; राज० घोड़ाँ = सं० घोटकानाम्। पूर्वी भाषाओं—भोजपुरी, मैथिली, मगही, बँगला इत्यादि का ब० व० प्रत्यय—ण, न < प्रा० भा० आ०—आनाम् से आया है। पूर्वी हिंदी, बिहारी, बँगला इत्यादि का ब० व० प्रत्यय न्ह,—न्हि (यथा; घरन्ह, घरन्हि) प्रा० भा० आ० करण कारक ब० व० प्रत्यय—भिः > म० भा० आ०—हि तथा प्रा० भा० आ० संबंध कारक ब० व० प्रत्यय—आनाम् > न् का मिश्रण माना जाता है।

इस प्रकार हिंदी में एकवचन प्रकट करने के लिये निम्नलिखित प्रत्ययों का प्रयोग होता है :

१—कर्ताकारक एकवचन में शब्द का प्रातिपदिक रूप ही व्यवहृत होता है। संस्कृत में कर्ताकारक एकवचन का प्रत्यय—स् (:) शौरसेनी प्राकृत में 'ओ' और तत्पश्चात् अपभ्रंश—'उ' में परिवर्तित होता हुआ, पदांत-स्वर लोप की प्रवृत्ति के प्रभाव से हिंदी में लुप्त हो गया। अतः कर्ताकारक एकवचन में शब्द का प्रातिपदिक रूप ही शेष रहा।

२—पुल्लिंग तद्भव आकारांत शब्दों के विकारी कारकों के एकवचन में पदांत '—आ' का लोप कर '—ए' प्रत्यय लगता है; यथा; लड़के (को, से, के लिये इत्यादि)। अन्य शब्दों के विकारी कारकों के एकवचन में भी प्रातिपदिक रूप ही मिलता है, यथा, घर् को, से के लिये, का, में; लड़की (को, से, इत्यादि)।

म० भा० आ० भाषाकाल में संबंध कारक प्रत्यय—स्य > —ह तथा अधिकरण कारक प्रत्यय स्मिन् > हिं का उपयोग, कर्म, संप्रदान, अपादान कारकों के एकवचन में भी किया जाने लगा था।—अको > —अओ अंतवाले शब्दों में—हि > —हि जोड़े जाने पर, 'ह' के लोप से—अइ शेष रहा और पश्चिमी हिंदी में यही—ए में परिणत होकर विकारी कारकों के एकवचन के प्रत्यय के रूप में गृहीत हुआ। 'घर्' जैसे अन्य शब्दों में — हि' प्रत्यय का सर्वथा लोप होकर विकारी कारकों में भी प्रातिपदिक रूप ही रह गया।

३—पुल्लिंग-तद्भव-आकारांत शब्दों के कर्ता बहुवचन का रूप भी अंत्यस्वर आ' का लोप कर,—'ए' प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है। अन्य पुल्लिंग, शब्दों के कर्ता एकवचन तथा बहुवचन के रूप समान होते हैं; यथा—लड़का; ब० व०

लड़के, घोड़ा, ब० व० घोड़े इत्यादि; घर; ब० व० घर; भाई; ब० व० भाई; राजा; ब० व० राजा।

इस कर्ताकारक ब० व० प्रत्यय 'ए' की उत्पत्ति संदेहास्पद है।

हार्नले का मत है कि विकारी एकवचन का रूप ही कर्ता बहुवचन में भी प्रयुक्त हुआ है। परंतु चाटुर्ज्या इसको प्रा० भा० आ० करण कारक ब० व० प्रत्यय एभिः > म० भा० आ०—अहि,—अही > अइ > ए मानते हैं।

४—'इ,—ई' कारांत शब्दों के कर्ता बहुवचन में 'आँ' प्रत्यय तथा अन्य स्त्रीलिंग शब्दों के कर्ता बहुवचन में 'एँ' प्रत्यय जोड़ा जाता है। इ—कारांत (तत्सम) तथा ई—कारांत शब्दों में आँ से पूर्व – य् का संनिवेश होता है और—ईकारांत शब्दों में ई > —इ; यथा लड़की ब० व० लड़कियाँ, तिथि ब० व० तिथियाँ; बात—ब० व० बातें इत्यादि।

आँ, एँ < सं० नपुंसक लिंग बहुवचन प्रत्यय – आनि। सं०—आनि > म० भा० आ० आइँ > हिं०—एँ; सं०—आनि > म० भा० आ० – आँ > हिं०—आँ।

५—सभी शब्दों के विकारी कारकों के बहुवचन में 'ओ' प्रत्यय लगता है। इससे पूर्व अंत्य 'आ' का लोप हो जाता है; यथा—घोड़ा ब० व० घोड़ों (को, से, के लिये, का, पर); अंत्य—ई > इ तथा ओं से, पूर्व—य् का संनिवेश किया जाता है; यथा—लड़की ब० व० लड़कियों; तिथि—ब० व० तिथियों।

ओं > म० भा० आ० आनं,—आणं+हु (> अउं > ओं) < सं० – आनाम्।

बहुवचनज्ञापक शब्दावली

§ ७५६ ऊपर के रूपों के अतिरिक्त बहुवचन प्रकट करने के लिये कुछ अन्य शब्दों की भी सहायता ली जाती है। ये शब्द प्रायः समूह का बोध कराने के उपयोग में आते हैं। ऐसे शब्दों का योग होने पर कारकपरसर्ग संज्ञापद के साथ न लगकर इन्हीं शब्दों के बाद लगते हैं।

ऐसे कुछ शब्द नीचे दिए जाते हैं—लोग्, सब्, गण, वृंद इत्यादि। इसके उदाहरण ये हैं—राजा लोग्, कवि लोगों को, तारा गणों के साथ, इत्यादि।

कारक

§ ७६० उपसर्गों (प्रीपोजीशन) द्वारा भारोपीय भाषा में संज्ञाओं का संबंध प्रकट किया जाता था। उपसर्गों की सहायता से कारक प्रकट करने की विधि अंग्रेजी फ्रेंच, रूसी इत्यादि, योरोप की भाषाओं तथा फारसी में मिलती है और सामी-परिवार की भाषा अरबी तक में उपसर्गों का प्रयोग इस कार्य के लिये होता है। परंतु उपसर्गों का क्रियाओं के साथ ही आरंभ हो गया और संज्ञाओं के कारक-

संबंध नियमित करने का इनका कार्य जाता रहा तथा शब्दों के प्रातिपदिक रूप में विभक्तिप्रत्यय लगाकर भिन्न भिन्न कारकरूप निष्पन्न किए जाने लगे। प्रा० भा० आ० भाषा में आठ कारक मिलते हैं, जिनका एकवचन, द्विवचन एवं बहुवचन का रूप अलग अलग विभक्तिप्रत्ययों के योग से बनता था। इस प्रकार प्रत्येक शब्द के २४ रूप थे।

शब्दों के कारकरूपों में भी समीकरण की प्रवृत्ति का प्रारंभ म० भा० आ० भाषाकाल में ही हुआ। अतः प्रा० भा० आ० भा० के शब्दरूपों की बहुलता घटती गई और एक ही विभक्तियुक्त शब्द दो दो, तीन तीन कारकों के लिये प्रयुक्त होने लगा। अब प्रा० भा० आ० भाषा के २४-२४ शब्दरूपों के स्थान पर केवल पाँच छः रूप ही शेष बचे और अपभ्रंशकाल में तो शब्दरूपों के अनुसार कारकों के केवल तीन ही वर्ग बच रहे।

अपभ्रंशकाल में कारक प्रकट करने के लिये सहायक शब्दों का प्रयोग अत्यावश्यक हो गया था। यह प्रवृत्ति इस स्थिति की निर्देशिका है कि कारकरूपों की अल्पता एवं ध्वनिपरिवर्तन के कारण विभक्तिप्रत्ययों के मूल रूप की अस्पष्टता इस समय तक पर्याप्त बढ़ चुकी थी। सहायक शब्दों का उपयोग पहले संबंध कारक के साथ आरंभ हुआ और धीरे धीरे अन्य कारकों के लिये भी इसका प्रयोग चल पड़ा। इस प्रकार 'रामस्स' (< सं० रामस्य 'राम का' का विभक्तिप्रत्यय 'स्य' ही संबंध कारक प्रकट करने के लिये पर्याप्त न समझा गया और इसके साथ 'केर' (< सं० कार्यक) जैसे सहायक शब्द का प्रयोग किया गया।

आ० भा० आ० भाषाओं में विभक्तिप्रत्ययों में और भी कमी आई। केवल कर्ता बहुवचन, करण कारक, संबंध ब० व० और अधिकरण ए० व० के विभक्तिप्रत्यय ही जिस किसी रूप में बच पाये। ये विभक्ति प्रत्यय भी सभी आ० भा० आ० भाषा में समान रूप से नहीं बच पाए। हिंदी में करण कारक ब० व० तथा संबंध कारक ब० व के रूपों से कर्ता ब० व० का काम लिया गया; यथा हिं० घोड़े < अप० घोड़ही < प्रा० भा० आ० घोटेभिः; पूर्वी हिं० घोड़वन < सं० घोटकानाम्। अधिकरण-एकवचन के रूप से विकारी कारकों के रूप निष्पन्न हुए, यथा हिं० घोड़े (को, के लिये आदि) में ए < सं० स्मिन् और संबंध ब० व० के रूप से सबल प्रातिपदिकों (स्ट्रांग बेसेस) के विकारी ब० व० के रूप बनाए गए, यथा—हिं० घोड़ों (को, से आदि) < सं० घोटकानाम्। व्यंजनांत प्रातिपदिकों में तो सविभक्तिक रूप बहुत ही कम रह गए हैं, यथा—'पूत' < सं० पुत्राणाम् ही सविभक्तिक है; बात् < सं० वार्ता शब्द का कर्ता ब० व० बातें तथा विकारी ब० व० बातों इन दो ही रूपों में विभक्तिप्रत्ययों का चिह्न रह गया है। अन्य आ० भा० आ० भाषाओं में प्रा० आ० भा० के दूसरे ही सविभक्तिक रूप बच रहे हैं। मराठी में कर्ता ब व०

सविभक्तिक रूप सुरक्षित है। यथा—कमलें < अप० कमलइं < सं० कमलानि, ('कमल' शब्द का ब० व०) और विकारी कारकों के एकवचन, ब० व० की विभक्तियों के ध्वनिपरिवर्तनों द्वारा अवशिष्ट रूपों के योग से बने हैं; यथा— ईंट < सं०—इष्ट। (हिं० ईंट)—विकारी कारक ब० व० ईंटें < म० भा० आ० इट्टाए < प्रा० भा० आ० इस्टायै (संप्र० ए० व०) विकारी कारक—ब० व० इटों इट्टानाम् (हिं० 'ईंटों')। इसी प्रकार सिंधी, पंजाबी, गुजराती इत्यादि में भी होता है। पश्चिमी आ० भा० आ० भाषाओं में स्त्रीलिंग एवं नपुंसक लिंग शब्दों के कर्ता ब० व० के रूप में प्रा० भा० आ० भा० के कर्ता ब० व० की विभक्ति का चिह्न मिल जाता है।

इस प्रकार आ० भा० आ० भाषाओं में सविभक्तिक रूपों की न्यूनता एवं अस्पष्टता अपभ्रंश काल से भी अधिक बढ़ गई। अतः अपभ्रंश काल में सहायक शब्दों द्वारा जो कारक प्रकट करने की प्रवृत्ति थी वह और भी विकसित हुई। ये सहायक शब्द ध्वनिपरिवर्तनों के कारण इस प्रकार घिस गए हैं कि उनके मूल रूप का पता नहीं चलता।

इन सहायक शब्दों का परसर्ग संज्ञा है। विभिन्न आ० भा० आ० भाषाओं में भिन्न भिन्न परसर्गों का उपयोग किया जाता है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आ० भा० आ० भाषाओं में शब्दों का संबंध दो प्रकार से प्रकट किया जाता है—(१) प्रा० भा० आ०—भाषा के अवशिष्ट विभक्तिप्रत्ययों के योग से। हम देख चुके हैं कि इन विभक्तिप्रत्ययों की संख्या आ० भा० आ० भाषाओं में तीन चार ही है और उनके ही योग से काम नहीं चलता। हिंदी में केवल कर्ता कारक का रूप ही विभक्तिरहित अथवा सविभक्तिक रूप में अपने आपसे कारक संबंध प्रकट करने में समर्थ है; यथा घोड़ा दौड़ता है, उसका पूत कुल का उजियाला है, घोड़े दौड़ते हैं, उसके सभी पूत सुगुणी हैं, इत्यादि। (२) शब्दों के सविभक्तिक अथवा अविभक्तिक रूपों के साथ परसर्गों की सहायता से। नीचे हिंदी के परसर्गों पर विस्तार से विचार किया जाता है।

हिंदी के परसर्ग

§ ७६१ हिंदी के आठ कारकों में से, कर्ता के कर्तरि प्रयोग एवं संबोधन में कोई परसर्ग नहीं प्रयुक्त होता। अन्य कारकों में निम्नलिखित परसर्गों का प्रयोग किया जाता है—

कर्ता, कर्मणि एवं भावे प्रयोग में 'ने', कर्म संप्रदान में 'को' तथा संप्रदान में के लिये' भी; करण अपादान में 'से', संबंध में 'का, के, की', तथा अधिकरण में 'में, पर' का प्रयोग होता है। नीचे प्रत्येक परसर्ग की व्युत्पत्ति पर विचार किया जाता है।

ने

§ ७६२ इसका व्यवहार संज्ञा पद के कर्मणि तथा भावे प्रयोग में होता है; यथा—

कर्मणि प्रयोग—मैंने एक साधु देखा; मैंने दो साधु देखे।
भावे प्रयोग—मैंने एक साधु को देखा,
मैंने दो साधुओं को देखा।

'ने' परसर्ग का व्यवहार खड़ी बोली हिंदी की प्रमुख विशेषता है। पूर्वी हिंदी में इसका व्यवहार नहीं पाया जाता है। पश्चिमी हिंदी की कतिपय अन्य विभाषाओं में तथा पंजाबी, गुजराती आदि कुछ पश्चिमी आ० भा० आ० भाषाओं में भी ने' का प्रयोग परसर्ग के रूप में मिलता है। बुंदेली कनौजी में 'नै' तथा 'ने' कर्ता कारक के परसर्ग हैं। पंजाबी में भी यह कर्ता—कारक का बोधक है। परंतु गुजराती में 'ने' कर्म तथा संप्रदान कारक का परसर्ग है।

'ने' परसर्ग की व्युत्पत्ति के विषय में विद्वानों में मतभेद है। कर्मणि तथा भावे प्रयोग में इसका व्यवहार देखकर ट्रंप इत्यादि कुछ विद्वान् इसका संबंध प्रा० भा० आ० भाषा की करण कारक एकवचन की विभक्ति 'एन' से जोड़ते हैं और वर्णव्यत्यय से —'एन' का 'ने' में परिणत होना मानते हैं। पर विचार करने से यह मत ठोस प्रमाणों पर आधारित नहीं जान पड़ता। इस मत के विरोध में निम्नलिखित तथ्य हैं—

(१) 'ने' विभक्ति प्रत्यय नहीं है, अपितु 'को, में, पर' इत्यादि के समान एक परसर्ग है। अतः इसकी व्युत्पत्ति किसी स्वतंत्र शब्द में ढूँढनी चाहिए, न कि विभक्तिप्रत्यय 'एन' में।

(२) अन्य विभक्तियों की हिंदी में परिणति देखते हुए एन > ने एक असाधारण परिवर्तन किया है, क्योंकि प्रा० भा० आ० भाषा की अन्य विभक्तियों ने तो आ० भा० आ० भाषा में, लघु रूप बनाने की प्रवृत्ति ही प्रदर्शित की है, यथा—बातें, रातें इत्यादि में—एं < आनि; घोड़ों, लड़कों इत्यादि में—ओं < — आनाम्। इन परिवर्तनों में 'न' का वर्णव्यत्यय द्वारा दीर्घ रूप न होकर उसकी परिणति अनुस्वार में मिलती है; फिर—एन > ने में 'न' का दीर्घ होना बिना स्पष्ट एवं दृढ़ प्रमाणों के स्वीकार नहीं किया जा सकता।

(३) 'ने' का प्रयोग अधिक प्राचीन नहीं है। यदि यह—एन > ने होता तो पुरानी हिंदी अथवा उसकी जननी पश्चिमी अपभ्रंश में इसका कोई न कोई उदाहरण अवश्य प्राप्त होता। परंतु ऐसे किसी उदाहरण का न मिलना 'ने' की नवीनता घोषित करता है।

(४) पुराने लेखकों ने कितने ही स्थलों पर सर्वनाम के कर्ता कारक में केवल विकारी रूप का ही प्रयोग किया है, जहाँ खड़ी बोली हिंदी के स्वभावानुसार उसके साथ 'ने' का प्रयोग आवश्यक होता। अतः यह सिद्ध है कि यदि 'ने' कोई विभक्तिप्रत्यय था भी तो पुरानी हिंदी के काल तक वह लुप्त हो चुका था।

अन्य विद्वानों ने 'ने' का संबंध सं० लग्य (√लग् का भूतकालिक कृदंत कर्तृवाच्य) से जोड़ा है और निम्नलिखित परिवर्तनक्रम बताया है—

सं० लग्य > प्रा० लागिओ > हिं० लगि-लइ-ले-ने। इस मत के समर्थकों की राय है कि गुजराती में 'ने' कर्म संप्रदान कारक का परसर्ग है और करण कारक में भी संप्रदान के प्रयोग की प्रवृत्ति गुजराती में प्राप्य है। हिंदी का परसर्ग ने वास्तव में करण कारक का ही परसर्ग है। अतः गुजराती और हिंदी 'ने' परसर्ग की व्युत्पत्ति एक ही होनी चाहिए। ये दोनों भाषाएँ पाश्चिमी अपभ्रंश से निकली हैं। इस परसर्ग के मूल रूप का उत्तर इस मत के पोषकों को नेपाली के संप्रदान कारक के 'लाइ' तथा करण कारक के 'ले' परसर्गों में मिला और हिंदी गुजराती ने तथा नेपाली ले को एक ही मूल शब्द की उपज मानकर उन्होंने इन परसर्गों का संबंध संस्कृत 'लग्य' से जोड़ा।

सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या तथा सुकुमार सेन 'ने' की व्युत्पत्ति सं० कर्ण शब्द से मानते हैं। उनके अनुसार 'ने' अनुसर्ग का प्राचीन रूप 'कने' था। यह 'कने' शब्द आज भी कनौजी में समीप अर्थ का बोधक है; यथा 'मेरे कने आओ'='मेरे पास आओ'। सं० कर्ण > म० भा० आ० कन्न०, और अपभ्रंश में इसका अधिकरण का रूप कन्नहि बनता है, जिसमें 'क' तथा 'ह्' के लोप से 'नइ' और गुण द्वारा 'ने' रूप निष्पन्न हुआ। संस्कृत में कर्ण शब्द का अर्थ 'कान' होता है और यह सामीप्यबोधक है। अतः हिंदी में यह संज्ञा और क्रिया के बीच संबंध जोड़ने में प्रयुक्त हुआ।

को

§ ७६३ यह परसर्ग कर्म एवं संप्रदान कारक का बोधक है। हिंदी की बोलियों में कर्म संप्रदान के परसर्ग ये हैं—कनौजी 'को', व्रज 'कौं', अवधी 'क' रिवांई 'केहे', मारवाड़ी 'नै', मेवाड़ी 'ऐ', कुमाऊँनी 'कणि', गढ़वाली 'सणि' नेपा० 'लाइ'।

इन परसर्गों में से 'क' से प्रारंभ होनेवालों की व्युत्पत्ति हार्नले तथा बीम्स ने सं० कक्षे ('कक्ष' का अधिकरण ए० व०) से मानी है। 'कक्ष' का अर्थ है 'बगल', काँख। कक्ष > काँख, का कर्मकारक एकवचन में काख रूप बनेगा और उसमें ख > ह् तथा उसके भी लोप से कांह, कहे, कौं, को, क, ये सभी रूप निष्पन्न होंगे।

मारवाड़ी 'नै' तथा नेपाली 'लाइ' की व्युत्पत्ति 'लगि' (√लग्) से हुई है। मारवाड़ी में ल>न के और भी उदाहरण मिलते हैं; यथा—लानत् (अरबी) > मार० नानत लंदन (अँग्रेजी) > मार० नंदन। मेवाड़ी ऐ < मार नै।

कुमाऊँनी, कणि < सं० कर्णे; गढ़वाली, सणि < सं० संगे।

से

§ ७६४ इसका व्यवहार करण एवं अपादान दोनों कारकों में होता है। इसकी उत्पत्ति के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। 'बीम्स' के अनुसार से < सम और हार्नेली के अनुसार से का संबंध प्रा० संतो, सुंतो तथा सं० √ अस् से है। केलाग ने इसकी उत्पत्ति सं० संगे से मानी है। परंतु से का मूल रूप सम एन है, जिससे इसकी उत्पत्ति निम्न प्रकार से हुई है —

सम – एन > सएँ, सइँ > सें > से।

ब्रजभाषा के सों की उत्पत्ति समं से हुई है।

के लिये

§ ७६५ संप्रदान कारक में 'को' के अतिरिक्त 'के लिये' का भी व्यवहार होता है। इस परसर्ग में के < कए < कृते। लिये की व्युत्पत्ति संदिग्ध है। संभवतः इसका संबंध सं० लग्गो > प्रा० लग्गे से है।

का, के, की

§ ७६६ संबंध कारक पुल्लिंग एक वचन में 'का', बहुवचन में 'के' तथा स्त्रीलिंग एकवचन बहुवचन में 'की' परसर्गों का व्यवहार होता है। संबंध कारक के इन परसर्गों का सं० √कृ धातु से संबंध है। का की उत्पत्ति सं० कृत. से इस प्रकार है—सं० कृत—> म० भा० आ० कअ > हिं० का।

'के'—'का' का विकारी रूप है और 'की' स्त्री प्रत्यय 'ई' युक्त रूप।

में, पर

§ ७६७ इनका व्यवहार अधिकरण कारक में होता है। 'में' की उत्पत्ति सं० मध्य से इस प्रकार हुई—

मध्ये > म० भा० आ० मज्झे > पुरा० हिं० माँहि > में।

पर की व्युत्पत्ति सं० परे > अप० परि से निष्पन्न होती है।

परसर्गीय शब्दावली

§ ७६८ ऊपर विचार किए हुए परसर्ग ध्वनिपरिवर्तनों के कारण अपने मूल रूप को खो चुके हैं, यद्यपि वे मूलतः स्वतंत्र शब्द थे। परंतु आ० भा० आ०

भाषाओं में अनेक क्रियावाचक विशेषण पद (पार्टीसिपुल्स), आज भी परसर्गों के समान कारक संबंध व्यक्त करते हुए भी अपनी स्वतंत्र सत्ता बनाए हुए हैं।

हिंदी के कुछ ऐसे शब्द नीचे दिए जा रहे हैं :—

आगे—यह अधिकरण कारक का परसर्ग है और संबंध कारक के परसर्ग 'का' के विकारी रूप 'के' सहित व्यवहृत होता है, यथा गाड़ी के आगे। इसकी व्युत्पत्ति सं० अग्रे > म० भा० आ० अग्गे से हुई है।

ऊपर, पर—ये भी संज्ञा पद के साथ अथवा संबंध कारक के साथ अधिकरण के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं; यथा मेज के ऊपर, हथेली पर। इनकी उत्पत्ति सं० उपरि म० भा० आ० उप्परि से हुई है।

ओर्—प्रायः यह संबंध कारक के साथ अधिकरण के अर्थ में प्रयुक्त होता है; यथा—नगर की ओर, उस ओर। इस अर्थ में फारसी 'तरफ' शब्द का भी व्यवहार होता है।

कारण—यह संबंध कारक के साथ करण कारक के अर्थ में प्रयुक्त होता है, यथा उसके कारण, तुम्हारे कारण।

खातिर, वास्ते—अरबी से लिए गए शब्द हैं और इनका व्यवहार संबंध कारक के साथ संप्रदान के अर्थ में होता है; यथा—मेरे खातिर या वास्ते इत्यादि।

नीचे—यह संबंध कारक के साथ अधिकरण के अर्थ में प्रयुक्त होता है; नीचे > सं० नीचैः।

पीछे — यह भी संबंध कारक के साथ अधिकरण के अर्थ में प्रयुक्त होता है; यथा उसके पीछे, इत्यादि।

यह शब्द सं० पृष्ठ तथा पश्चा के संयोग से सिद्ध हुआ है।

पास्—यह संबंध कारक के साथ प्रयुक्त होकर अधिकरण कारक सिद्ध करता है; यथा—हमारे पास। इसकी उत्पत्ति सं० पार्श्वे से हुई है।

बाहर्—यह भी संबंध कारक के साथ अधिकरण का अर्थ देता है—यथा कमरे के बाहर।

बिना—इससे कर्म कारक संपन्न होता है; यथा—राम बिना मेरी सूनी अयोध्या। कभी कभी संबंध कारक के साथ भी इसका प्रयोग होता है; यथा—तुम्हारे बिना। यह सं० विना का अर्धतत्सम रूप है।

बीच—यह अधिकरण कारक बनाता है और प्रायः संबंध कारक के साथ प्रयुक्त होता है; यथा शहर के बीच्, विद्वानों के बीच्।

भीतर्—यह भी अधिकरण में संबंध के साथ व्यवहृत होता है; यथा, घर के भीतर। भीतर < भितर < अभ्यंतर।

मारे—इसका अर्थ है 'कारण से'। यह √मृ के प्रेरणार्थक रूप मार्' के अधिकरण कारक का रूप है और संबंध कारक के साथ प्रयुक्त होता है, यथा—डर के मारे।

संग, समेत, साथ—ये संबंध कारक के साथ प्रयुक्त होकर संपर्क द्योतित करते हैं; यथा विद्वानों के संग या साथ, इन सबके समेत, इत्यादि।

विशेषण

§ ७६९ विशेष्य पदों के अनुसार विशेषण पदों के रूपों में परिवर्तन प्राचीन भारतीय आर्यभाषा की विशेषता रही है जो मध्य भारतीय आर्यभाषा काल में भी अधिकांशतः सुरक्षित रही है। संक्रांतिकालीन भाषा में भी हमें इसके पर्याप्त उदाहरण प्राप्त है। स्त्रीलिंग विशेष्य पदों के साथ विशेषणों में स्त्रीलिंग प्रत्यय तथा विशेष्य पदों के तिर्यक् रूपों के साथ विशेषणों में तिर्यक् प्रत्यय (सामान्यतः एँ) का प्रयोग, बारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध (१११४-११६५) में रचित दामोदर पंडित के 'उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण' में मिलता है; यथा 'पराइ बथुँ' 'दूसरों की वस्तुएँ' 'अंधारिं रातिं'='अंधेरी रातें'-'सूखें काठें'='सूखी लकड़ी' पर; इत्यादि। परंतु आ० भा० आ० भाषा में यह प्रणाली मृतप्राय है और कहीं कहीं ही मिल सकती है। दामोदर पंडित की उपर्युक्त पुस्तक में जिस भाषा के उदाहरण दिए गए हैं, उसी की उत्तराधिकारिणी अवधी में विशेषण पदों के रूपों में विकार की परंपरा नहीं के बराबर है। तुलसीदास की अवधी में स्त्रीलिंग विशेष्य के साथ पुल्लिंग विशेषण का प्रयोग मिलता है, यथा 'सुकृत संभु तन विमल विभूती, परंतु साथ ही साथ 'ऊँच निवासु नीचि करतूती' का प्रयोग द्योतित करता है कि स्त्रीलिंग विशेष्य पदों का भी प्रयोग होता था। इससे सिद्ध होता है कि तुलसीदास की अवधी में विशेषण का लिंग कभी विशेष्य के अनुकूल और कभी प्रतिकूल होता था।

पश्चिमी हिंदी ने प्रा० भा० आ० की परंपरा का रक्षण किया है। आ० भा० आ० भाषाओं में आज की साहित्यिक हिंदी की यह प्रमुख विशेषता है।

§ ७७० हिंदी के तद्भव आकारांत विशेषण पदों में विशेष्य पद के लिंग, वचन एवं कारक के अनुसार निम्नलिखित परिवर्तन पाए जाते हैं—

(१) पुल्लिंग विशेष्य पद के साथ आकारांत विशेषण पद कर्ता कारक एकवचन में अपने सामान्य रूप में रहता है। उसमें कोई विकार नहीं होता।

(२) परंतु कर्ता बहुवचन एवं विकारी कारकों के दोनों वचनों में आकारांत-विशेषण पद का पदांत अ > —ए; यथा 'अच्छे लड़के सच बोलते हैं' अच्छे लड़के को अथवा अच्छे लड़कों को सभी प्यार करते हैं, इत्यादि।

(३) स्त्रीलिंग विशेष्य पद के साथ सभी वचनों एवं कारकों में आकारांत विशेषण पद का पदांत आ > ई, यथा, काली स्त्री-स्त्रियाँ स्त्रियों।

(४) जिन विशेषण पदों का पदांत स्वर 'आ' होता है, उनमें ऊपर की (२) तथा (३) की स्थितियों में क्रमश आँ—एँ तथा आँ—ईं; यथा बायाँ > बाएँ हाथ को, से, में, का, में: बाईं हथेली को हथेलियों के, से, की, में, आदि।

आकारांत विशेषणों के अतिरिक्त अन्य विशेषण पदों में रूप विकार नहीं होते।

तुलनात्मक श्रेणियाँ

§ ७७१. प्रा० भा० आ० भाषा के तुलनात्मक श्रेणियों के प्रत्यय तर् एवं तम् किसी भी आ० भा० आ० भाषा के तद्भव रूपों में सुरक्षित नहीं हैं। हिंदी में तुलना का भाव प्रकट करने के लिये विशेषणों का कोई विशेष रूप नहीं है। यह कार्य तुलनीय संज्ञा अथवा सर्वनाम पद के साथ 'से' परसर्ग लगाकर संपन्न किया जाता है; यथा ये फल मधु से भी मधुर हैं, श्याम मोहन से सुकुमार है, इत्यादि।

§ ७७२. तमवंत विशेषण (सुपरलेटिव) का भाव विशेषण पद के पूर्व 'सबसे' 'सबमें', 'सबसे बढ़कर' इत्यादि अपादान तथा अधिकरण परसर्गयुक्त पद जोड़कर प्रकट किया जाता है; यथा राम सबसे अथवा सबमें बुद्धिमान है, वह अपनी कक्षा मे सबसे बढ़कर या सबमें अधिक मेहनती भी है, इत्यादि।

§ ७७३. समानता अथवा सादृश्य का भाव संज्ञा अथवा सर्वनाम पदों के साथ सरीखा, जैसा, सा आदि पर जोड़कर प्रकट करते हैं, और इन पदों में भी आकारांत विशेषण पदों के समान रूपविकार होते हैं; यथा उमा सरीखी नारियाँ, कृष्ण जैसे पुरुष इत्यादि।

इन पदों की व्युत्पत्ति निम्न प्रकार से संपन्न होती है—

हिं० सरीखा < म० भा० आ० सरीक्ख < प्रा० भा० आ० सदृश; जैसा < जइस < यादृश; सा < सअं < सम।

§ ७७४. अतिशयता (इनटेनसिटी) या आधिक्य का भाव प्रकट करने के लिये विशेषण पद के साथ 'सा' प्रयुक्त होता है, और इसमें भी आकारांत विशेषण पद के विकार होते हैं; यथा बहुत से फल, अच्छी सी पुस्तक इत्यादि। यह सा < म० भा० आ० सो < प्रा० भा० आ० शस् < यथा 'बहुशः' से आया है।

सर्वनामीय विशेषणों का उल्लेख सर्वनामों के साथ होगा।

संख्यावाचक विशेषण

हिंदी के संख्यावाचक विशेषण पदों का निम्नलिखित वर्गीकरण किया जाता है—

गणनात्मक संख्यावाचक विशेषण

§ ३७५ नीचे हिंदी के गणनात्मक संख्यावाचक विशेषण, व्युत्पत्ति सहित दिए जाते हैं। रूपक्रम में पहले हिंदी तब म० भा० और तब प्रा० भा० आ० का रूप दिया गया है।

(१) एक (पं० इक्क) < एक्क < एक
(२) दो (अ० बँ० वि० उड़ि० दुइ; गुज० बे; मरा० दोन) < प्रा० द्वे, (अशो० शाह०, दुवि तथा दुवे)।
(३) तीन् < तिण्णि < त्रीणि
(४) चार् < चउरो, चत्तारो, चत्तारि < चत्वारि
(५) पाँच् < पञ्च < पञ्च
(६) छः < छह् < षट् (षष्)
(७) सात् < सत्त < सप्त
(८) आठ् < अट्ठ < अष्ट
(९) नौ < नउ, नअ, णअ < नव
(१०) दस् < दस, दह, डह, < दश
(११) ग्यारह् < एआरह < एकादश
(१२) बारह < बारह, बारस < द्वादश
(१३) तेरह < तेरह, तेरस < त्रयोदश
(१४) चौदह < चउद्दह < चतुर्दश
(१५) पंद्रह < पण्णरह < पञ्चदश
(१६) सोलह < सोलह < षोडश
(१७) सत्रह < सत्तरह < सप्तदश
(१८) अठारह < अट्ठारह < अष्टादश
(१९) उन्नीस < उनवीसइ < ऊनविंशति
(२०) बीस् < वीसअ, वीसइ < विंशति
(२१) इक्कीस् < एक्कवीसअ < एकविंशति
(२२) बाइस् < बावीसं < द्वाविंशति
(२३) तेइस् < तेवीसं < त्रयोविंशति
(२४) चौबीस् < चउव्वीस < चतुर्विंशति
(२५) पचीस् < पंचवीसं < पञ्चविंशति
(२६) छब्बीस् < छव्वीसं < षड्विंशति
(२७) सत्ताईस् < सत्तवीसा < सप्तविंशति
(२८) अट्ठाईस् < अट्ठावीसा < अष्टाविंशति

(२९) उंतीस् < ऊणवीसा, एकूणवीसा < ऊनविंशत्
(३०) तीस् < तीसम्र < त्रिंशत्
(३१) एकत्तीस् < एक्कतीसम्र < एकत्रिंशत्
(३२) बत्तीस् < बत्तीसा < द्वात्रिंशत्
(३३) तैंतीस् < तेत्तीसा < त्रयस्त्रिंशत्
(३४) चौंतीस् < चोतीसं < चतुस्त्रिंशत्
(३५) पैंतीस् < पन्नतीसं, पणतीसं < पंचत्रिंशत्
(३६) छत्तीस् < छत्तीसं < षट्त्रिंशत्
(३७) सैंतीस् < सत्ततीसं < सप्तत्रिंशत्
(३८) अड़तीस् < अट्ठतीसा < अष्टात्रिंशत्
(३९) उंतालीस् < उंतालीस् < ऊनचत्वारिंशत्
(४०) चालीस् < चत्तालीसा < चत्वारिंशत्
(४१) इकतालीस् < एक्कचत्तालीसा < एकचत्वारिंशत्
(४२) बयालीस् < बायालीसं < द्विचत्वारिंशत्
(४३) तितालीस् < तेआलीसा < त्रि ,,
(४४) चवालीस् < चोवालीसा < चतुश् ,,
(४५) पैंतालीस् < पन्नचत्तलीसा < पंच ,,
(४६) छियालीस् < छच्चत्तालीसा < षट् ,,
(४७) सैंतालीस् < सत्तालीसा < सप्त ,,
(४८) अड़तालीस् < अट्ठचत्तालीसं < अष्ट ,,
(४९) उंचास् < ऊणपंचास, ऊणपंचासा < ऊनपंचाशत्
(५०) पचास् < पणासा, पंचासा < पञ्चाशत्
(५१) इक्यावन < एक्कावण्णं < एकपंचशत्
(५२) < बावन् < बावण्णं < द्विपंचाशत्
(५३) त्रेप्पन्, तिरपन् < तेवण्ण, त्रिप्पण्ण < त्रि ,,
(५४) चौवन् < चउप्पण्ण < चतु: ,,
(५५) पचपन् < पंचावण्ण < पंच ,,
(५६) छप्पन् < छप्पण्ण < षट्पंचाशत् ,,
(५७) सत्तावन् < सत्तावण्णं < सप्त ,,
(५८) अट्ठावन् < अट्ठवण्णं < अष्टपंचाशत्
(५९) उन्सठ् < एगूणसट्ठि, अउणट्ठि < ऊनषष्ठि
(६०) साठ् < सट्ठि < षष्ठि
(६१) इक्सठ् < एकसट्ठि < एकषष्ठि
(६२) बासठ् < बासट्ठि < द्वा ,,

(६३) त्रेसठ् < तेसट्ठि, तिरसट्ठि < त्रिषष्ठि
(६४) चौसठ् < चउंसट्ठि < चतुः ,,
(६५) पैंसठ् < पइसट्ठि < पंच ,,
(६६) छियासठ् < षट् ,,
(६७) सड़सठ् < सत्तसट्ठि < सप्त ,,
(६८) अड़सठ् < अट्ठसट्ठि < अष्ट ,,
(६९) उनहत्तर < एगूणसत्तरिं < ऊनसप्तति
(७०) सत्तर् < सत्तरि < सप्तति
(७१) इकहत्तर् < एकसत्तरि, एकहत्तरि < एकसप्तति
(७२) बहत्तर् < बिसत्तरिं, बावत्तरिं < द्वि ,,
(७३) तिहत्तर् < तेवत्तरिं < त्रि सप्तति
(७४) चौहत्तर् < चउहत्तरिं < चतुस्सप्तति
(७५) पिच्हत्तर् < पचहत्तरि पन्नत्तरि < पञ्चसप्तति
(७६) छियत्तर् < छावत्तरि < षट् ,,
(७७) सतत्तर् < सत्तहत्तरिं < सप्त ,,
(७८) अठहत्तर < अट्ठहत्तरिं < अष्ट ,,
(७९) उनास्सी < उणास्सी < एकोनाशीति
(८०) अस्सी < असीइ < अशीति
(८१) इक्यासी < एक्कासीइं < एकाशीति
(८२) बयासी < बासीइं < द्व्यशीति
(८३) तिरासी < तेसडि < त्र्यशीति
(८४) चौरासी < चउरासीइ < चतुरशीति
(८५) पचासी < पञ्चासीइं < पंचाशीति
(८६) छियासी < छइसीइं < षडशीति
(८७) सतासी < सत्तासीइं < सप्ताशीति
(८८) अठासी < अट्ठासि < अष्टाशीति
(८९) नवासी < एगूणनउइं < नवाशीति, एकोननवति
(९०) नब्बे < नउए, नब्बए < नवति
(९१) इक्यान्बे < एक्काणउइं < एकनवति
(९२) बान्बे < बाणउइं < द्वि ,,
(९३) तिरान्बे < तेणउइं < त्रि ,,
(९४) चौरान्बे < चउणउइं < चतुर् ,,
(९५) पचान्बे < पञ्चाणउइं < पंच ,,
(९६) छियान्बे < छण्णउए < षण्णवति

(९७) सत्तान्बे <सत्तानउए <सप्तनवति
(९८) अठान्बे < <अष्टा ,,
(९९) निन्यान्बे < <नव ,,
(१००) सौ <सउ, सव. सअ <शत
(१०००) हजार <सहस, दस—शत् (दस् सौ)
(१,००,०००) लाख् <लक्ख <लक्ष
(१,००,००,०००) करोड़ <कोडि, कोड <कोटि।
(१,००,००,००,०००) अरब् < अर्बुद
(१,००,००,००,००,०००) खरब् < खर्व

§ ७७६ आ० भा० आ० भा० की प्रायः सभी शाखाओं में, गणनात्मक-संख्यावाचक विशेषण-पदों की अत्यधिक समानता वर्त्तमान है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन विशेषण पदों में भारतीय आर्यभाषा की विभिन्न प्रादेशिक ध्वनियाँ अपरिवर्तित रहीं। यदि ऐसा हुआ होता तो अन्य शब्द रूपों के सदृश इनके रूप में भी परिवर्तन अपरिहार्य सा हो जाता। इनकी इस समानता का कारण सुनीति कुमार चैटर्जी के अनुसार इन विशेषण-पदों का मध्य भारतीय आर्यभाषा की किसी विशेष बोली से सभी आ० भा० आ० भाषाओं में एक ही रूप ग्रहण किया जाना हो सकता है। चैटर्जी का यह मत है कि मध्य भारतीय आर्यभाषा के प्रथम पर्व में मध्यदेशीय भाषा पाली से इन संख्यावाचक विशेषण पदों का अत्यधिक सादृश्य यह सूचित करता है कि पाली के ये रूप समस्त देश में प्रयुक्त होते थे और इन्होंने स्थानीय रूपों को दबा दिया था, यद्यपि किसी किसी संख्यावाचक विशेषण के स्थानीय रूप भी प्राप्त हो गए हैं; यथा पंजाबी बीह् (हिं० बीस्), सिंधी—वए, गु० बे, बँ० दुइ (हिं० दो)। परंतु इन स्थानीय रूपों की संख्या अत्यल्प है। पाली में भी द्वादश का रूपपरिवर्तन पाली की प्रकृति के अनुसार दुवादस या द्वादस होना चाहिए और यह रूप पाली में प्राप्त भी है। परंतु इसके साथ ही पाली में द्वादश>बारस रूप भी मिलता है, जो संभवतः किसी अन्य बोली से पाली में आया हुआ मालूम होता है। इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि गणनात्मक संख्यावाचक विशेषण पदों के रूप में भिन्न भिन्न बोलियों के ध्वनितत्वों का मिश्रण भी हुआ और म० भा० आ० भा० काल में यह सर्वत्र एक ही रूप में गृहीत हुए।

विभिन्न आ० भा० आ० भाषाओं के गणनात्मक संख्यावाचक विशेषण पदों में स्>ह्, इत्यादि परिवर्तनों की (यथा पंजाबी-बीह, चालीह, बाहठ, परंतु हिंदी, बीस, चालीस, बासठ्) से सूचित होता है कि पाली से इनको ग्रहण करने के पश्चात् उत्तर-पश्चिम की भाषा में स्>ह् परिवर्तन हुआ और तब यह परिवर्तन विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं में भी विभिन्न अंशों में गृहीत हुआ।

६७७७ नीचे चटर्जी के आधार पर हिंदी के गणनात्मक संख्यावाची विशेषणों के मुख्य मुख्य परिवर्तनों पर विचार किया जाता है—

(१) एक् ध्वनि परिवर्तन की सामान्य प्रवृत्ति के अनुसार म० भा० आ० में प्रा० भा० आ० का प्रतिरूप एअ होना चाहिए था। परंतु व्यंजन ध्वनि 'क्' को सुरक्षित रखकर इस सामान्य प्रवृत्ति का उल्लंघन किया, यह इसके प्रयोगाधिक्य का ही प्रभाव समझना चाहिए। अन्य संख्यावाचक शब्दों के संयोग से एक् का हिंदी में 'इक्' रूप हो जाता है; यथा इक्कीस, इकतीस, इक्तालीस, इक्कावन, इकसठ, इकहतर, इत्यादि। इस परिवर्तन का कारण विवृताक्षर में स्वराघात् की निर्बलता है। परंतु ग्यारह में 'क'>'ग्' परिवर्तन की असामान्य स्थिति प्रदर्शित करता है। संभवतः इसपर प्रा० भा० आ० एक एक>अर्धमागधी 'एग' का प्रभाव पड़ा हो।

(२) इसकी उत्पत्ति म० भा० आ० दो<प्रा० भा० आ० 'द्वौ' से है। अन्य संख्याओं के साथ संयुक्त होने पर दो का बा अथवा ब में परिवर्तन हो जाता है; यथा बारह, बाईस, बत्तीस, बयालीस, बावन इत्यादि। इस परिवर्तन में बा, ब<प्रा० भा० आ० द्वा। यह परिवर्तन दक्षिण-पश्चिम में प्रारंभ होकर अन्य क्षेत्रों में गृहीत हुआ। अन्य शब्दों के साथ समस्त होने पर दो>दु: तथा दुहरा, दुमुँहा, दुतल्ला, दुपाया, इत्यादि। परंतु 'दोपहर' इत्यादि शब्दों में यह परिवर्तन नहीं दिखाई देता।

(३) तीन इसकी व्युत्पत्ति म० भा० आ० तिण्णि<प्रा० भा० आ० त्रीणि से है। नपुंसक लिंग का यह रूप म० भा० आ० भाषाकाल के प्रारंभ से ही तीनों लिंगों में प्रयुक्त होने लगा था। अशोक के कालसी एवं धौली जौगड़ अभिलेखों में 'तिन्नि, तिनि (कालसी) पानानि' प्रयोग मिलता है, जबकि गिरनार अभिलेख में 'ती (णी) पाणा' और शाहबाज़गढ़ी 'त्र —(यो) प्रण' रूप प्राप्त हैं।

म० भा० आ० तिण्णि रूप की व्युत्पत्ति सीधे त्रीणि से न होकर बीच के रूप तीण्णि से हुई जान पड़ती है, क्योंकि ध्वनिपरिवर्तन की सामान्य दिशा का अनुसरण करते हुए त्रीण का म० भा० आ० में तीणि अथवा (मागधी) टीणि रूप बनाना चाहिए था। अनुमानित तीर्णी में संयुक्त व्यंजन के समीकरण तथा परिणामतः पूर्व दीर्घ स्वर का ह्रस्व करने से तिण्णि रूप निष्पन्न हुआ; यही परिवर्तन का सामान्यतः प्राप्त रूप है। मागधी में त्रि<टि आज भी हिंदी 'टिकठी' (फाँसी का खंभा) शब्द <त्रिकाष्ठिका में उपलब्ध है।

अन्य संख्यावाचक शब्दों के साथ संयोग होने पर तीन् का ते (यथा तेरह <त्रयोदश; तेईस <त्रयोविंश), तैं (यथा तैंतीस्, पैंतीस्), ति (यथा,

तितालीस्), अथवा तिर (तिर्पन्) रूप हो जाता है। इस रूप की व्युत्पत्ति त्रयः अथवा त्रि से सिद्ध होती है।

समस्त पदों में स्वरसंगति के फलस्वरूप ते > ति; यथा तिहाई < त्रिभागिक; तिपाई < त्रिपादिका इत्यादि।

(४) चार्—इसकी उत्पत्ति पुरानी-हिंदी-च्यारि < म० भा० आ० (प्रा०) चत्तारि, अप० चारि < प्रा० भा० आ० चत्वारि से हुई है। त्रीणि के सदृश नपुंसक लिंग रूप चत्वारि भी अन्य लिंगों में व्यवहृत होने लगा होगा।

अशोक के कालसी अभिलेख में पुल्लिंग में 'चत्तालि' रूप मिलता है। परंतु प्रा०) चत्तारि > अप० चारि में 'त्' के लोप का स्पष्ट कारण नहीं दीखता। संभवतः समस्त पदों के साथ चतुः—> चउ—के सादृश्य पर यहाँ भी त् का लोप हुआ।

अन्य संख्यावाचक शब्दों के साथ संयुक्त होने पर इसका रूप चौ, चौं < चउ— < चतुः—होता है; चौ चौबीस, चौंतीस इत्यादि। समस्त पदों में चार अथवा चौ का व्यवहार पाया जाता है; यथा चार्पाई, चौपाया, चौराहा।

(५) पाँच इसकी व्युत्पत्ति म० भा० आ० पंच < प्रा० भा० आ० पंच से है। संख्यावाचक शब्दों के साथ संयुक्त होने पर इसका रूप पन् वन् या अन् (यथा पंद्रह, इक्कावन् चौवन्, छप्पन्) या पैं (यथा पैंतालिस) हो जाता है। इन रूपों की उत्पत्ति क्रमशः म० भा० आ० पण्ण पञ्च से है। पँचमेल इत्यादि समस्त पदों में पाँच > पँन् स्वराघात् के निर्बल पड़ने के कारण हैं।

(६) छः, छै—म० भा० आ० में इसका रूप 'छः' मिलता है। परंतु हिंदी में सोलह < षोडश इत्यादि रूपों में ष > स् देखकर, यह समझना कठिन है कि 'छः' में ष —छ् कैसे हो गया। चाटुर्ज्या ने इसकी व्याख्या के लिये प्रा० भा० आ० के क्षश क्षक् रूपों की कल्पना की है। क्ष् > छ परिवर्तन की सामान्य स्थिति से मेल खा जाता है। संख्यावाचक शब्दों के साथ संयुक्त होने पर इसका छ (यथा छत्तीस्, छब्बीस्) या छिया (यथा-छियासठ्) रूप होता है।

(७) सात्—इसकी उत्पत्ति म० भा० आ० सत्त पर इसके < प्रा० भा० आ० सप्त से स्पष्ट है। अन्य संख्यावाचक शब्दों के साथ संयुक्त होने पर इसके सत्त या सत् (यथा —सत्ताइस सतावन्), सैं (यथा, सैंतीस) तथा सड् (यथा, सड् सठ्) रूप होते हैं। सैं < सइं स्वरसंगति के कारण जान पड़ता है और पैंतीस के सादृश्य पर इसमें अनुनासिक का समावेश हुआ है। सड् में

परिवर्तन का अप्रचलित रूप मिलता है। संभवतः यह अंग सठ के सादृश्य पर हुआ है।

(८) आठ्—इसकी व्युत्पत्ति म० भा० आ० अट्ठ <प्रा० भा० आ० अष्ट से स्पष्ट है। अन्य संख्यावाचक शब्दों के साथ मिलने पर इसके अठ्, अड़, या अठा रूप होते हैं; यथा—अठ्हत्तर, अठ्ठाईस, अठासी। अड़तीस् इत्यादि रूपों में अठ् > अड् असाधारण परिवर्तन है।

(९) नौ—इसका संबंध म० भा० आ० नउ, नअ <प्रा० भा० आ० नव से स्पष्ट है। संयुक्त संख्यावाचक शब्दों में नौ का व्यवहार न कर, प्रा० भा० आ० ऊन् > उन् का प्रयोग होता है; यथा उन्नीस <ऊनविंशति।

(१०) दस्—इसकी उत्पत्ति म० भा० आ० दस <प्रा० भा० आ० दश से सिद्ध होती है। संयुक्त संख्यावाचक शब्दों में दह, रह, लह, रूप प्राप्त होते हैं; यथा—चौदह, बारह, सोलह।

(११) बीस—प्रा० भा० आ० विंशति > (पाली) वीसति, वीसइ, वींसइं; पाली वीसा वीस, बीस। बीस की उत्पत्ति त्रिंशत् के सादृश्य पर विंशत् से सिद्ध प्रतीत होती है। संख्यावाचक शब्दों के साथ संयुक्त होने पर बीस या ईस रूप मिलते हैं; यथा—चौबीस, बाईस, पचीस्, उन्नीस्।

बीस के लिये हिंदी में कोड़ी शब्द का व्यवहार मिलता है। यह शब्द संभवतः 'कोल' प्रभाव के कारण है, क्योंकि बीस को ईकाई मानकर गिनने की प्रथा 'कोलों' में सुप्रतिष्ठित है।

(१२) तीस्—इसकी उत्पत्ति प्रा० भा० आ० त्रिंशत् से स्पष्ट है। संख्यावाचक शब्दों के साथ संयोग होने पर इसके रूप में विकार नहीं आता है; यथा—इकतीस, बत्तीस, इत्यादि।

(१३) चालीस्—इसकी उत्पत्ति म० भा० आ० चत्तालीस <प्रा० भा० आ० चत्वारिंशत से संपन्न हुई है। र् > ल् से मालूम होता है कि चत्तालीस रूप ने, प्राच्य प्रदेश से, अन्य क्षेत्रों में प्रसार पाया। अन्य संख्यावाचक शब्दों के साथ संयोग होने पर इसके तालीस, वालीस् या यालीस् रूप मिलते हैं; यथा इकतालीस, बयालीस्, तितालीस्, चवालीस।

(१४) पचास—प्रा० भा० आ० पंचाशत् से इसकी व्युत्पत्ति निष्पन्न होती है। अन्य संख्याओं से योग होने पर इसके पन्, वन् रूप मिलते हैं जो म० भा० आ० पंण, पन्न से सिद्ध हैं; यथा तिरपन्, चौवन् इत्यादि। उंचास में 'प' का लोप भी मिलता है।

(१५) साठ—इसकी उत्पत्ति म० भा० आ० सट्ठि <प्रा० भा० आ० षष्ठि से निष्पन्न होती है। संयुक्त संख्यावाचक शब्दों में स्वराघात के प्रभाव से इसका रूप सठ् हो गया है; यथा इक्सठ्, बासठ् आदि।

(१६) सत्तर्—प्रा० भा० आ० सप्तति के पाली में सत्तति, सत्तरि दोनों, प्रतिरूप मिलते हैं। ल् > र् का परिवर्तनक्रम त् > ट् > ड् > र् रहा होगा और संभवतः ड् > र् परिवर्तन सप्तदश > सत्तरह से प्रभावित हुआ होगा। हिंदी में द्वित्व व्यंजन 'त्' की अवस्थिति पंजाबी प्रभाव का सूचक है। संयुक्त संख्यावाचक शब्दों में साधारणतया सत्तर् > हत्तर्; यथा इकहत्तर, बहत्तर, परंतु सतत्तर, अठत्तर में 'ह' भी लुप्त हो गया है।

(१७) अस्सी—इसकी व्युत्पत्ति प्रा० भा० आ० अशीति से निष्पन्न होती है। संयुक्त संख्याओं में इसका रूप आसी या यासी है, जो हिंदी के ध्वनि विकास के अनुकूल है। 'अस्सी' में द्वित्व व्यंजन पंजाबी प्रभाव के कारण है।

(१८) नब्बे—प्रा० भा० आ० नवति से इसकी उत्पत्ति सिद्ध होती है। द्वित्व व्यंजन पंजाबी प्रभाव के कारण है। संयुक्त संख्याओं में इसका रूप नबे हो जाता है; यथा इक्यानबे, बानबे आदि।

(१९) सौ—इसकी उत्पत्ति सउ <सय, सअ <शत से हुई है। इसका यही रूप संयुक्त संख्यावाची शब्दों में भी सुरक्षित है; यथा एक सौ, पाँच सौ, आदि। सैकड़ा शब्द में सै <सइ, सय, सअ।

(२०) हजार—यह फारसी से हिंदी में आया है।

(२१) लाख—इसकी व्युत्पत्ति म० भा० आ० लक्ख <प्रा० भा० आ० लक्ष से स्पष्ट है। समस्त पदों मे लाख > लख् हो जाता है, यथा लख्पती।

(२२) करोड़—यह शब्द संभवतः सं० कोटि > कोडि, कोड को संस्कृत रूप देने की प्रवृत्ति के कारण बन गया है। संस्कृत से अनभिज्ञ लोगों के मुख से भोर्जन, आप जैसे अशुद्ध रूप आज भी इस प्रवृत्ति के सूचक हैं।

(२३) अरब—यह शब्द संस्कृत अर्बुद से व्युत्पन्न हुआ है और खरब सं० खर्व का अ० ल० रूप है।

क्रमात्मक संख्यावाचक विशेषण

§७७८ हिंदी के प्रारंभ के चार क्रमात्मक-संख्यावाचक-विशेषण पदों के रूप एक दूसरे से कुछ भिन्न हैं। इनकी व्युत्पत्ति नीचे दी जा रही है—पहला < (अप० पहिल, पढ़िल—(पढ़म + इल्ल) <सं० प्रथम।

दूसरा } इनकी व्युत्पत्ति संदिग्ध है। हार्नले ने सरा—की उत्पत्ति सं० सृत से मानी है। इस प्रकार इनरूपों की उत्पत्ति सं० द्विस्सृत, त्रिस्सृत से होगी।
तीसरा }

चौथा <चउत्थ<चतुर्थ।

§७७६ शेष क्रम-वाचक-संख्याओं के आगे वाँ प्रत्यय लगता है। छह् के छठवाँ एवं छठा, दोनों रूप पाए जाते हैं। छठा की व्युत्पत्ति सं० षष्ठ से है। —वा <-व (+आ) <-म: (यथा सं० पंचम इत्यादि)।

§७८० क्रमात्मक संख्यावाचक विशेषण पदों के से रूपविकार होते हैं, यथा-पाँचवाँ लड़का, पाँचवीं लड़की इत्यादि।

गुणात्मक-संख्यावाचक-विशेषण (डिमांस्ट्रेटिव्स)

§७८१ हिंदी में गुणात्मक संख्यावाचक विशेषणों के रूप में या तो बार (<सं० वारम्) शब्द प्रयुक्त होता है; यथा दो बार सात (= चौदह) इत्यादि अथवा दूनी दूना, तिया, चौका आदि शब्दों (विशेषतया पहाड़े में) का व्यवहार होता है। पहाड़े में प्रयुक्त गुणात्मक-संख्यावाचक-विशेषण पद निम्नलिखित हैं—

(१) इकं, या एकं; यथा एक इकं या एकं, एक (<सं० एकम्)।
(२) दूना, दूनी; यथा दो दूना चार (<सं० द्विगुण;)।
(३) तिया; यथा, तीन तिया नौ (<सं० तृतीयक—)।
(४) चौका; यथा, चार चौका सोलह (<सं० चतुष्क-(+ क->)।
(५) पंजा; या पचे यथा, पाँच् पंजा या पचे पच्चीस (<सं० पंचक-)
(६) छका; यथा, छह छका छत्तीस (<सं० षट्क (+ क >)।
(७) सत्ता, या सते; यथा सात सत्ता या सते उन्चास (<सं० सप्तक)।
(८) अट्ठा, या अट्ठे; यथा, आठ अट्ठा या अट्ठे चौंसठ् (<सं० अष्टक>)।
(९) नौ नवाँ; यथा, नौ नवाँ इकासी (<सं० नवम्-)।
(१०) दहाम; यथा दस दहाम् सौ (<सं० दशम्-, प्रा० दसम-)।
दूना, तिया इत्यादि शब्द तिर्यक रूप में भी प्रयुक्त होते हैं; यथा, दो दूने चार, तीन तिये नौ इत्यादि।

(४) समूहवाचक संख्याएँ (कलेक्टिव न्यूमरल्स)

§(७८२) हिंदी में साधारणतया निम्नलिखित शब्दों का प्रयोग समूह-वाचक संख्याओं को प्रकट करने के लिये होता है—

जोड़ा, जोड़ी <उत्तरकालीन सं० यह (मिला० सं० युटक)।

गंडा 'चार का समूह' <मुंडा एवं संथाली शब्द गंडा।

चौक् 'चार का समूह; <म० भा० आ० चउक्क <चतुष्क।

पञ्जा पांच का संग्रह <पञ्चअ <पञ्चक।

कोड़ी 'बीस का समूह'।

सैकड़ा 'सौ का समूह' <सं० शत्-कृत।

लखा, लक्खा; (यथा, नौलखा हार) <सं० लक्ष (+क)

इनके अतिरिक्त गणनात्मक-संख्यावाचक-विशेषणों में आ अथवा ई प्रत्यय के योग से भी समूह का अर्थ प्रकट होता है; बीसा, चालीसा, बत्तीसी, हजारा, सतसई इत्यादि।

§ (७८३) इक्का, दुग्गा, तिग्गा, चौका, पंजा, छक्का, सत्ता, अट्ठा, नहला, दहला शब्द ताश के पत्तों के नाम के रूप में प्रयुक्त होते हैं। इनकी उत्पत्ति संदिग्ध है। इनमें द्वित्व व्यंजनों की स्थिति से अनुमान किया जाता है कि कदाचित् ये पंजाबी से आए हैं।

समानुपाती-संख्यावाचक-विशेषण

(प्रोपोर्शनल न्यूमरल्स)

§(७८४) साधारणतया संख्याओं में 'गुना' (<सं० गुण (+क) प्रा० गुणअ। शब्द के योग से समानुपाती-संख्यावाचक-पद बनाए जाते हैं। इनके योग से गणनात्मक-संख्यावाचक-शब्द के रूप में थोड़ा परिवर्तन हो जाता है; यथा दुगुना-दुग्ना-दूना (=दो+गुना), तिगूना तिगुना, चौगुना पंचगुना आदि।— 'गुना' के स्थान पर कुछ संख्यावाचक शब्दों में 'हरा' भी जोड़ा जाता है। इस 'हरा' की उत्पत्ति सं० हर='भाग' से बताई जाती है।

भिन्नात्मक-संख्यावाचक-विशेषण

फ्रैक्शनल न्यूमरल्स

§७८५ हिंदी की भिन्नात्मक संख्याएँ नीचे व्युत्पत्तिसहित दी जाती हैं। सभी आ० भा० आ० भाषाओं में ये वर्तमान हैं:

$\frac{1}{4}$ पौवा, पाव <म० भा० आ० पाउआ (पाउ+उका) पाअ <सं० पाद।

$\frac{3}{4}$ पौन, पौना <पाउठा <पादोन,

$\frac{1}{3}$ तिहाई <तिहाइअ <त्रिभागिक;

$\frac{1}{2}$ अद्धा, आधा <अद्धअ <अर्द्धक;

$1\frac{1}{2}$ डेढ़, ड्योढ़ा <डि अड्ढ (अ) <द्वि अर्द्ध (क);

२½ ढ़ाई, अढ़ाई < अड्ढइअ < अर्द्ध तृतीय (क);
१¼ सवा < सवाअ < सपाद;

(तिर्यक् रूप)

+½ साढ़े < सड्ढ < सार्द्ध ।

ऋणात्मक-संख्यावाचक-विशेषण

§ ७८६ हिंदी में ऋणात्मक संख्या 'कम्' (< फा० कम) के योग से बनती है; यथा—एक कम् सौ (= निन्यान्वे)। प्रायः अपढ़—लोगों के व्यवहार में इस प्रकार के प्रयोग मिलते हैं।

प्रत्येक वाची संख्यावाचक विशेषण

§ ७८७ प्रत्येक वाची संख्याएँ किसी गणनात्मक संख्यावाचक शब्द को दुहराने से प्रकट की जाती हैं; यथा एक एक, सौ सौ इत्यादि।

निश्चित संख्यावाचक विशेषण

§ ७८८ निश्चित भाव प्रकट करने के लिये गणनात्मक संख्यावाचक शब्दों में ओ प्रत्यय लगाया जाता है; यथा, दोनों ('तीनों' के सादृश्य पर यहाँ 'नो' लगाया गया है, तीनों, चारों पाँचों, इत्यादि।

अनिश्चित संख्यावाचक विशेषण

§ ७८९ अनिश्चय का भाव प्रकट करने के लिये दस्, बीस्, तीस्, सैकड़ा, हजार आदि दस के गुणित संख्यावाचक शब्द में ओ प्रत्यय लगाया जाता है; यथा दसो, बीसो, पचासो इत्यादि।

§ ७९० अनिश्चय का भाव प्रकट करने के लिये संख्याओं के साथ 'एक' शब्द लगाने की भी प्रथा है; यथा पाँच एक, दस एक। 'एक' के साथ 'आध्' जोड़कर बना हुआ 'एकाध्' शब्द भी अनिश्चय का भाव प्रकट करता है। इसी प्रकार दो संख्यावाचक शब्दों के योग से भी अनिश्चय व्यक्त किया जाता है; यथा दस पाँच, दस बीस्, बीस् तीस्, दस ग्यारह, दो चार, पाँच सात इत्यादि।

'सर्वनाम'

§ ७९१ वैदिक तथा लौकिक संस्कृत में सर्वनाम के रूपों का बहुत कुछ स्थिरीकरण हो चुका था। इन्हीं निष्पन्न रूपों से हिंदी सर्वनामों की उत्पत्ति हुई, किंतु, प्राकृत अपभ्रंश तथा आधुनिक भाषाओं तक आते आते इनमें पर्याप्त विपर्यय लक्षित होता है। कई आधुनिक आर्यभाषाओं में, सर्वनामों के विकल्प से, अनेक रूप मिलते हैं, किंतु वे सभी कतिपय मूल रूपों के अंतर्गत आ सकते हैं।

संज्ञापदों की भाँति ही, विकासक्रम के साथ साथ सर्वनाम के विकारी रूप लुप्त होते गए, एवं उनका स्थान संबंध तथा अधिकरण कारक ने ले लिया।

संस्कृत में केवल अन्य पुरुष के ही सर्वनाम में लिंगभेद था, किंतु आधुनिक आर्यभाषाओं के विकास के साथ साथ यह भी लुप्त हो गया। आधुनिक आर्य-भाषाओं के संबंध कारक के रूप वस्तुतः लिंग वचन में तद्वत् होने के कारण विशेषण पर ही निर्भर हैं। प्राकृत, अपभ्रंश की यही गतिविधि रही। हिंदी में यह क्रम आज भी अक्षुण्ण है। जैसे, मेरा नौकर, मेरी गाय।

§ ७६२ सर्वनाम के कई भेद हैं; यथा—

(१) व्यक्तिवाचक या पुरुषवाचक	(परसनल)।
(२) उल्लेखसूचक	(डिमान्स्ट्रेटिव)।
(क) प्रत्यक्ष उल्लेखसूचक	(नीयर डिमान्स्ट्रेटिव)।
(ख) परोक्ष या दूरत्व उल्लेख्यसूचक	(रिमोट डिमान्स्ट्रेटिव)।
(३) साकल्यवाचक	(इनक्लूसिव)।
(४) संबंधवाचक	(रिलेटिव)।
(५) पारस्परिक संबंधवाचक	(को-रिलेटिव)।
(६) प्रश्नसूचक	(इंट्रोगेटिव)।
(७) अनिश्चयसूचक	(इनडेफिनिट)।
(८) आत्मवाचक	(रीफ्लेक्सिव)।
(९) पारस्परिक	(रेसीप्रोकल)।

'पुरुषवाचक सर्वनाम'

§ ७९३ इस सर्वनाम के हिंदी में केवल उत्तम तथा मध्यम पुरुष के रूप मिलते हैं। अन्य पुरुष में परोक्ष वा दूरत्व उल्लेख्य-सूचक-सर्वनाम के ही रूप पाए जाते हैं।

'उत्तम पुरुष'

हिंदी में इसके अधोलिखित रूप हैं :

	ए० व०	ब० व०
कर्ता	मैं	हम्
कर्म	मुझे	हमें (हम+को)
तिर्यक् या विकारी	मुझ	हम्
संबंध (पु०)	मेरा	हमारा
,, (स्त्री० लिं०)	मेरी	हमारी

व्युत्पत्ति—हिंदी 'मैं' की उत्पत्ति सं० मया+एन से हुई है। यह रूप हिंदी की ख० बो०, ब्रॉ०, ब्र०, कनौ०, बुंदे०, पं०, को०, छत्ती०, म०

पू० रा०, मे०, कुमा०, गढ़०, में प्राप्त है। बुंदे०, छत्ती०, मै०, भो० पु०, और कौ० में इसका 'में' रूप भी प्रयुक्त होता है। प्राकृत के करण कारक में मया > मए। अपभ्रंश में इसके 'मैं' तथा 'महँ' रूप मिलते हैं। अपभ्रंश तथा हिंदी के अनुनासिक का कारण वस्तुतः 'एन' है (बे० लै० § ५३६)। यह अनुनासिक पं० मैं, गु० मैं तथा भो० पु० में, अव० मैं, सिं० तथा उ० मुँ०, प्रा० मरा० म्यॉ एवं आ० मरा० 'मीं' में वर्तमान है।

'हम' की उत्पत्ति संस्कृत वयम् के स्थान पर वैदिक 'अस्मे' से निम्नरूपेण परिनिष्पन्न हुई—

अस्मे > अम्ह > हम्य > हम। ब्रजभाषा में उ० पु०, एकवचन का रूप हौं भी मिलता है। इसकी उत्पत्ति अहम् से निम्नलिखित रूप में हुई है :

अहम् > अहकं > हअं > हवं > हौं। 'हम' शब्द हिंदी की अन्य बोलियों में 'ख० तो०, बाँ०, ब्र०, बुंदे०, को०, छत्ती०, मे०, कुमा०, गढ़ में में भी मिलता है। बघे० में हम्ह्, मै० में हमसम्, भो० पु० में 'हमरन', 'हमरनी, 'हमनी' एवं 'हमनी का', सिर० में 'हाम्', 'हामे', 'होमे', कुमा० मे 'हाम्मे' रूप भी प्रयुक्त होते हैं।

मुझ तथा म० पु० के तुझ् की उत्पत्ति क्रमशः सं० मह्यम् तथा तुभ्यम् से हुई है—मह्यम् > मा० भा० आ० मज्झ > मुझ। 'म' में उकार का आगम् तुझ के सादृश्य पर हुआ।

तुभ्यम् > म० भा० आ० तुज्झ > तुझ। प्रो० लासेन ने ह्य > ज्झ के लिये सं० √लिह्०—प्रा० लिज्झ उदाहरण उपस्थित किया है।

'मुझ' शब्द हिंदी की अन्य बोलियों में से ख० बो० में ही प्राप्त है। ब्र० में इसका मुज्० एवं मे० मी मुज् रूप मिलते हैं। 'तुझ' शब्द हिंदी की अन्य बोलियों में से ख० बो० में ही पाया जाता है। ब्र० में तुज् एवं उ० पू० रा० तथा मे० में भी तुज् रूप ही प्राप्त है। 'मेरा' की उत्पत्ति 'मम केर' से निम्नलिखित रूप में हुई है—

मम-केर (<कार्य) > ममेर > मेर आ > मेरा।

यह शब्द हिंदी की ख० बो०, बाँ०, पं०, सिर०, तथा कु० में प्रयुक्त होता है। ब्र० में इसका 'मेरौ'; मेर्यौ; क० में 'मेरो', बुंदे० में 'मेरो; मोरो', को० में 'मोर्' छत्ती० तथा मै० में 'मोर्, म० में 'मोर्' 'मोरा', मे० और ने० में 'मेरो' रूप मिलता है। गढ़० तथा नै० में भी 'मेरो' रूप मिलता है।

'हमारा' की उत्पत्ति 'अस्मकर' से निम्नरूपेण हुई—अस्मकर > हमारा।

यह शब्द हिंदी के ख० बो० में ही प्राप्त है। इसका बाँ०, मैं म्हारा, ब्र० मे हमारौ, हमार्यौ, क० में हमारो० को० छत्ती० में 'हमार', ने० से हामरो, गढ़० में हमारो रूप भी मिलते हैं।

अवधी तथा भोजपुरी 'मोर' की उत्पत्ति 'मम-कर' से हुई है—

ममकर > मोअर > मोर।

'मेरी' 'हमारी' में 'ई' वस्तुतः स्त्रीप्रत्यय है।

'मध्यम पुरुष'

§ ७६४ हिंदी में इसके निम्नलिखित रूप हैं—

	ए० व०	ब० व०
कर्त्ता	तू	तुम
कर्म	तुझे	तुम्हें
तिर्यक् या विकारी	तुझ्	तुम्ह-तुम्
संबं० (पुं०)	तेरा	तुम्हारा
(स्त्री० लिं०)	तेरी	तुम्हारी

व्युत्पत्ति—तू की उत्पत्ति वैदिक तु (जैसा कि तु अम् में मिलता है) तथा त्वम् = प्रा० तू, से हुई है। सं० युष्मे का रूप प्रा० में 'तुम्हें' हो गया, यथा युष्म का रूप प्रा० में तुम्ह बन गया। इसी से तुम भी बना।

यह 'तू' शब्द हिंदी की ख० बो०, क०, पं०, म० पू० रा०, उ० पू० रा०, मे०, गढ़०, जौ०, सिर०, किऊँ०, तथा कु० में बोला जाता है। बाँ०, बुंदे०, को०, भो० पु०, मार०, मा० में इसका तूँ रूप मिलता है।

'तुम' शब्द हिंदी की ख० बो०, ब्र०, क०, बुंदे०, को०, छत्ती०, उ० पू० रा०, मे० कुमा०, गढ़०, जौ०, सिर० तथा कु० में व्यवहृत होता है। बघे० में तुम्ह. किऊँ० मे तुमें रूप भी मिलता है। इन रूपों में 'तू' के प्रभाव से सं० पु > तु। तुझ की व्युत्पत्ति तुभ्यम् से पहले दी जा चुकी है। तेरा की उत्पत्ति तव-केर (< कार्य) से हुई। यह शब्द हिंदी की ख० बो०, बाँ०, सिर०, किऊँ, तथा कु० में मिलता है। ब्र० में तेरौ, तेर्यौ, क०, उ० पू० रा०, मे०, ने०, कुमा०, गढ़०, सिर०, मे इसका 'तेरो' रूप मिलता है।

'तुम्हारा' की उत्पत्ति तुम्ह < युष्म + केर (< कार्य) से हुई। यह शब्द हिंदी की ख० बो०, सिर०, किऊँ में बोला जाता है। बाँ में 'थारा' ब्र० में तुम्हारौ, तुम्हार्यौ, तिहारौ, तिहार्यौ, क० में तुम्हारो, बघे० और छत्ती० में तुम्हार रूप मिलते हैं।

'प्रत्यक्ष उल्लेखसूचक सर्वनाम'

§ ७६५ हिंदी में इसके निम्न रूप हैं—

	ए० व०	ब० व०
कर्त्ता	यह	ये
तिर्यक्	इस	इन्ह्

व्युत्पत्ति—यह की उत्पत्ति सं० एषः से इस प्रकार हुई है—

एषः > पा० एस प्रा० एसो > अप० एहो > यह। बहुवचन 'ये' की उत्पत्ति सं० एते से निम्नलिखित रूप से हुई है—

एते > प्रा० एए, एये (य-श्रुति से) > अप० एइ > ये। 'यह' हिंदी की ख० बो०, ब्र०, क० में व्यवहृत होता है। पं० में इह्, एह भो० पु० में 'ई', 'इहे' और कु० में इसका 'येह' रूप मिलता है।

तिर्यक् इस् की उत्पत्ति एतस्य से निम्न रूप से निष्पन्न हुई है—

एतस्य > पा० एतस्य > प्रा० एअस्स > इस्। यह शब्द हिंदी की ख० बो०, ब्र०, पं०, में पाया जाता है। क० में 'इहि' मै० में 'येहि' रूप इसके मिलते हैं।

इन्ह् की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—

एतापाम् > सं० एतेषाम् > एतानाम् > एआणं > एएह > एन्ह > इन्ह्।

यह शब्द हिंदी की ख० बो०, को०, छत्ती०, मे०, ने०, में मिलता है। छत्ती०, म०, भो० पु०, में इसका 'इन्ह' रूप मिलता है।

परोक्ष अथवा दूरत्व उल्लेखसूचक

§ ७६६ हिंदी में इसके निम्न रूप हैं —

	ए० व०	ब० व०
कर्ता	वह	वे
तिर्यक्	उस्	उन्ह्

व्युत्पत्ति—वह की व्युत्पत्ति सं० 'अदस्' शब्द के रूप, 'असौ' (प्र० ए० व०) से इस प्रकार हुई—

सं० असौ > पा० असु, प्रा० असो > अहो, ओह, वह।

हिंदी की ख० बो०, ब्र०, बघे०, में यह रूप प्रयुक्त होता है। क० में बहु, वुहि, बहु आदि रूप भी उपलब्ध हैं।

'वे' का पूर्व रूप अपभ्रंश में 'ओइ' मिलता है; यथा—जइ पुच्छहु घर वड्डाइं तो वड्डा घर 'ओइ' (हे० च०, पद ४५) यदि तुम बड़े घर को पूछते हो तो

बड़े घर वे हैं'। अविकारी ए० व० के रूप 'वह' में करण कारक ब० व० की विभक्ति सं० एभिः > अप० अहि >—

अह > हिं० — ए जोड़कर 'वे' रूप निष्पन्न हुआ प्रतीत होता है। यह हिंदी की ब्र०, क०, मार०, उ० पू० रा०, और गढ़० में व्यवहार में आता है। ख० बो० में 'वह', 'वोह्', 'वुह्', ब्र० क०, म० पू० रा०, उ० पू० रा०, मे० में इसका 'वै' रूप मिलता है।

'उस्' की उत्पत्ति सं० अमुष्य से निम्नलिखित रूप में हुई—

सं० अमुष्य > पा० अमुस्स, प्रा० अउस्स > हिं० उस्। यह शब्द हिंदी की ख० बो०, पं०, मा०, ने० में प्राप्त है। मार० में उन्, मा० में 'उना' आदि रूप भी मिलते हैं।

'उन्ह' की व्युत्पत्ति इस प्रकार है -

सं० अमुष्याम् > अमूनाम् > अउनं > उन्ह, उन्ह। चाटुर्ज्या ने इन रूपों को संस्कृत सर्वनाम 'अव' से निष्पन्न माना है। यह अव-वेद में केवल एक स्थान पर प्रयुक्त हुआ है। प्राचीन फारसी में भी इस अव के कुछ रूप प्राप्त हैं। परंतु भा० आ० भा० में इसके केवल एक अति प्राचीन उदाहरण को देखकर यह कहना कि आ० भा० आ० भाषाओं तक में इसके रूप जीवित हैं, कुछ कठिन प्रतीत होता है। टर्नर ने भी 'अव' से इन सर्वनाम रूपों की व्युत्पत्ति असंभव बताई है।

हिंदी की ख० बो०, क०, ब्र०, को०, बघे०, छत्ती०, उ० पू० रा०, मे०, मा० कुमा०, में 'उन्, शब्द प्रयुक्त होता है। म०, भो० पु० और बघे० में इसका 'उन्ह' रूप भी मिलता है।

साकल्यवाचक

§ ७६७ उभय, सकल तथा सब इसके अंतर्गत आते हैं। इनमें हिंदी में सर्वाधिक प्रचलित शब्द 'सब' ही है, जिसका प्रयोग भी पुराने पदों में मिलता है; यथा—

सकल पदारथ यहि जग माहीं।

'सब' की उत्पत्ति संस्कृत 'सर्व' से हुई है—

सर्व > पा० सब्बो, प्रा० सब्ब > सब।

संबंधवाचक

§ ७६८ हिंदी में इसके निम्नलिखित रूप हैं—

	ए० व०	ब० व०
कर्ता	जो	जो

तिर्यक्	जिस	जिन्, जिन्ह ।

'जो' की उत्पत्ति सं० यः, यो से निम्नरूपेण हुई है—

यः, यो > पा० यो, अशो० प्रा० यो, ये > प्रा० जो > जो ।

यह हिंदी की ख० बो०, क०, पं०, मार०, म० पू० रा०, उ० पू० रा०, मे०, मा०, मे०, कुमा०, गढ़०, जौ०, और किउँ० में बोला जाता है । को०, छत्ती०, मै०, म०, भो० पु० और कु० में यह सर्वनाम 'जे' रूप में विद्यमान है ।

तिर्यक् रूप 'जिस' की व्युत्पत्ति सं० 'यस्य' से निम्नलिखित रूप में हुई है — यस्य > पा० यस्स, प्रा० जस्स > हिं० जिस् ।

यह शब्द हिंदी की ख० बो०, ब्र०, पं०, और मा० में प्रयुक्त होता है । पं० में 'जिह', को० में 'जे', मै० में 'जाहि', म० में 'जेह्' और भो० पु० में 'जेह्' रूप भी मिलते हैं ।

जिन्, जिन्ह् की उत्पत्ति जाणं = येषां से हुई है । इसपर करण के पुराने बहुवचन के रूप येभि: > जेहि का भी प्रभाव है । हिंदी की बोलियों में यह शब्द ख० बो०, ब्र०, क०, छत्ती०, उ० पू० रा०, मे० और मा में 'जिन्' रूप में मिलता है । इसका 'जिन्ह्' रूप छत्ती०, म०, भो० पु० में मिलता है ।

अवधी तथा बिहारी बोलियों में, संबंधवाचक सर्वनाम के, जौन्, जवन् रूप भी प्राप्त होते हैं । ये कौन्, कवन् से सादृश्य रखते हैं । जौन्, जवन् की उत्पत्ति यः + पुनः > जपुण > जउण > जौन, जवन् ।

पारस्परिक संबंधवाचक

§ ७६६ हिंदी में इसके निम्नलिखित रूप हैं—

	ए० व०	ब० व०
कर्ता	सो	सो
तिर्यक्	तिस	तिन, तिन्ह्

व्युत्पत्ति—टर्नर के अनुसार सो उत्पत्ति सं० सो – (– स –उ) से हुई है' (दे०, ने० डि०, पृ० ६२२)। यह 'सो' प्राचीन तथा मध्ययुगीन बँगला के वैष्णव पदों में मिलता है । तुलसीदासकृत 'रामचरितमानस' में सोई (= वही) जोर देकर उच्चारण के कारण है तथा इसकी व्युत्पत्ति सः + एव है । 'सो' की उत्पत्ति चाटुर्ज्या निम्नरूपेण सिद्ध मानते हैं—

प्रा० भा० आ० सः, सकः ('सः', का विस्तृत रूप) – > शौ० प्रा० सको सगो > सओ सउ < सो । यह शब्द हिंदी की ख० बो०, ब्र०, क०, पं०, मार०, ने०, गढ़०, और जौ० में बोला जाता है । को०, मै०, म०, भो० पु० में इसका 'से' रूप भी मिलता है । तिर्यक् रूप तिस्की उत्पत्ति संस्कृत तस्य से निम्नरूपेण हुई है—

सं० तस्य < पा० तस्स, प्रा० तस्स > हिं० तिस् में 'इ' का आगम वस्तुतः जिस् के सादृश्य पर हुआ। यह शब्द हिंदी की अन्य बोलियों में से ख० बो०, ब्र०, पं०, में वर्तमान है। क० में 'तेहि', को० में 'ते', छत्ती० में 'ते', 'तोन्', 'तौन्', कुमा० में 'ते', 'तै' 'त्यै' और गढ़० में इसके 'ते' तै रूप मिलते हैं।

बहुवचन रूप तिन् की उत्पत्ति, सं० तेषां से निम्नलिखित रूप में हुई है—

सं० तेषां > तानां (आकारांत पुल्लिंग के षष्ठी विभक्ति प्रत्यय नां के योग से) > म० भा० आ० ताणां – ताणं > तिन्ह – तिह् (तिन्ह् पर करण कारक बहुवचन तेभिः > तेहि – तेहि का भी प्रभाव है)। हिंदी की ख० बो०, ब्र०, क०, छत्ती०, और ने० में इसका 'तिन्' रूप मिलता है। छत्ती०, म०, भो० पु० में इसका 'तिन्ह' रूप वर्तमान् है।

भो० पु० में पारस्परिक संबंधवाचक रूप से, ते, तौन, तवन् हैं। 'से' की व्युत्पत्ति डा० चाटुर्ज्या के अनुसार प्रा० भा० आ० 'सः' से इस प्रकार हुई है—प्रा० भा० आ० सः, सकः > अर्धमागधी, मागधी सके, शके > सगे, शगे > सए, शए > सइ, शइ > से-(= शे; असo में-श- > -ख होकर 'खे' रूप धारण किया है)।

'ते' की उत्पत्ति 'सकः' > से के आदर्श पर 'तत् + क' से प्रतीत होती है अप० तेइं (< सं० तेषां) से भी इसकी उत्पत्ति संभव है।

तौन्, तवन् की उत्पत्ति 'कौन' 'कवन्' के समान 'तत्' से हुई है।

प्रश्नसूचक

§ ८०० हिंदी में इसके निम्नलिखित रूप हैं—

	ए० व०	ब० व०
कर्ता	कौन्	कौन्
तिर्यक्	किस्	किन्

व्युत्पत्ति—कौन् की उत्पत्ति कः, पुनः से इस प्रकार हुई है—

कः—पुनः > कपुण > कवुण > कउण > कौण > कौन्।

'कौन्' हिंदी की ख० बो०, ब्र०, क०, को०, छत्ती०, म० में प्रयुक्त होता है। पं०, उ० पू० रा० और मे० में 'कौण' को० में कवन्, बघे० में कऊन्, भो० पु० में के 'कवन्, कौन् रूप मिलते हैं। बोलियों में यह 'कौन्' कवन रूप में मिलता है। इस 'कवन्' की व्युत्पत्ति भी कः—पुण ही है। भो० पु० तथा बँगला में अविकारी रूप के मिलता है। इसकी उत्पत्ति निम्न प्रकार से हुई है—

ककः > कके > कगे > कए > कै > के। तिर्यक्, किस् की उत्पत्ति सं० कस्य से इस प्रकार हुई है—

कस्य > म० भा० आ० कस्स, किस्स > किम्। यह शब्द हिंदी की बोलियों में ख० बो०, ब्र०, पं०, में बोला जाता है।

क० में 'केहि', 'का', पं० में 'किह' को० में 'के', मै० में 'काहि' म० में 'केह' भो० पु० में 'केह', 'कौना' आदि रूप पाए जाते हैं।

बहुवचन के रूप किन् की उत्पत्ति केषाम्, काणं से हुई है। यह काणं बाद में काण में परिवर्तित हो गया, किंतु पाली किस्स < कस्य तथा किण के प्रभाव से यह किण हो गया है और इसी से किन् रूप सिद्ध हुआ। इस किन् में ही करण की विभक्ति-ह, -हि जोड़कर बोलियों के किन्ह, किन्हि, रूप निस्पन्न हुए। हिंदी की बोलियों में 'किन्' ख० बो०, ब्र०, क०, उ० पू० रा० और मे० में वर्तमान है। इसका 'किन्ह' रूप म० और भो० पु० में पाया जाता है।

अनिश्चयसूचक

§ ८०१ हिंदी में इसके निम्नलिखित रूप हैं—

	ए० व०	ब० व०
कर्ता	कोई	कोई
तिर्यक्	किसी	किन्ह

व्युत्पत्ति—'कोई' की उत्पत्ति कः अपि, कोपि से इस प्रकार संपन्न हुई है—

कः अपि, को' पि > को' वि > कोई कोई। हिंदी की बोलियों में 'कोई' रूप ख० बो०, क०, पं०, और म० में व्यवहृत होता है। मै० में इसके के-ओ, भो० पु० में केऊ, म० में केऊ रूप मिलते हैं: केउ, केऊ तथा के ओ रूपों की उत्पत्ति, कः अपि से निम्नलिखित रूप में हुई है—

कः अपि > मा० प्रा० के पि > के वि > के व > के - उ, केउ, केऊ तथा केहु, केहू। अंतिम दो रूप वस्तुतः 'हु' अव्यय की सहायता से संपन्न हुए हैं।

तिर्यक् रूप 'किसी' की उत्पत्ति 'कस्यापि' से इस प्रकार हुई है—

कस्यापि > म० भा० आ० कस्स-वि > कस्सइ > हिं० किसी, ने० कसै।

यह रूप हिंदी की ख० बो० में पाया जाता है। क० में इसका 'कौनों', 'किस' पं० में 'किसे' छत्ती० कोनो रूप मिलता है।

ब० व० रूप किन्हीं की उत्पत्ति केषामपि से इस प्रकार हुई है—

केषामपि > कानामपि > म० भा० आ० काणंपि, काणंवि > काण-इ [किन्हीं वस्तुतः करण विभक्ति भिः > हि के संयोग तथा पालि किस्स के प्रभाव से संपन्न हुआ है।]

हिंदी में निर्जीव पदार्थ के लिये अनिश्चयसूचक सर्वनाम 'कुछ' का प्रयोग होता है। मै०, भो० पु०, अव०, में 'किछु' तथा उ० में यह 'किछि' रूप में वर्तमान् है। 'किछु' की उत्पत्ति संस्कृत किंचिद् से हुई है। अशोक के मध्य तथा

पूर्वी शिलालेखों में 'किंछि' रूप मिलते हैं। 'किंछु' मे 'उ' वस्तुतः 'हु' अव्यय के कारण है। हिंदी के कुछ रूप में 'उ' या तो स्थानपरिवर्तन कर गया है अथवा स्वरसंगति से कुछु रूप से कुछ हो गया है।

आत्मसूचक

§ ८०२ हिंदी भाषा में आत्मसूचक अथवा निजवाचक 'स्वयं' के अर्थ में 'आप' का प्रयोग पाया जाता है। इसका प्रयोग आदरप्रदर्शनार्थ तथा कभी कभी अन्यपुरुष के रूप में भी उपलब्ध होता है। इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत 'आत्मन्' शब्द से संपन्न होती है। 'आत्मन्' शब्द का प्राकृत में 'अत्त' तथा 'अप्प' दो रूप प्राप्त हैं। ये दोनों असमिया में आता, पिता एवं आप्, पितामह अर्थ में वर्तमान हैं। चर्यापदों में, कर्ता में, अपा, करण में अपणे एवं कर्म तथा संबंध में 'अपणा' रूप मिलते हैं (वै० लैं० § ५६१)। इस अप्प से हिंदी 'आप' का स्वरूप संपन्न हुआ है।

भो० पु० आपन्, बँ० आपनि, असं० आपोन् का संबंध वस्तुतः प्रा० अप्पण अअ<सं० आत्मनक से है।

पारस्परिक

§ ८०३ पारस्परिक सर्वनाम के रूप में 'आप' तथा 'स्वयं' इन दो शब्दों का प्रायः प्रयोग होता है। 'आप' की व्युत्पत्ति ऊपर दी गई है। 'स्वयं' तत्सम शब्द है। बँगला तथा भो० पु० में 'निज' शब्द का भी प्रयोग मिलता है।

सर्वनामजात विशेषण

§ ८०४ हिंदी में मुख्य सर्वनामजात विशेषण निम्न हैं—(क) परिमाणवाचक (ख) इतना, इत्ता (क० इतनो, ब्र० इतनौ, इतौ, मार० इतरो, गढ़० इतना, इथगा, ने० यति, अव० एतना, एतिक, भो० अतेक म०, मै० एत्तेक, अस० एतेक्, उड़ि० ऐते, बँ० एते)।

हिंदी इतना, इत्ता की व्युत्पत्ति प्रा० भा० आ० 'इयत्तक' से इस प्रकार हुई है—

प्रा० भा० आ० इयत्तक>म० भा० आ० एत्तिअ, एत्तअ>हिं० इत्ता, इत्ना ('ना' को बीम्स ने लघुतावाचक प्रत्यय माना है परंतु यह अपना अर्थ खो चुका है)।

अन्य विभाषाओं तथा भाषाओं के रूपों की व्युत्पत्ति भी सं० 'इयत्' या 'इयत्तक्' से इसी प्रकार हुई है। अव, भो० पु०, म०, मै, इयत्तक-का-क प्रत्यय सुरक्षित है। मार० इतरो में से-रो<प्रा० भा० आ०-र (लघुतावाचक प्रत्यय)। ने० 'यति' में सर्वनाम अंग 'यो' का प्रभाव है।

(२) उतना-उत्ता (क० उतनो, ब्र० उतनौ, मार० उतरो, गढ़० उत्‌ना, उथ्‌गा-उति (संख्यावाचक), ने० उति, अव० ओतना,—ओतिक, भो० पु० ओतेक्, ओतिना, म० ओत्तेक—ओतना, मै० ओतना) इन रूपों की व्युत्पत्ति भी इत्‌ना आदि के समान सर्वनाम-अंग 'उ' में-त्तक>त्तिअ>त्तअ>ता,—तना (—'ना' प्रत्यय लगाकर) आदि लगाकर हुई है ।

(३) जितना-जित्ता (क० जितनो, ब्र० जितनौ, मार० जतरो, गढ़० जत्‌ना-जथ्‌गा-जति, ने० जति०, अव० जेतना-जेतिक, भो० पु० जतेक्, जतिना-म० जेत्तेक जेतना, मै० जेतना, अस० जेतेक उड़ि० जेते, बँ० जेतेक ।

ये रूप भी 'इत्‌ना' आदि के समान म० भा० आ० 'जेत्तिअ' से उत्पन्न हुए हैं ।

(४) कित्‌ना-कित्ता (क० कितनो, ब्र० कितनौ, मार० कतरो, गढ़० कत्‌-ना, कथ्‌गा, कति, ने० कति, अव० केतना-केतक, भो० पु० कतेक्—कतिना, म० केतेक-केतना, मै० केतना-कतेक, अस० केतेक्, बँ० कत, उड़ि० केते) ।

इनकी उत्पत्ति 'इतना' आदि के समान प्रा० भा० आ० कियत्तक>म० भा० आ० केत्तिअ से संपन्न होती है ।

(ख) गुणवाचक—(१) ऐसो (क० ऐसो, ब्र० ऐसौ, मार० इस्यो-ऐरो, गढ़० इनो-यनो, ने० असो, अव० अस-यस, भो० पु०, म० अइसन, मै० ऐसन) ।

इसकी उत्पत्ति सं० एतादृश (गढ़० इनो, सं० ईदृश से इस प्रकार हुई है—

सं० एतादृश>म० भा० आ० एदिस-एइस>आ० भा० आ० ऐस (+ स्वार्थे—आ 'ऐसा ', अइस , + –'न' 'अइसन'—ऐसन') ।

(२) वैसा (क० वैसो, ब्र० वैसौ, मार० उस्यौ-वैरो, गढ़० उनो-वनो, ने० उसो, अव० ओस, भो० पु०, म० ओइसन, मै० वैसन-ओसन) ।

इनकी उत्पत्ति 'ऐसा' आदि के समान प्रा० भा० आ० 'ओतादृश' से निष्पन्न हुई है ।

(३) जैसा (क० जैसो, ब्र० जैसो, मार० जिस्यो-जेरो, गढ़० जनो, ने० जसो, अव० जस, भो० पु०, म० जइसन, मै० जैसन) ।

इनकी व्युत्पत्ति 'ऐसा' के समान प्रा० भा० आ० 'यादृश' से हुई है ।

(४) कैसा (क० कैसो, ब्र० कैसौ, मार० किस्यो-केरो, गढ़० कनो, ने० कसो, अव० कस, भो० पु०, म० 'कइसन' मै० कैसन) ।

इनकी उत्पत्ति 'ऐसा' आदि के सदृश सं० 'कीदृश' से हुई है ।

(५) तैसा (क० तैसो, ब्र० तैसो, मार० तिस्यो-तैरो, गढ़० तनो, ने० तसो अव० तस०, भो० पु० म० तइसन, मै० तैसन) ।

इनकी उत्पत्ति भी 'ऐसा' आदि के समान सं० तादृश से हुई है ।

समास

§ ८०५ धातु तथा प्रत्यय के संयोग से शब्दसृष्टि होती है और जब एक से अधिक शब्दों का समूह मिलकर बृहत् शब्द की सृष्टि करते हैं तब उसे समास कहते हैं। इस बृहत् शब्द का निर्माण विभक्ति के लोप से संपन्न होता है। जब समस्त पद के शब्दों को पृथक् करके विभक्ति को प्रकट करते हैं तब इस प्रक्रिया को विग्रह की संज्ञा दी जाती है। उदाहरण के लिये दयासागर शब्द लिया जा सकता है। यह सामासिक शब्द है। इसका निर्माण दया तथा सागर इन दो शब्दों के संयोग से हुआ है। इन दोनों शब्दों के संयोगवाला अनुसर्ग 'का' है। इस समस्त पद का विग्रह दया का सागर है। जहाँ समासबद्ध होने पर भी विभक्ति का लोप नहीं होता उसे अलुक् समास के नाम से अभिहित किया जाता है, जैसे बँगला का 'मामार बाड़ी' अर्थात् मामा का घर।

भारोपीय परिवार की सभी भाषाओं में समास विद्यमान हैं। यह इस कुल की यूरप, रूसी, ईरान तथा भारत की प्राचीन एवं अर्वाचीन भाषाओं में वर्तमान है। अन्य आधुनिक आर्यभाषाओं—बँगला, असमिया, उड़िया, मराठी एवं गुजराती—की भाँति ही हिंदी प्रदेश की सभी बोलियों में सब प्रकार के शब्दों के संयोग से समस्त पदों की रचना होती है। इन शब्दों के अंतर्गत प्राकृतज, देशी, तत्सम, अर्धतत्सम तथा विदेशी, आदि, सभी शब्द आते हैं।

§ ८०६ साधारणतया समास के निम्नलिखित तीन विभाग किए जा सकते हैं—

१ संयोगमूलक या द्वंदसमास—इस प्रकार के समास में समस्यमान-पदसमूह द्वारा दो या उससे अधिक पदार्थ (वस्तु या भाव) का संयोग प्रकाशित होता है। इनमें संयोगी पद पूर्णतया स्वतंत्र होते हैं।

२ व्याख्यानमूलक या आश्रयमूलक समास — इस प्रकार के समास में प्रथम शब्द द्वितीय शब्द को सीमाबद्ध कर देता है अथवा विशेषण रूप में होता है।

व्याख्यानमूलक समास के निम्नलिखित भेद हैं :—

[क] तत्पुरुष — उपपद, अलुक् तत्पुरुष, नञ् तत्पुरुष, प्रादि समास नित्य समास, अव्ययीभाव, सुप सुपा।

[ख] कर्मधारय – रूपक, उपमित, उपमान, मध्यपदलोपी।

[ग] द्विगु

३—वर्णनामूलक समास — इस प्रकार के समास में समस्यमान पद मिलकर जो अर्थ प्रकाशित करते हैं, उसके द्वारा किसी अन्य पदार्थ का बोध होता है।

वर्णनामूलक समास को बहुव्रीहि समास कहते हैं। इसके चार भेद हैं— व्याधिकरण बहुव्रीहि, समानाधिकरण बहुव्रीहि, व्यतिहार बहुव्रीहि, तथा मध्यपद-लोपी बहुव्रीहि।

संयोगमूलक समास

द्वंद्व समास

§ ८०. द्वंद्व शब्द का अर्थ है, जोड़ा। इसमें समस्यमान पद के रूप में कोई परिवर्तन नहीं होता है। इनका विग्रह 'औ', 'और', 'एवं' तथा संयोजक अव्ययों के द्वारा ही संपन्न होता है। समस्यमान पदों में जो रूप अथवा उच्चारण में छोटा होता है वह प्राय: पहले होता है, किंतु इस नियम का अपवाद भी है और गौरवबोधक शब्द बड़ा होने पर भी पहले आ जाता है।

(१) द्वंद्व समास के उदाहरण—

गाय-बैल; बेटा-बेटी; भाई-बहिन; घटी-बढ़ी, नाक-कान; माँ-बाप; दाल-भात; दूध-रोटी; चिट्ठी-पाती, घी-गुड़; दाल रोटी; खान-पान; हुक्का-पानी।

देव-द्विज; गो-ब्राह्मण; गुरु-पुरोहित; माता-पिता; दास-दासी; राजा-प्रजा; लाभालाभ; दीन-दुखी, इष्ट-मित्र; सूर्य-चंद्र; पुत्र-कलत्र।

राजा-वजीर, लाभ-नुकसान, वकील-मुख्तार, थाना-पुलिस, डाक्टर-वैद्य, पीर-पैगंबर, नफा-नुकसान।

(२) कतिपय द्वंद्व समास संस्कृत से आए हैं और ये संस्कृत व्याकरण के नियमों का अनुसरण भी करते हैं। यथा—माता-पिता < मातृ-पितृ, इसी प्रकार पितापुत्र < पितृपुत्र।

(३) कुछ द्वंद्व समासों में, दो से अधिक पदों की समासरचना होती है, यथा हाथ-पैर-नाक-कान; हाथी-घोड़ा-पालकी; तन-मन धन; नून-तेल-लकड़ी।

ख. अलुक द्वंद्व—

बँगला, मो० पु०, मैथिली, मगही आदि मागधी प्रसूत भाषाओं में इसके कई उदाहरण मिलते हैं; यथा हाटे बाटे (बाजार में रास्ते में) दूधे-भाते (दूध में-भात में)।

किंतु अलुक द्वंद्व का हिंदी में प्राय: अभाव है। 'आगे-पीछे' तथा 'आमने-सामने' में अवश्य यह वर्तमान है।

ग. इत्यादि अर्थवाची द्वंद्व समास—

सहचर शब्दों के साथ समास द्वारा अनुरूप वस्तुओं के भावप्रकाशन के लिये एक प्रकार का द्वंद्व समास आधुनिक आर्यभाषाओं में मिलता है। हिंदी में इसके निम्नलिखित उदाहरण हैं, यथा—

१ (एकार्थक) सहचर-शब्द-सहित समास—कामकाज; जीवजंतु; भूल-चूक; लेन देन; साग पात; चमक दमक; भला चंगा; कूड़ा कचरा कील काँटा; कंकड़ पत्थर;

२—अनुचर-शब्द-सहित समास—चोरी चमारी; आस पास; माल मसाला अन्न जल; आचार विचार; घर द्वार; नाच रंग; खाना पीना; पान तमाकू; जंगल; झाड़ी; जैसा तैसा; साँप बिच्छू नून तेल ।

३—प्रतिचर-शब्द-सहित समास—दिन रात; राजा मंत्री; हिंदू मुसलमान; राजा प्रजा; राजा रानी; पाप पुण्य; आगा पीछा; चढ़ा उतरी; लेन देन; कहा सुनी ।

४—विकार-शब्द-सहित समास—जला जुला (जलाकर); फूँक फाँक; खा खू (खाकर); ठीक ठाक; घूम घास ।

५—अनुकार या ध्वन्यात्मक-शब्द-सहित समास—तेल मेल (तेल इत्यादि); पानी वानी; घोड़ा ओड़ा; उलटा सुलटा; मिठाई सिठाई; पान वान; खत वत; कागज वागज ।

घ. समार्थक द्वंद्व —

कई द्वंद्व समास के समस्त पदों में दो विभिन्न भाषाओं के शब्दों के संयोग उपलब्ध होते हैं । ये दोनों शब्द एक ही अर्थ के बोधक होते हैं; यथा—हाट-बजार; कागज पत्र; राजा बादशाह; सेठ साहूकार; आदि ।

व्याख्यानमूलक अथवा आश्रयमूलक समास

तत्पुरुष

§ ८०८ तत्पुरुष में दो पद परस्पर अन्वित होते हैं । ये दोनों विशेष्य होते हैं, जिनमें प्रथम पद द्वितीय के अर्थ को सीमित करता है । प्रथम पद का अन्वय द्वितीय पद के साथ कर्म, करण, संप्रदान, अपादान, संबंध, तथा अधिकरण रूप में होता है । इसमें द्वितीय पद का ही अर्थ प्रधान होता है ।

तत्पुरुष का अर्थ होता है उससे संबंध रखनेवाला पुरुष । यह समस्त पद के प्रतीक अथवा नामस्वरूप होता है । हिंदी में भी द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी पंचमी, षष्ठी, सप्तमी तत्पुरुष मिलते हैं । इनके उदाहरण निम्नलिखित हैं ।

(i) कर्मवाचक द्वितीया तत्पुरुष—इसके हिंदी में बहुत उदाहरण मिलते हैं, यथा—चिड़ीमार; कठफोड़वा आदि । संस्कृत के भी द्वितीया तत्पुरुष संबंधी अनेक शब्द हिंदी में प्रचलित हो गए हैं; यथा – स्वर्गप्राप्त; जलपिपासु; आशातीत; देश-गत; आदि ।

(ii) करणवाचक तृतीया; तत्पुरुष-यथा—आगजला; तुलसीकृत रामायण; मनमाना; दईमारा; मुँहमाँगा; मदमाता, आदि ।

संस्कृत शब्दों के उदाहरण--ईश्वरदत्त; भक्तिवश; मदांध; कष्टसाध्य; गुण-हीन; अकालपीड़ित; आदि।

(iii) उद्देश्यवाचक चतुर्थी तत्पुरुष—मालगोदाम रसोईघर; ठकुरसुहाती; रोकड़बही; डाक महसूल।

(उर्दू शब्द)—राहखर्च; शहरपनाह।

(संस्कृत शब्द)—कृष्णार्पण; देशभक्ति; बलिपशु; रणनिमंत्रण; विद्यागृह; आदि।

(iv) अपादान कारक : पंचमी तत्पुरुष—देशनिकाला; गुरुभाई; कामचोर; आदि।

(संस्कृत शब्द)—जन्मांध; ऋणमुक्त; पदच्युत; जातिभ्रष्ट; धर्मविमुख आदि।

(v) संबंधवाचक षष्ठी तत्पुरुष—रामकथा; हाथघड़ी; बनमानुष; घुड़-दौड़; बैलगाड़ी; राजपूत; पनचक्की; मृगछौना; राजदरबार; आदि।

(संस्कृत शब्द)—प्रजापति; देवालय; नरेश; विद्याभ्यास; सेनानायक; लक्ष्मीपति; आदि।

(vi) स्थान काल-वाचक सप्तमी तत्पुरुष; यथा—मनमौजी; आपबीती; कानाफूसी; आदि।

(संस्कृत शब्द) ग्रामवास, निशाचर; कलाप्रवीण, कविश्रेष्ठ; गृहप्रवेश; वचन-चातुरी; दानवीर; आदि।

कर्मकारक

§ ८०६ इस समास का पहला पद विशेषण होता है, किंतु दूसरे पद का अर्थ प्रधान होता है। कर्मधारय का अर्थ है कर्म अथवा वृत्ति धारण करनेवाला। यह विशेषण विशेष्य, विशेष्य विशेषण, विशेषण विशेषण तथा विशेष्य विशेष्य पदों द्वारा संपन्न होता है।

(१) साधारण कर्मधारय समास को निम्नलिखित भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(i) जहाँ पूर्वपद विशेषण हो; यथा—नीलगाय; कालीमिर्च; पुच्छलतारा कालापानी; भलामानस; छुटभैया; आदि।

(संस्कृत शब्द)—महाजन, पूर्वकाल; पीतांबर; शुभागमन; नीलकमल; परमानंद; आदि।

(ii) जहाँ उत्तरपद विशेषण हो; यथा—घनश्याम; प्रभुदयाल; शिवदीन; रामदहिन; आदि।

(संस्कृत शब्द)—पुरुषोत्तम; नराधम; मुनिवर; आदि।

(iii) जहाँ दोनों पद विशेषण हों; यथा – भला बुरा; ऊँच नीच; छोटा बड़ा; मोटा ताजा; आदि।

(संस्कृत शब्द)—नीलपीत; शीतोष्ण; शुद्धाशुद्ध; मृदुमंद, आदि।

(iv) जहाँ दोनों पद विशेषण हो; यथा राजाबहादुर।

(v) अवधारण पूर्वपद—जिस कर्मधारय समास में पहले पद के अर्थ के संबंध में विशेष बल दिया जाए, वहाँ अवधारण पूर्वपद कर्मधारय होता है; यथा—कालसर्प (जो सर्प कालरूप होकर आया हो); गुरुदेव (गुरु ही देव अथवा गुरु रूपी देव); पुरुषरत्न; धर्मसेतु; बुद्धिबल, आदि।

(vi) जहाँ प्रथम पद सर्वनाम, उपसर्ग, या अव्ययवाची हों; यथा—अधमरा, दुकाल।

(संस्कृत शब्द)—दुर्वचन; निराशा; सुयोग; स्वदेश; आदि।

(२) उपमान कर्मधारय—जहाँ समान गुणवाचक शब्द हो और उपमेय में वही गुण हो; यथा—घनश्याम।

(३) मध्यपदलोपी कर्मधारय—जिस कर्मधारय समास के विग्रह में मध्यस्थित व्याख्यानमूलक पद का लोप होता है; यथा—दूध मिला-भात > दूधभात इत्यादि।

(संस्कृत शब्द)—घृतान्न (घृतमिश्रित अन्न); पर्णशाला (पर्णनिर्मित शाला)।

(४) रूपक कर्मधारय—जहाँ उपमान उपमेय के बीच सादृश्य स्पष्ट न हो; यथा मुखचंद्र, नरसिंह।

द्विगु

§ ८१० जिसमें प्रथम पद संख्यावाचक होता है तथा समस्त पद द्वारा समष्टि का बोध होता है, वहाँ द्विगु समास होता है;—यथा चौराहा; दोपहर; चौमासा; सतसई; दुपट्टा; दुअन्नी; चहारदीवारी; आदि।

(संस्कृत शब्द) नवरत्न; त्रिभुवन; त्रैलोक्य, आदि।

वर्णनामूलक अथवा बहुव्रीहि समास

§ ८११ इसमें कोई पद प्रधान नहीं होता और इसका समस्त पद किसी अन्य पदार्थ का बोध कराता है।

इसके विग्रह में जो, जिसके, जिसका आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। इसके निम्नलिखित भेद हैं—

(i) व्यधिकरण बहुव्रीहि – इसका पूर्वपद विशेषण न हो; यथा—वज्रदेह, शूलपाणि।

(ii) समानाधिकरण बहुव्रीहि—जिसका पहला पद विशेषण एवं उत्तर पद विशेष्य हो; यथा नीलकमल, बृहदोदर।

(iii) व्यतिहार बहुव्रीहि—जिसमें परस्पर सापेक्ष क्रिया को प्रकट करने के लिये एक ही शब्द दुहराया गया हो; यथा—घूँसा घूँसी, मुक्का मुक्की।

(iv) मध्यपदलोपी बहुव्रीहि—जहाँ विग्रह वाक्य में आगत पद लुप्त हो; यथा—डेढ़गजा (डेढ़गजा लंबाई हो जिसकी)।

अव्ययीभाव समास

§ ८११ इसका प्रथम पद साधारणतः अव्यय होता है; यथा हर रोज दिन भर।

अनेक स्थलों में शब्द को द्वित्व कर वीप्सा अर्थात् पौनः पुन्य का भाव भी इसके द्वारा प्रकट होता है; यथा खाते खाते; सोते सोते।

क्रियापद

धातुएँ

§ ८१२ संस्कृत वैयाकरणों ने धातुओं को दस गणों में बाँटा है। प्रत्येक गण के धातुओं के रूप तीन वचनों, 'तीन पुरुषों', विभिन्न कालों और प्रकारों में एक दूसरे से भिन्न पाए जाते हैं। इसके अलावा धातुओं के कृदंत रूप बनते हैं। इस प्रकार एक एक धातु के अनेक रूपों ने प्रा० भा० आ० भा० की धातुप्रक्रिया को रूपबहुला एवं दुरूह बना दिया था।

म० भा० आ० भा० काल के आरंभ में ही इस प्रक्रिया के सरलीकरण की प्रवृत्ति लक्षित होने लगी और इसके फलस्वरूप विभिन्न गणों के धातुरूपों में सादृश्य स्थापित हुआ। इस प्रक्रिया के फलस्वरूप अपभ्रंश काल में घटते घटते गणविभाग का लोप हो गया और प्रायः सभी धातुओं के रूप भ्वादिगण के समान बनने लगे। आत्मनेपद परस्मैपद के भेद का लोप हुआ; द्विवचन समाप्त हो गया और कालों एवं प्रकारों के विभिन्न रूपों की संख्या कम हो गई।

सरलीकरण की यह प्रवृत्ति आर्यों एवं आर्येतर जातियों के संयोग से विकसित हुई; क्योंकि धातुप्रक्रिया की दुरूहता आर्येतर जातियों के लिये दुर्बोध थी। अतः उनके मुख से शब्दों तथा धातुओं का रूपव्यत्यय स्वाभाविक था, जिसने आगे चलकर सरलीकरण की प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। आर्येतर जातियों के संपर्क से धातुरूपों में सरलता के साथ कुछ अन्य नई प्रवृत्तियाँ भी उत्पन्न हुईं।

म० भा० आ० भाषा में तिङ्त रूपों के व्यवहार की प्रवृत्ति पाई जाती है, जो अधिक सरल थी।

धातुरूपों से ही सभी कालों एवं प्रकारों का अर्थद्योतन कराने के लिये नए नए उपाय काम में लाए गए। संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग भी इसी युग में प्रारंभ हुआ। इस प्रकार क्रियापद प्रक्रिया संश्लेषावस्था से विश्लेषावस्था की ओर अग्रसर हुई।

भारतीय आर्यभाषा के मध्य एवं आधुनिक काल के संक्रांतिकाल में क्रिया विश्लेषावस्था की ओर पर्याप्त बढ़ चुकी थी। आ० भा० आ० भाषाओं ने क्रिया-पद प्रक्रिया को सरलतर बना दिया। इस प्रकार प्रा० भा० आ० भा० के अत्यल्प तिङ्त रूप आ० भा० आ भाषाओं में अवशिष्ट हैं। नीचे हिंदी की धातुप्रक्रिया पर विस्तार से विचार किया जाता है। ग्रियर्सन, हार्नले, सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने आ० भा० आ० भाषा की क्रियाओं पर पूर्णतया विचार किया है। चाटुर्ज्या के विवेचन के आधार पर नीचे हिंदी क्रियापदों के विविध तत्वों को स्पष्ट किया गया है।

§ ८१४ चाटुर्ज्या के वर्गीकरण के अनुसार हिंदी की धातुओं को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—

१—सिद्ध धातुएँ (प्राइमरी रूट्स)—वे धातुएँ जो मूल रूप में सुरक्षित हैं; यथा, कर् (ना), काँप् (ना), गूँज (ना), घिस् (ना) इत्यादि।

२—साधित धातुएँ (सेकंडरी रूट्स)—वे धातुएँ जो मूल प्रत्यय के योग से बनी हैं यथा कराना—करवाना (√कर् + आ,—वा प्रेरणार्थक प्रत्यय), बैठाना (√बैठ्+आ), लिखाना (लिख+आ) इत्यादि।

इन दोनों भेदों को निम्नलिखित शीर्षकों में बाँटा जा सकता है—

१—सिद्ध धातुएँ

(१) संस्कृत से आई हुई तद्भव सिद्ध धातुएँ :
(क) साधारण धातुएँ, (ख) उपसर्गयुक्त धातुएँ

(२) संस्कृत णिजंत से आई हुई सिद्ध - धातुएँ,

(३) संस्कृत से पुन : व्यवहृत तत्सम एवं अर्धतत्सम सिद्ध धातुएँ;

(४) संदिग्ध - व्युत्पत्तिवाली देशी - धातुएँ।

२—साधित धातुएँ

नीचे प्रत्येक शीर्षक पर विचार किया जाता है—

§ ८'५ तद्भव सिद्ध-धातुएँ—

प्रा० भा० आ० भा० से आई हुई तद्भव सिद्ध धातुएँ ऐसी भी हैं, जो पहले पहल म० भा० आ० काल में दिखाई देनेवाली धातुओं का तद्भव रूप हैं। हार्नले के अनुसार हिंदी में तद्भव सिद्ध धातुओं की संख्या ३६३ है। इन तद्भव-धातुओं में कुछ ऐसी भी हैं, जिनमें संस्कृत गणों के विकरण वर्तमान हैं।

§ ७६६ (क) साधारण धातुएँ—हिंदी की कतिपय प्रसिद्ध साधारण धातुएँ उदाहरणार्थ नीचे दी जाती है :—

हिं० √अकड़् (ना), पं० आँकड़ना, गु० अकड़वुँ, म० अकड़णें, सिंह० अकुलनु, ने० अकलु । हिं० अँचव् (ना), म० अँचवणें, बं० आँचान, ने० अचाउनु, सं० आचामति √आच्मन् । हिं० √उगल् (ना), पं० उग्गलणा, कु० उगलणों, ल० उगलण , सि० उगिराई, म० उगलणें सं०

उद्‌गलति पा० उग्गिलति, प्रा० उग्गिलइ, ने० उगेल्नु। हिं० √उघाड़् (ना), पं० उघाड़ना, कु० उघाड़णो, बं० उघ्ड़ान, सि० उघाड़णु, गु० उघाडवुँ, म० उघडणेँ, ने० उघानु, सं० उद्‌घाटयति, पा० उग्घाटेति, प्रा० उग्घाडइ। हिं० √उछाल् (ना), पं० उछालणा, बँ० उछलान, ल० उच्छाल्, गु० उछाल्वुँ, ने० उछानें, प्रा० उच्छालेइ, सं० उच्छलति। हिं० √उतार् (ना), पं० उतारणा, कु० उतारणो, बँ० उतरान, गु० उतारवुँ, म० उतरणेँ,ने० उतानुं,सं० उत्तारयति, पा० उत्तारेति, प्रा० उत्तारेइ। हिं०√ऐठ् (ना), पं० ऐठणा, कु० ऐठणो, ने० ऐंठनु, सं० आवेष्टते। हिं०√उसर् (ना), गु० ओसार्वुँ, म० ओसरणेँ, ने० ओसार्नु, सं० अपसारयति, अवसारयति, पा० ओसावेति, प्रा० ओसरइ। हिं० √कह् (ना), पं० कहिणा, कु० कउणो, बँ० कहा, उ० कहिबा, सि० कहणु गु० कहेवुँ, म० कह्या, ने० कहनु, सं० कथयति, पा० कथेति, प्रा० कहेइ। हिं० √काट् (ना), पं० कट्टणा, का० कट्टुन्, कु० काटणो, अ० काटिब, बं० कांटा, उ० कटिबा, ल० कट्ट सि० कटणु, गु० काट्वुँ, म० काटणेँ, सं० कर्तति, पा० कत्तति, प्रा० कट्टइ। हिं० √खन् (ना), का० खानुन्, कु० खणणो, अ० खनाइब, सि० खणणु गु० खणवुँ, म० खणणेँ, सं० खनति, पा० खनति प्रा० खणइ। हिं० √खप् (ना), कु० खपोणो, अ० खपिब, ने० खप्नु, सं० क्षपयते। हिं० √खेल् (ना), अ० खेलिब, बँ० खेला, उ० खेलिबा, पं० खेलणा, गु० खेलो, म० खेलणेँ, ने० खेल्नु सं० खेलति। हिं० √खोल् (ना); का० खोलुन्, खुल्हणा, कु० खोलणो, बं० खोला, उ० खोलिबा, पं० खोल्हणा, ल० खोलणा, सि० खोलणु, गु० खोल्वुँ, म० खोलणेँ, ने० खोल्नु। हिं० √गल् (ना), का० गलुन्, कु० गलणो, अं० गलिब, बँ० गला, उ० गलिबा, पं० गलणा, ने० गल्नु, सं० गलति, पा० गलति, प्रा० गलइ। हिं० √गाँथ (ना), कु० गन्डुन्, अ० गाँथिब, बँ० गाँथान, गाँथा, उ० गंथिबा, गु० गाँथवुँ, म० गाँथणेँ, सिंह० गोतनु, ने० गाँटनु, सं० ग्रंथयति, पा० गँथेति, प्रा० गँथइ। हिं० √घूम् (ना), प्रा० घुम्मइ, कु० घुमणो, अ० घुमाइब, बं० घुमा। उ० घुमाइबा, पं० घुम्मणा, सि० घुमणु, गु० घुमवुँ, म० घुमणेँ, ने० घुम्नु। हिं० √घोल् (ना), प्रा० घोलेइ, कु० घोलणो, अ० घोलिब, बँ० घुलान, उ० घोरिबा, पं० घोलणा, ल० घोलण्, सि० घोरणु, गु० घोलवुँ, म० घोलणेँ, ने० घोल्नु। हिं० √चमक् (ना), कु० चमकणो, अ० समरिब, बँ० चम्कान, उ० चमकिबा, पं० चमकणा, सिं० चमक, गु० चमक्वुँ, म० चमकणेँ, प्रा० चमक्केइ, ने० चम्कनु। हिं० √चल् (ना), का० चलुन्, कु० चलणो, अ० चलिब, बँ० चला, उ० चलिबा, पं० चलणा, गु० चल्वुँ, म० चलणेँ, ने० चल्नु, सं० चलति, पा० चलति, प्रा० चलइ। हिं० √चिन् (ना), पं० चिणना, गु० चिणवुँ, म० चिणणेँ, ने० चिन्नु, सं० चिनाति, पा० चिनति,

प्रा० चिडेइ। हिं० √चूस् (ना), कु० चूसणो, अ० सोहिब, बँ० चुसा, उ० चुसिबा, चोशिबा, पं० चूसणा, सि० चुसणु, गु० चुसवुँ, ने० चुस्नु। हिं० √छल् (ना), कु० छलणो, अ० सालिब, बँ० छला, पं० छलना, ने० छल्नु, सं० छलयति, प्रा० छलेइ। हिं० √छाप् (ना), अ० छापिब, बं० छापा, उं० छापिबा, पं० छापणा; सि० छापणु, गु० छापवुँ ने० छाप्नु। हिं० √जाग् (ना), रो० जंगेल, का० जागुन्, कु० जागणो, अ० जागिब, बं० जागा, उ० जागिबा, पं० जागणा, ल० जागण, सि० जागणु, गु० जागवुँ, म० जागणें, ने० जाग्नु, सं० जागर्ति, पा० जग्गति, प्रा० जग्गइ। हिं० √जार् (ना), का० जालुन्, अ० जालिब, उ० जालिबा, पं० जालणा, म० जाळणें, ने० जानु, सं० ज्वालयति, पा० जालेति, प्रा० जालेइ। हिं० जीत् (ना), कु० जीतणो, बँ० जिता, उ० जितिबा, पं० जित्तणा, गु० जीतवुँ, म० जितणें, ने० जितु, सं० जित्, प्रा० जित्त। हिं० √जोत् (ना), कु० जोतणो, बँ० जोता, उ० जोतिबा, सि० जोतवू, पं० जोतणा, गु० जोतरवुं, ने० जोतु, सं० योक्त्रम्, योक्त्रयति। हिं० √झटक् (ना), बँ० झट्‌कान, उ० झटकिबा, पं० झटकना, सि० झट्‌को, गु० झाँटकवुं, म० झटकणें, ने० झट्‌कनु। हिं० √झपट् (ना), कु० झपटणो, उ० झपट, पं० झपट्टा, झपटणा, गु० झपाटो, झपाटवुँ, म० झपाटणें, ने० झप्टनु। हिं० √झूल् (ना), कु० झुलणो, बँ० झुला, उ० झुलिबा, पं० झुल्लणा, सि० झूलणु, गु० झुलवुँ, म० झुलणें, ने० झुल्नु, प्रा० झुल्लइ; हिं० √टपक् (ना), उ० टपिबा, पं० टप्पणा, सिं० टूपणु, म० टाप्, संभवतः संस्कृत तर्पयति। हिं० √टल् (ना), अ० टलिब, बँ० टलन्, उ० टालिबा, ल० टलण, सिं० टारणु, गु० टलवुँ, म० टलणें, ने० टनु। हिं० √टहल् (ना), कु० टहल्, बँ० टहला, उ० टहलिबा, सि० टहलणु, गु० टेहेलवुँ, म० टेहेलणें, ने० टहल्नु। हिं० √टाल् (ना), का० टालुन्, कु० टालणो, अ० टालिब, बँ० टाला, उ० टालिब, पं० टालणा, ल० टालण, सि० टारणु, गु० टालवुँ, म० टालणें, ने० टानु। हिं० √ठोक् (ना) का० टुकुन्, कु० ठोकणो, बँ० ठोका, पं० ठोकणा, ल० ठोकण, सि० ठोकणु, गु० ठोकवुँ, म० ठोकणें, ने० ठोक्नु। हिं० √डाँट् (ना), बँ० डाँटा, उ० डाँणरिबा, ल० डहा, सिं० डटणु, गु० डाटो, डाटवुँ, म० डाटणें, ने डाँट्नु। हिं० √तर् (ना), का० तरुन्, कु० तरणो, म० तारिब, बँ० तरा, उ० तरिबा, पं० तरना, ल० तरण, सिं० तरणु, गु० तरवुँ, म० तरणें, ने० तनु, भो० पु० तरल, सं० तराति आ० तरति, प्रा० तरइ। हिं० √ताक् (ना), कु० ताकणो, बँ० ताकान, ल० तक्कण, सि० तकणु, गु० ताकवुँ, सिंह० तकनु, ने० ताक्नु, भो० पु० ताकल, सं० तर्कयति, पा० तक्केति, प्रा० तक्केति, प्रा० तक्केइ। हिं० √तान् (ना), का० तारुन्, कु० तारणो, अ० तारिब, उ० तारिबा, पं० तारणा, ल० तारण, सि० तारणु, गु०

तार्बुँ, म० तार्णौं, ने० तानुँ, भो० पु० तारल, सं० तारयति, पा० तारेति; हिं० √तान् (ना), पं० ताणना, ल० तणन्, सि० ताणणु, गु० ताणवुँ, म० ताणणौं, सं० तनोति, पा० तनोति, ने० तान्नु, भो० पु० तानल: हिं० √तोल् (ना) का० तोलुन्, ने० तौलनु, भो० पु० तउलल, सं० तोलयति; हिं० √थाँक् (ना), कु० थाक्णो, का० थकुन्, अ० थाकिब, बँ० थाका, उ० थकिबा, पं० थककणा, ल० थककण, सि० थकणु, गु० थाकवुँ, म० थाँकणौं, ने० थाक्नु, भो० पु० थकल, प्रा० थक्क, थक्कइ; हिं० √थाप् (ना), कु० थाप्णो, थापिबा, प० थापणा, सि० थापणु, गु० थापवुँ, म० थाप्णौं, ने० थाप्नु, सं० स्थाप्यते, प्रा० थाप्पिअ; हिं० √थाम्ह् (ना), का० थमुन्, कु० थाम्णो, बँ० थामा, उ० थमाइबा, पं० थम्हणा, सिं० थम्मणु, गु० थँभवुँ, म० थाँबणौं, ने० थाम्नु, भो० पु० थाम्हल, सं० स्तम्भते, पा० थम्भति प्रा० थम्भइ; हिं० √थूक् (ना), कु० थुक्णो, बँ० थुका, पं० थुक्कणा, अ० थुक्कण, सिं० थुकणु, गु० थुँकवुँ, म० थुकणौं, थुँकणौं, ने० थुक्नु, भो० पु० थूकल, प्रा० थुक्कइ; हिं० √दल् (ना) का० दलुन्, कु० दल्णो, म० दलिब, बँ० दला, उ० दलिबा, पं० दलणा, सिं० दरणु, गु० दलवुँ, म० दल्णौं, ने० दल्नु भो० पु० दरल सं० दलति, पा० दलति प्रा०, दलइ; हिं० √देख् (ना), कु० देख्णो, म० देखिब, बँ० देखा, उ० देखिबा, पं० देख्णा, ल० देखण, गु० देखवुँ, म० देखणौं, ने० देख्नु, भो० पु० देखल, सं० द्रक्ष्यति, पा० दक्खति; हिं० √धर् (ना०) का० दरुन्, कु० धर्णो, अ० धारिब, बँ० धरा, उ० धरिब, पं० धर्ना, सिं० धरणु, गु० धरवुँ, म० धरणौं, सिंह० दरणु, ने० धर्नु, भो० पु० धइल, सं० धरति, पा० धरति, प्रा० धरइ; हिं० √धाव् (ना), अ० धाइब, बँ० धाउया, उ० धाइबा, पं० धाउण, गु० धावुँ, म० धावणौं, ने० धाउनु, भो० पु० धावल, सं० धावति, पा० धावति, प्रा० धावइ; हिं० √धुन् (ना), अ० धुनिब, बँ० धुना, पं० धुणक्णा, सि० धूणाणु, गु० धूणवुँ, म० धुणकणौं, ने० धुन्नु, भो० पु० धूनल, सं० धुनोति, पा० धुनाति, प्रा० धुनइ; हिं० √नाच् (ना), कु० नाच्णो, अ० नासिब, बँ० नाचा उ० नाचिबा, पं० नचणा, ल० नचण, सि० नचणु, गु० नाचवुँ, म० नाचणौं, ने० नाच्नु, भो० पु० नाचल, सं० नृत्यति, पा० नच्चति, प्रा० णच्चइ; हिं० √नाप् (ना) कु० नाप्णो, पं० नापण ने० नाप्नु, भो० पु० नापल, सं० ज्ञाप्यते, ज्ञापयति, पा० नापेति, प्रा० णप्पइ; हिं० √निकाल् (ना), कु० निकाल्णो, उ० निकालिब, पं० निकालणा, ल० निक्कलण, सि० निकारणु, गु० निकालवुँ, म० निकलणौं, रो० इ० निकूलबेल्, ने० निकाल्नु, भो० पु० निकारल, सं० निष्कास्य, निष्करोति, प्रा० निक्कालेइ; हिं० √पोस् (ना), कु० पोसणो, अ० पोहिब, बँ० पोसा, उ० पोसिबा, पं० पोहणा, गु०

पोसवुँ, म० पोसणों, ले० पोस्नु, भो० पु० पोसल, सं० पोषयति, पा० पोसेति, प्रा० पोसेइ; हिं०√पहुँच् (ना), बँ० पहुँचा, उ० पहूँचिबा, पं० पहुँचणा, सिं० पहुचणु, म० पोहुँचणों, ने० पौंच्नु, भो० पु० पहुँचल, प्रा० पहुच्चइ; हिं०√फाँद् (ना), कु० फाँद्णो, बँ० फाँदा, म० फादणें, ने० फाँदनु, सं० स्पन्दते पा०, फन्दति, प्रा० फन्दइ; हिं०√बिसर (ना), रो० बिसरेल्, कु० बिसर्णो, पं० बिस्सरना, बिस्सरणा, ल० बिस्सरणु, गु० विसरवुं, म० विसरणों, ने० बिसनु, सं० विस्मरति, पा० विस्मरति, प्रा० विस्सइ; हिं०√भाज् (ना), पं० भजाउणा, सिं० भजाइनु, का० बजुन्, ल० भज्जणु, ने० भजाउनु सं० भज्यते; हिं० भन् (ना) रो० इ० फेनेल्, अ० भनिब, उ० भणीबा, उ० भाणीबा गु० भणावुँ, सं० भनति, पा० भणति, प्रा० भणइ; हिं० भमक् (ना), पं० भवक्, सिं० भमक्, गु० भमकी, म० भबकणों, ने० भबाउनु, भो० पु० भमकल; हिं०√मथ् (ना), का० मथुन् अ० मथिब, बँ० मथा, पं० मथणा, सिं० मथणु, गु० मथवुँ, म० मथणों, ने० मथ्नु, भो० पु० मथल, सं० मथ्नाति, पा० मत्थति; हिं० √माँग् (ना), का० माँगुन्, पं० मागणा, गु० माँगवुँ, म० मागणें, ने माग्नु, भो पु० माँगल, सं० मागिति, पा० मग्गति, प्रा० मग्गइ; हिं०√रम् (ना) का० रमुन्, अ० रमिब पं० रमणा, सिं० रमणु, गु० रमवुँ, म० रमणों, ने० रमाउनु, सं० रम्णाति; हिं०√रो (ना), कु० रूणो, बँ० रोया, पं० रोणा, ल० रोवणु, सिं० रुँअणु, गु० रोवुँ, म० रुण, ने० रुनु, भो० पु० रोवल, सं० रोदति, पा० रोदिति, प्रा० रोदइ; हिं० √लड् (ना), का० लड्न्, कु० लड्णो, बँ० लड़ा' उ० लड़िबा पं० लड़णा, ल० लड़णु, गु० लड़वुँ, ने० लड्नु, भो० पु० लड़ल; हिं० √ललकार् (ना), पं० ललकारणा, गु० ललकारवुँ, म० ललकारणों, ने० ललकानु, भो० पु० ललकारल, प्रा० लल्लक्क; हिं०√लीप् (ना), अ० लिपिबा, बँ० लेपा, उ० लिपिबा, पं० लिप्पणा गु० लिपवुँ, ने० लिप्नु, भो० पु० लीपल, सं० लिप्यते, पा० लिप्पति प्रा० लिप्पइ; हिं० √ओक् (ना), कु० ओकाणो वोकाणो, बँ० ओआक्, गु० ओकवुँ, म० ओकणों, ने० वाक्नु; हिं०√सक् (ना), कु० सकणो, पं० सक्कणा, गु० शकवुँ, म० सकणों, ने० सक्नु, भो० पु० सकल सं० शक्नोति, शक्यते, पा० सक्कोति, प्रा० सक्केइ सक्कइ; हिं०√समेट् (ना), कु० समेटणो, पं० समेटणा, गु० समेटवुँ, म० समेटणों, सं० सम्वर्तयति, पा० सम्वर्ततयति, प्रा० सम्वत्तेइ, ने० समेटनु, भो० पु० समेटल; हिं० √हँस (ना), गु० हसवुँ, म० हसणों कु० हँसणो, उ० हसिबा, ने० हाँस्नु, भो० पु० हसल, सं० हसति, पा० हसति, प्रा० हसइ; हिं० √हार (ना), कु० हारणो, अ० हारिब, बँ० हारा, उ० हारिबा, पं० हारना, ल० हारणु, सिं० हारणु, गु० हारवुँ, म० हारणों, ने० हानु, भो० पु० हारल, सं० हारयति, पा० हारेति, प्रा० हारइ।

§ ८१६ (ख) उपसर्गसंयुक्त धातुएँ—

हिं० उकसान, पं० उकासणा, गु० उकाँसवुँ, म० उकसणें, सिंह० उकनु, कु० उकासणो, सं० उत्कर्षति; हिं० उखड़ना, कु० उखेलणो, बँ० उखड़ान, उ० उखाड़िबा, पं० उक्खड़ना, ल० उखड़ण, सि० उखिड़णु, गु० उखडवुँ, म० उखडणें, प्रा० उक्खलिअ<उत्-स्कृत (मि० सं० उत्करोति); उग (ना) (<सं० उत् √गम्); हिं० उगलना, पं० उग्गलणा, ल० उगलण, सि० उगिराइ, म० उगलणें, सं० उद्गलति, पा० उगिलति, पा० उगिलति, प्रा० उग्गिलइ; हिं० उगाहना सं० उद्ग्राहयति, प्रा० उग्गाहेइ; हिं० उछलना, उछरना, बं० उछला, उ० उछुलिबा, ल० उच्छलइ, सि० उछिलणु, गु० उछलवुँ, म० उसलणें, सं० उच्छलति, प्रा० उच्छलइ; हिं० उजाड़ना, पं० उजाड़णा, कु० उजाड़णो, उ० उजाड़िबा, ल० उजाड़णु, सि० उजाड़णु, गु० उजाड़वुँ, सं० उज्जाटयति, प्रा० उज्जाडेइ; हिं० उठाना, कु० उठणो, बं० उठान, उ० उठाइबा, पं० उठाउणा, गु० उठाववुँ, म० उठविणें<उत्थापय√सं० उत्थापयति, पा० उत्थापेति, प्रा० उट्ठावेदिं; हिं० उड़ाना, पं० उडाउणा, ल० उडावणु, सि० उडाइणु, गु० उडाववुँ, म० उडविणें, बँ० उड़ान, सं० उड्डापयति, प्रा० उड्डावइ; हिं० उतारना, कु० उतारणो, बँ० उतरान, पं० उतारणा, गु० उतारवुँ, म० उतरणें, सं० उत्तारयति, पा० उत्तारेति, प्रा० उत्तारेइ, हिं० उपजना, कु० उपजणो, अ० ओपजिब, बँ० उपजा, पं० उपजणा, सि० उपजणु, गु० उपजवुँ, म० उपजणें; सिंह० उपदिनु, सं० उत्पद्यते, पा० उप्पज्जति, प्रा० उप्पज्जइ; हिं०√उभड़ना, अ० उभलिब, ल० उब्भरण, सि० उभिरण, गु० उभरावुँ, म० उभरणें, सं० उद्भारयति; हिं०√उलटना, का० वुलटावुन, अ० ओलटिब, बँ० उल्टा, पं० उलटणा, गु० उलटवुँ, म० उलटणें उ० उल्टिबा, सं० उल्लाटयति;हिं०√निरख (ना) <सं० निर्√ईक्ष् 'देखना', परख् (ना) <(सं० परि—√ईक्ष्); √निहार् (ना) <(सं० नि—√भाल्, प्रा० निहालेइ (—ल्)—र्); √निबाह (ना) (<प्रा० नि—√वह्—प्रा० भा० आ० नि√वह् 'ले जाना'); √पहिर् (ना)<सं० परिधा—, प्रा० पहिरेइ; √पखार (ना)<सं० प्र√क्षाल्—.; √पा (ना) (<सं० प्र√आप् 'प्राप्नोति', पाता है); √भीग् (ना) <(सं० अभि—√अञ्ज्—>; सँभल् (ना) <सं० सम्—√भाल्—सौंप (ना)<(सं० सम्√अर्प)।

§ ८१७ म० भा० आ० भाषाकाल के ध्वन्यात्मक तथा रूपात्मक परिवर्तन द्वारा, संस्कृत से, हिंदी की तद्भवसिद्ध धातुओं का रूप बदलता रहा। अतः म० भा० आ० भाषाकाल में धातुरूपों में अनेक परिवर्तन हुए। गणों का वर्गीकरण समाप्त हुआ, प्रायः सभी धातुओं के रूप आदि गण की तरह होने लगे। म० भा०

आ० भाषा में संस्कृत की अनेक धातुओं के विकरणयुक्त रूप, धातुरूप में गृहीत हुए और ये हिंदी में भी उसी रूप में चले आए। इसीलिये हिंदी की कतिपय धातुओं में प्रा० भा० आ० भा० के विभिन्न गणों के विकरणों के चिह्न मिल जाते हैं। ऐसी कुछ धातुएँ उदाहरणार्थ नीचे दी जाती हैं—

(१) —य – विकरण युक्त—√नाच् (ना) < (सं० नृत् – य – ति, प्रा० नच्चइ,—त्य > च्च; √जूझ् (ना) < (सं० युध्—य—ति, प्रा० जुज्झइ, —ध्य > —ज्झ), √बूझ् (ना) < सं० बुध्—य—ते, प्रा० सम्बुज्झइ) ।

(२)—नो – विकरण-युक्त —√चुन् (ना) < (सं०√ चि —, 'चि'—नो—ति', म० भा० आ० चिणइ, चुणइ,√सुन्‌ (ना) < (सं०√श्रु—, शृणो-ति, म० भा० आ० सुणइ)√ धुन् (ना) < (सं० धु-नो ति) ।

(३) – ना – विकरणयुक्त —√जान   (ना) < (सं०√ज्ञा—'जा—ना—ति') ।

(४)—न—का मध्यागम (अफिक्स) —√बाँध् (ना) (सं० बंध, बध्—) √रूँध् (ना) (सं० रुंध्—, √रुध्—) ।

(५)—च्छ विकरणयुक्त—(भारो०—स्कोओ); संस्कृत वैयाकरणों ने इस विकरण का उल्लेख नहीं किया है, परंतु निम्नलिखित धातुओं में यह स्पष्ट तथा वर्तमान है—पहुँच (ना) < (भारो० प्रो – भु—स्के-ति > प्रभुच्छति > पहुँच्छइ, पहुँच्चइ; पूछ (ना) < सं० पृ – च्छ ति) ।

§ ८१८ ध्वन्यात्मक तथा औपम्य संबंधी परिवर्तनों के अतिरिक्त, म० भा० आ० भाषा की धातुओं में अन्य प्रकार के परिवर्तन भी परिलक्षित होते हैं। उदाहरण-स्वरूप म० भा० आ० भा० की कर्तृनिष्ठ धातुओं की व्युत्पत्ति, संस्कृत के कर्तृवाच्य के रूपों से न होकर कर्मवाच्य के रूपों से है और इनमें से अनेक वर्तमान काल के रूप न होकर भविष्यत् काल के हैं। संस्कृत-णिजन्त से भी म० भा० आ० तथा आ० भा० आ० भाषाओं की अनेक साधारण सिद्ध धातुएँ आई हैं।

यहाँ यह भी स्मरणीय है कि संस्कृत कर्मवाच्य के रूप जब कर्तृवाच्य में लिए गए, तो उनके अर्थ में भी थोड़ा बहुत परिवर्तन हो गया। उदाहरण ये हैं—

(१) सं० कर्मवाच्य > म० भा० आ० कर्तृवाच्य > आ० भा० आ० कर्तृ-वाच्य; यथा—सं० अभ्यज्यते 'नहलाया अथवा लेपन किया जाता है' > म० भा० आ० 'अब्भंगइ' 'स्वयं को लेपन करता है > हिं० भीगे बोलियों में 'भीजे' 'भीगता है', सं० तप्यते 'तपाया जाता है >, म० भा० आ० तप्पइ 'स्वयं को तपाता है' > हिं० तपे 'तपता है गरम होता है'।

(१) सं० भविष्यत् काल > म० भा० आ० तथा आ० भा० आ० वर्तमान काल यथा सं० आ—कक्ष्यति (√कृष्—) > म० भा० आ० आकच्छइ > आअच्छइ आयंच्छइ, आयंचइ > हिं० ऐंचे (√ऐंच्-ना)।

§ ८१९ संस्कृत से हिंदी को सिद्ध धातुओं के रूप में कुछ णिजंत धातुएँ मिली हैं। यद्यपि इनमें प्रेरणा का अर्थ नहीं रह गया है, तथापि ये अन्य सकर्मक क्रियाओं की भाँति प्रयुक्त होती हैं। इनके संस्कृत के शुद्धरूप हिंदी में अकर्मक क्रिया के रूप में हैं। प्रेरणार्थक रूप निष्पन्न करने के लिये पुनः 'आ' या 'वा' जोड़ना पड़ता है; यथा—√मर् (ना) – (अकर्मक) 'जो पैदा होता है वह अवश्य मरता है < (सं०√ मृ —), √मार् (ना) < सं० मारयति, णिजंत'—सकर्मक, 'वह साँप को लाठी से मारता है;।

इसका हिंदी में प्रेरणार्थ रूप√'मरवाना' होगा। हिंदी की इस प्रकार की कतिपय धातुओं के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

√उखाड़् (ना) < (सं० उत् खाटयति) √छा (ना) 'ढकना' < (सं० छादयति); √छेद् (ना) < (सं० छेदयति)√जला (ना) < (सं० ज्वालयति), √तार् (ना) < (सं० 'तारयति'), √तपा (ना) < (सं० तापयति);√नहा (ना) < (सं० स्नापयति);√हार (ना) < (सं० हारयति) ।√ आल् < (सं० उद्गालयति);√उगाह् (ना) < (सं० 'उद्ग्राहयति'); उजाड़् (ना) < (सं० 'उज्जाट्यति');√उठा् (ना) < (सं० 'उत्थापयति')√उड़ा (ना) < (सं० उड्डापयति); √उतार् (ना) < (सं० उत्तारयति); √उलट् (ना) < (सं०—'उल्लाट्यति'); √उसार् (ना) < (सं० अप्सारयति); √चाल् (ना) < (सं० चालयति); √जिवा् (ना) < (सं० 'जीवापयामि'); √नास् (ना) < (सं० नासयति); √ निहार् (ना) < (सं० निभालयति); √मार् (ना) < (सं० मारयति ; ।

§ ८२० संस्कृत से पुनः व्यवहृत तत्सम तथा अर्धतत्सम धातुएँ—अपभ्रंश से निकलकर जब हिंदी के स्वतंत्र विकास का समय आया, तब उत्तर-भारत धार्मिक एवं सांस्कृतिक आंदोलनों का प्रदेश था जिसके प्रभाव से लोगों का संस्कृत अध्ययन की ओर झुकाव हुआ। प्रचारकों की भाषा का जनभाषा पर भी अधिकाधिक प्रभाव पड़ा। इस प्रकार संस्कृत की अनेक तत्सम धातुओं के रूप हिंदी में आने लगे। इनके साथ अनेक तत्सम, अर्धतत्सम शब्द भी आए। उदाहरण के लिये कुछ क्रियापद नीचे दिए जाते हैं; यथा अरप (<√अर्प–) अर्पित करना; अरज् (< √ अर्ज—) अर्जन करना; गरज् (< √गर्ज—); गर्जन करना, गरजना; बद् (< √वद्), कहना; तज् (< √त्यज्), छोड़ना; सोभ (< √शोभ —), सुंदर बनाना, सेब् (< √सेव —), सेवा करना; इत्यादि।

(ii) हिंदी में ऐसी अनेक धातुएँ हैं जिनकी उत्पत्ति संस्कृत से नहीं प्रतीत होती, यथा—√टोह् (ना); √टोक् (ना); √ठोक् (ना); √ठेल (ना); √झपट् (ना); √ढाँक (ना); √पटक् (ना); √फड़क (ना); √बटोर (ना); भेंट (ना); √लोट् (ना); √लड़् (ना); √सान् (ना)=मिलाना या गूँधना (यथा; 'आटा सान्ना)' इत्यादि ।

साधित धातुएँ

§ ८२१ णिजंत (प्रेरणार्थक)—ऊपर इस बात का विवेचन किया जा चुका है कि संस्कृत की णिजंत धातुओं से प्राकृतकाल में प्रेरणा का अर्थ लुप्त होने लगा था, और संभवतः इसका प्रयोग रीफ्लेक्सिव अर्थ में चल पड़ा था। हिंदी तक आते आते ये प्रेरणा का अर्थ छोड़कर सकर्मक धातुएँ बन गईं; यथा सं० √मृ—'मरना' धातु के प्रेरणार्थक रूप 'मारयति' से व्युत्पन्न हिंदी रूप √मार् (ना) में प्रेरणा का अर्थ नहीं रह गया है, अपितु यह सकर्मक धातु है। इस प्रकार प्रा० भा० आ० भा० की णिजंत प्रक्रिया खो देने पर हिंदी ने निम्नलिखित प्रक्रिया अपनाई—

(क) मूल धातुओं में—वा—के योग से; यथा-√कर्वा (ना); (√कर्ना); √गढ्वा (ना); (√गढ़) (ना); √चढ़्वा (ना); (√चढ़) (ना); इत्यादि ।

णिजंत रूप बनाने में एकाक्षरीय (मोनोसिलेबिक) दीर्घ-स्वर-युक्त-धातुओं का दीर्घ स्वर ह्रस्व में बदल जाता है ('ऐ', औ को छोड़कर) और ऐसी स्वरांत धातुओं में धातु एवं - वा के मध्य में—ल्—का आगम होता है। उदाहरण क्रमशः ये हैं—

√घूम् (ना)—√घुम्वा (ना); √जाग् (ना) - √जग्वा (ना); परंतु—√तैर् (ना)—तैर्वा (ना); √दौड़् (ना) – √दौड़्वा (ना);

√पी (ना) – √पिल्वा (ना) √सो (ना)—√सुल्वा (ना)। √उकास् (ना);—√उकस्वा (ना); √उखाड़् (ना)—√उखड़्वा (ना); √उछाल् (ना)—√उछल्वा (ना); √उजाड़् (ना)—उजड़्वा (ना); √उठा (ना)—√उठ्वा—(ना); √उड़ा (ना) –√उड़्वा (ना); √उतार् (ना);—√उतर्वा (ना); √उलाट् (ना)—√उलट्वा (ना); √ऐंठ (ना)—√ऐंठ्वा (ना); √कस् (ना)—√कस्वा (ना); √कह् (ना)—√कह्वा (ना); √कात् (ना)—√कत्वा (ना); √खन् (ना);—√खन्वा (ना); √खोज् (ना)—√खोज्वा (ना); √खोल् (ना)—√खोल्वा (ना); √गा (ना) –√गवा (ना); √घटा (ना) –√घट्वा (ना); √घस् (ना)—√घस्वा (ना); √घोल् (ना)—√घोल्वा (ना); √चबा (ना)—√चब्वा (ना);

√चिढ़ा (ना) –√चिढ़वा (ना); √छाप् (ना)—√छपवा (ना); √छील् (ना)—√छिल्वा (ना; √जन (ना)—√जन्वा (ना); √जीत् (ना)—√जिता (ना); √तान् (ना)—√तन्वा (ना); √देख् (ना) –√देखा ना); √धर् (ना —√धर्वा (ना); √नाप् ना)—√नपा (ना); √पका (ना)—√पकवा (ना); √पोस् (ना) √पोस्वा (ना); √पहुँचा (ना) - √पहुँच्वा (ना); √बसा (ना) —√बस्वा (ना); √माँग् (ना) – √मँगवा (ना); √रो (ना,—√रोवा (ना); √लजा (ना)—√लज्वा (ना); √लड़ (ना)—√लड़वा (ना); √सजा ना) — √सज्वा (ना); √हँस् (ना) – √हँसा (ना); ।

(ख वा – प्रत्यय की उत्पत्ति द्विगुणित - णिच् प्रत्यय - आप्+आप् –>–आवाप – >वा – है । संस्कृत में आप प्रत्यय आकारांत धातुओं में लगता था; यथा – √ स्ना – 'स्नापयति;√दा – , 'दापयति' । परंतु प्राकृत काल में यह अन्य धातुओं में भी जुड़ने लगा। संस्कृत का दूसरा प्रेरणार्थक प्रत्यय – आय था; यथा√कृ–, 'कारयति'√हृ – , 'हारयति' । आय – प्राकृत में – ए – मे परिणत हुआ, परंतु अधिक प्रयोग—आप् – >प्रा – आव् – का हुआ और आ० भा० आ० भाषाओं में प्रेरणार्थक रूप बनाने के लिये यह (यथा – भो० पु० √बइट 'बैठना' – √बइठाव्) अथवा इसका द्विगुणित रूप – वाव् – अथवा – आ गृहीत हुआ । भो० पु० में वाव् के योग से भी णिजंत – रूप बनते हैं। असमिया में भी – ओवा – , – उवा - के रूप में द्विगुणित – णिच् प्रत्यय वर्तमान है ।

§ ८२२ हिंदी प्रेरणार्थक रूप में – ल् – की उत्पत्ति के विषय में कैलॉग का विचार है कि संस्कृत में √पा धातु के साथ – आप् - के स्थान पर आल् जोड़कर √पालय् णिजंत रूप बनता है; संभवतः प्राकृत ने इस प्रणाली का अधिक उपयोग किया हो और हिंदी में प्रेरणार्थक प्रत्यय के साथ यह भी स्वरांत धातुओं में गृहीत हुआ हो । यथा√पिल् वा (ना) (√पी ना) के सादृश्य पर √खा (ना) से√खिल् वा (ना) रूप बन गया । प्रायः सभी सिद्ध तथा नामधातुओं के प्रेरणार्थक रूप बनते हैं ।

§ ८२३ **नामधातु**—संज्ञापद तथा क्रियामूलक विशेषण (पार्टिसिपल ऐडजेक्टिव) जब क्रियापद बनाने के लिये धातुरूप में प्रयुक्त होते हैं, तब उन्हें नामधातु कहते हैं। नामधातु की प्रथा अत्यंत प्राचीन है । प्रा० भा० आ० भा० में भी यह वर्तमान है। तथा इसकी सिद्ध धातुओं में अनेक मूलतः नामधातु हैं । प्रा० भा० आ० भा० की अनेक नामधातुएँ आ० भा० आ० भाषाओं को उत्तराधिकार में प्राप्त हुई हैं ।

§ ८२४ म० भा० आ० भाषाकाल में संस्कृत के भूतकालिक कृदंत रूपों से अनेक नामधातुएँ निष्पन्न हुई। इस तरह नामधातुओं की संख्या में अभिवृद्धि हुई। इस प्रकार के उदाहरण ये हैं सं० उपविष्ट (भ० का० कृ०) से प्रा० 'वइट्ठइ' (हिं√बैठ् (ना); सं० कृष्ट से प्रा० 'कड्ढइ' (हिं०काढ़्ना क्रियारूप बने। परंतु ऐसे अधिकांश क्रियापद आ० भा० आ० भाषाओं में सिद्ध धातुओं जैसे प्रतीत होते हैं; यथा—प्रा० पिट्ठइ (सं० पिष्ट—'पीसा हुआ') > हिं० √पीट् (ना)।

§ ८२५ आ० भा० आ० भाषाकाल में भी आ लगाकर अनेक नामधातुओं का निर्माण हुआ है। यह आ प्रत्यय <प्रा० भा० आ०—आय। आ० भा० आ० भा० के णिच् (प्रेरणार्थक) प्रत्यय तथा आ <√<प्रा० भा० आ—आप् के साथ रूपसादृश्य होने के कारण नामवस्तु प्रत्यय एवं प्रेरणार्थक प्रत्यय में कोई अंतर नहीं रह गया है।

§ ८२६ अनेक विदेशी – संज्ञा तथा विशेषण शब्दों में आ जोड़कर हिंदी में नाम—धातुएँ बना ली गई हैं, यथा फा० गर्म (मिला० सं० घर्म, हिं० घाम, अवे० गरेम, लै० फोर्मस्, ग्री० थर्मस, अ० वार्म्) से√गर्मा (ना) क्रुद्धहोना; फा० शर्म से √शर्मा (ना) 'लज्जा करना' इत्यादि।

§ ८२७ संस्कृत के कतिपय संज्ञा तथा विशेषण के तत्सम या अर्धतत्सम रूप से भी हिंदी में नामधातुएँ बनी हैं, यथा√अकुला (ना) <(सं० आकुल) √अलाप् (ना) (सं० 'आलाप'); √लुभा (ना) <सं० लोभ),

§ ८२८ हिंदी की ग्रामीण बोलियों यथा, ब्रज, कनौजी, बुंदेलखंडी, अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी एवं बिहार प्रदेश की बोलियों, मैथिली, मगही तथा भोजपुरी में नामधातुओं का अत्यधिक प्रयोग होता है। इधर जबसे हिंदी में आंचलिक उपन्यास लिखे जाने लगे हैं, तबसे इन ग्रामीण बोलियों में उपलब्ध नामधातुओं का परिनिष्ठित हिंदी में भी प्रयोग होने लगा है। नीचे हिंदी तथा अन्य बोलियों की नामधातुएँ उदाहरणस्वरूप दी जाती है:—

√अँकुर् (ना) <(सं० 'अंकुर') √अँचव् (ना) < (सं० आचमन) √अलगा (ना) <(सं० अलग्न), भो० पु० अगिआना <(सं० अग्नि); बो० अन्हुआना < सं० अंध); √उग् (ना) <(सं० उद्गत, प्रा० उग्गअ्अ); बो० उँच, उँचना; बो० कली, कलियाना, कुदाल कुदार, कुदरियाना, कमरी (आम का छिलका) कमरियाना; √खो (ना) < (सं० क्षय, म० भा० आ० खय, √खअ्अ; बो० खट्टा, खटाना; खीस, खिसियाना; खुरपी, खुरपियाना; गाड़ (ना) <(सं० गर्त, देशी-गड्ढ); बो० गदरा (हरा ताजा अनाज), गदराना; √गँठिया (ना), गाँद् (ना)

<(सं० ग्रंथि); √चुरा (ना)<(सं० चौर—);<चीन्ह (ना)<(सं० चिह्न)'; बो० चित्र, चितियाना; चोखा (देशी: चोक्खा, पवित्र, बँ० चोखा=तेज करना), चोखाना; चीची (ध्वनि से), चिचिआना; √छीन् (ना)<(सं० छिन्न—); छगरा (छाग—छागर, प्रा० तथा बँ० छागल, बकरा), बकरी का 'छगराना'; √जोत् (ना)<(सं० युक्त—प्रा० जुत्त); √जम् (ना)<(सं० जन्म); बो० जिह्वा, जिभिआना, जूता मारने से, जुतियाना; √झाड़ (ना)<(म० भा० आ० झाड़ झगड़); √ताक् (ना)<(सं० तर्क-तर्कयति, म० भा आ० तक्क). बो० तिक्त, तिताना; √थाम् (ना)<(सं० स्तंभ, म० भा० आ० थंभ); बो० स्थिर; थिरथिराना;√दुखा ना थिर <(सं० दुःख) (म० भा० आ० दुक्ख); दुर्बल, दुबराना; टंकण, टाँकना; टीका, टीकना; ठंढा, ठंढाना; नाक, नकियाना; नौंश, नौंखना; √पक् (ना) (सं० पक्व, म० भा० आ० पक्क); √पतिआ (ना) (<प्रा० पत्तिअ <सं० प्रत्यय) म० भा० आ० पच्चय;पच्चअ, प्राकृत का पत्तिअ शब्द प्राचीन काल में ही संस्कृत से उधार लिया प्रतीत होता है 'विश्वास करना'। √पैठ् (ना)<(सं० प्रविष्ट प्रा० पइट्ठ); √पीट् (ना)<(सं० पिष्ट, म० भा० आ पिट्ट ; बो० पागल, पगलाना; पातर, पतराना; पानी से सींचने से, पनियाना; पीतर, पितराना; पीठ, (पृष्ठ), पिठियाना (पीछा करना); बो० फल, फरिआना; √फाँस् (ना) फँस् (ना) <(सं० पाश—,प्रा० फंस); फूल, फुलाना; फुफकार (फूत्कार), फुफकारना; फिल्म, फिल्माना (यह प्रयोग नवीन लेखकों द्वारा हो रहा है); √बौरा (ना) <(सं० वातुल—, प्रा० बाउल), पागल होना; बतिआ (ना)<(सं० वार्ता, म० भा० आ० वत्ता, वत्त); बखान् (ना)<(सं० व्याख्यान, प्र० बक्खाण); बो० उगल देना, बोकरना; बौर, बौराना; वाद्य बजाना; बरधा (वलद, बलिवर्द—) बर्धाना, बर्दाना; भूख् (बुभुक्खा, बुभुक्षा), भुखाना, √माँग् (ना)<(सं० मार्ग-मार्गयति 'खोजता है', म० भा० मग्गइ); √मूत् (ना) (सं० मूत्र —, प्रा० मुत्त); बो० मोह, मोहाना; मीठा, मिठाना; मिट्टी मटियाना; (मिट्टी से हाथ साफ करना); मोटा, मोटाना; मंजरी, मोजरियाना; रिस, रिसाना, रिसियाना; √लतिया (ना)<(म० भा० आ० लत्ता, लत्त); बो० लट, लटियाना; लालस, लसियाना; लोभ, लोभाना; साबुन, सबुनाना; √सूख् (ना) < (सं० शुष्क—>प्रा० सुक्ख), शीत, सितियाना; √हथिया (ना)<(सं० हस्त, म० भा० आ० हत्थ); बो० हरा, हरियाना !

§ ८२६ मिश्रित अथवा संयुक्त एवं प्रत्ययुक्त धातुएँ—मिश्रित अथवा संयुक्त धातुएँ या तो धातुओं के योग से अथवा किसी धातु से पूर्व कोई संज्ञा, क्रियाजात विशेष्य अथवा कृदंत पद जोड़कर बनती हैं। पहले प्रकार की धातुओं में आ० भा० आ० भाषाओं में बिरले ही उदाहरण मिलते हैं। हिंदी व्याकरणों में

संयुक्त धातुओं के नाम से अभिहित पदों में दूसरी श्रेणी के (धातुओं से पूर्व कृदंत, क्रियाजात विशेष्य अथवा संज्ञापद जोड़कर बने हुए) ही उदाहरण मिलते हैं; यथा – 'बाँट देना'; 'कह सकना', 'जान लेना', 'जाने देना', 'उठ बैठना', 'कर जाना', इत्यादि ।

§ ८३० सिद्ध अथवा नामधातु में, किसी प्रत्यय के योग से प्रत्यय-युक्त धातुएँ निष्पन्न हुई हैं। इस प्रकार की धातुएँ सभी आ० भा० आ० भाषाओं में मिलती हैं। मूल अथवा नामधातु से इनके अर्थ में कुछ अंतर भी आ जाता है। हिंदी की इस प्रकार की कतिपय धातुएँ नीचे दी जाती हैं—

(१) क् (सं० √कृ–) प्रत्यय-युक्त -√अटक् (ना) < (पा० अट्टो, प्रा० अट्ट <सं० अति + √कृ); √चूक् (ना) <(म० भा० आ० चुक्क— <सं० च्युत् + √कृ; √छिटक् (ना), छिड़क् (ना) <(छिट्ट – सं० छिन्न –); √झपक् (ना) ('झप्प—आकस्मिक तथा निरंतर क्रिया'); √टपक् (ना), (मिला० ने० टप्कनु <म० भा० आ० टप्प— : झप्प—(<तर्प १); √थूक् (ना) <(सं० थूत् √कृ);

√फूत√कृ–);√बहक् (ना) (< बह √कृ०) :√भड़क् (ना);√रोक् (ना) (√रुध्√कृ–) ।

(२) -ट् <सं० वृ० √(म० भा० आ० वट्ट ; प्रत्यययुक्त – √घिसट (ना) (सं० घर्ष+वृत्त ;√चिपट् (ना) < (प्रा० चिप्प+वट्ट;√झपट(ना < (सं०) (झम्प वृत्त); √डपट् (ना) < (सं० दर्प+वृत्त) ।

(३)– ड् < म० भा० आ० ड्युक—√पकड़ (ना) म० भा० आ० पक्क ड);√झगड़् (ना < (म० भा० आ० झग – ड –);√हँकार (ना) हाँक् (ना) < (म० भा० आ० हक्क – ड, मिला० ने० हकानु तथा हाँक्नु < सं० को० √हक्कार='बुलाना', प्रा० हक्कारेइ तथा सं० को० हक्कयति='चिल्लाता है', प्रा० हक्कइ, हाँकता है √पिछड़ (ना),√पछाड़ (ना) < (सं० पश्चात् > प्रा० पच्छा+ड्) ।

(४) र–युक्त √ठहर (ना) (मिला० ने० ठहनु < प्रा० भा० आ० स्तभिर दे० सं० स्तभितः स्थिर किया हुआ', 'स्तभायति' = स्थिर करता है'). √पुकार (ना) <प्रा० पुक्कारेइ, पुक्करेइ, पोक्काइ पोक्करेउ) ।

(५) ल-युक्त —√टहल् (ना), मिला० ने० टहल्नु < टहल्लु < टहल्ल, यह सं० भ्रमति 'जाता है' का विस्तृत रूप है): <फुसला (ना) (मिला० गुज० फोसलाव्वुँ, मरा० फुसलाविणे, उ० फुसलाइबा, ने० फुसल्याउनु, गु० फुस्लौणो) ।

§ (८३१) ध्वन्यात्मक अथवा अनुकार ध्वनिज धातुएँ—इस प्रकार की धातुएँ भी नामधातुओं के अंतर्गत आती हैं। इन्हें दो भागों में बाँटा जा सकता है—मुख्य अनुकरणात्मक तथा द्वित्व अनुकरणात्मक। मुख्य अनुकरणात्मक धातुएँ भी दो प्रकार की हैं—साधारण तथा द्वित्व।

अनुकरणात्मक धातुएँ वैदिक तथा संस्कृत में भी प्राप्य हैं, किंतु उनकी संख्या अत्यल्प है। म० भा० आ० भाषाकाल में इनकी संख्या बहुत बढ़ गई। म० भा० आ० में इस प्रकार की धातुएँ कुछ ये हैं—लडफडइ (हे० चं० ४-३६६) 'तड़फड़ाना', 'थरथरइ' काँपना, 'घमघमइ' घम घम ध्वनि करना'; फुरफुरायदि (मृच्छकटिक)। प्रा० भा० मा० आ० भा० में ध्वन्यात्मक धातुओं की संख्या अत्यल्प होने के कारण प्राकृत वैयाकरणों ने म० भा० आ० भाषा की ऐसी धातुओं को देशी के अंतर्गत रखा है। फिर भी कतिपय अनुकरणात्मक-शब्द संस्कृत में वर्तमान हैं; यथा, झङ्कार—, गुञ्जन—, कूजन—; इनसे प्राकृत के—'झंकारेइ', 'गुंजइ', 'कूजइ'—क्रियापदों की निष्पत्ति हुई है। संस्कृत में द्वित्व—अनुकरणात्मक—क्रियापदों के कुछ उदाहरण ये हैं—खटखटायते, मड-मडायते, फरफरायते, इत्यादि।

§ ८३२ प्रायः सभी आ० भा० आ० भाषाओं में अनुकरणात्मक—धातुएँ वर्तमान हैं। नीचे हिंदी की कतिपय अनुकरणात्मक धातुएँ दी जाती हैं—

(१) मुख्य—अनुकरणात्मक—धातुएँ; (क) साधारण—√टप् (ना) 'कूदकर पार करना'; √फूँक् (ना) < (प्रा० फुक्कइ, सं० फूत्करोति; √छींक् (ना) (प्रा० छिक्कन्त—, मिला० सं० को० छिक्का—) (ख) द्वित्व —√कट्कटा (ना); √खट् खटा (ना); √खन्खना (ना); √झन् झना (ना)।

आधुनिक हिंदी कवियों के साहित्य में, संस्कृत शब्दों एवं धातुओं के तत्सम रूप, पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। इस प्रकार संस्कृत की अनेक धातुएँ तद्भव रूप के साथ साथ तत्सम तथा अर्धतत्सम रूप में भी हिंदी में आ गई हैं। ऐसी कुछ धातुएँ उदाहरणस्वरूप नीचे दी जाती हैं—

√गर्ज् (ना) < (तत्सम् सं० गर्ज्); √गरज् (ना) (अर्ध-तत्सम), √त्याग् (ना); √तज् (ना) 'छोड़ना' (सं० √त्यज्—); √बरज् (ना) 'रोकना' (सं० √वर्ज्); √भज् (ना) सं० √भज्); √सुमिर् (ना) (सं० √स्मर्); √रच् (ना) सं० √रच्।

§ ८३३ संदिग्ध व्युत्पत्तिवाली धातुएँ; हिंदी में अनेक धातुएँ ऐसी हैं कि न तो प्रा० भा० आ० भा० की किसी धातु से उनकी व्युत्पत्ति सिद्ध होती है

और न वह साधित धातुएँ (सेकेंडरी रूट्स) ही प्रतीत होती हैं। प्राकृत वैयाकरणों ने ऐसी धातुओं को देशी नाम दिया था। परंतु वर्तमान काल में, जबकि संसार भर की भाषाओं से भाषाविज्ञान के पंडितों का परिचय हो चुका है। आ० भा० आ० भा० की ऐसी सभी धातुओं को 'देशी' नाम से अभिहित नहीं किया जा सकता, क्योंकि इनमें अनेक धातुएँ किसी विदेशी भाषा की धातु से रूप एवं अर्थ में सादृश्य रखती हैं। उदाहरण के लिये हिंदी की √कूद् (ना) धातु ले लें। यद्यपि संस्कृत कोषों में एक धातु √कूर्द् भी है और उससे √कूद् (ना) का संबंध स्पष्ट है, तथापि √कूर्द् धातु संस्कृत में बहुत बाद में अपनाई गई जान पड़ती है और बहुत संभव है कि तत्कालीन कथ्य भाषा (प्राकृत) से संस्कृत ने इसको ग्रहण किया हो।

तमिल भाषा में √कूद् की सरूप एवं समानार्थक धातु मिलती है। इससे क्या यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि यह धातु आ० भा० आ० में तमिल से ली गई' इस प्रकार की हिंदी की कतिपय धातुएँ ये हैं—

√ऐंट् (ना) 'समान'; √उठँग् (ना) 'पड़ना' सोना; √चिहुँक् (ना); √चौंक् (ना); √छोड़् (ना); √जुड़् (ना); √झाँक् (ना); √झाड़् (ना); झाँक् (ना); √टाँग् (ना), इत्यादि।

(२) पुनरुक्त अनुकरणात्मक धातुएँ—(क) पूर्णपुनरुक्त √टन्-टना (ना); √धुक् धुकाना। (ख) अपूर्ण पुनरुक्त—जिनमें एक ध्वनिज शब्द का अन्य धातु से संयोग संमिश्रण होता है; यथा—√हड़बड़ा (ना); √सकपका (ना), इत्यादि।

हिंदी की धातुएँ तथा क्रियाविशेष्य पद (रूट्स ऐंड वर्बल नाउंस)

§ ८३४ यद्यपि धातुएँ वैयाकरणों की सृष्टि हैं तथापि संश्लेषात्मक भाषाओं (सिंथेटिक लैंग्वेजेज) में अशिक्षित लोगों में भी धातुभाव वर्तमान रहता है। बोलते समय उनको इसका आभास अवश्य होता रहता है कि जो वाक्य वे बोल रहे हैं, उनमें अमुक क्रियापद हैं और ये अमुक धातुओं से निष्पन्न हुए हैं। परंतु कभी कभी अत्यंत संश्लेषात्मक भाषाओं तक में धातुएँ विशेष्य पदों के रूप में व्यवहृत होती हैं; यथा—सं० दृश्, भुज्, भू, पृच्छ् आदि शब्द—संज्ञा तथा क्रिया, दोनों रूपों में प्रयुक्त होते हैं।

इसका कारण यह है कि शब्दों के मूल रूप धातुएँ ही होती हैं। संस्कृत में शब्दों के रूप चलाते समय उनमें विभक्ति प्रत्ययों का जोड़ना आवश्यक होता है। परंतु ध्वन्यात्मक परिवर्तन के कारण, बाद में कर्ता के एकवचन में प्रायः शब्द के मूल रूप ही रह गए। आधुनिक भारोपीय भाषाओं—अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन,

हिंदी, बँगला, आदि—में, यह परिवर्तन हुआ है। इस प्रकार के धातु-संज्ञा-पदों के अनेक रूप हिंदी में वर्तमान हैं। ये पद या तो अकेले अथवा समानार्थक धातुपदों के साथ जोड़कर प्रयोग में लाए जाते हैं और प्रायः कर्ता अथवा कर्म कारक में होते हैं। इनके कुछ उदाहरण ये हैं—

काट छाँट, हार् जीत्, धर् पकड़, डाँट् डपट्, इत्यादि।

क्रिया विशेषण पद का प्रयोग संयुक्त क्रियाओं की रचना में होता है। आगे यथास्थान इनपर विचार किया जाएगा।

अकर्मक तथा सकर्मक धातुएँ

§ ८३५ हिंदी की धातुएँ या तो सकर्मक (ट्रांजिटिव) होती हैं या अकर्मक इनट्रांजिटिव। प्रायः सिद्ध धातुएँ—प्राइमरी रूट्स—अकर्मक होती हैं; किंतु अनेक साधित धातुएँ—सेकेंडरी रूट्स-भी अकर्मक होती हैं; यथा—

√चल् (ना), √बैठ् (ना), √नाच् (ना), √खेल् (ना), √कूद् (ना), √हँस् (ना) इत्यादि। इसी प्रकार कुछ नामधातुएँ भी अकर्मक हैं, √रूठ् (ना) < (सं० रुष्ट, प्रा० रुट्ठ से निष्पन्न), √उग् (ना) इत्यादि।

§ ८३६ सिद्ध अकर्मक धातुओं को सकर्मक में परिवर्तित करने के लिये या तो (१) णिच्—(प्रेरणार्थक) प्रत्यय—आप्>—आव्>—आ जोड़ दिया जाता है, अथवा मूल—अकर्मक—धातु के ह्रस्व स्वर को दीर्घ कर दिया जाता है। उदाहरण क्रमशः ये हैं—

√कट् (ना), (अकर्मक), √काट् (ना), (सकर्मक); √मर् (ना), मार् (ना)। ह्रस्व स्वरवाली ये अकर्मक धातुएँ, वस्तुतः आ० भा० आ० भाषाओं में प्राचीन—णिजंत—क्रियापदों के दीर्घ स्वर को ह्रस्व में परिणत कर बनाई जाती हैं।

§ ८३७ सकर्मक धातुएँ वस्तुतः कर्मयुक्त होती है। अन्य आ० भा० आ० भाषाओं के समान हिंदी में भी केवल अप्राणिवाचक संज्ञापद ही कर्मकारक में प्रयुक्त होते हैं अर्थात् इनके बाद संप्रदान का परसर्ग 'को' नहीं आता, यथा—'आम चुनो,' 'भात खाओ', 'लाठी दो', इत्यादि। जब प्राणिवाचक संज्ञापद कर्मकारक में प्रयुक्त होते हैं तथा वे निश्चयात्मक अर्थ का बोध कराते हैं, तब उनके साथ संप्रदान कारक के परसर्ग 'को' का व्यवहार किया जाता है; यथा—'घोड़े को ले चलो'। परंतु जब वे साधारण रूप में प्रयुक्त होते हैं तथा निश्चयात्मक अर्थ के बोधक होते हैं, तब अप्राणिवाचक संज्ञापदों के समान ही उनका व्यवहार होता है और उस दशा में परसर्ग 'को' का प्रयोग नहीं होता; यथा—'वह घोड़ा दौड़ा रहा है।'

संप्रदान कारक के परसर्ग 'को' का कर्म कारक में प्रयोग वस्तुतः आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की एक विशेषता है। सकर्मक क्रियाओं के भूत अथवा अतीत काल में कर्मणि प्रयोग—'उसने रोटी खाई' के स्थान पर भावे प्रयोग उसने रोटी को खाया के कारण भी इस परसर्ग का प्रयोग आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में प्रचलित हुआ। वास्तव में संप्रदान के परसर्ग का कर्म में इसलिये भी प्रयोग बढ़ा कि कर्म की विभक्ति का लोप हो जाने के कारण उसका निश्चय करना कठिन हो गया तथा कृदंतीय रूप भी उसे प्रकट करने में असमर्थ रहा।

धातु-रूप-प्रणाली

§ ८३८ हिंदी की प्रायः सभी धातुओं के रूप एक ही प्रकार से निष्पन्न होते हैं। केवल पाँच धातुएँ ऐसी हैं जिनके आज्ञार्थक प्रकार के आदरसूचक-रूप तथा भूतकालिक कृदंत और उससे बननेवाले कालों के रूप कुछ भिन्न होते हैं। इनमें भी भिन्नता केवल इतनी ही है कि उपर्युक्त रूपों में धातु का रूप कुछ परिवर्तित है। ये धातुएँ निम्नलिखित हैं--

√हो (ना), √कर (ना), √दे (ना), √ले (ना), तथा √जा (ना)।

आदरसूचक आज्ञार्थक प्रकार एवं भूतकालिक कृदंत में इन धातुओं के रूप क्रमशः √हु—(यथा—हुआ—हुए), √कि—(यथा - किया—), √दि—(यथा—दिया—), √लि (यथा—लिया) तथा √ग यथा—गया) हो जाते हैं।

इसके अतिरिक्त धातुओं में अन्य कोई असमानता नहीं है।

§ ८३९ धातुओं के रूप, लिंग, वचन, पुरुष, प्रकार, वाच्य एवं कालभेद से भिन्न भिन्न होते हैं। धातुरूपों में लिंगभेद हिंदी की एक विशेषता है। इसका कारण कृदंत रूपों का अपनाना है। संस्कृत में भी कृदंत रूपों में लिंगभेद होता है, यथा सा गतः 'वह गया' 'सा गता' 'वह गई'। हिंदी ने जब कृदंत रूप अपनाए, तो इसमें लिंगभेद की प्रणाली भी स्वतः चली आई। यही कारण है कि हिंदी धातुरूपों में लिंगभेद होता है। हिंदी में द्विवचन समाप्त हो जाने से केवल एक वचन, बहुवचन में ही धातुरूप बनते हैं तथा प्रथम पुरुष, मध्यम पुरुष एवं उत्तम पुरुष में धातुओं के रूपों में भिन्नता होती है। प्रत्ययसंयोगी भविष्यत् एवं आज्ञार्थक में प्रत्ययों की भिन्नता से पुरुषभेद व्यक्त होता है। साधारण या नित्य अतीत एवं कारणात्मक अतीत में प्रत्ययों की भिन्नता से पुरुषभेद

प्रकट नहीं किया जाता। अन्य रूपों में पुरुषभेद सहायक क्रियाओं में रूप भिन्नता द्वारा प्रकट होता है।

प्रकार

§ ८४० हिंदी में केवल तीन प्रकार हैं—निर्देशक (इंडिकेटिव), आज्ञा (इंपरेटिव) एवं घटनांतरापेक्षित अथवा संयोजक (सब्जेक्टिव) प्रकार। इनमें से केवल आज्ञा के रूप, हिंदी की प्रा० भा० आ० भाषा से परंपरया प्राप्त हुए हैं। अन्य प्रकारों के रूप बनाने में हिंदी ने नई पद्धति अपनाई है।

§ ८४१ हिंदी के आज्ञार्थक प्रकार के रूप, प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के वर्तमान-निर्देशक-प्रकार (प्रजेंट इंडिकेटिव) तथा अनुज्ञा अथवा आज्ञार्थक प्रकार (इंपरेटिव) के रूपों के संमिश्रण हैं। संमिश्रण का अर्थ यह है कि हिंदी का आज्ञार्थक मध्यम पुरुष एकवचन का रूप, प्रा० भा० आ० भा० के आज्ञार्थक—म० पु० ए० व० से प्राप्त हुआ है तथा अन्य पुरुषों एवं वचनों के रूप, प्रा० भा० आ० भा के वर्तमान निर्देशक प्रकार के रूपों से आए हैं। नीचे हिंदी के आज्ञार्थक प्रकार की व्युत्पत्ति दी जाती है। इससे ऊपर का कथन स्पष्ट हो जायगा —

उत्त० पु० ए० व० (मैं) चलूँ <म० भा० आ० (अप०) चलउँ < प्रा० भा० आ० चलामि (वर्तमान-निर्देशक-उ० पु० ए० व० का रूप)। परंतु प्रा० भा० आ० – इ > (अप०),—उँ का कारण स्पष्ट नहीं है। बीम्स ने इसका कारण उ० प्र० एकवचन एवं ब० व० के रूपों का प्रत्यय बताया है। इस प्रकार सं० चलामः (उ० प्र० ब० न०) > (प्रा०) चलामु, (अप०) चलउँ > हिं० चलूँ (ए० व०) और सं० चलामि > चलाइँ > हिं० चलें (ब० व०) ; ब० व० (हम) चलें, (अप०) चलउँ, सं० चलामः। इसकी व्याख्या ऊपर दी गई है।

मध्य० पु० ए० व०, (तू) चल < म० भा० आ० चल < प्रा० भा० आ० चल—(वर्तमान—आज्ञार्थक प्रकार—म० पु० ए० व०)।

ब० व०, (तुम) चलो < चलह, चलहु, चलउ < चलथ (वर्तमान निर्देश म० पु० ब० व०)।

अन्य पु० ए० व०, (वह) चले < चलहि, चलइ < चलति (वर्त० निर्दे० अ० पु०)।

ब० व०, (वे) चलें < चलहूँ, चलहिं < चलंति (वर्त० निर्दे० अ० पु० ब० व०)।

§ ८४२ हिंदी में आदरसूचक आज्ञार्थक प्रकार के रूप मध्यम पुरुष बहुवचन में मिलते हैं, यथा—(आप) कीजिए, दीजिए, इत्यादि।

इनकी उत्पत्ति प्रा० भा० आ० के—विधिलिंग (यथा—कुर्यात्—दद्यात्) से है। यह प्रा० भा० आ० या प्रथम, म० भा० आ० काल में—एय्य तथा बाद में—एज्ज,—इज्ज में परिवर्तित हो गया और इसके साथ निर्देशक—प्रकार के प्रत्ययों—मि—सि—ति > इ में मिल गया। इस प्रकार म० भा० आ० में किज्जइ, दिज्जइ आदि रूप बने, जिनसे हिंदी के कीजिए, दीजिए, इत्यादि आदर-सूचक रूपों की उत्पत्ति हुई।

§ ८४३ घटनांतरापेक्षित अथवा संयोजक प्रकार (सब्जेक्टिव मूड) का वैदिक भाषा में बहुत महत्वपूर्ण स्थान था। परंतु दूसरे रूप लौकिक सिद्धांत में भी न आ सके। हिंदी में इस प्रकार का भाव वर्तमानकालिक कृदंत तथा 'जो', 'यदि' शब्दों के योग से प्रकट किया जाता है, यथा—जो मैं ऐसा जानता। इस प्रकार का भाव प्रकट करने के लिये अपभ्रंश में भी 'जइ' संयोजक का प्रयोग मिलता है, यथा—'सेर इक्क जइ पाविड घित्ता' 'यदि एक सेर घी पाता' (प्राकृत पैङ्गल, पृ० २११)।

निर्देशक प्रकार की रूपरचना का विचार आगे 'कालरचना' के प्रसंग में किया गया है।

वाच्य

§ ८४४ प्रा० भा० आ० भाषा में कर्मवाच्य संश्लेषात्मक रूप से (अर्थात् धातु में प्रत्ययों के संयोग से) प्रकट किया जाता था। परंतु आ० भा० आ० भाषाओं में कर्मवाच्य के रूप विश्लेषात्मक ढंग से बनाए जाते हैं। संस्कृत में धातु के साथ—य—जोड़कर कर्मवाच्य का रूप बनाया जाता था। मध्य० आ० आ० भा० के प्रथम पर्व में—य > —इय—इय्य—ईय तथा द्वितीय पर्व में इज्ज बन गया। कतिपय आ० भा० आ० भाषाओं में यह—इज्ज > इज् (सिंधी),—ईज् (मारवाड़ी)—इय (नेपाली)—ई (पंजाबी) रूप में सुरक्षित है; यथा—सिंधी—दिजे 'दिए जाने दो' मारवाड़ी—पढ़ीजे, नेपाली —पढ़िए, पं० पढ़िए। हिंदी में 'चाहिए' में ही यह प्रत्यय मिलता है, अन्यत्र इसका लोप हो गया है।

§ ८४५ हिंदी में कर्मवाच्य के रूप भूतकालिक कृदंत के साथ 'जाना' क्रिया के रूपों के संयोग से बनते हैं; यथा—मारा जाता है; मारा गया इत्यादि। उद्देश्य के लिंग एवं वचन के अनुसार भूतकालिक कृदंत के रूप में परिवर्तन कर दिया जाता है। इस प्रकार पुल्लिंग बहुवचन में आकारांत कृदंत का आ > ए तथा स्त्रीलिंग में > ई हो जाता है।

§ ८४६ हिंदी में 'राम ने पुस्तक पढ़ी' जैसे रूपों में संस्कृत का 'कर्मणि' प्रयोग सुरक्षित है और इस प्रकार हिंदी की सकर्मक धातुओं के भूतनिर्देशक रूप संस्कृत के कर्मवाच्य से संबद्ध हैं।

§ ८४७ वाच्य क्रिया के उस रूपांतर को कहते हैं जिससे जाना जाता है कि वाक्य में कर्ता के विषय में विधान किया गया है, या कर्म के विषय में, अथवा केवल भाव के विषय में; जैसे, धोबी कपड़े धोता है" (कर्ता), "कपड़ा धोया जाता है" (कर्म), "यहाँ रहा नहीं जाता" (भाव)।

(क) कर्तृवाच्य क्रिया के उस रूपांतर को कहते हैं जिससे जाना जाता है कि वाक्य का उद्देश्य क्रिया का कर्ता है; जैसे 'घोड़ा दौड़ता है"।

क्रिया के उस रूप के कर्मवाच्य कहते हैं जिससे जाना जाता है कि वाक्य का उद्देश्य क्रिया का कर्म है जैसे पुस्तक पढ़ी गई, रोटी खाई गई; इत्यादि।

§ ८४८ कर्तृवाच्य का प्रयोग अकर्मक और सकर्मक दोनों प्रकार की क्रियाओं में होता है; कर्मवाच्य का केवल सकर्मक क्रियाओं में और भाववाच्य केवल अकर्मक क्रियाओं में होता है।

(अ) यदि कर्मवाच्य और भाववाच्य क्रियाओं में कर्ता को लिखने की आवश्यकता हो तो उसे करण कारक में रखते हैं, "जैसे लड़के से दूध नहीं पिया गया"। कर्मवाच्य में कर्ता कभी कभी द्वारा शब्द के साथ आता है; जैसे, "मेरे द्वारा सर्प मारा गया।"

(आ) कर्मवाच्य में उद्देश्य कभी अप्रत्यय कर्मकारक में (जो रूप में अप्रत्यय कर्ताकारक के समान होता है) और कभी सप्रत्यय कर्मकारक में आता है; यथा "सेना एक नदी के किनारे रोकी गई"।

§ ८४६ हिंदी में कर्मवाच्य क्रिया का प्रयोग बहुधा सर्वत्र न होकर नीचे लिखे स्थानों में होता है—

(१) जब क्रिया का कर्ता अज्ञात हो अथवा उसके व्यक्त करने की आवश्यकता न हो; जैसे, "चोर पकड़ा गया है" "आज हुक्म सुनाया जाएगा" न तु मारे जैहैं सब राजा (रामः)।

(२) कानूनी भाषा में प्रभुता जताने के लिये. यथा—"इत्तला दी जाती है"।

(३) आवश्यकता के अर्थ में; यथा—'रोगी से अन्न नहीं खाया जाता'।

(४) किंचित अभिमान में; यथा —'यह फिर सुना जाएगा'।

कर्मवाच्य के बदले हिंदी में बहुधा नीचे लिखी रचनाएँ आती हैं—

(१) कभी कभी सामान्य वर्तमान काल की अन्यपुरुष बहुवचन क्रिया का उपयोग कर कर्ता का अध्याहार करते हैं; यथा—ऐसा कहते हैं (=ऐसा कहा जाता है । ऐसा सुनते हैं (=ऐसा सुना जाता है) ।

(२) कभी कभी कर्मवाच्य की समानार्थिनी अकर्मक क्रिया का प्रयोग होता है; यथा—बाँध बनता है (बनाया जाता है) खेत सिंच रहा है (=सींचा जा रहा है) ।

(३) कुछ सकर्मक क्रियार्थक संज्ञाओं के अधिकरण कारक के साथ (आना) क्रिया के विवक्षित काल का उपयोग करते हैं, यथा—देखने में आया है (देखा गया है), सुनने में आया है (सुना गया है) ।

(४) किसी किसी सकर्मक धातु के साथ 'पड़ना' क्रिया का इच्छित काल लगाते हैं; यथा—"ये सब बातें देख पड़ेंगी आगे ।" जान पड़ता है; सुन पड़ता है ।

(५) कभी कभी पूर्ति (संज्ञा या विशेषण) के साथ "होना" क्रिया के विवक्षित कालों का प्रयोग होता है; यथा - वे विश्वविद्यालय के उपकुलपति हुए (बनाए गए) । यह रीति प्रचलित हुई (की गई) ।

(६) भूत कालिक कृदंत (विशेषण के साथ संबंध कारक और 'होना' क्रिया के कालों का प्रयोग होता है; यथा—'यह बात मेरी जानी हुई है (मेरे द्वारा जानी गई है) । यह पुस्तक मोहन की लिखी होगी (मोहन से लिखी गई होगी) ।

§ भाववाचक क्रिया बहुधा अशक्तता के अर्थ में आती है; यथा—'वहाँ कैसे रहा जायगा' । "उसके कान से सुना नहीं जाता" ।

(अ) अशक्तता के अर्थ में सकर्मक और अकर्मक दोनों प्रकार की क्रियाओं के अपूर्ण क्रियाद्योतक कृदन्त के साथ "बनना" क्रिया के कालों का भी उपयोग होता है; यथा "काम करते नहीं बनता" ।

§ ८५० द्विकर्मक क्रियाओं में कर्मवाच्य में मुख्य कर्म उद्देश्य होता है और गौणकर्म ज्यों का त्यों रहता है; यथा—"ब्राह्मण को दान दिया गया ।" "विद्यार्थी को न्याय पढ़ाया जायगा ।"

(अ) अपूर्ण सकर्मक क्रियाओं के कर्मवाच्य में मुख्य कर्म उद्देश्य होता है: परंतु वह कभी कभी कर्म कारक ही में आता है; यथा—

"अध्यापक प्रधानाध्यापक बनाया गया" । "राजकुमार को जेल के अंदर न रखा जाता ।"

कालरचना

§ ८५१ हिंदी की काल-रचना-प्रणाली प्राचीन भारतीय आर्यभाषा की पद्धति से बहुत दूर चली गई है। प्रा० भा० आ० भाषा में भूतकाल के तीन रूप प्राप्त थे, लङ्, लिट् एवं लुङ् लकार में। इसके उदाहरण क्रमशः ये हैं— (स) अगच्छत्, (स) जगाम, (स) अगमत्। मध्य भारतीय आर्यभाषा में ये तीनों रूप छोड़े जाने लगे और धातु के भूतकालिक कृदंत रूप से भूतकाल प्रकट किया जाने लगा। इस प्रकार प्राकृत ने प्रा० भा० आ० भाषा के इन तीनों रूपों के बदले कृदंतीय रूप (स) गतः अपनाया। यह गतः > म० भा० आ० गअ, गय > हिं० गया। इसी प्रकार संस्कृत का वर्तमानकालिक कृदंत रूप हिंदी में गृहीत हुआ, यथा सं० पठंत (√पठ्+शतृ—प्रत्यय अंत) > हिंदी पढ़ना। इन कृदंतीय रूपों के अतिरिक्त प्रा० भा० आ० भा० के वर्तमान निर्देशक प्रकार के रूप भी हिंदी में आए, यथा—सं० पठति > म० भा० आ० पठइ > हिंदी पढ़े। प्रा० भा० आ० भाषा से प्राप्त ये तीन रूप (एक तिङन्त एवं दो कृदंत) हिंदी धातुओं के विविध रूपों के आधार हैं और इनमें सहायक क्रियाओं के योग से हिंदी की काल-रचना-प्रणाली का निर्माण हुआ है।

§ ८५२ रचनाप्रणाली के आधार पर हिंदी कालों का विभाजन निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है—

(१) सरल या मौलिक काल (सिंपुल टेंसेज)—जिनमें धातु का तिङन्त अथवा कृदंत रूप बिना किसी सहायक क्रिया की सहायता से प्रयुक्त होता है। तिङंत भेद से इसके भी दो प्रकार हुए—

(क) तिङंत—

(१) मूलात्मक—काल (१) वर्तमान इच्छार्थक

(२ वर्तमान, आज्ञार्थक (तू) चल

(रैडिकल टेन्स); यथा (मैं चलूँ), (तुम) चलो, (वह) चले।

(ii) प्रत्यय एवं कृदन्त संयोगी-भविष्यत्-यथा (मैं) चलूँगा, (तुम) चलोगे (वह) चलेगा।

(ख) कृदन्तीय-काल (पार्टीसिपल टेन्स)—

(i) साधारण या नित्य-अतीत—(सिंपुल पास्ट); यथा—

(मैं) चला, (तुम) चले, (वह) चला।

(ii) कारणात्मक—अतीत (पास्ट कनजंक्टिव); यथा—

(मैं) चलता, (तुम) चलते, (वह) चलता।

(iii) भविष्यत् आज्ञार्थक, यथा—(तुम) पढ़ना।

(ग) मिश्र या यौगिक कालसमूह—(कंपाउंड टेंस) इसमें धातु के कृदंत रूप के साथ किसी सहायक क्रिया का प्रयोग होता है। इस कालसमूह के दो भेद किए जाते हैं (अ)—घटमान-काल-समूह (प्रोग्रेसिव टेन्स) तथा (आ) पुराघटित-कालसमूह (परफेक्ट टेन्सेज)।

§ ८५३ (अ) घटमान कालसमूह में वर्तमानकालिक कृदंत के साथ सहायक क्रिया प्रयुक्त होती है। इसके अंतर्गत निम्नलिखित काल आएँगे—

(१) घटमान वर्तमान (प्रेजेंट प्रोग्रेसिव) - यथा—(मैं) पढ़ता हूँ; (तुम) पढ़ते हो; (वह) पढ़ता है।

(२) घटमान भूत (पास्ट प्रोग्रेसिव)— यथा—(मैं) पढ़ता था; (तुम) पढ़ते थे, (वह) पढ़ता था।

(३) घटमान भविष्यत् (फ्यूचर प्रोग्रेसिव)—यथा—(मैं) पढ़ता हूँगा, (तुम) पढ़ते होगे, (वह) पढ़ता होगा।

(४) घटमान संभाव्य वर्तमान (प्रेजेंट प्रोग्रेसिव—कनजंक्टिव), यथा—(मैं) पढ़ता होऊँ, (तुम) पढ़ते (होवो), (वह) पढ़ता (होवे)।

(५) घटमान संभाव्य—अतीत—(पास्ट प्रोग्रेसिव कदजक्टीव, यथा—(मैं) पढ़ता होता, (तुम) पढ़ते (होते), (वह) पढ़ता (होता)।

§ ८५४ पुराघटित कालसमूह—इसमें भूतकालिक कृदंत के साथ सहायक क्रिया प्रयुक्त होती है। इसके अंतर्गत निम्नलिखित काल हैं।

(१) पुराघटित वर्तमान (प्रेजेंट परफेक्ट) यथा (मैं) पढ़ा हूँ, (तुम) पढ़े हो, (वह) पढ़ा है।

(२) पुराघटित भूत (पास्ट परफेक्ट) - यथा—(मैं) पढ़ा था, (तुम) पढ़े थे, (वह) पढ़ा था।

(३) पुरघटित—भविष्यत (फ्यूचर परफेक्ट) यथा—(मैं) पढ़ा हूँगा, (तुम) पढ़े होगे, (वह) पढ़ा होगा।

(४) पुराघटित संभाव्य वर्तमान—(प्रेजेंट परफेक्ट कंजंक्टिव); यथा—(मैं) पढ़ा होऊँ, (तुम) पढ़े होवो, (वह) पढ़ा होवे–हो।

(५) पुराघटित संभाव्य भूत—(पास्ट परफेक्ट कंजंक्टिव) यथा—(मैं) पढ़ा होता, (तुम) पढ़े होते, (वह) पढ़ा होता।

नीचे प्रत्येक-काल पर विस्तार से विचार किया जाता है।

सरल या मौलिक काल (radical tense)

(क) तिङन्त—

§ ८५५ मूलात्मक काल (वर्तमान इच्छार्थक) के हिंदी में निम्नलिखित रूप बनते हैं—

उत्तम—पुरुष—एकवचन (मैं) पढ़ूँ, ब० व० (हम), पढ़ें

मध्यम पुरुष—एक ,,—(तू) पढ़े, ब० व० (तुम) पढ़ो

अन्य पुरुष— ,, ,,—(वह) पढ़े ब० व० (वे) पढ़ें

इन रूपों की व्युत्पत्ति प्रा० भा० आ० भाषा के वर्तमान निर्देशक से हुई है। नीचे दिए हुए तुलनात्मक कोष्ठक से इनकी व्युत्पत्ति स्पष्ट हो जायगी :

प्रा० भा० आ०	मध्य भा० आ०	हिंदी
एकवचन	पठानि	पढ़ूँ
पठसि	पढ़हि	पढ़े
पठति	पढ़हि, पढ़इ	पढ़े
बहुवचन		
पठामः		पढ़ें
पठथ		पढ़ो
पठन्ति	पढ़ेन्ति (अप०) पढ़हि	पढ़ें

ऊपर के रूपों पर ध्यान देने से विदित होगा—कि हिंदी के रूप अपभ्रंश से आए हैं परंतु उत्तम पुरुष बहुवचन के अपभ्रंश रूप पढ़हुँ तथा प्रा० भा० आ० पठामः रूपों से पढ़ें की व्युत्पत्ति नहीं मानी जा सकती और अपभ्रंश में उत्तम पुरुष एक वचन पठऊँ की व्युत्पत्ति भी प्रा० भा० आ० पठामि > प्रा० पठामि पढामि से संभव नहीं है।

इस प्रकार हिंदी के उत्तम पुरुष के रूपों की व्युत्पत्ति संदिग्ध है। बीम्स महोदय का विचार है कि इस पुरुष के एकवचन एवं बहुवचन रूपों में व्यत्यय के कारण हिंदी के रूप प्रा० भा० आ० भा० के रूपों से भिन्न हो गए हैं। इस प्रकार हिंदी के उत्तम पुरुष एकवचन की व्युत्पत्ति प्रा० भा० आ० उत्तम पुरुष, ब० व० के रूप से निम्न प्रकार से संपन्न हुई होगी।

प्रा० भा० आ पठामः > प्रा० पठामु, पठाऊँ, (अप०) पठऊँ > हिंदी, पढ़ूँ। इसी तरह हिंदी उत्तम पुरुष ब० व० के रूप पढ़ें की व्युत्पत्ति प्रा० भा० आ० पठामि > म० भा० आ० पठाइँ से हुई होगी।

प्रा० भा० आ० के वर्तमान निर्देशक से प्राप्त रूपों का प्रयोग अपभ्रंश में वर्तमान संभावनार्थ (प्रेज़ेंट कनजंक्टिव) के रूप में निष्पन्न हुआ है; यथा 'जइ आवइ तो आणिअइ' (हेम० ८-४) 'यदि वह आए तो उसे लाया जाय'। हिंदी में भी इन रूपों का प्रयोग इस अर्थ में होता है; यथा—यदि 'वह पढ़े' इत्यादि।

§ ८५६ वर्तमान आज्ञार्थक में वर्तमान इच्छार्थक रूप ही प्रयुक्त होते हैं, केवल मध्यम-पुरुष, एक वचन में, (तू) पढ़े के स्थान पर (तू) पढ़ रूप व्यवहृत होता है।

वर्तमान आज्ञार्थक के रूपों की प्रा० भा० आ० तथा म० भा० आ० के रूपों से तुलना नीचे दी जाती है—

प्रा० भा० आ०	म० भा० आ०	हिंदी
एकवचन		
पठानि	पठासु	पढ़ूँ
पठ	पठ	पढ़्
पठतु	पठहु, पठउ	पढ़े
बहुवचन		
पठाम	पठामो	पढ़ें
पठत	पठह	पढ़ो
पठन्तु	पठन्तु	पढ़ें

ऊपर के रूपों को देखने से विदित होगा कि हिंदी के केवल मध्यम पुरुष एकवचन के रूप (तू) पढ़ की ही व्युत्पत्ति प्रा० भा० आ० भा० के आज्ञार्थक रूप 'पठ' से संभव है। अन्य रूपों की व्युत्पत्ति प्रा० भा० आ० के आज्ञार्थक रूपों से न होकर वर्तमान, निर्देशक के रूपों से हुई जान पड़ती है।

हिंदी में आज्ञार्थक का आदरसूचक रूप केवल मध्यम पुरुष ब० व० में मिलता है; यथा—चलिए, दीजिए, इत्यादि। इनकी व्युत्पत्ति प्रा० भा० आ० भा० के आशीर्लिंग के —या —(यथा दधात्, क्रुर्यात्) से निम्नलिखित प्रकार से मानी जाती है :

या > म० भा० आ० इय्य; इज्ज; > हिं० इय, इए, ईजिए।

§ ८५७ प्रत्यय-संयोगी-भविष्यत् के हिंदी में निम्नलिखित रूप मिलते हैं—

उत्तम पुरुष ए० व०	(मैं)	चलूँगा	ब० व०	(हम)	चलेंगे
मध्यम पुरुष ,, ,,	(तू)	चलेगा	,, ,,	(तुम)	चलोगे
अन्य पुरुष ,, ,,	(वह	चलेगा	ब० व०	(वे)	चलेंगे

§ ८५८ प्राचीन भारतीय आर्यभाषा में एक भविष्यत् काल के रूप —इष्य अथवा —स्य विकरण के योग से निष्पन्न होते थे, यथा √पठ्, पठिष्यति, √हस्, हसिष्यति, इत्यादि। यह इष्य अथवा स्य > म० भा० आ० इस्स अथवा स्स > आ० भा० आ० इह या ह। इस विकरणयुक्त भविष्य के रूप, खड़ी बोली हिंदी

में नहीं आ पाए, परंतु ब्रजभाषा, कन्नौजी, राजस्थानी, गुजराती, पूर्वी हिंदी तथा मागधीप्रसूत भाषाओं में विद्यमान हैं। खड़ी बोली हिंदी में जब ये न आ पाए तो प्रा० भा० आ० भा० के वर्तमान निर्देशक के रूपों ने यहाँ भी स्थान पाया। पीछे लिखा जा चुका है कि प्रा० भा० आ० भाषा के वर्तमान निर्देशक के रूपों से हिंदी के वर्तमान इच्छार्थक, आज्ञार्थक एवं संभावनार्थक—रूपों की उत्पत्ति हुई है। इससे स्पष्टतया विदित होता है कि प्रा० भा० आ० भाषा के वर्तमान निर्देशक के रूपों का मूलभाव धुँधला पड़ गया था, जिससे उनका उपयोग अनेक कालों के रूप बनाने के लिये किया जाने लगा। प्रा० भा० आ० भाषा के वर्तमान निर्देशक रूपों में √गम् धातु के भूतकालिक कृदंत का रूप गत > म० भा० आ० गओ, गअ हिंदी गा जोड़कर खड़ी बोली हिंदी में जाऊँगा, जाओगे इत्यादि भविष्यत् के रूप निष्पन्न हुए।

§ ८५९ हिंदी में भविष्यत् आज्ञार्थक (फ्यूचर इंपरेटिव) का केवल एक मौलिक रूप (तुम) पढ़ना मिलता है। यह स्पष्ट है कि धातु के असमापिका (इनफिनिटिव) रूप से इसका निर्माण हुआ है।

मौलिक कृदंतीय काल (रैडिकल पार्टिसिपुल टेंसेज)

§ ८६० साधारण या नित्य अतीत (सिंपुल पास्ट) के हिंदी में निम्नलिखित रूप होते हैं—

उत्तम पुरुष ए० व० (मैं) पढ़ा ब० व० (हम) पढ़े
मध्यम पुरुष ,, (तू) पढ़ा ब० व० (तुम) पढ़े
अन्य पुरुष ,, (वह) पढ़ा ब० व० (वे) पढ़े

'पढ़ा' की उत्पत्ति प्रा० भा० आ० भाषा के भूतकालिक कृदंत रूप पठितः > म० भा० आ० पठिदो, पठिओ, पठिअ से हुई है। बहुवचन में आ > ए।

§ ८६१ कारणात्मक अतीत (पास्ट कनजंक्टिव) के रूपों (पढ़ता, पढ़ते) की व्युत्पत्ति प्रा० भा० आ० भाषा के वर्तमानकालिक कृदंत रूपों से इस प्रकार हुई है—

प्रा० भा० आ० पठंत (√पठ्+अंत 'शतृ'—प्रत्यय) > म० भा० आ० पठंतो, पठंत > हिंदी पढ़ना। बहुवचन में आ > ए के कारण पढ़ते रूप बना।

मिश्र या यौगिक कालसमूह (कंपाउंड टेंसेज)

§ ८६२ जैसा पहिले लिखा जा चुका है, मिश्र या यौगिक कालसमूह के रूप सहायक क्रिया के रूपों के योग से निष्पन्न होते हैं। अतः पहले सहायक क्रियाओं के रूपों पर विचार करना आवश्यक है।

§ ८६३ हिंदी में मुख्यतया सहायक क्रिया √हो (ना) <सं० √भू—का सहायक क्रिया के रूप में प्रयोग होता है। परंतु वर्तमान एवं भूत में क्रमशः प्रा० भा० आ० √अस् 'होना' तथा √स्था से उत्पन्न रूपों का प्रयोग होता है। विभिन्न कालों में, सहायक क्रिया के रूप व्युत्पत्तिसहित नीचे दिए जाते हैं।

वर्तमान

ए० व०—उ० प्र०, (मैं) हूँ, म० पु० (तू) है, अ० पु० (वह) है।
ब० व०— ,, (हम) हैं, ,, (तुम) हो, ,, (वे) हैं।
हूँ<म० भा० आ० अम्हि <प्रा० भा० आ० अस्मि (√अस्—)।
है<म० भा० आ० अहि, अत्थि<प्रा० भा० आ० अस्ति।
इसी प्रकार अन्य रूपों की व्युत्पत्ति की भी √अस् से कल्पना की गई है।

भूत

§ ८६४ ए० व० —उ० पु० (मैं) था, म० पु० (तू) था, अ० पु० (वह) था।
ब० व०— ,, (हम) थे, ,, (तुम) थे, ,, (वे) थे।

कतिपय विद्वानों ने 'था' की व्युत्पत्ति की इस प्रकार दी है —

था<म० भा० आ० थाइ, थिओ<प्रा० भा० आ० स्थित किंतु इसकी ठीक व्युत्पत्ति इस प्रकार है—संत के स्थान पर अतंत>अहंत:>हंतौ>हतौ>था।

'थे'—'था' का विकारी रूप है। स्त्री प्रत्यय लगाकर इसका रूप 'थी' हो जाता है।

संभाव्य वर्तमान

§ ८६५ ए० व०- उ० पु० (मैं) होऊँ, म० पु० (तू) हो, अ० पु० (वह) हो, होए
ब० व०— ,, (हम) हों, ,, (तुम) हो, वो ,, (वे) हों, होएं

होऊँ<हुवाउँ, हुवामि<भवामि। इसी प्रकार अन्य रूपों की व्युत्पत्ति भी प्रा० भा० आ० √भू से मानी गई है।

भविष्यत्

ए० व०—उ० पु० (मैं) होऊँगा, हूँगा, म० पु० (तू) होगा, अ० पु० (वह) होगा
ब० व०— ,, (हम) होंगे, ,, (तुम) होगे, ,, (वे) होंगे।

संभाव्य—वर्तमान के रूपों के साथ सं० गत—>म० भा० आ० गअ हिं० 'गा' के योग से इन रूपों की सिद्धि हुई है।

संभाव्य अतीत

§ ८६६ ए० व० – उ० पु० (मैं) होता, म० पु० (तू) होता, अ० पु० (वह) होता

ब० व० — „ (हम) होते, „ (तुम) होते, ” (वे) होते

होता <प्रा० होन्तो <सं० भवन्। 'होते' इसका विकारी रूप है।

जैसा पीछे लिखा जा चुका है, धातु के वर्तमानकालिक कृदंत के साथ सहायक क्रिया के इन रूपों के योग से घटमान-काल-समूह तथा भूतकालिक कृदंतरूप के साथ इनके संयोग से पुराघटित कालसमूह के रूप निष्पन्न होते हैं। यहाँ इनके रूपों की पुनरावृत्ति पिष्टपेषण मात्र होगी, क्योंकि सहायक क्रिया के रूपों एवं कृदंतीय रूपों की व्युत्पत्ति की जा चुकी है।

कृदंतीय रूप या क्रियामूलक विशेषण (पार्टीसिपुल्स)

§ ८६७ (अ) वर्तमानकालिक कृदंत ता, ते, (ब० व०) तथा ती (स्त्रीलिंग) प्रत्ययों के योग से बनते हैं; यथा—चलता आदमी, बहता पानी, रमता जोगी, इत्यादि।

इस प्रत्यय की उतपत्ति संस्कृत एवं प्राकृत के कृदंतीय प्रत्यय अंत् से हुई है।

(आ) कर्मवाच्य अतीतकालिक कृदंत अथवा अतीतकालिक क्रियामूलक—विशेषण (पास्ट पैसिव पार्टीसिपुल्स)

§ ८६८ हिंदी में अतीतकालिक कृदंत के रूप आ (पुल्लिंग) प्रत्ययों के योग से बनते हैं, यथा - सुना (हुआ) किस्सा, देखा हुआ देश, तारोंसजी रात, सुनी सुनाई बात, इत्यादि।

इस प्रत्यय की उत्पत्ति प्रा० भा० आ० इत् > म० भा० आ० अ+आ (स्वार्थे—प्रत्यय, अथवा <इअ (स्त्री प्रत्यय) से हुई है।

इसके कर्मवाच्य के रूप इसके साथ गया (पुल्लिंग) तथा गई (स्त्रीलिंग) जोड़ने से बनते हैं, यथा—देखा गया, कहा गया, पढ़ी गई, धरी गई, आदि।

(इ) असमापिका अथवा पूर्वकालिक क्रिया

§ ८६९ हिंदी में इसके रूप धातु के साथ 'कर्' जोड़ने से बनते हैं, यथा—देख् कर्, खा कर्, जप कर्, सुन कर्, इत्यादि। इस <कर्, के स्थान मे 'के' का प्रयोग भी (विशेषतया बोलचाल में) होता है, यथा—सुन् के, देख-के) इत्यादि।

उड़िया, असमिया, मैथिली, मगही, भोजपुरी, तथा प्राचीन एवं मध्य बँगला तथा हिंदी में भी, असमापिका अथवा पूर्वकालिक क्रिया के रूप धातु के साथ 'इ' प्रत्यय के योग से बनते हैं और उसके साथ के, करि, किरि (उड़िया)

आदि परसर्गों का व्यवहार होता है। इन इ प्रत्ययांत रूपों की उत्पत्ति प्रा० भा० आ० दृक्ष (प्रयोग में 'दृक्षा' रूप मिलता है, परंतु इनसे इन आ० भा० आ० भाषा के रूपों की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती है। संभवतः 'पश्य' इत्यादि रूपों के सादृश्य पर म० भा० आ० भाषा ने > दृश् इत्यादि धातुओं के भी 'दृक्ष' जैसे रूप बनाकर अपनाए हों।)—> म० भा० आ० देक्खिअ> आ० भा० आ० देखि जैसे परिवर्तनक्रम से हुई है। खड़ी बोली में इस 'इ' का लोप हो गया है।

(ई) द्वैत क्रियापद

§ ८७० पौनः पुन्य अथवा कार्य की निरंतरता का भाव प्रकट करने के लिये हिंदी में प्रायः क्रियाओं के सतम्यंत कृदंतीय अथवा पूर्वकालिक रूपों का द्वित्व किया जाता है, यथा—उड़ते उड़ते, खाते खाते, सुनते सुनते, भागते भागते रोते रोते, इत्यादि। पूर्वकालिक क्रिया के द्वित्व में 'कर' परसर्ग बाद में जोड़ा जाता है, यथा—गा गाकर, नाच् नाचकर, इत्यादि।

इस प्रकार के प्रयोग प्रा० भा० आ० भाषाओं तक मिलते हैं। पाणिनि ने भी 'वीप्सा' के अर्थ में द्वैत क्रियाओं का विधान किया है—यथा स्मृत्वा-स्मृत्वा—निरंतर सोच सोचकर।

हिंदी आदि आ० भा० आ० भाषाओं में कई धातुपद युग्म रूप से प्रयुक्त होते हैं। ये दोनों या तो समानार्थक होते हैं अथवा निरंतरताबोधक। हिंदी में इनके ये उदाहरण हैं—लिख पढ़कर, खा पीकर, कह सुनकर, कूद फाँदकर, कूट पीसकर इत्यादि।

§ ८७१ अन्य आ० भा० आ० भाषाओं की भाँति हिंदी में भी पारस्परिक क्रियाविनिमय प्रकट करने के लिये क्रियाविशेष्य पदों के द्विगुणित रूप प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार के युग्म में पहला पद—'आ' कारांत तथा दूसरा ईकारांत कर दिया जाता है, यथा—मारा मारी, देखा देखी, काटा काटी। इस प्रकार समानार्थक क्रियाओं के भी युग्म बना दिए जाते हैं, यथा—छीना झपटी, इत्यादि।

(उ) संयुक्त-क्रियापद (कंपाउंड वर्ब्स)

§ ८७२ आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में, क्रियापदों के साथ, संज्ञा, क्रियामूलक विशेष्य अथवा कृदंतीय पदों के संयोग के कारण एक विशेष प्रकार का मुहावरेदार प्रयोग बन जाता है। इस प्रकार के संयुक्त संज्ञापद कर्म या अधिकरण कारक में रखे जाते हैं और दोनों मिलकर एक ही अर्थ का प्रकाशन करते हैं। इन दो संयुक्त पदों में से क्रियापद वस्तुतः सहायक रूप में ही होता

है तथा वह संज्ञा एवं क्रियामूलक विशेषण या विशेष्य (पार्टीसिपुल तथा वर्बल नाउंस) की विशेषता द्योतित करता है। आ० भा० आ० भाषाओं में इस प्रकार की संयुक्त क्रियाओं के निर्माण से भाषा में नवीन शक्ति तथा स्फूर्ति आ गई है। प्राचीन भाषाओं, जैसे संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि में क्रियापदों में, उपसर्ग लगाकर नवीन भावों का प्रकाशन होता था। योरप की कई आधुनिक आर्यभाषाओं में इनका प्रायः अभाव हो गया। इसकी क्षतिपूर्ति आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में संयुक्त क्रियाओं के निर्माण से हो गई।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में प्राचीन काल से ही संयुक्त क्रियाएँ मिलती हैं। चर्यापदों से चटर्जी ने अनेक उदाहरण देकर इस बात को सिद्ध किया है। (दे० बैं० लैं० § ७७८)।

§ ८७३ हिंदी में संयुक्त क्रियाओं को 'कैलाग' के अनुसार निम्नलिखित वर्गों में बाँटा जा सकता है—

(१) पूर्वकालिक कृदंत-पदायुक्त—

(i) मूलार्थक (इनटेंसिव), यथा—फेंक देना, फाड़ डालना, गिर पड़ना, गिरा देना, खा जाना, पी लेना, इत्यादि।

(ii) शक्यताबोधक (पोटेंशियल्स) पूर्वकालिक कृदंत के साथ √ सक् (ना) के योग से निष्पन्न होते हैं, यथा खा सकना, पढ़ सकना, जा सकना, देख् सकना, इत्यादि।

(iii) पूर्णताबोधक (कंप्लीटिव्ज) √ चुकना क्रिया के साथ पूर्वकालिक-कृदंत रूप के संयोग से सिद्ध होते हैं; यथा—सो चुकना, लिख चुकना, रो चुकना, इत्यादि।

§ ८७४ (२) आकारांत क्रियामूलक विशेष्य पदयुक्त—

(i) पौनःपुन्यार्थक (फ्रीक्वेनटेटिव्ज)—यह आकारांत क्रियामूलक विशेष्य पद के साथ √ कर् (ना) धातु के योग से सिद्ध होते हैं; यथा—आया कर्ना, पढ़ा कर्ना, खेला कर्ना, सोया कर्ना, इत्यादि।

(ii) इच्छार्थक (डिज़ाइरेटिव) आकारांत क्रियामूलक विशेष्य पद के साथ √ चाह् (ना) धातु के योग से बनते हैं, यथा—घड़ी बजा चाहती है, वह बोला चाहता है।

§ ८७५ (३) असमिका पदयुक्त—

(i) आरंभिकता बोधक (इनसेंटिव्ज)—असमापिका पद के विकारीरूप के साथ √ लग् (ना) धातु के योग से निष्पन्न होते हैं, यथा—खाने लग्ना, सोने लग्ना, चलने लग्ना।

(ii) अनुमतिबोधक (परमिसिव)—असमापिका पद के विकारी रूप के साथ √ दे (ना) क्रिया लगाकर बनते हैं; यथा आने देना; करने देना; सोने देना, इत्यादि ।

(iii) सामर्थ्यबोधक (ऐक्विजिटिव)—असमापिका पद के विकारी रूप के साथ √ पा (ना) क्रिया लगाकर बनते हैं; यथा - आने पाना, खाने पाना, करने पाना, पढ़ने पाना, इत्यादि ।

§ ८७६ (४) वर्तमानकालिक तथा भूतकालिक कृदंतयुक्त—

(i) निरंतरताबोधक (कंटीन्युएटिव)—यह वर्तमानकालिक कृदंत के साथ √ रह् (ना) के योग से संपन्न होते हैं; यथा जाता रहना, पढ़ता रहना, गाती रहना, सोती रहना ।

(ii) प्रगतिबोधक (प्रोग्रेसिव) - ये वर्तमानकालिक कृदंत के साथ √ जा (ना) क्रिया के योग से बनते हैं; यथा—आग बढ़ती जाती थी, नदी घटती जाती थी, लड़के पढ़ते जाते थे ।

(iii) गत्यर्थक (स्टेटिकल)—यह वर्तमानकालिक कृदंत के साथ गतिबोधक धातु के योग से बनते हैं; यथा – वह झूमते हुए चलता है ।

§ ८७७ (५) विशेष्य अथवा विशेषण पदयुक्त—

यह विशेष्य अथवा विशेषण पद के साथ √ कर् (ना), √ हो (ना); √ ले (ना) आदि धातुओं के योग से बनते हैं, यथा भोजन करना, विश्राम करना, सुख देना, मौज लेना ।

अव्यय

§ ८७८ संस्कृत, पालि एवं प्राकृत आदि में अव्यय नाम तथा सर्वनाम शब्दों के बाद तद्धित के कतिपय प्रत्यय लगने से बनते हैं । प्राचीन आर्यभाषाओं की यह विशेषता आधुनिक आर्यभाषाओं में सुरक्षित है । आधुनिक आर्यभाषाओं में भी अव्यय संज्ञा, सर्वनाम तथा प्राचीन अव्ययों से ही बनते हैं । सर्वनाम से संबंध रखनेवाले अव्ययों पर सर्वनाम के ही अंतर्गत विचार किया जा चुका है । नीचे अन्य अव्ययों के विषय में विचार किया जाएगा ।

कालवाचक

§ ८७९ (क) संज्ञा पदों से निर्मित—छण् (सं० क्षण), समय (सं० समय), घड़ी, छण, समय (सं० घटिका, पा० घटिका, प्रा० घड़िआ), फुर्ती, शीघ्र (सं० स्फूर्ति) वख्त, समय (फा० अ० वक्त) ।

(ख) अव्यय पदों से निर्मित—आगे, सामने, बाद (सं० अग्रे, पा० प्रा० आगे), आज (सं० अद्य, पा० प्रा० अज्ज), कल (सं० कल्यम्, कल्ये,

या कल्ल', प्राप्त: प्रा० कल्लं, कल्हि बीतनेवाला कल), तुरंत (सं० तुरते वर्तमानकालिक कृदंत तुरत, त्वरते, पा० तुरति, प्रा० तुरै, तुवरंत > त्वरंत) नित्य, (सं० नित्यम् बारंबार), अब, अभी (डा० चटर्जी के अनुसार —ब√व— इस प्रकार सं० एवम् √ प्रा० एव्व), कब, जब, तब की उत्पत्ति क्रमशः सार्वनामिक (अंग प्रोनाउनियल बेस) क+ब, ज+ब तथा तब+से संपन्न हुई है। ब की उत्पत्ति अब के संबंध में ऊपर दी जा चुकी है।

सर्वनाम संबंधी अव्ययों के दुहराने तथा अन्य अव्ययों के संयुक्त किए जाने से उनके अर्थ में परिवर्तन हो जाता है, यथा जब; जब इसके साथ तब तब प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार जहाँ जहाँ, तहाँ तहाँ, कभी कभी तथा कहीं कहीं अव्यय पद सिद्ध होते हैं।

कभी कभी अनिश्चयवाची अव्यय का संयोग संबंधवाची अव्यय के साथ करके अनिश्चितता का अर्थद्योतन किया जाता है, यथा जब कभी, जहाँ कहीं, कभी कभी 'न' का प्रयोग दो अव्ययों के बीच में करके अनिश्चितता का द्योतन किया जाता है; यथा कभी न कभी, कहीं न कहीं।

स्थानवाचक

§ ८८० यहाँ, वहाँ, जहाँ, कहाँ, तहाँ आदि अव्ययों का प्रयोग स्थानवाचक रूप में किया जाता है। इनकी व्युत्पत्ति निम्न प्रकार है - यहाँ < सर्वनाम अंग 'यो + इहा' अथवा यो + स्मिन्' (सप्तमी विभक्ति)> य - हीं।

वहाँ √ सर्वनाम अंग 'व + इहा' अथवा—स्मिन्
जहाँ < सर्वनाम अंग 'ज + इहा' अथवा—स्मिन्
कहाँ < सर्वनाम अंग 'क + इहा' अथवा — स्मिन्
तहाँ < सर्वनाम अंग 'त + इहा' अथवा—स्मिन्

इन अव्ययों के अतिरिक्त निम्नलिखित अव्यय भी स्थानवाचक रूप में प्रयुक्त होते हैं—

अन्यत्र (सं० अन्यत्र); नजदीक (फा० नजदीक), भीतर (सं० अभ्यंतर फ० अभ्भंतरं, या अभियंतर, अप० भिन्तर), बाहर पा० बाहिरो, मि०, सं० वहिः, प्रा० बहि तथा बाहिर अ, नीचे (सं० नीचैस्), ऊँचे (सं० उच्चैस्)।

परिमाणवाचक

§ ८८१ यथा, और (सं० अपर, प्रा० अवर), बहुत (प्रा० बहुत्त— कदाचित् सं० बहुत्वम्, पा० सं०, मि० सं० बहुः, पा० बहु, बहुको, प्रा० बहुअ), ज्यादा (फा० ज्यादा), कम् (फा० कम), कुल (कदाचित् सं० कुलम्) से।

इस प्रकार के अव्ययों से अनिश्चित संख्या वा परिमाण का बोध होता है। इनके निम्नलिखित पाँच प्रकार के भेद किए जा सकते हैं :-

(क) अधिकताबोधक—बहुत, अति, बड़ा, भारी, अतिशय आदि।
(ख) न्यूनताबोधक—कुछ, लगभग, थोड़ा, टुक, किंचित् आदि।
(ग) पर्याप्तिवाचक—केवल, बस, काफी, यथेष्ट आदि।
(घ) तुलनावाचक—अधिक, कम, इतना, उतना, जितना आदि।
(ङ) श्रेणीवाचक—थोड़ा थोड़ा, क्रम क्रम से, बारी बारी से आदि।

स्वीकार तथा निषेधवाचक

§ ८८२ इनमें सर्वप्रमुख स्वीकारवाचक अव्यय 'हाँ' तथा निषेधवाचक 'न', 'ना', नहीं, 'मत' हैं। 'न' और 'ना' का प्रयोग किसी भी किया के साथ हो जाता है परंतु 'मत' का प्रयोग केवल विधिक्रिया के ही साथ किया जाता है।

इनकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—

न <सं० न ('ना' इसका विस्तृत रूप है)।

नहीं <म० भा० आ० न—अहइ (<* असति सं० अस्ति)[1]

हाँ>सं० आम् 'हाँ' <पा० आम।

इनके अतिरिक्त कतिपय संज्ञा तथा विशेषण पदों का प्रयोग भी स्वीकार-वाचक अव्यय के रूप में किया जाता है, यथा अवश्य, निश्चय आदि। ये तत्सम शब्द हैं। इनके साथ जरूर <फा० अ० जरूर का भी प्रयोग होता है।

निम्नलिखित फा० अ० शब्दों का प्रयोग, हिंदी में अव्यय रूपों में होता है—

जल्द- जल्दी शायद, हमेशा, अलबत्ता, खासकर, बिल्कुल, यानी आदि।

कभी-कभी दो अव्ययों तथा अव्यय एवं संज्ञापदों के संयोग से सुंदर अव्यय वाक्यांश बन जाते हैं, यथा—और कहीं, अन्यत्र, कभी नहीं, धीरे धीरे नहीं तो, शनैः शनैः आदि।

हिंदी में निम्नलिखित पद भी अव्यय की ही भाँति व्यवहृत होते हैं—

जानकर, जानते हुए, मिलकर, मिलते हुए, मिहनत कर, नीचे मुँह कर आदि।

यह उल्लेखनीय बात है कि 'ई', 'ही' का प्रयोग किसी बात पर बल देने के लिये किया जाता है। इसका अर्थ होता है ठीक, वही आदि। कभी कभी इनका उच्चारण उच्च स्वर से करने पर भी इनमें जोर आ जाता है। यथा—यही, वही, राम ही, कृष्ण ही, तू ही, मैं ही आदि।

1 चै० बै० लै० पृ० १०२६।

संबंधवाचक अव्यय (कनजंक्शन)

§ ८८३ इन्हें निम्न दो श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है—

(क) समान-वाक्य-संयोजक (को-आरडिनेटिंग)

(ख) आश्रित-वाक्य-संयोजक (सब-आरडिनेटिंग)

(क) समान-वाक्य-संयोजक के निम्नलिखित चार भेद हैं—

(१) समुच्चयबोधक (क्युम्युलेटिव)

(२) प्रतिषेधक (एडवरजेटिव)

(३) विभाजक (डिसजंक्टिव) और।

(४) अनुधारणात्मक (ईलेटिव या कनक्लूसिव)।

§ ८८४. हिंदी में और, एवं, तथा समुच्चयबोधक अव्यय हैं। इनमें से एवं तथा तत्सम शब्द हैं। और की उत्पत्ति संस्कृत अपरम् से निम्नलिखित रूप में हुई है—

अपरम् > पा० अपरं > प्रा० अवरं > हिं० अवर, और।

हिंदी में प्रतिषेधक संयोजक के रूप में किंतु, परंतु, मगर, लेकिन का प्रयोग होता है। इनमें से किंतु, परंतु तो तत्सम शब्द हैं. मगर फा० और लेकिन फा० अ० से उधार लिए हुए शब्द हैं।

हिंदी में अत्यधिक प्रचलित विभाजक शब्द तीन हैं—वाद, अथवा, या। इनमें से प्रथम दो संस्कृत के तत्सम शब्द हैं और या अरबी का शब्द है।

इनके अतिरिक्त विभाजक के रूप में निम्नलिखित शब्द भी प्रयुक्त होते हैं—

(अ) निषेधवाचक विभाजक—न, इसका प्रयोग प्रत्येक वाक्य में होता है, यथा—न मोहन आएँगे न सोहन, यह न फारसी से आया है न अरबी से।

(आ) कि का प्रयोग भी विभाजक के रूप में होता है, यथा तुम पढ़ोगे कि नहीं, । इस 'कि' की उत्पत्ति सं० किम्, पा० प्रा० कि से हुई है, अथवा यह फा० कि से उधार लिया हुआ शब्द भी हो सकता है।

(इ) चाहे < धातु √चाहना, प्रा० चाहइ < सं० चक्षते; यथा—चाहे कोई आए चाहे न आए।

प्रश्नवाचक 'क्या' का प्रयोग संज्ञापद के साथ होने पर इसे विभाजक बना देता है, क्या घोड़ा क्या हाथी ? इस 'क्या' की उत्पत्ति सं० किम् से हुई है।

हिंदी में तो का प्रयोग अनुधारणात्मक संबंधवाचक अव्यय के रूप में होता है; यथा—तुम नहीं गए तो मुझे जाना पड़ा। इस तो की उत्पत्ति सं० ततः से हुई है।

(ख) आश्रित वाक्यसंयोजक

§ ८८५ हिंदी में आश्रित वाक्यसंयोजक के रूप में 'कि', 'मानो,' जैसा' का प्रयोग होता है। कि की व्युत्पत्ति ऊपर दी जा चुकी है। मानो की उत्पत्ति सं० मान्यतु से निम्नलिखित रूप में हुई है— सं० मन्यतु > मण्णउ > मानो। इसी प्रकार जैसा की उत्पत्ति यादृश से हुई है।

मनोभाववाचक (अंतर्भावार्थक अव्यय) (इंटरजेक्शन)

§ ८८६ स्वरविहीन व्यंजन ध्वनि म् का प्रयोग हिंदी तथा अन्य आर्य भाषाओं एवं बोलियों में भाववाचक रूप में होता है। उदात्त अनुदात्त आदि स्वरों के अनुसार इस प्रकार अव्यय के अर्थ में भी विभिन्नता आ जाती है; यथा—

म्ँ (उच्चारोही स्वर) = प्रश्न;
ँम् (अवरोही स्वर) = होना;
म (हठात् समाप्त) = विरक्ति;
म्ँ (अवरोही एवं आरोही)=वितर्क,
म् (निम्न अवरोही) = ठीक है, देख लूँगा।

इसी प्रकार हँ, हुँ, अव्ययों के उदात्तादि स्वरों के उच्चारण से भी अर्थ में विचित्रता आ जाती है।

(य) संमतिज्ञापक (ऐसर्टिव)—हाँ, अच्छा, वही, जी हाँ, आदि इसके अंतर्गत आएँगे। इनमें से 'हाँ' की उत्पत्ति सं० आम् से तथा 'अच्छा' की उत्पत्ति सं० अच्छः > प्रा० अच्छो > प्रा० अच्छ अ से हुई है। वही वस्तुतः वह पर बल देकर बना है। वह की व्युत्पत्ति सर्वथा में दी जा चुकी है। जी की उत्पत्ति भी टर्नर के अनुसार सं० जीव से निम्न प्रकार हुई है—

सं० जीव > जीअ > जी [टर्नर, ने० डि०, पृ० २१६]

(र) असंमति ज्ञापक (नेगेटिव)—न, ना; नहीं। इनमें न, की उत्पत्ति सं० न से हुई है। 'ना' इसी का विस्तृत रूप है और इसी में जोर देने के लिये 'ही' का संयोग कर दिया जाता है।

(ल) अनुमोदनज्ञापक (एप्रेसिएटिव)—वाह, वाह, ओहो; शाबाश; इनमें से अंतिम दो वास्तव में फारसी से उधार लिए गए हैं।

(व) घृणा या विरक्तिव्यंजक (इंटरजेक्शन आफ डिसगस्ट)—छी छी, छि, थू—थू दुर-दुर, राम-राम आदि। इनमें से छी < प्रा० छी छी, थू थू < प्रा० थू < सं० थूत्कार; दुर-दुर < प्रा० दूर < सं० दूर; एवं धिक् तथा राम राम संस्कृत तत्सम रूप हैं।

(ग) भय, यंत्रणा या मनःकष्टव्यंजक—आह्, हाय्, बाप रे बाप, मर गए, आदि। आह <सं० आः हाय <सं० हा!

(घ) विस्मयबोधक (इंटरजेक्शन आफ सरप्राइज)—हैं, एँ; ओ हो, अरे राम, बाप रे बाप, आदि। हैं, है की व्युत्पत्ति सं० अह से प्रतीत होती है। ओहो में संस्कृत अहो तथा ओः का संमिलन हो गया है।

(च) करुणाद्योतक (इंटरजेक्शन आफ पिटी) आह, हाय राम रे, अरे बाप रे इत्यादि। इनकी व्युत्पत्ति ऊपर दी जा चुकी है।

(छ) आह्वान या संबोधनद्योतक (वॉकेटिव्स) - हे, ए < प्रा० हे < सं० है; अरे (< पा० प्रा० अरे < सं० अरे); रे (सं० पा० रे), अजी (संभवतः सं० अहो+जीव के संयोग से) इनमें से 'अजी, आदरार्थक तथा अपने से छोटों के लिये प्रयुक्त होता है।

(ट) अनुकारसूचक (ओनोमोटोपोयटिक्स) - इन शब्दों का प्रयोग अकेले अथवा अन्य किसी क्रिया के साथ होता है। अनेक अनुकार सूचक शब्द हिंदी में प्रचलित हैं; यथा—काँव काँव, कू कू, भू भू, बड़ बड़, धप धप, थप थप, भर भर; चर चर आदि।

—०७—

तृतीय खंड

हिंदी का शब्दसमूह और शब्दार्थ

हिंदी का शब्दसमूह और शब्दार्थ

हिंदी शब्दों का वर्गीकरण

§ ८८७ हिंदी शब्दों का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया जा सकता है, जैसे (१) काव्यशास्त्र की दृष्टि से, (२) न्यायशास्त्र की दृष्टि से, (३) व्याकरण के आधार पर, (४) शिक्षा और संस्कृति के स्तर के अनुसार तथा (५) ऐतिहासिक उद्गम की दृष्टि से ।

काव्यशास्त्र की दृष्टि से

काव्यशास्त्रियों ने अर्थबोधकता के विचार से शब्दों के तीन भेद बताए हैं— वाचक, लक्षक तथा व्यंजक। लेकिन ये शब्दसमूह नहीं है। प्रायः एक ही शब्द अपने संदर्भ में कभी अभिधार्थ (वाचक) होता है, कभी लक्ष्यार्थ और कभी व्यंजक। 'यहाँ उल्लू बोलते हैं' के तीन अर्थ हो सकते हैं—१. इस जगह उल्लुओं का शब्द सुनाई पड़ता है, २. यह जगह उजाड़ है, और ३. यह स्थान निवासयोग्य नहीं है। अतः यह प्रश्न उठता है कि 'उल्लू' शब्द को किस श्रेणी में रखा जाए? वास्तव में वाचक, लक्षक तथा व्यंजक अर्थभेद हैं, अर्थात् शब्दों की शक्ति के भेद हैं; शब्दों के भेद नहीं ।

न्यायशास्त्र की दृष्टि से

§ ८८८ नैयायिक नाम अथवा शब्द के चार प्रकार बतलाते हैं—रूढ, लक्षक, योगरूढ, यौगिक। ये भी वस्तुतः अर्थ के भेद हैं। यह अवश्य है कि बनावट की दृष्टि से शब्द या तो यौगिक होते हैं या रूढ। यास्कादि आचार्यों का मत है कि सब शब्द धातुओं से बनते हैं; और गहराई से विचार किया जाय तो धातु प्रायः ध्वन्यात्मक होते हैं—

अद्, खाना   अश्, छाना,   अस्, बैठना   इ, जाना   इष्, चाहना
कृ, करना   क्षर्, झरना   गै, गाना   ग्लै, ऊबना   चर्, चलना
चि, चुनना   चुर्, चुराना   छिद्, काटना   जप्, जपना   जॄ, बुढ़ाना
तन्, तानना   तॄ, तरना   तृप्, अघाना   दा, देना   दु, दुःखी होना
दृप्, अकड़ना   दृश्, देखना   धा, रखना   धु, हिलाना   नम्, झुकना
नी, ले जाना   पच्, पचाना, पकाना   पत्, गिरना   पा, रक्षा करना पीना   ब्रू, बोलना
भज्, सेवा करना   भिद्, टूटना   भुज् बचाना   भू, होना   भ्रम्, घूमना

मठ्, पीसना मथ्, मथना मस्, बदलना मा, मापना मृ, मरना
यम्, रोकना या, जाना रम्, भेंट करना रम्, आनंद मनाना
लप्, विलाप करना
लिप्, लेप करना, वस्, हटना वृ, घेरना शक्, सकना शी, सोना
श्रि, उबालना श्रु, सुना सिव्, सेंचना स्था, ठहरना स्वद्,
पसीना बहाना
हन्, मारना हा, पाना हृ, हर ले जाना

आदि धातुमूल में किसी व्यापार अथवा ध्वनि के अनुकरण में बने थे। खाद्, रुद्, स्वप् आदि में अंतिम ध्वनि बाद में जोड़ी गई जान पड़ती है। अतः इन आचार्यों के मत के अनुसार मानना पड़ेगा कि सब शब्द यौगिक होते हैं—उनके अर्थ रूढ़ होने लगते हैं। किंतु यह सिद्धांत किसी भी भाषा के संपूर्ण शब्दभांडार पर लागू नहीं होता। कुल्हड़, तरोई, बैंगन, पेड़, पीतल, चबूतरा आदि शब्द किन्हीं ध्वनियों के योग से उस पदार्थ के द्योतक नहीं हुए। ये बनावट में कृत्रिम और रूढ़ हैं। इस विषय पर कुछ विस्तृत चर्चा शब्दार्थ के अंतर्गत अगले प्रकरण के आरंभ में की जायगी।

व्याकरण के आधार पर

§ ८८९ वैयाकरणों ने शब्दों के तीन भेद गिनाए हैं--नाम, आख्यात और अव्यय। संज्ञापद, सर्वनाम और विशेषण नाम हैं। क्रियापद आख्यात हैं। अव्यय के अंतर्गत क्रियाविशेषण, समुच्चयबोधक और विस्मयादिबोधक शब्द आते हैं। परसर्ग, उपसर्ग और प्रत्यय भी मूल में स्वतंत्र शब्द रहे होंगे, लेकिन अब घिस पिटकर वे शब्दांग बन गए हैं। ने, को, से, का, में आदि परसर्गों की स्वतंत्र शब्दसत्ता को तो हिंदी में स्वीकार कर लिया गया है, पर उपसर्ग और प्रत्यय अन्य शब्दों के साथ जुड़कर ही कृतार्थ होते हैं।

शब्दों के इन पदों के उपभेदों प्रभेदों से हिंदी का प्रत्येक विद्यार्थी और पाठक परिचित है। इनकी व्याकरणगत (रूपरचना-संबंधी) विशेषताओं पर एक अन्य अध्याय में प्रकाश डाला गया है। अतः यहाँ पर उन बातों का उल्लेख न करके अपने विषय से संबंधित थोड़ी बहुत चर्चा चलाई जायगी।

§ ८९० यह मानना पड़ेगा कि उपर्युक्त वर्गीकरण प्रयोग की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण और वैज्ञानिक है। वास्तव में शब्दों का जितना गंभीर अध्ययन वैयाकरणों ने किया है उतना काव्यशास्त्रियों और नैयायिकों ने नहीं। व्याकरण को शब्दशास्त्र कहा ही गया है। कोशकारों ने प्रत्येक शब्द का परिचय देते समय उसके व्याकरणगत वर्ग का ही उल्लेख किया है। अमुक शब्द संज्ञा है, अमुक

क्रिया है, अमुक विशेषण है; वह पुल्लिंग है अथवा स्त्रीलिंग, क्रिया सकर्मक, अकर्मक अथवा प्रेरणार्थक है, इत्यादि। व्युत्पत्ति की खोज में भी देखा जाता है कि अमुक शब्द का मूल (पद) क्या है, उसमें क्या क्या उपसर्ग-प्रत्यय लगे हैं, आदि आदि। किसी भी शब्द का यह विस्तार और विकास ही उसे एक वर्ग से हटाकर दूसरे वर्ग में और एक अर्थ से निकालकर दूसरे अर्थ में ले जाता है। उदाहरणार्थ हिंदी में—

ना प्रत्यय दो हैं, एक से अकाल क्रिया बनती है और दूसरे से (उपकरणार्थक) संज्ञा। क्रिया के रूप में अड़ाना, खाना, गाना, झरना, ढकना के जो अर्थ और प्रयोग हैं उनकी तुलना संज्ञार्थक खाना (भोजन), गाना (गायन), अड़ाना (माप), झरना (सोता) और ढकना (ढापने की वस्तु) से करके देखा जाय। इस वर्गीकरण को जाने बिना शब्दों का सही सही अर्थ जानना कठिन है।

बहुधा शब्द एक ही समूह में रहते हैं, अर्थात् वे या तो संज्ञा हैं या क्रिया या विशेषण या कुछ और। प्रयोग में वे दूसरे समूह के अंतर्गत नहीं आ पड़ते, रूप बदलकर भले ही वे इधर उधर चले जायँ, जैसे झूठ, सच, दंत, पेट, सीध, दया, संज्ञा है; झूठा, सच्चा, दंतुर, पेटू, सीधा, दयालु विशेषण हो जाते हैं।

इसके विपरीत गरम, जटिल, बड़ा, उपलब्ध और पतला विशेषण हैं; परंतु गरमी, जटिलता, बड़ाई, उपलब्धि और पतलापन संज्ञापद हो गए हैं। बात, लात और हाथ संज्ञा हैं, बताना, लतियाना और हथियाना क्रियापद हो गए हैं। इतना, थोड़ा, पहला, प्रथम, विशेष विशेषण हैं; इतने, थोड़े, पहले, प्रथमतः, विशेषतया क्रियाविशेषण बन गए हैं। परंतु इतने, थोड़े, पहले, बहुवचन में विशेषण भी हैं। इसी प्रकार के और भी शब्द हैं जो एक ही रूप में दो-दो (और कुछ-एक तीन-तीन) वर्गों में रहते हैं। इनमें सबसे अधिक संख्या विशेषणों की है जो संज्ञापद भी हैं। उदाहरण—

अग्र	अग्रिम	अद्धा	अनेक
अमर	अम्ल	अरिष्ट	अवशेष
इकलड़ा	इक्का	उचर	उजाड़
उच्छिष्ट	किशोर	चांडाल	छैला
जड़	झबरा	द्वितीया	तृतीया
दैव	नवयुवक	निराकार	नन्हा
निर्गुण	पंडित	बूढ़ा	भला
मीठा	मौन	लँगड़ा आदि।	

कुछ विशेषणों के विशेष्य लुप्त हो जाने से उन्हें संज्ञापद भी मिल गया है, जैसे—

कच्ची (रसोई)	खरी खरी (बातें)	दूसरे (लोग)
दुनाली (बंदूक)	बड़े (आदमी) ।	

स्थानोद्भव विशेषण प्रायः संज्ञा भी होते हैं, जैसे—

हिंदी	चीनी	जापानी	रूसी
पहाड़ी	अँगरेजी आदि ।		

इनके भी विशेष्य (लोग, निवासी अथवा भाषा) लुप्त हैं। इक और इन् (हिं० ई) प्रत्यांत शब्द भी प्रायः दोनों समूहों में रहते हैं, जैसे—

दार्शनिक	दानी	छायावादी	नाविक
गुणी	रोगी	मानी	भावी
वैज्ञानिक	सैनिक	समाजवादी	ज्ञानी आदि

'वाला' अर्थवाले अनेक शब्द द्विसमूह होते हैं, जैसे—

उपासक	जितैया	भाजक
रेचक	विद्यावान् (विद्वान्)	शिकारी आदि ।

विज्ञान में ऐसे शब्दों का प्रयोग देखा जा सकता है।

संज्ञापद भी कभी कभी विशेषणों की श्रेणी में चले जाते हैं, विशेषतः समास में; परंतु अधिकतर विशेषण ही हैं जो संज्ञा रूप धारण कर लेते हैं। उनमें कुछ ऐसे भी होते हैं जो संज्ञा की श्रेणी में जाकर वहीं के हो रहते हैं और अपना विशेषणत्व खो देते हैं, जैसे—

अछूत	अजीर्ण	अभियुक्त	आयुक्त
अमृत	अनिष्ट	अहित	इष्ट
इंगित	कर्तव्य	कार्य	काव्य
गद्य	गणित	द्रव्य	धान्य
पुण्य	परिशिष्ट	पद्य	प्राकृत
प्रारब्ध	पारितोषिक	भूत	भक्त
वर	शिष्ट	संरक्षक	सुभाषित

आदि हिंदी में संज्ञापद ही हैं। फारसी दार से बननेवाले शब्दों में समझदार विशेषण है, तो थानेदार संज्ञा।

संज्ञा और क्रिया की दोनों श्रेणियों में आनेवाले शब्द कम हैं। उदाहरण–

खाना	गाना	झीलना	झरना
ढकना	देना	बेलना	रचना
रखना			

आदि क्रियाएँ संज्ञापद भी हैं। दौड़, नाच, चिढ़, डकार, हार, बोल, माप आदि धातु अथवा आज्ञार्थक शब्द भी संज्ञापद हैं। अकर्मक से सकर्मक बननेवाली धातुओं में उतार, उभार, उबाल, बाँट आदि बहुत से शब्द संज्ञा और क्रिया दोनों हैं।

विशेषणों में बहुत से क्रियाविशेषण के रूप में भी प्रयुक्त होते हैं। वस्तुतः हिंदी में क्रियाविशेषण प्रयोग में या तो भाववाचक संज्ञा के साथ 'से',' के', 'साथ' 'पूर्वक' आदि शब्द लगाकर बनाए जाते हैं या विशेषण को ही क्रिया के साथ लगाकर काम निकाल लिया जाता है। स्वतंत्र क्रियाविशेषण प्रायः संस्कृत से प्राप्त हुए हैं, हिंदी के अपने बहुत ही कम हैं।

कुछ शब्द संज्ञा भी हैं और अव्यय भी, जैसे—

आह	आसपास	आयँती-पायँती
जल्दी		

आदि।

रोना और लदना की तरह के शब्द, जो क्रिया भी हैं और संज्ञा भी दुर्लभ हैं। संस्कृत सर्वनामों में 'अहं' और 'आत्मीय' हिंदी में संज्ञाएँ हैं। 'चुप' 'पैदल' आदि कतिपय शब्द ऐसे भी हैं जो तीन तीन श्रेणियों में देखे जाते हैं, जैसे—

चुप सं०, वि०, क्रि० वि०—अति को भलो न चुप, चुपचाप आदमी, चुप बैठा रहा।

पैदल सं०, वि०, क्रि० वि०--पैदल। पैदल आदमी। पैदल आ रहे हैं।

कुछ शब्द भिन्न भिन्न दिशाओं से आकर एकध्वनिक हो गए हैं और रूप से दो श्रेणियों में लिए जाते हैं, जैसे—

आना { १. इकन्नी २. आगमन } खोल { १. छेद २. खुला करना } चूना { १. पत्थर का चूर्ण २. टपकना }

सेना { १. फौज २. जैसे अंडे सेना } सोना { १. स्वर्ण २. नींद लेना }

आदि (संज्ञा और क्रिया);

आम करारा चीनी पिंगल
बड़ा

(संज्ञा और विशेषण) इत्यादि ।

§ ८६१ हिंदी शब्दभांडार में सबसे अधिक संख्या संज्ञाओं की है, उसके बाद क्रियापदों की और इनसे कम विशेषणों की। संस्कृत के प्रभाव के कारण क्रियापदों की संख्या कम हो रही है और संज्ञा तथा कृदंत शब्दों के साथ करना, होना आदि लगाकर काम चलाने की प्रवृत्ति अधिक है। अब साहित्य और ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में सकारना, पिराना, जगना, ब्याहना, पखारना, निवारना, बसना नहाना, सिखाना, डराना, आदि के स्थान पर स्वीकार करना, पीड़ा होना, देना या करना, जाग्रत होना, विवाह करना, प्रक्षालित करना, निवारण करना, निवास करना, स्नान करना शिक्षित करना, भयभीत करना शिष्ट प्रयोग समझे जाते हैं। हिंदी में विशेषणों की बहुत कमी है। ठेठ हिंदी के विशेषण पद बहुत ही कम हैं, लेकिन ज्यों ज्यों हिंदी का क्षेत्र बढ़ता जाता है और आवश्यकता पड़ रही है, इनकी संख्या बढ़ रही है। अधिकतर शब्द संस्कृत से लिए गए हैं, बहुत से लेखकों ने नए विशेषणपद गढ़े भी हैं।

प्रायः भाषाओं में सर्वनामों की स्थिति एक सी होती है। कुछ भाषाओं और बोलियों में विशिष्ट सर्वनाम भी होते हैं, लेकिन हिंदी के सर्वनामों में कोई विशेषता उल्लेखनीय नहीं है। यही बात विस्मयादिबोधक शब्दों के बारे में है। क्रियाविशेषणों और परसर्गों के संबंध में ऊपर कह दिया गया है। समुच्चयबोधक शब्द भी हिंदी के अपने तो इने गिने हैं, पर संस्कृत और फारसी के शब्द प्रचुर मात्रा में अपनाए गए हैं।

शिक्षा और संस्कृति के स्तर के अनुसार

§ ८६२ शिक्षा और संस्कृति के स्तर के हिसाब से भी शब्दों के कई वर्ग किए जा सकते हैं। हिंदी प्रदेश के किसी प्रोफेसर के घर में, मित्रों में, विश्वविद्यालय अथवा कालेज में, और क्लास में अपना विषय पढ़ाते समय सुनिए। उसकी शब्दावली के चार स्तर स्पष्ट दिखाई देंगे। प्रायः वह घर में कोई न कोई ग्रामीण बोली बोलता है, मित्रों से खड़ी बोली के सामान्य और व्यापक (बाजारू) रूप का प्रयोग करता है, अपने सहयोगियों और अपने समकक्ष व्यक्तियों के साथ बातें करने अथवा पत्रव्यवहार करने में कुछ उच्च स्तर की हिंदी का व्यवहार करता है और अपना विषय पढ़ाने में उसकी शब्दावली पारिभाषिक हो जाती है, जैसे—

चान	चाँद	चंद्रमा	शशि	आदि
सुरिज	सूरज	सूर्य	दिवाकर	आदि
नून	निमक	नमक	लवण	आदि
बरखा	बरसात	बारिश	वर्षा	आदि
बाँदर	बंदर	बानर	वानर	आदि शब्द

हमारे कोशों में स्तरभेद के कारण बने हुए हैं।

इस दृष्टि से हिंदी शब्दों के छह स्तरभेद किए जा सकते हैं —

(१) पारिभाषिक और वैज्ञानिक शब्द; और सामान्य से निम्न स्तर में प्रयुक्त होनेवाले।

(२) शिक्षित और साहित्यिक,

(३) सामान्य और उच्च स्तर में प्रयुक्त होनेवाले,

(४) ग्रामीण

(५) गोप्य और स्थानीय, तथा

(६) ग्राम्य शब्द।
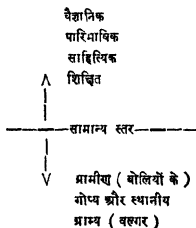
§ ८९३ सामान्य स्तर के शब्द हिंदी की स्थायी संपत्ति हैं। साक्षरता, यातायात की सुविधा, राजकीय प्रयोग, राजनीतिक और सांस्कृतिक एकता की भावना की वृद्धि के साथ इनकी व्यापकता बढ़ती रहती है और इसी से इनमें स्थायित्व आता है। सामान्य शब्द न केवल ग्रामीण बोलियों और शिक्षित वर्ग की भाषा के बीच की कड़ी हैं, बल्कि दोनों का महत्तम समापवर्तक हैं। इनका वास्तविक आधार हिंदी प्रदेश की विभिन्न बोलियाँ हैं। इनके अतिरिक्त संस्कृत, फारसी, अरबी, अंग्रेजी आदि के बहुत से संतुलित और आवश्यक शब्द ग्रहण

किए गए हैं। शिक्षित वर्ग की शब्दावली में समय समय पर अपने अपने वातावरण और शिक्षा के माध्यम के हिसाब से अरबी फारसी, अँगरेजी अथवा संस्कृत शब्दों की अनावश्यक प्रचुरता रही है। अनावश्यक इसलिये कि सामान्य हिंदी में इनके समार्थक शब्द पहले से ही हैं, परंतु अभ्यास, प्रदर्शन फैशन और रोब के कारण ऐसे लोगों में गृहीत शब्दों का प्रयोग अधिक होता रहा है। शिक्षित और साहित्यिक शब्दावली में विदेशी शब्द कभी स्थायी नहीं हो पाते। समय बदलता है, राज्य बदलते हैं, आवश्यकताएँ बदल जाती हैं और विदेशी शब्द भी धीरे धीरे समाप्त होने लगते हैं। शिक्षित वर्ग के विदेशी शब्द पहले नष्ट हो जाते हैं, जनसाधारण के विदेशी शब्द अपेक्षाकृत अधिक स्थायी होते हैं। यह अवश्य है कि शिक्षित वर्ग के वे शब्द जो भाषा में किसी अभाव की पूर्ति करते हैं, सामान्य शब्दभांडार की समृद्धि करते हैं। किंतु संस्कृति की स्थिति भिन्न है। पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, हिंदी और अन्य भारतीय आर्यभाषाओं का इतिहास साक्षी है कि जनसाधारण की भाषा में भले ही संस्कृत शब्दों का वह रूप नहीं रह पाया, परंतु वही जनभाषा जब साहित्य के लिये प्रयुक्त होने लगी तो संस्कृत शब्दों को ग्रहण करना ही पड़ा। भारत में शिक्षा और साहित्य के लिये संस्कृत शब्दावली की अनिवार्यता सिद्ध है।

§ ८६४ पारिभाषिक शब्द दो प्रकार के हैं—'पंडित' भाषा के और जनभाषा के नगरों और गाँवों में लोहार, बढ़ई, कृषिकार, धोबी, चमार, सुनार, हलवाई, धुनिया इत्यादि सबकी अपनी अपनी पारिभाषिक शब्दावली है। घन, संडसी, गोनिया, रद्दा, एुट्ठी, निराई, पाट, कालबूत, कुटाली, पाग, चाशनी, पाखर आदि पारिभाषिक शब्द हैं। पंडितभाषा में और हमारी राजभाषा में वर्तमान समय में जिस पारिभाषिक शब्दावली का विकास किया जा रहा है, वह संस्कृताश्रित है। कुछ संस्कृत के शब्दकोशों से लिए गए हैं और कुछ संस्कृत व्याकरण के अनुसार उपसर्ग प्रत्यय लगाकर बनाए जा रहे हैं।

§ ८६५ हिंदी शब्दभांडार में ग्रामीण शब्दों का महत्व धीरे धीरे कम हो रहा है। कुछ तो ग्रामीण लोगों को अपनीअपनी बोली के प्रति घृणा का-सा भाव है और कुछ साहित्यिक हिंदी की व्यापकता के कारण ग्रामीण शब्दों का प्रचलन नहीं हो पाता। सबको शुद्ध हिंदी का ध्यान अधिक रहता है। किंतु हिंदी साहित्य के लिये हिंदी प्रदेश की बोलियों के लिये हिंदी प्रदेश की बोलियों का ज्ञान अत्यंत आवश्यक है। कबीर, नानक, दादू आदि संतों की वाणियों में प्रायः सभी हिंदी बोलियों के शब्द मिल जाते हैं। तुलसी की भाषा अवधी अथवा ब्रजभाषा तो है ही, लेकिन उसके साथ अन्य बोलियों के शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। सूफी साहित्य सारा का सारा अवधी बोली में लिखा मिलता है। कृष्णभक्त और

रीति कवियों को समझने के लिये ब्रजभाषा का ज्ञान होना चाहिए। कई कवियों ने ब्रजभाषा के साथ कन्नौजी अथवा बुंदेली शब्दों का प्रयोग किया है। आधुनिक समय में प्रगतिवादी और नई (तथाकथित प्रयोगवादी) कविता में विभिन्न कवियों और साहित्यकारों ने बड़े प्रभावपूर्ण ढंग से ग्रामीण शब्दों को अपनी रचनाओं में बिठाया है, यद्यपि उनका यह प्रयास वैयक्तिक होकर ही रह जानेवाला है।

§ ८६६ गोप्य और स्थानीय शब्दों का क्षेत्र अति सीमित होता है। किन्नी (गुरदा) तथा नुकला (गरदन का मांस) बूचड़ों की बोली में, चेटी (रुपया) तथा टाला (पैसा) दलालों की बोली में, इल्लू (मुहरा) तथा काधा (बड़ी कौड़ी) जुआड़ियों की बोली में आदि आदि आपसी समझौते से प्रचलित हो जाते हैं। कभी कभी दूकानदार कुछ ऐसी शब्दावली निश्चित कर लेते हैं जिसका अर्थ ग्राहकों को न जान पड़े। ठग, चोर, चौकीदार, सिपाही, भड़भूँजे, गूजर आदि व्यवसायी आपस में कुछ ऐसे शब्द तय कर लेते हैं जो बाहर के लोग नहीं समझ पाते। कभी कभी किसी गाँव या मुहल्ले में एक न एक शब्द ऐसा फूट पड़ता है जो कुछ दिन प्रचलित होकर स्वतः समाप्त हो जाता है। स्थानीय शब्दों की अपेक्षा व्यवसायी शब्द दीर्घायु होते हैं।

§ ८६७ गोप्य शरीरांगों, गोप्य (यौन) कर्मों, निषिद्ध कार्यों, गंदे और अभद्र व्यापारों एवं असभ्य बातों से संबंधित शब्द ग्राम्य कहलाते हैं। इनके प्रयोग से बचने के लिये लाक्षणिक शब्दों से काम चलाना पड़ता है। लेकिन ये लाक्षणिक शब्द भी धीरे धीरे ग्राम्यता की कोटि में आने लगते हैं तो पुनः नए शब्द ढूँढ़ लिए जाते हैं—पुराने शब्द भी प्रायः जीवित रहते हैं। उदाहरण स्वरूप हगना, टट्टी करना, पैखाने जाना, शौच करना, जंगल हो आना आदि अनेक शब्द समय समय पर और विभिन्न स्तर के लोगों में चलते हैं। इसी प्रकार से गर्भवती होना, पाँव भारी होना, पेट से होना आदि शब्द हैं। गालियाँ, अपशब्द और शाप ग्राम्य समाज की विशेष शब्दसंपत्ति हैं।

§ ८६८ उपर्युक्त शब्दों के दो दो भेद और भी हैं—प्रचलित और अप्रचलित। अवधी और ब्रजभाषा साहित्य में सैकड़ों शब्द मिल जाते हैं, जिनका प्रचलन आज नहीं होता, जैसे—

कुहाना	करसना	पाऊधप
अथना	चिलका (रुपया)	थिराना इत्यादि।

कई वस्तुएँ जैसे—

नृत्य, गीत, खिलौने, जेवर, वाहन, बर्तन, रीतिरिवाज और वस्त्र अब प्रचलित नहीं हैं, इनसे संबंधित शब्द भी वर्तमान शब्दभांडार से लुप्त हो गए हैं। अप्रचलित शब्दों में कुछ केवल कविताओं अथवा लोकगीतों में विद्यमान हैं, जैसे—

जियरा पिया ललना इत्यादि।

कौन जानता है कि आज के हमारे शब्दभांडार के कितने शब्द कल नहीं रहेंगे। शब्दों के प्रयोग का भी एक फैशन होता है।

ऐतिहासिक उद्गम की दृष्टि से

§ ८९९ ऐतिहासिक उद्गम की दृष्टि से हिंदी शब्दों की पाँच श्रेणियाँ की जाती हैं—तत्सम, अर्धतत्सम, तद्भव, देशी और विदेशी। वस्तुतः हमारे शब्द या तो भारत के हैं या भारत के बाहर की भाषाओं से आए हैं—मोटे तौर पर येही दो समूह हैं। भारतीय शब्दों के अंतर्गत ही तत्सम, अर्धतत्सम, तद्भव और देशी शब्द आते हैं।

तत्सम वे शब्द हैं जो संस्कृत के शुद्ध रूप में प्रचलित हैं, जैसे—

अग्नि	आयोग	प्रकाश	प्रतिभूति
माता	निद्रा	सत्याग्रह	चैत्र इत्यादि।

तद्भव वे शब्द हैं जो प्राचीन आर्यभाषा से मध्यकालीन आर्यभाषाओं में होते हुए वर्तमान रूप में विकसित हो गए हैं, जैसे –

आग	खेत	दही	नींद
बूँद	माँ	साग	सूझबूझ इत्यादि

कुछ शब्द ऐसे हैं जिनका प्राचीन रूप इतना ही बदला जितना कि उच्चारण की दृष्टि से कम से कम सरल किया जा सकता था—किसी सामान्य सिद्धांत के अनुसार विकास नहीं हुआ, जैसे—

अमावस	आग्याँ	किशन	दरसन
धरम	नितनेम		

इनको विद्वानों ने अर्धतत्सम कहा है।

फारसी, अरबी, तुर्की, अँगरेजी, फ्रांसीसी, चीनी आदि अनेक विदेशी भाषाओं के जो शब्द हिंदी में आये हैं, उन्हें विदेशी कहते हैं। प्रायः विद्वानों ने उन भारतीय शब्दों को देशी माना है जो प्राचीन आर्यभाषा से व्युत्पन्न नहीं हुए। अनुकरणात्मक शब्द भी इन्हीं में संमिलित हैं। उदाहरण—

खिड़की	गड़बड़	टर्राना	फूफा
भिंडी	मेंढक आदि।		

इन पाँच वर्गों पर अधिक विस्तार से विचार करने की आवश्यकता है, क्योंकि हिंदी शब्दशास्त्र में अभीतक इनका वैज्ञानिक विश्लेषण नहीं हुआ है।

तत्सम

§ ६०० हिंदी में, और विशेषतया साहित्यिक हिंदी में, तत्सम शब्दसमूह की वृद्धि उत्तरोत्तर अधिक होती रही है। अब्दुर-रहमान (संदेशरासक के रचयिता), अमीर खुसरो, कबीर, जायसी, रसखान, आलम और जहूरबख्श की भाषा को देखिए, अथवा दलपतिविजय, तुलसी, नंददास, बिहारी और प्रसाद अथवा पंत के शब्दभांडार को लीजिए, तत्सम शब्दों का अनुपात बढ़ता ही रहा है। आज राजा शिवप्रसाद सितार-ए-हिंद की भाषा को सुंदर हिंदी ही कहनेवाला कोई नहीं है, प्रेमचंद और राजा राधिकारमण की भाषा का अनुकरण करनेवाला भी संभवतः कोई नहीं रह गया। बोलचाल की भाषा में भी तत्सम शब्द बढ़ते रहे हैं। आज हम आस, सीख, भाखा अथवा भासा, बैन, मयन, मीत आदि शब्दों को गँवारू और परित्यक्त मानकर इनको जगह आशा, शिक्षा, भाषा, वचन, मदन और मित्र कहना अधिक सुष्ठु समझते हैं। दूसरी ओर हम जरूर, तकलीफ, तकल्लुफ और बगैर की अपेक्षा अवश्य, कष्ट, संकोच और बिना को सरल और सुबोध मानने लगे हैं। ७०-८० वर्ष के बूढ़े और उसके पोते की भाषा में यह अंतर स्पष्ट है।

§ ६०१ खड़ी बोली हिंदी का विकास तत्सम शब्दों की क्रमिक संख्यावृद्धि का पर्याय कहा जा सकता है। व्रजभाषा में चार पाँच सौ वर्षों की साहित्यिक साधना के कारण अत्यंत समृद्ध शब्दावली विकसित हो गई थी जो अधिकांश तद्भव रूप में थी। आवश्यकतानुसार संस्कृत शब्दों का तद्भव रूपांतर करने की परंपरा आरंभ ही से व्रजभाषा साहित्य में चल पड़ी थी। सूफियों ने यही परंपरा अवधी में स्थापित की। तुलसीदास ने तत्सम शब्दों को सूफियों की अपेक्षा अधिक आदर दिया। जब खड़ी बोली साहित्य के क्षेत्र में आई तो एक नई परंपरा की नींव पड़ी। खड़ी बोली मूलतः दीन हीन क्षीण भाषा थी। दिल्ली, लखनऊ और दक्षिण के राजदरबारों में रहकर इसने अरबी फारसी की सहायता से अपनी दरिद्रता को हटाने का प्रयत्न किया। राजा शिवप्रसाद सितार-ए-हिंद ने इसी पक्ष का पोषण किया और हिंदी में बीसियों लेखक और वक्ता हुए जो फारसी अरबी शब्दों की ग्राह्यता को जनभाषा के अनुकूल और राष्ट्रीयता की दृष्टि से आवश्यक मानते थे। किंतु परिस्थितियाँ कुछ ऐसी बनती गईं कि सर्वमान्यता राजा लक्ष्मणसिंह आदि की तथाकथित पंडिताऊ भाषा को ही प्राप्त हुई। सन् १८८४ ई० में भारतेंदु हरिश्चंद्र ने 'हिंदी भाषा' शीर्षक निबंध में इस प्रवृत्ति की विवेचना करते हुए तत्सम शब्द-बहुल भाषा को 'शुद्ध हिंदी' कहा। विचारपूर्ण और गंभीर विषयों के लिये उन्होंने

स्वयं ऐसी ही शैली को अपनाया और अपनी मित्रमंडली में प्रोत्साहित किया। भारतेंदुकाल से अधिक द्विवेदीकाल में और द्विवेदीकाल से अधिक प्रसादकाल में और इससे भी अधिक वर्तमान काल में तत्सम शब्द अधिक संख्या में प्रयुक्त होते आ रहे हैं। हिंदी ने अपना शब्दभांडार एक निश्चित और सुदृढ क्रम से प्राचीन आर्यभाषा के कोष से भरा है। यह ठीक ही हुआ कि हिंदी ने अपनी पैतृक संपत्ति को सँभाला। इसके बिना साहित्य और ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में खड़ी बोली का प्रचलन संभव नहीं था। अँगरेजी में ६०% शब्द ग्रीक और लैटिन के और फारसी में ६०% शब्द अरबी के हैं। हिंदी में संस्कृत तत्सम शब्दों का परिमाण ५०% है और कुछ ग्रंथों में ५०% से भी अधिक है[1]। इसका प्रमाण हिंदी कोश ग्रंथों को देखने से मिल जाता है। 'प्रामाणिक हिंदी कोश' (द्वितीय संस्करण, काशी) में 'अ' के अंतर्गत लगभग २७५० शब्द संगृहीत हैं जिनमें से १४८० शब्द तत्सम हैं। अन्य अक्षरों को देखने से भी प्रायः यही तथ्य प्राप्त होता है।

हिंदी ने पहले तो शब्दभांडार की संपन्नता के लिये तत्सम शब्दों को ग्रहण किया, बाद में तत्सम शब्दों ने पर्यायवाची तद्भव और देशी शब्दों का उन्मूलन भी किया। अभी यह प्रवृत्ति जारी है।

आरंभ में हिंदी लेखकों ने तत्सम शब्दों को अपनाया जो संस्कृत वाङ्मय में उपलब्ध हैं। नए शब्द गढ़कर चलाने का साहस विरले ही लोगों को होता था। लेकिन धीरे धीरे अन्य भाषाओं तथा बाह्य देशों के साथ संपर्क बढ़ने के कारण नए-विचारों, नई अभिव्यक्तियों का समावेश हुआ। कुछ शब्द बँगला आदि भाषाओं ने गढ़े अथवा पुराने शब्दों को नए अर्थ दिए; और हिंदी ने वहीं से ग्रहण कर लिए, जैसे —

उपन्यास गल्प नितांत प्राणपण
भद्र (लोग) संभ्रांत इत्यादि।

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी विश्वविद्यालय, सरस्वती विहार, भारतीय सरकार (शिक्षा विभाग), भारतीय हिंदी परिषद् आदि संस्थाओं के तत्वावधान में हजारों लाखों शब्द गढ़े गए जो संस्कृत अभिधानों में तो नहीं हैं, पर हैं संस्कृत के। साहित्यकारों, विशेषतया छायावादी युग और उसके बाद के कवियों ने भी, सैकड़ों शब्द गढ़े; और न जाने कितने अन्य विद्वानों ने हिंदी के तत्सम शब्द-भांडार के विकास में योग दिया है।

[1] डा० सुनीतिकुमार चटर्जी : आर्यभाषा और हिंदी, पृ० १३७

इस तरह तत्सम शब्द दो प्रकार के हैं—परंपरागत और निर्मित।

§ ६०२ तत्सम शब्दों की अभिवृद्धि के अनेक कारण हैं—

मुगल राज्यकाल की अपेक्षा अँगरेजों के समय में और विशेषतया २०वीं शती में, तथा अंग्रेजी शासनकाल की अपेक्षा स्वतंत्रताप्राप्ति के उपरांत शिक्षा का अधिक प्रसार हुआ है। आरंभ में हिंदी भाषा और साहित्य की शिक्षा संस्कृत के पंडितों के हाथ में रही। स्कूलों और कालेजों में हिंदी से पहले संस्कृत विभाग स्थापित थे। हिंदी विभाग वर्षों संस्कृत विभाग के एक अंग बनकर चले। इसलिये संस्कृत के अध्यापकों की शब्दावली का प्रभाव शिक्षित वर्ग पर निरंतर पड़ता रहा।

स्वामी दयानंद और आर्यसमाज के वेदोद्धार प्रचार से संस्कृत भाषा और साहित्य की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ। आज से ७०-८० वर्ष पूर्व ब्राह्मणेतर जातियों में संस्कृत पढ़नेवालों की संख्या नगण्य थी। आर्यसमाज ने भारतीय संस्कृति के प्रश्न को संस्कृत के साथ जोड़ दिया। वेदों, शास्त्रों, उपनिषदों और धार्मिक ग्रंथों के अध्ययन ने तत्सम शब्दावली को अधिक व्यापक बनाया है।

पिछले ५० वर्षों में हिंदी का जितना साहित्य लिखा गया है उतना भारतीय भाषाओं के इतिहास में अब तक किन्हीं ५० वर्षों में किसी भाषा में नहीं लिखा गया। हिंदी का साहित्यिक क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया है। गद्य की अपेक्षा काव्य में तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ है: प्रगतिवादी कविता की अपेक्षा रहस्यवादी छायावादी कविता में तत्सम शब्दों का आधिक्य है। गद्य में भी कथा साहित्य से अधिक नाटकों में और इनसे भी अधिक निबंधों में तत्सम शब्दों का आनुपातिक प्रयोग मिलता है। ललित साहित्य के अतिरिक्त ज्ञान-विज्ञान-संबंधी साहित्य की पिछले दो तीन दशकों में बहुत उन्नति हुई है। इतिहास, भूगोल, दर्शन, वाणिज्य, कला, शिक्षा, शासन, भौतिक विज्ञान, रसायन शास्त्र, प्राणिविज्ञान, वनस्पतिशास्त्र आदि पचासों विषयों का प्रचुर साहित्य प्रकाश में आया है। उसमें प्रयुक्त सारी पारिभाषिक शब्दावली तत्सम है और ऐसे शब्दों की संख्या सैकड़ों से हजारों होती जा रही है।

यह भी अनुभव किया जा रहा है कि संस्कृत के ही माध्यम से हिंदी भाषा बंगाल, मद्रास, महाराष्ट्र, केरल, मैसूर, आंध्र आदि अहिंदी भाषी प्रदेशों के लिये सुबोध और सुगम हो सकती है बल्कि बृहत्तर भारत और बौद्ध जगत् तक में हिंदी संस्कृत के माध्यम से पहुँचाई जा सकती है।

शिक्षा के प्रसार और यातायात के विस्तार के साथ देश में सामान्य शब्दावली का विकास अनिवार्य है। तत्सम शब्दों के कारण यह सामान्यतया

सहज रूप में आ जाती है। राजनीतिक जागृति और सांस्कृतिक उत्थान के कारण भी संस्कृतमिश्रित भाषा का विकास प्रायः सभी देशों में हुआ है। शासन की ओर से भी जिस राजभाषा का व्यवहार चलाना पड़ रहा है उसमें भी तत्सम शब्दों का अनुपात क्रमशः बढ़ता जा रहा है। संविधान में विहित है कि हिंदी की पारिभाषिक शब्दावली संस्कृत के आधार पर निर्मित होगी। यह ठीक ही हुआ है क्योंकि संस्कृत में शब्दनिर्माण की अद्भुत शक्ति है।

§ ६०३ हिंदी में प्रयुक्त तत्सम शब्दों में अधिकतर संज्ञापद और विशेषण हैं। विशेषणों में कृदंत भी संमिलित हैं। तत्सम अव्यय कम थे और जो थे उनमें से अधिकांश हिंदी ने अपना लिए, जैसे —

एवं	कदाचित्	तथा	पुनः
यदि	यथा	सर्वत्र	सर्वथा
सर्वदा आदि।			

हिंदी में क्रियापद तत्सम रूप में नहीं के बराबर हैं: पुरानी हिंदी में इनका प्रचलन अवश्य निस्संकोच रूप में होता था; जैसे—

कूजना	ग्रथना	जन्मते	दर्शाया
तर्जहिं	पूजना	भ्रमाना	लजाना
विलपना आदि।			

क्रिया के रूप में तत्सम शब्दों का प्रयोग संज्ञाओं और कृदंतों के साथ 'करना' या 'होना' लगाकर किया जाता है। ऊपर उल्लेख किया गया है कि यह प्रवृत्ति यहाँ तक बढ़ गई है कि अब प्रायः ठेठ हिंदी क्रियापदों का प्रयोग लुप्त होता जा रहा है। बनाना दिखाना, लौटाना, मरना, मारना, लेना, मिलना के स्थान पर निर्माण करना, प्रदर्शित करना, प्रत्यावर्तित करना, गत होना, वध करना, प्राप्त करना, प्राप्त होना इत्यादि प्रयोग तत्सम शब्दों की बढ़ती हुई गति के प्रमाण हैं। यह ठीक है कि तत्सम और ठेठ, दोनों प्रयोगों को चलाने से भाषा की अभिव्यक्ति अधिक समृद्ध होगी।

§ ६०४ अनेक कारणों से, जिनका विवेचन अन्यत्र किया गया है, संस्कृत, प्राकृत आदि के शब्द आधुनिक आर्यभाषाओं में घिस पिटकर परिवर्तित होते रहे हैं। हिंदी प्रदेश की बोलियों में आनुपातिक दृष्टि से

तद्भव

सबसे अधिक संख्या तद्भव शब्दों की है। १६वीं शती से पहले के साहित्य में भी तद्भव शब्दों की प्रधानता थी। साहित्य और जनसाधारण की भाषा में बहुत कम अंतर था। सच तो यह है कि तब तक जनभाषा ही साहित्यिक भाषा थी। खड़ी

बोली के उदय के साथ हिंदी में कृत्रिमता और पंडिताऊपन का प्रवेश हुआ। कबीर, जायसी, तुलसी, सूर, बिहारी, दास, भारतेंदु, महावीरप्रसाद द्विवेदी, प्रसाद और पंत की भाषा में तद्भव शब्दों का क्रमिक ह्रास स्पष्ट लक्षित होता है। सच तो यह है कि तत्सम शब्दों की वृद्धि का अर्थ ही है तद्भव, देशी और विदेशी शब्दों का ह्रास। जो प्रवृत्ति नगरों, स्थानों और व्यक्तियों के नाम रखने में दिखाई देती है, वही भाषा के सामान्य क्षेत्र में भी है। आज जैसे सियाराम, काइनचंद, लखनलाल, बिस्दू, मोती, पन्ना, रमेसर, सुन्नरी, रमदेई, दुलरी, आदि नाम धीरे धीरे त्याज्य हो रहे हैं, विशेषतया नगरों में, और जैसे कृष्णनगर (किसनेर अथवा काइनेर नहीं), सुदर्शननगर (सुअस्सनेर नहीं), आदि स्थाननाम अधिक प्रचलित हो रहे हैं अथवा जैसे वाराणसी (वर्तमान बनारस), मीरजापुर (वर्तमान मिर्जापुर), कौशांबी (वर्तमान कुसुम), यमुना (जमना), दक्षिण (दक्खन), विंध्याचल, हिमाचल, केरल, राजस्थान, कूर्मांचल अहिक्षेत्र (अहिछत्र) आदि नामों का पुनरुद्धार किया जा रहा है। इसी प्रकार तद्भवों के स्थान पर तत्समों का प्रयोग बढ़ता जा रहा है। आज हम आस, अनकहा, अजान, चितचाहा, जने, पाती, मनभाता आदि शब्दों को त्याज्य समझते हैं; हम पत्र (चिट्ठी), निमंत्रण (नेउता), स्नेह (नेह), पुस्तक (पोथी), पीड़ा (पीर), शोक (सोग), आदि सैकड़ों तत्सम शब्दों को तद्भव के स्थान पर व्यवहृत करने लगे हैं। पहले ये प्रयोग साहित्य में चलाए गए, बाद में शिक्षित वर्ग में और अब धीरे धीरे जनभाषा में भी प्रचलित होने लगे हैं। तो भी बोलचाल की हिंदी में तद्भव शब्द बहुत बड़ी संख्या में विद्यमान हैं। हिंदी प्रदेश की बोलियों में ऐसे शब्दों का अनुपात और भी अधिक है।

§ ३०५ यह कह देना भी आवश्यक है कि साहित्यिक हिंदी में भी कुछ तद्भव भले ही परित्यक्त मान लिए गए हैं, लेकिन प्रायः तद्भव शब्द तत्सम रूपों के साथ साथ चलते रहे हैं। इनका व्यवहार शैली की विविधता अथवा वातावरण की अनुकूलता के लिये बराबर होता रहता है। कभी कभी तत्सम और तद्भव रूपों में अर्थभेद भी कर लिया गया है, जिससे तद्भव रूप भाषा में अनिवार्य हो गया है। जैसे—

आत्मा, > आप; गर्भिणी, > गाभिन;
चक्र, > चाक; वामन, > बौना;
रश्मि, > रस्सी; वंश, > बाँस;
स्थान, > थान; आदि आदि।

लोकप्रचलित व्यावहारिक शब्दों के तद्भव रूप को हटाना भी सहज कार्य नहीं है। जैसे—

ओढ़ना	कपड़ा	काका	कान
खाट	घोड़ा	चमार	चाचा
छलनी	झूला	दूध	नाक
नाई	बेलन	बहिन	भाई
मक्खी	मामा	रूई	सास
ससुर	हाथ	पाँव	बैल
दाल	भात	साग	सुई

आदि शब्द बोलियों में विद्यमान हैं और रहेंगे, साहित्य और शिक्षा के क्षेत्र में ही तत्सम पर्याय चल पड़े हैं। क्रियापदों की स्थिति भी जनभाषा में विशेषतया सुरक्षित है और रहेगी। शब्दसंख्या भी इनकी अधिक है। संज्ञापदों के उपरांत इन्हीं की गणना की जा सकती है। यदि संज्ञापद हजारों हैं तो तद्भव क्रियापद भी सैकड़ों तो अवश्य हैं।

सर्वनाम सबके सब तद्भव ही हैं। त्वदीय, भवदीय, किंचित् प्रभृति कुछ एक शब्द शिक्षित समुदाय की लेखनशैली में प्रवेश कर रहे हैं, पर अभी इनका स्थान विशिष्ट ही है, सामान्य नहीं। अव्ययों में यहाँ, जहाँ, वहाँ, कहाँ, अब, जब, कब, तब, चाहे, मानों, तक, में, ज्यों, क्यों, आगे, पीछे, नीचे, ऊपर, फिर, कैसे, जैसे, वैसे, ऐसे, तो, हो, और, भी आदि शब्द कभी स्थानच्युत नहीं हो सकते। 'और' के साथ साथ तथा और एवं, 'जैसे' के साथ साथ यथा, इसलिये के साथ साथ अतः अथवा अतएव, फिर के साथ पुनः शैली के लिये प्रयुक्त होते हैं; 'यदि' का तद्भव रूप (जे) अवश्य नहीं रह गया।

§ ६०६ उच्चारण की अशुद्धता अथवा असावधानी के कारण प्रायः तत्सम शब्द अर्धतत्सम रूप में चल पड़ते हैं, जैसे—

	जमलोक	धरम	नीत	पूरनमासी
अर्धतत्सम	बिसेस	बिनय	बिगास	भगत
	मध	खेत	रतन	साध इत्यादि।

कभी कभी ऐसे शब्द और अधिक घिसने लगते हैं अथवा इनमें हिंदी प्रत्यय लगकर रूपांतर होने लगता है, जैसे—

अमावस	अरघा	कारज	भरसना
व्यापना	सूरज आदि।		

ब्रजभाषा और अवधी साहित्य में ऐसे शब्दों की भरमार है। खड़ी बोली साहित्यिक हिंदी में संस्कृत शब्दों को अपने शुद्ध रूप में व्यवहृत करने की प्रवृत्ति

अधिक है। हिंदी बोलियों में शिक्षित वर्ग से चुने हुए तत्सम शब्दों को अर्ध-तत्सम रूप में कभी कभी व्यापकता प्राप्त हो जाती है। ऐसे शब्द प्रायः धार्मिक और सांस्कृतिक क्षेत्र के होते हैं। जैसे—

ग्यान	बिग्यान	बम	देउता
धरम	करम	नितनेम	नमशकार
परणाम	बरत	भगती	बेद
सुरग (स्वर्ग)	सबद	सलोक	

आदि शब्द इसी कोटि के हैं।

किंतु प्रश्न यह है कि क्या सचमुच इन शब्दों को 'तत्सम' से भिन्न माना जाय? आज्ञा, ज्ञान, यज्ञ का ठीक ठीक उच्चारण है आज्ञ्आ, ज्ञ्आन, यज्ञ्अ; पर हम बोलते हैं आग्याँ, ग्याँन, यग्यँ। यदि यह उच्चारणभेद ही शब्द के तत्सम और अर्धतत्सम होने का प्रमाण है, तो हिंदी में बहुत ही कम ऐसे शब्द मिलेंगे जिनको तत्सम की संज्ञा दी जा सके। जिन शब्दों में 'ऋ' स्वर होता है, उनमें 'र' व्यंजन की ध्वनि कहाँ से आ गई? वेद, व्रज, श्लोक, पाप आदि शब्दों के अंतिम व्यंजन को हलंत मानकर जो हिंदी में उच्चारण किया जाता है, क्या उससे ये शब्द तत्सम बने रह जाते हैं?

बोलियों में संयुक्त व्यंजनों और य, व, श, ष, क्ष, ज्ञ आदि ध्वनियों के लोप और अनभ्यास के कारण वेदना को बेदना, यज्ञ को जग्यँ, प्रशंसा को प्रसंसा, (और कभी कभी प्रसंशा या प्रशंशा), ऋषि को रिसि, क्षत्रिय को छत्री और ज्ञात को ग्यात कह देना एक संस्कारगत प्रवृत्ति हो गई है जो बड़े बड़े पंडितों में भी दिखाई पड़ जाती है।

वास्तव में तत्सम और अर्धतत्सम का भेद बहुत कुछ उच्चारणभेद ही है।

§ ६०७ १०वीं-११वीं शती से आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का काल आरंभ होता है। तभी से शताब्दियों तक हिंदी प्रदेश अरबों, ईरानियों, तुर्कों और पठानों का प्रभुत्व रहा है। १७वीं शती से योरप की जातियों का आगमन होने लगता है। डच, पुर्तगाल और फ्रेंच लोगों का हिंदी प्रदेश से सीधे तो कोई संबंध नहीं रहा, लेकिन भारत की अन्य भाषाओं का प्रभाव हिंदी पर अवश्य पड़ा। अंग्रेजी भी अपनी शब्दावली के अतिरिक्त इन भाषाओं के कतिपय शब्दों का वाहन बनी और अंग्रेजी के रास्ते बहुत से शब्द हिंदी में प्रविष्ट हुए। मुसलमान और अंग्रेज शासकों के राज्यकाल में विदेशी भाषाएँ शिक्षा और शासन का माध्यम बन गई थीं। पहले नौकरी पेशा और शिक्षित वर्ग के द्वारा, फिर फैशन के रूप

विदेशी

में और आगे चलकर अनिवार्यता के कारण विदेशी शब्दों का व्यवहार जनसाधारण में बढ़ता गया। विदेश से जो नई वस्तुएँ आईं उनके साथ तत्संबंधी शब्द भी आए।

मुसलमानी राज्यकाल में फारसी और अंग्रेजी शासनकाल में अंग्रेजी राज्यभाषा के पद पर आसीन रही है। फारसी के प्रभाव को लगभग ६०० वर्ष तक और अंग्रेजी के प्रभाव को कुल २०० वर्ष तक हिंदी ने ग्रहण किया। अतः हिंदी के विदेशी शब्दतत्व में अंग्रेजी की अपेक्षा फारसी (अरबी, तुर्की के शब्द भी फारसी के माध्यम से आए हैं) का अनुपात अधिक है।

§ ६०८ फारसी, अरबी, तुर्की शब्दों का वर्गीकरण इस प्रकार से किया जा सकता है—

(क) धार्मिक और सांस्कृतिक—

इमाम	ईद	कलमा	काजी
कुरान	खुदा	खैरात	दरगाह
दोजख	निमाज	पैगंबर	फतवा
बहिश्त	बाँग	मन्नत	मजहब
मुल्ला	मुसल्ला	मुहर्रम	मौलवी
रोजा	सुन्नत	हज	हाजी

(ख) शासन संबंधी—

अदालत	इस्तीफा	कानून	किला
गवाह		जमेदार	जमानत
जंग	जासूस	जादाद	तनख्वाह
तोप	दफ्तर	दरबान	दस्तावेज
दारोगा	दीवानी	दावा	नालिश
नौकर	नौकरी	पेशी	पेशकार
फौज	फौजदारी	बरी	बंक
प्यादा	मुख्तार	मुकदमा	मुनसिफ
मोहर	मोर्चा	रियासत	सरकार
सिक्का	सूबेदार	सिपाही	वकील
हवलदार	हवालात		

(ग) शिक्षा संबंधी

कलम	कागद	किताब	जिल्द
दवात	मुंशी	स्याही	किताब

(घ) व्यावसायिक—

इंतार	कलईगर, कारीगर	कसाई	कारखाना
कैंची	खरीदार	गज गिरह	जिल्दसाज
जुलाहा	तराजू	दर्जी	दलाल
दुकान	दस्तकारी	बजाज	मजदूर
मिस्तरी	शीशा	सर्राफ	साईस
साबुन		सौदा	हलवाई
हकीम			

(ङ) कला और विज्ञान संबंधी—

रबाब	जर्राह	जुलाब	जुकाम
तबला	तंबूरा	तेजाब	दवा
दमामा	नबज	नौबत	मरीज
मलहम	लकवा	शरबत	शहनाई
सरोद	सूजाक	सितार	
हैजा			

(च) नई वस्तुएँ—

खेल के समान, जैसे —	शतरंज	चौगान	
पहरावा, जैसे —		कुरता	मुरगाबी
चादर	तोशक	तकिया	पाजामा
मसनद	रजाई	रूमाल	
लिहाफ	लुंगी	सलवार	
बर्तन, जैसे —	प्याला	रकाबी	सुराही
खाद्य पदार्थ, जैसे —	आलूबुखारा	कीमा	किशमिश
कुलफी	जलेबी	तंदूर	पनीर
पिस्ता	पुलाव	बालूशाही	बरफी
मुरब्बा	समोसा		
विभिन्न वस्तुएँ, जैसे —	कालीन	कुर्सी	
तख्त	नरगिस	मेज	शामियाना
हजारा	हुक्का		

शृंगारिक वस्तुएँ—

आईना	इत्र	गुलाब	सुर्खी
सुरमा	हमाम		

शरीर के अंग, जैसे—

कमर	कलेजा	गुरदा	
दिल	बगल		

पशु पक्षियों के नाम, जैसे—

कबूतर	बाज	मुर्ग	शेर

फलों के नाम, जैसे—

अनार	अमरूद	खरबूजा	तरबूज

रंगों के नाम, जैसे—

अंगूरी	खाकी गुलाबी	तूतिया	बादामी

गालियों के अपशब्द जैसे—

कमबख्त	कमीना	नालायक	पाजी
बदमाश	बेतमीज	बेशरम	मक्कार
लफंगा	शैतान	हरामजादा	हरामी

§ ६०६ भाववाचक शब्द पदार्थनामों की अपेक्षा कम हैं, लेकिन इनमें से कुछ ऐसे भी हैं जिनको सहज में हिंदी के जनभाषा शब्दकोश से निकाला न जा सकेगा। उदाहरण--

संज्ञा--

उम्र	एहसान	खुशामद	गर्मी
गंदगी	गुस्सा	गुजर बसर	चापलूसी
जवानी	जवाब	जिद्	जिम्मा
जोर	तमीज	तारीफ	तरीका
दंगा	दर्द	दर्जा	नकल
नखरा	नजराना	नुकसान	निगरानी
परवाह	फायदा	फुर्सत	बदला
बीमा	बेगार	मालिश	मौका
	रिवाज	रोब	शक
शरारत	शर्म	शैतानी	शिकायत
सर्दी	सिफारिश	हिम्मत	हाल

विशेषण—

असली	खाली	खिलाफ	गलत
गरम	गैर	चालाक	जबर (जबरदस्त से)

जनना	जिद्दी	खुरमी	तनदुरुस्त
तंग	ताजा	तैयार	दुरुस्त
दोस्त	नगद	नरम	नकली
नालायक	पसंद	फलाना	फालतू
बदनाम	बराबर	बारीक	बीमार
बेईमान	बेकार	मर्दाना	मुफ्त
मुर्दा	मामूली	मंजूर	रद्दी
लाचार	लाल	सादा	सफेद

क्रियापद —

आजमाना	कबूलना	खरीदना	गुजरना
गुदारना (गुजारीदन)	तराशना	तहसीलना	दफनाना
दागना	बदलना	बहसना	बख्शना.
शर्माना	सुस्ताना		

क्रियाविशेषण—

अक्सर	करीब करीब	खूब	जल्दी
जरूर	जरा	दरअसल	फौरन
बेकायदा	बेफायदा	बालाबाला	बिलकुल
मसलन	शायद	सही	हमेशा

संबंधसूचक—

अलावा	तरह	तरफ	निस्बत
बाद	रूबरू	वास्ते	

समुच्चयबोधक—

क्योंकि	कि	चूँकि	बल्कि
ताकि	मगर		याने
या	व	वरना	लेकिन

विस्मयादिबोधक—

ऐं	खैर	बस	शाबाश

उपसर्ग —

ऐन : जैसे ऐन जवानी में

कम : जैसे, कमजोर, कमबख्त, कमदाम में

खुश : जैसे, खुशबू में

गैर : जैसे, गैरहिंदी, गैरसरकारी में

ना : जैसे, नासमझ नालायक में

बद : जैसे, बदनाम, बदमाश में

बे : जैसे, बेचारा, बेकाम में

हर : जैसे, हरघड़ी, हरबात में

कुछ उपसर्ग, से दर (दरअसल), बर (बरखास्त), बा (बाजाब्ता), बिल (बिलकुल), ला (लाचार), हम (हमउम्र) आदि विभिन्न शब्दों में तो गृहीत हुए हैं, पर उपसर्ग के रूप में स्वतंत्रता के साथ हिंदी शब्दों में प्रयुक्त नहीं होते। इसी तरह प्रत्ययों में भी बहुत कम हैं जो शब्दनिर्माण में काम आते हैं; बने बनाए शब्द प्रत्यय समेत भले ही बीसियों लिए गए हैं।

प्रत्यय

ई : जैसे मँहगी, ठंढी (संज्ञाएँ);

गिरी : जैसे गुंडागिरी ;

दान : जैसे थूकदान, पानदान ;

दानी : जैसे मच्छरदानी, बच्चेदानी;

दार : जैसे थानेदार, साझेदार

वार : जैसे नंबरवार, पंक्तिवार

वान : जैसे गाड़ीवान, कोचवान

बंद : जैसे हथियारबंद इत्यादि ।

§ ६१० अरबी फारसी शब्दों को बोलचाल की भाषा में तो हिंदी रूप में ढाल लिया गया है, परंतु साहित्य में ये दो रूपों में प्राप्त होते हैं। भारतेंदुयुग से पहले की कृतियों में न केवल क़, ख़, ग़, ज़, फ़ मिलते ही नहीं बल्कि य के स्थान पर ज और व के स्थान पर ब पाया जाता है। यह संयोग की बात है कि उस काल की कृतियों की साहित्यिक भाषा जनभाषा के निकट है। उदाहरणस्वरूप कबीर की बाणी में से निम्नलिखित शब्द इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं—

असमान अकलि	अरदासि (अर्जदाश्त)	इकतीआर (अख्तियार)
कागद (कागज)	कुलफू (कुफ्ल)	खुसी (खुशी)
चराकु (चराग)	जबाबु (जवाब)	नीसान (निशान)
निवाज (नमाज)	नदरि (नजर)	नजीकि (नजदीक)
पैकांबर (पैगंबर)	बरकस (बर-अक्स)	बखसि (बख्श)
परेसानी (परेशानी)	भिस्त (बहिश्त)	सरीकी (शरीकत)
सुरतानु (सुल्तान)	हुसीआर (होशियार)	हजूरि (हुजूर)
हवालु (अह्वाल)		

भारतेंदुयुग के आसपास के साहित्य में खड़ी बोली के उदय के साथ हिंदी भाषा उर्दू की होड़ में शिक्षित वर्ग की चिंता अधिक करने लगी और फारसी अरबी के शब्दों का यथासंभव शुद्ध प्रयोग करने के प्रयत्न में लग गई। वर्तमान हिंदी साहित्य में कागद, कोसिस (कोशिश), तगादा, दसखत, नगीच, मजूर, अकिल आदि तद्भव रूपों को ग्रामीण मानकर त्याज्य समझा गया है, जबकि बोलियों में ये ही रूप आज भी प्रचलित हैं।

इधर के हिंदी साहित्य में फारसी अरबी के ऐसे शब्दों का प्रयोग भी मिलता है जिनको केवल शिक्षित व्यक्ति ही समझ सकते हैं, जैसे—

मैं गीत बेचता हूँ—कुछ और डिजाइन भी हैं ये इल्मी (भवानीप्रसाद मिश्र)

महज उसका सौंदर्यबोध बढ़ गया है (सर्वेश्वरदयाल)

हो चुकी हैवानियत की इंतिहा (भारती)

पुख्तगी और सिनरसीदा होने का सबूत है (खाली कुर्सी की आत्मा—लक्ष्मीकांत वर्मा)।

कथा साहित्य में काव्य की अपेक्षा यह प्रवृत्ति कुछ अधिक है। छायावादी युग के बाद प्रगतिवादी साहित्य में ऐसे शब्दों का बाहुल्य है। लेकिन ऐसे शब्द व्यक्तिगत शैली के कारण ही प्रयुक्त हुए हैं, हिंदी भाषा के शब्दभांडार में इनको कोई स्थान प्राप्त नहीं है।

§ ६११ एशिया की मध्यकालीन मुसलमानी भाषाओं में से हिंदी ने तुर्की के शब्द सबसे कम, अरबी के उससे अधिक और फारसी के सबसे अधिक अपनाए है। इसका कारण स्पष्ट है। भारत में आनेवाले तुर्क संख्या में कम थे; संस्कृति में भी वे बहुत पिछड़े हुए थे।

आका	आगा (मालिक)	उजबक (मूर्ख)	उर्दू
काबू	कुली	कुर्की	कैंची
कौमी	खां	गलीचा	चमचा
चकमक (पत्थर)	चाकू	चिक	चेचक
जाजम	तमगा	तगार	तुर्क
तूरानी	तोप	तोशक (तु० फर्श)	दारोगा
बख्शी	बहादुर	बावर्ची	बीबी
बुकचा	बुलाक	मुचलका	लाश

सौगात इत्यादि।

ये तुर्की भाषा के शब्द हैं। फारसी राजभाषा तो अवश्य थी, लेकिन इस्लाम के प्रचार के उपरांत उसमें अरबी तत्व प्रविष्ट हो गया था। शब्दावली

में विशेषतया अरबी तत्व प्रधान था। शासन, शिक्षा और संस्कृति के क्षेत्र में फारसी का प्रभाव अधिक पड़ा।

§ ६१२ भारत में यूरोपीय लोगों का आगमन वास्को डि गामा की खोज के बाद सन् १४९८ से होता है। लेकिन हिंदी प्रदेश में उनका प्रभाव १९वीं शती के मध्य से आरंभ होता है। यद्यपि अंग्रेजों ने बिहार की दीवानी सन् १७५७ ई० में हस्तगत कर ली थी, तथापि शासनप्रबंध भारतीयों के ही हाथ में था। सन् १७७३ ई० में इलाहाबाद और बनारस, १८०५ ई० में गोरखपुर, रुहेलखंड और दोआब, एवं १८५३ ई० तक अवध, दिल्ली और पंजाब पर अँगरेजों का अधिकार जम गया था। सन् १८०० ई० में फोर्ट विलियम कालेज की नींव पड़ी। इसमें रहकर हिंदी के कुछ साहित्यकार, भाषाविद् और कुछ कर्मचारी अँगरेजी के निकट संपर्क में आए। सन् १८३० (मेकाले के समय) से अँगरेजी शिक्षा और शासन की भाषा बनने लगी। बँगला के माध्यम से भी हिंदी ने अप्रत्यक्ष प्रभाव ग्रहण किया। एक शती में ही अँगरेजी अपनी भौतिक चकाचौंध के साथ इस प्रदेश के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में छा गई। राजनीति, शासन, शिक्षा, प्रेस, ज्ञान विज्ञान, धर्म, कला आदि ही नहीं, हाट-बाजार और घर द्वार तक इसका प्रभाव व्याप्त हो गया। जिस व्यक्ति की शिक्षा का स्तर जितना ऊँचा है, उतना ही अधिक अनुपात उसकी भाषा में अँगरेजी का है। ऐसे ही लोगों के द्वारा साधारण जनता में उन शब्दों का प्रसार होता रहा है। हिंदी साहित्य में, प्रसादोत्तर काल में, विशेषतया अँगरेजी के प्रायः ऐसे शब्द भी पाए जाते हैं जो जनसाधारण में प्रचलित नहीं और हिंदी शब्द-भंडार का अंग नहीं बन पाए हैं।

§ ६१३ प्रचलित हिंदी में अँगरेजी के सबसे अधिक शब्द शासन संबंधी हैं। अंगरेजी शासनकाल में अनेक नए विभाग और नए पद स्थापित हुए। इनसे संबंधित शब्दावली में स्थायित्व दिखाई देता है। उदाहरण—

अपील	अर्दली	इस्टाम	कलक्टर
कांस्टेबुल	कोरट	कोटफीस	गारद
जज	जेल	डिपटी	पिन्सन
पुलिस	मजिस्ट्रेट	रपट	लाट
वारंट	समन, आदि का संबंध राज्यशासन से है।		
कर्नल	कप्तान	जर्नेल	परेड
लप्टैन	रंगरूट आदि शब्द सेना संबंधी हैं।		
इस्पेस	इंजन	टेसन	टिकस
पिलेटफारम	बिल्टी	मेल	रेल

रेलवई सिगल आदि रेलवे विभाग से गृहीत हुए हैं।
अस्पताल इस्टेचर कंपोडर नरस
प्लस्टर पुलटिस आदि चिकित्सालयों से आए हैं।
अफसर ओवरसीर इंसपिट्टर इंजीनियर
क्लर्क पोस्टमास्टर सुपरडंट आदि विभिन्न अधिकारियों के पद हैं।

चेक डीपू पासकाट बैंक
बैरंग मनीआडर राशन आदि विविध क्षेत्रों के शब्द हैं
शिक्षा संबंधी शब्दों में इस्लेट स्कूल
कालेज कापी प्रिंसिपल पेंसिल
फीस बेंच मास्टर होल्डर के अतिरिक्त हाकी, फुटबाल, मैच आदि उल्लेखनीय हैं।

अँगरेजों की देखादेखी और उनकी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये रहन सहन के बीसियों सामान यहाँ पर आए और फिर शासक वर्ग के अनुकरण में भारतीय जीवन का अंग बन गए। इनसे संबंधित शब्दों के उदाहरण—

पहरावा—कफ कालर कोट जाकिट
निकर पतलून पाकिट पालिश
बटन बुरुश बूट बिरजिस
वास्कट स्वेटर सिलीपर;
बर्तन केतली गिलास पलेट बोतल
लालटेन
खानपान—कुनैन केक टोस डेरी
तमाखू बिरांडी बिस्कुट माचिस
सिगरेट सोडा;
मनोरंजन—ठेटर बिगुल बैंड बैस्कोप
रेडियो सिनीमा हारमोनिया;
यंत्र-वाहन—गैस बासलेट (गैसलाइट) टैर
यात्रा आदि—ट्रक ट्यूप पिट्रोल पंप
फोटू बम मसीन मोटर
लारी ट्रंक सूटकेस साइकिल आदि शब्द पश्चिमी वैज्ञानिक सभ्यता के साथ आए हैं।

इनके अतिरिक्त विभिन्न विभागों और व्यवसायों से संबंधित अँगरेजी शब्द

बहुत से हैं, पर इनका प्रसार और व्यवहार सीमित क्षेत्र में होता है। उनमें कुछ ऐसे भी हैं जिनको हटा देना अभी सहज भी नहीं है, जैसे—

इंजीनियरी में—नट	बोल्ट	रैंच
चिकित्सा में— आपरेशन	ड्रेसिंग	वार्ड
शिक्षा में— ज्यामेट्री बाक्स	टूर्नामेंट	फाइल

किसी भी सरकारी विभाग में देखा जाय तो ऐसे बीसियों पारिभाषिक शब्द प्रचलित हैं जिनसे साधारण जनता अपरिचित है।

यह बात उल्लेखनीय है कि जनसाधारण की भाषा में लगभग सभी अँगरेजी से आगत शब्द संज्ञापद हैं। और संज्ञापदों में भी प्रायः जातिवाचक हैं। भाववाचक संज्ञापद केवल शिक्षित समाज में व्यवहृत होते हैं, पर इनका कोई भविष्य नहीं है। पर संभवतः कोई विशेषण, कोई क्रियापद, कोई अव्यय अँगरेजी का प्रचलित नहीं हो पाया।

§ ६१८ अँगरेजी के माध्यम से हिंदी को जो पुर्तगाली शब्द प्राप्त हुए, उनके उदाहरण ये हैं—

अनानास	अचार	आलमारी	आलपीन
आया	कमीज	काजू	कनिस्तर
कमरा	काज	क्रिस्तान	किरच
गमला	गिरजा	गोदाम	चाबी
तंबाकू	तौलिया	नीलाम	परात
परेक	पाव (रोटी)	पादरी	पिस्तौल
पीपा	फर्मा	फीता	फ्रांसीसी
बालटी	बुताम	मस्तूल	मेज
यशू	लबादा	संतरा	सागू (दाना)

फ्रांसीसी शब्दों में—

अंग्रेज कार्तूस कूपन फ्रांसीसी उल्लेखनीय हैं।

डच शब्द— तुरुप बम (टाँगे का)

यूरोप की भाषाओं के अतिरिक्त एशिया की चीनी, जापानी, तिब्बती आदि भाषाओं के कुछ शब्द भी हिंदी में पाए जाते हैं; जैसे—

चीनी—चाय, लीची।
जापानी—झंपान, रिकशा।
तिब्बती—डाँडी।

§ ६१५ विदेशी शब्दों के भविष्य के संबंध में एक बात और कह देना आवश्यक है। भक्त कवियों की शब्दावली का विश्लेषण करके देखा गया है कि उसमें विदेशी तत्व ढाई तीन प्रतिशत से अधिक नहीं है। रीतिकाल में यह तत्व स्वभावतः बढ़ गया। आधुनिक काल में भी विदेशी शब्द तो अवश्य बढ़े हैं, फिर भी अनुपात बहुत कम है। उदाहरणार्थ 'प्रामाणिक हिंदी कोश' में 'अ' से आरंभ होनेवाले ४७५० शब्दों में केवल २३५ विदेशी हैं, अर्थात् ५%। इसका कारण यह है कि शब्दावली बहुत अधिक व्यापक हो गई है।

§ ६१६ इस प्रसंग में नितांत विदेशी पारिभाषिक वैज्ञानिक शब्दावली का विवेचन नहीं किया गया है। उस शब्दावली के भविष्य के संबंध में कुछ भी कहना संभव नहीं है, क्योंकि उसके प्रचलन में जनता का नहीं, सरकार और विद्वन्मंडली का अधिकार है। सामान्यतया यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि पुरुषविशेष, देशविशेष अथवा स्थानविशेष से संबद्ध शब्द अवश्य विदेशी रूप में अपनाए जाएँगे और ऐसे पदार्थों के नाम भी उसी रूप में लेने पड़ेंगे जिस रूप में वे अपने अपने जन्मस्थान में व्यवहृत होकर देश देशांतर में प्रसारित हुए हैं।

§ ६१७ प्राकृत वैयाकरणों ने 'देशी' की जो परिभाषा की है वह नकारात्मक तो है, पर प्रायः विद्वान् उसको स्वीकार करते हैं। अपने ग्रंथ 'देसी-सद्द-संगहो' के आरंभ में आचार्य हेमचंद्र लिखते हैं—

> देशी ये लक्षणे न सिद्धा, न प्रसिद्धा संस्कृताभिधानेषु।
> न च गौण-लक्षणा-शक्तिसंभवाः ते इह निबद्धाः॥

अर्थात् देशी के अंतर्गत वे शब्द नहीं आते - (१) जिनका अर्थ गौण लक्षणा शक्ति द्वारा परिवर्तित हो गया है, जैसे 'गदहा' या 'उल्लू' का अर्थ 'मूर्ख', 'चक्कर' का अर्थ 'परेशानी' अथवा 'हाथ' का अर्थ 'दाँव' (२) जो संस्कृत अभिधानों में प्राप्त होते हैं; और (३) जो संस्कृत से सिद्ध हो सकते हैं, अर्थात् तद्भव एवं अर्धतत्सम शब्द तथा ज्ञान विज्ञान में गढ़े हुए तत्सम पारिभाषिक शब्द।

देशी दुःसंदर्भाः प्रायः संदर्भितापि दुर्बोधाः' तथा 'पूर्वैरसाधितपूर्वाः देश्याः' अर्थात् देशी के अंतर्गत वे शब्द नहीं आते जो संस्कृत से सिद्ध या संदर्भित हो सकते हैं। इन परिभाषाओं का अभिप्राय यही है।

हिंदी के प्रसिद्ध वैयाकरण पंडित कामताप्रसाद गुरु के अनुसार 'देशज वे शब्द हैं जो किसी संस्कृत (या प्राकृत) मूल से निकले हुए नहीं जान पड़ते और उनकी व्युत्पत्ति का पता नहीं लगता, जैसे तेंदुआ, खिड़की, घूआ, ठेस इत्यादि।'[1]

[1] हिंदी व्याकरण, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, सं० १९७८, पृ० ११।

डा० श्यामसुंदरदास गुरु जी के कथन का समर्थन करते हुए कहते हैं कि देशज वे शब्द हैं जिनकी व्युत्पत्ति का कोई पता नहीं चलता।[1]

डा० धीरेंद्र वर्मा का कहना है कि देशी शब्द वे ही हैं जो भारतीय अनार्य भाषाओं से आए हैं।[2] डा० उदयनारायण तिवारी ने इसी बात को यों कहा है—'आदिवासियों के जो शब्द संस्कृत, प्राकृत अथवा अर्वाचीन आर्य भाषा में आ गए हैं, वे देशी हैं।[3] यदि इस मत को स्वीकार किया जाय तो प्रश्न यह उठता है कि अनुकरणात्मक शब्द किस वर्ग में गिने जायँगे? क्योंकि डा० वर्मा और डा० तिवारी के अनुसार शब्दसमूहों की तीन श्रेणियाँ हैं—क-भारतीय आर्यभाषाओं का शब्दसमूह; ख-भारतीय अनार्य भाषाओं का शब्दसमूह तथा ग-विदेशी भाषाओं के शब्द। काफी (तमिल काप्पी), चुरुट (तमिल शुरुट), टुंडा (संथाली टुंट), पिल्ला (तेलगु), पिरिच (द्रविड़ पिरिच, छोटी तश्तरी) आदि को तो देशी कह दिया, पर पापड़, फूफा, नाना, चिड़चिड़ा गड़बड़, बड़बड़ाना आदि को क्या कहा जायगा?

गुरु और श्यामसुंदरदास अनुकरणात्मक शब्दों को देशज शब्दों से भिन्न वर्ग के बतलाते हैं। प्राकृत वैयाकरण ऐसे शब्दों को देशी शब्दों में गिनते आए हैं।

यह बात भी ठीक नहीं मालूम होती कि देशी वे शब्द हैं जिनका उद्गम प्राचीन आर्यभाषा से सिद्ध नहीं होता। एक प्रश्न तो यह है कि किस अभिधान को प्रामाणिक और संपूर्ण माना जाय? संस्कृत ने अपने क्रमविकास में सैकड़ों शब्द यहाँ के आदिवासियों की भाषा से ग्रहण किए, किंतु वे सब साहित्य में कहाँ आ पाए? बोलचाल की भाषा में देशी तत्व अवश्यमेव अधिक रहा होगा। एक तो विद्वान् की अपेक्षा साधारण जन के संपर्क अधिक स्वच्छंद और विस्तृत होते हैं और उनका व्यावहारिक (नित्यप्रति का) शब्दभंडार बहुत संपन्न होता है; दूसरे प्राकृत और अपभ्रंश में देशी शब्दों की प्रचुरता यह सिद्ध करती है कि इसकी परंपरा पीछे से चली आती रही है। पादलिप्ताचार्य और हेमचंद्र के प्राकृत कोशों में देशी शब्दों की भरमार देखकर आश्चर्य होता है। बोलचाल के शब्द अधिकांशतः अभिधानों में नहीं आ पाते। ऐसे शब्दों की संतानें ग्रामीण बोलियों में होंगी। यह तर्क ठीक नहीं मालूम होता कि यदि अभिधान में संदर्भित किया जा सका तो वह शब्द देशी न रहा और उसी काल का, उसी भाषा का,

[1] हिंदी भाषा का विकास, बनारस, सं० १९८४, पृ० ३१
[2] हिंदी भाषा का इतिहास, प्रयाग, १९४० ई०, भूमिका पृ० ६८-६९
[3] हिंदी भाषा का उद्गम और विकास, प्रयाग, सं० २०१२, पृ० २१२

शब्द न होने पर भी यदि अभिधान में न मिल सका तो उसकी संज्ञा 'देशी' हो गई। अभिधान तो कोई भी अपनी भाषा का संपूर्ण शब्दसंग्रह नहीं है।

यदि डा० वर्मा का मत स्वीकार किया जाय (यद्यपि वह है आचार्य हेमचंद्र के विरोध में), तो दूसरा प्रश्न उठता है. प्राचीन आर्यभाषाओं के शब्द-भांडार में आर्य तत्व कितना है और अनार्य तत्व कितना है, यह क्या जाना जा सकता है ? आर्य और अनार्य को अलग अलग करने के लिये अनेक भारतीय भाषाओं का ज्ञान अपेक्षित है। यास्क और पाणिनि ने कुछ शब्दों के उदाहरण गिनाए हैं, किंतु भाषा का संस्कार करने की धुन में ऐसे देशी शब्दों और प्रयोगों को अपभ्रष्ट कहकर निकाल बाहर फेंका गया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि संस्कृत तत्कालीन देशी तत्व से बची रह गई। वैदिक अश्मन्, वृष (उषन्), रायस् उदन्, अद् और पत् की जगह संस्कृत के क्रमशः प्रस्तर (हिं० पत्थर), बलिवर्द (हिं० बरधा, बैल), धन, जल, खाद् और उड्डीय (हिं० उड़ना) देशी प्रभाव का परिणाम दिखाई देते हैं। इनके अतिरिक्त घोटक (हिं० घोड़ा), कुक्कुर (हिं० कूकर; कुत्ता), डाकिनी (हिं० डाइन), टंक (हिं० टका), टंकार, टक, टिट्टिम; डमरू, खेला, घंटा, घुंटक (हिं० घुटना), भाटक (हिं० भाड़ा), चिक्कण (हिं० चिकना), नट, मंडूक (हिं० मेंढक), कुटी आदि आर्यभाषा के शब्द दिखाई नहीं देते। मूल में देशी होते हुए भी हिंदी के लिये ये शब्द प्राचीन आर्यभाषा के हैं। जिस प्रकार हिंदी में विदेशी शब्दसमूह को हम महमूद गजनवी के आक्रमण के बाद से विवेचित करते हैं, उसी प्रकार हिंदी के देशी तत्व का भी विचार हिंदी के उद्गम के बाद से करना होगा, नहीं तो असंगति बनी रहेगी।

भारतीय आर्येतर शब्दों को हम देशी शब्द समूह का एक अंगमात्र मानते हैं और खड़ी बोली हिंदी का यह अंग बहुत पुष्ट भी नहीं है। बिहारी, बघेली और छत्तीसगढ़ी बोलियों में ऐसे शब्द बहुत अधिक संख्या में हो सकते हैं, क्योंकि इन बोलियों का संपर्क मुंडा, मुंडारी, संथाली, तेलुगू आदि से बना हुआ है। खड़ी बोली प्रदेश आर्येतर भाषाभाषी प्रदेश से बहुत दूर है। जो आर्येतर शब्द इसमें पाए जाते हैं वे प्रायः प्राकृत भाषाओं से चले आ रहे हैं। उदाहरण—

१. मुंडारी—आता (पीसना, हिं० आटा) कदुआ (हिं० कद्दू)
चाउलि (हिं० चावल) छातोम् (हिं० छाता)
बुसु (हिं० भूसा) मढ़ाओ (वलय, हिं० टेढ़ामेढ़ा)
मह्‌र (ग्वाला, हिं० मुखिया) मुंगा (हिं० मूँगा)
लोटा (पीतल का पात्र हिं० लोटा) सोटा (हिं सोंटा)

२. खासी—केमखाप (हिं० कीमखाब कपड़ा) जिंजार (कष्ट, हिं० जंजाल)
धारिया (नदी पाट, हिं० नाली) दिश्रोंग, दोंग (लकड़ी, नाली, हिं० डोंगा)
सुप (टोकरा, हिं० सूप)

३. संथाली—अकोर आट
गुहार चँड़ा
पाउँ+हार भिंड
भंदो

४. आस्ट्रिक - श्रट्टक (हिं० अटकना) खिल्ला (हिं० खीला)
गुटि (हिं० गोटी) गोद् (हिं० गोद)
गोर (हिं० गोड़) खोंग (पेट, हिं० चोंगा)
झोल (लटकना हिं० झूल, झूला) टिल (पर्वत, हिं० टीला)
टेगो (पक्का, हिं० टेक) ताश्र (दादा, हिं० ताऊ)
पिक (हिं० फीका) बप (हिं० बाप)
बेटिना (हिं० बेटी) भाई (बहिन, हिं० बाई)
लुक (हिंलु० कना) सियजोई (हिं० सहजन का पेड़)

डॉ० चटर्जी ने कीचड़, गुड़, गेंडा, टाँग, टुंठ, दाड़िम, पागल, बैंगन, मेंढ़ा आदि अनेक शब्दों को आदिवासियों की इन्हीं भाषाओं से व्युत्पन्न माना है।[1]

§ ६१८ ध्वनि का अनुकरण करके रूढ़ शब्द बनाने की प्रवृत्ति आदि-मानव से लेकर आज तक चल रही है और देशी तत्व में ऐसे शब्दों की संख्या सैकड़ों हजारों तक है : ये अनुकरणात्मक शब्द देशी कारीगरी के उत्कृष्ट नमूने हैं और देशी संपत्ति का प्रमुख भाग। प्रायः शब्द उस उस ध्वनि के लिये ही प्रयुक्त होते हैं, जैसे—

काँयँ-काँयँ	खनक	खुसुर-फुसुर	चूँ-चूँ
टुटरूँ-टूँ	टनक	डकार	झनकार
दहाड़	बक-झक	भड़भड़ इत्यादि।	

कभी कभी वही शब्द वस्तु या व्यापार के द्योतक होते हैं, जैसे—

खसखसा	खिलखिलाना गराड़ी	घसीटना घुंघरू	घंघोलना
डगमगाना	डुगडुगी	ढिंढोरा	धक्का
पुचकारना	फटफटिया पापड़	विदकना आदि।	

[1] ग्री-परियन ऐंड ग्रो-द्रैविडियन इन इंडिया, भूमिका, पृ० १६–२६

कई बार ध्वनि की सूक्ष्म कल्पना कर ली जाती है और शब्द में अमूर्त भाव की द्योतना अधिक हो जाती है। ऐसे शब्दों में संज्ञाएँ, क्रियापद, विशेषण, अव्यय आदि सब प्रकार के शब्द होते हैं, जैसे—

गड़बड़	छिः	झक्की	टटोलना
डींग	थोथा	धत्त	पकड़ना
पिलपिला	महक	लसलसा	लेटना

लचक इत्यादि।

अनेक प्रत्यय वस्तुतः ध्वन्यात्मक हैं जो तद्भव शब्दों के साथ लगकर अर्थविस्तार में सहायक होते हैं, जैसे — क, -ड़ (।)
उदाहरण—

घुसेड़	टुकड़ा	धमक	पछाड़
फटक	मुखड़ा	लँगड़ा	सड़क इत्यादि।

कई शब्द प्रतिध्वनि के रूप में गढ़ लिए जाते हैं, जैसे आमने सामने, अड़ोस पड़ोस; आस पास, गोल मटोल, अलग थलग, रोटी ओटी, मेल जोल, नाले नूले, चुपचाप, गालीगलौज, नंगधड़ंग, इत्यादि में आमने, अड़ोस, आस, मटोल, थलग, ओटी जोल, नूले, चाप, गलौज, धड़ंग पृथक्-पृथक् तो निरर्थक लगते हैं लेकिन अपने बिंब के साथ मिलकर अर्थवैशिष्ट्य ला देते हैं। अतः शब्दशास्त्र में तथा भाषा के भंडार में इनका महत्व निश्चित है।

कभी कभी प्रतिध्वनित शब्द स्वतंत्र अर्थसत्ता स्थापित कर लेते हैं, जैसेः— उल्टा-सुल्टा, ढुंड-मुंड, डील-डौल में सुल्टा, मुंड और डौल।

कई शब्द संबद्ध अर्थों में एकरूप कर लिए जाते हैं अथवा नए ढाल लिए जाते हैं, जैसे :

कहाँ, यहाँ, वहाँ ; ऐसा, वैसा, जैसा, कैसा ; बायाँ, दायाँ ; गोरू, ढोरू ; साँचा, ढाँचा आदि।

कभी कभी स्वरभेद अथवा व्यंजनभेद करके शब्दों का परिवार सा बना लिया जाता है और किसी एक आधार को लेकर ध्वनिवैचित्र्य की प्रक्रिया देशी शब्दतत्व को समृद्ध करती रहती है। उदाहरण :

तुंड को आधार मानकर तोंद, टोंट, टोंटी, ठोंड़ी, टुंडा आदि; पुट से पोट, पेट, पेड़, पाट;

ठक से—ठिक, टिक, टेक, ठीक, ठोक, ठुकना, ठेका, ठौंक इत्यादि।

कई बार भाषा दारिद्र्य के कारण लोग देशी गढ़न से काम लेते हैं। बच्चे बूढ़े, स्त्री, पुरुष काम पड़ने पर अपना शब्द गढ़ लेते हैं और अनेक ऐसे शब्द

भाषा का भांडार भरने लगते हैं। बच्चों के गढ़े हुए शब्दों में काका, बाबा, पापा, मामा, मामी, बीबी, बूआ, दीदी, दादा, चाचा, लाला, नाना, बीबी, फूफी आदि उल्लेखनीय हैं। देहाती स्त्रियाँ शब्द गढ़ने में बड़ी दक्ष होती हैं। उनकी गालियों में गीदी, टुच्चा, नाठी, चोचल-हाई, छतेल, लौठा, मुस्टंडा, मौंदू, मोटा, भद्दा, आदि शुद्ध देशी गढ़न हैं।

कभी कभी खीभ या परिहास में अथवा गोपनीयता के विचार से देशी शब्द गढ़ने पड़ते हैं। टर, फिस, हट, धत्त प्रथम वर्ग में; और जुआरियों, बटेर-बाजों, कबूतरबाजों, ठगों आदि के शब्द दूसरे वर्ग में संमिलित हैं इनकी चर्चा पहले की जा चुकी है।

§ ६१६ देशी कारीगरी का नमूना एक वह भी है जिसे समन्वयायोजन (एसैंबलिंग = इधर उधर के पुर्जे लेकर अपने कारखाने में जोड़ना) कह सकते हैं। ऐसे शब्द शुद्ध देशी नहीं कहे जा सकते। उदाहरण :—

(१) दो भाषाओं के पूर्ण तत्व, जैसे रीति रिवाज, काला स्याह, धर-पकड़, खेल तमाशा, थका माँदा, हाट बाजार।

(२) एक भाषा का पूरा तत्व और दूसरी भाषा का आंशिक तत्व, जैसे थानेदार, चूहेदानी, बेधड़क;

(३) दो शब्दों के आंशिक तत्व, जैसे लाठी (लगुड़ और यष्टि के मेल से) फलाँग (फाँदना और लाँघना से) इत्यादि। इन शब्दों को वर्णसंकर (दोगले) भी कहा जा सकता है।

अन्य उदाहरण —

चोरदरवाजा	चौकीदार	चौराहा	जेबघड़ी
झंडाबरदार	डाकखाना	तिमाही	तिदरा
दिलचला	धोखेबाज	पानदान	फूलदान
मटरगश्त	मालगुदाम	मोदीखाना	मिलनसार
राजमहल	लट्ठबंद	हथियारबंद।	

हिंदी शब्दार्थ

शब्द और उसका अर्थ

§ ६२० शब्द और अर्थ का अभिन्न संबंध प्रायः भाषाशास्त्रियों ने स्वीकार किया है। इस संबंध का बड़ा भारी प्रमाण यह है कि शब्द के बिना कोई अर्थ नहीं और अर्थ के बिना कोई शब्द नहीं। जिस शब्द की कोई शक्ति नहीं, वह शब्द नहीं कहा जाता। ध्वनि सार्थक होकर ही शब्द कहलाती है। जिस ध्वनि का कोई अर्थ नहीं होता वह अस्थायी और क्षणिक होती है। उसका कोई 'ग्राहक' नहीं होता। शब्द और अर्थ के इस संबंध को आकस्मिक, अनित्य और कृत्रिम (मनुष्यकृत) माना गया है – तभी तो भाषाभेद इतने अधिक हैं और एक ही भाषा में किसी शब्द का कोई अर्थ स्थिर नहीं रह पाता। 'बूट' शब्द का अँगरेजी में अर्थ 'जूता' और हिंदी में 'चना' होता है, 'वार' का अर्थ अँगरेजी, संस्कृत, फारसी, तमिल आदि भाषाओं में भिन्न भिन्न है। 'पत्र' का अर्थ 'गिरनेवाला' से 'पत्ता', 'कागज', 'चिट्ठी', 'समाचारपत्र' हो गया है। यह बात भी विचारणीय है कि एक ही वस्तु विचार अथवा व्यापार के लिये भिन्न भिन्न भाषाओं में भिन्न भिन्न शब्द मिलते हैं, जैसे रोटी के लिये अँगरेजी में 'ब्रेड', लैटिन में 'पानिस', पुर्तगाली में 'पाव', फारसी में 'नान' और सिंधी में 'माणी' शब्द है। मिट्टी के गिलास के लिये हिंदी प्रदेश की बोलियों में ही कई शब्द हैं। शब्द और अर्थ का संबंध बनावटी है क्योंकि स्वतः शब्द में ऐसा कोई आंतरिक गुण अथवा संगठन नहीं होता जिससे ध्वनि तुरंत किसी विशिष्ट पदार्थ की द्योतक हो जाय। भाषा तो एक सामाजिक संगठन है। समाज, चाहे वह कितना ही छोटा हो और चाहे कितना ही बड़ा, जिस शब्द के लिये जो अर्थ स्वीकार करता है वही सर्वमान्य होता है। एक व्यक्ति के लिये कोई ध्वनि भले ही सार्थक हो, समाज में ग्राह्य होकर ही वह भाषा का अंग बनती है। परंतु, कोई सभा सोसाइटी बैठकर नियम नहीं बनाती कि अमुक शब्द का अमुक अर्थ होगा। व्यक्तिवाचक एवं पारिभाषिक और विशेषतया वैज्ञानिक शब्दों की बात बिल्कुल अलग है। वे तो अधिकतर बनावटी होते ही हैं परंतु जनसाधारण के मुख पर जो ध्वनि आती है वह पदार्थ ही की प्रेरणा से उठती है। पिछले प्रकरण में इसका उल्लेख किया गया है कि शब्द को पहले पहल चलानेवाला या गढ़िया किसी पदार्थ या व्यापार को देखकर अचेतन ही किन्हीं ध्वनियों का संगठन कर लेता है जिनका लगाव उस पदार्थ या व्यापार से होता है।

अतः हम कह सकते हैं कि शब्द और अर्थ का संबंध अंशतः कृत्रिम और अंशतः स्वाभाविक है। हम ध्वनिप्रतीकवाद को नितांत मिथ्या और निराधार कहकर नहीं टाल सकते। इसकी व्याख्या अधिक विस्तार के साथ आगे चलकर की जायगी। किसी भी भाषा के आधारशब्द बहुधा ध्वन्यर्थक होते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि शब्द की ध्वनि पदार्थ या व्यापार की ध्वनि से पूरा मेल खा जाय अथवा पदार्थ की ध्वनि शब्द में ठीक ठीक प्रतिध्वनित हो। ऐसा तो ध्वन्यर्थक शब्दों के एक भेद--अनुकरणात्मक शब्दों में अधिकांशतः होता है।

§ ६२१ यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना अत्यंत आवश्यक जान पड़ता है कि ध्वनिप्रतीकवाद सभी भाषाओं और सभी युगों में समान रूप से लागू नहीं होता। प्रत्येक भाषा की अपनी प्रकृति होती है, उसका ध्वनिसमूह अन्य भाषाओं से बहुत कुछ भिन्न होता है, और समय पाकर उसमें जो परिवर्तन होता है वह उस भाषा-भाषी-समाज की अपनी ही परिस्थितियों, आवश्यकताओं और ध्वनि-प्रवृत्तियों के अनुसार होता है। शब्दनिर्माण और अर्थद्योतकता में जातीयता और भौगोलिक तथा वैकासिक स्थिति का हाथ होता है। जिसे हिंदी में 'कौवा' कहते हैं, उसे अँगरेजी में 'क्रो', आइसलैंडी में 'क्राको'; वैदिक में 'कृक', संस्कृत में 'काक' (अँगरेजी में 'काक' कुक्कुट को कह दिया गया), और पंजाबी में 'कां' कहते हैं। इनके बारे में किसी को संदेह नहीं हो सकता कि ये सब शब्द अनुकरणात्मक और ध्वन्यर्थक हैं। इन शब्दों और इनके द्वारा द्योतित वस्तु-विशेष का संबंध स्पष्ट है। अँगरेजी के 'वीप', 'स्प्लैश', क्रश', 'नाक', 'क्रीप' की तुलना हिंदी के क्रमशः 'रोना', 'छपछप', 'कुचलना' 'खटखटाना' और 'रेंगना' से करके देखिए :

कई बार ध्वनिग्राहक अथवा श्रोता की तत्कालीन मनःस्थिति, प्रतिक्रिया और अनुकरणशीलता के कारण भी यह विभिन्नता उत्पन्न हो जाती है। एक ही ध्वनि को एक व्यक्ति या समाज ने 'बिलबिल' सुना और दूसरे ने 'चिल्ल'। जब इन व्यक्तियों और समाजों की बोलियाँ मिलीं और एक सामान्य भाषा का विकास हुआ तो कभी तो दोनों की सुनी हुई ध्वनियों को अर्थभेद करके रख लिया गया बिलबिलाना और चिल्लाना दोनों बने रहे। इसी तरह के शब्द भक्की और सनकी; सरकना, ढलकना आदि हैं। कभी एक ही अर्थ में दोनों के शब्द चलते रहे, जैसे भबकना और भड़कना; जलना, बलना। कभी एक को अस्वीकार कर दिया गया और दूसरा चलता रहा।

इसके अतिरिक्त इसका ध्यान भी रखना है कि एक पदार्थ के कई पक्ष हो सकते हैं और किसी भी पक्ष को लेकर उसका नाम रखा जा सकता है। अँगरेजी

में चाँद को 'मून' कहते हैं जो √ मा, मापना से संबद्ध है, संस्कृत का 'चंद्र' √चंद्, चमकना, से व्युत्पन्न है। मूल में दोनों धातु ध्वन्यर्थक हैं। ढहना, गिरना और पड़ना में एक ही क्रिया के तीन विभिन्न पक्ष हैं इसीलिये इन शब्दों के संगठन में भिन्न भिन्न ध्वनियों का प्रयोग हुआ है। यों तीनों ही ध्वनिप्रतीक हैं।

§ ६२२ पिछले प्रकरण में निरुक्ताचार्यों का मत देते हुए यह उल्लेख किया गया था कि मूल में संस्कृत के सभी शब्द अपने अर्थ को प्रकट करने में स्वतः समर्थ थे। बाद में उपसर्ग प्रत्ययादि लगने से शब्दों का ऐसा विस्तार हुआ और ध्वनिपरिवर्तन भी इतना हो गया कि शब्द और अर्थ के संबंध को सहज में जोड़ना कठिन हो गया। दूसरी बात यह भी है कि जो शब्द देशी विदेशी भाषाओं से ग्रहण किए गए, वे आर्यभाषा के ध्वनिसंगठन से तो बने नहीं थे। अतः उनके शब्दार्थ संबंध को आर्यभाषाओं की प्रकृति के अनुसार सिद्ध करना संभव नहीं है। ऐसे सब शब्दों का अर्थ से संबंध भी कृत्रिम और रूढ़ जान पड़ता है।

अर्थविकास की प्रक्रिया को हम देखेंगे तो ज्ञात होगा कि अनेक शब्द मूर्त से अमूर्त और फिर आलंकारिक अर्थ देने लगते हैं। कुछ में तो मौलिक अर्थ भी बना रहता है, लेकिन जिनका मौलिक अर्थ लुप्त हो जाता है और वस्तु भाव अथवा व्यापार से कोई संबंध परिलक्षित नहीं होता, वे शब्द भी कृत्रिम जान पड़ते हैं।

उदाहरण—'माथा ठनका' में ठनका, तथा सूत्र, बाँका और संकोच में मूल मूर्त अर्थ और विकसित अमूर्त अर्थ दोनों विद्यमान हैं, अतः शब्दार्थ की स्वाभाविकता को पहचाना जा सकता है. लेकिन बाधा, जटिल, सेज, बोध और व्यय में ध्वन्यर्थ अब लुप्त है, अतः लगता है कि इनका अर्थ कल्पित और कृत्रिम है। लेकिन इनके भी जब मूल में पहुँचकर वध, जट (जटा), शी (शय्या), बुध् (जगना), ई (वि-उपसर्ग है) का परीक्षण करते हैं तो ध्वनिप्रतीकत्व स्पष्ट होने लगता है।

उपर्युक्त विवेचना का तात्पर्य और हमारी स्थापना यह है कि हिंदी के परंपरागत तथा निजी गढ़न के शब्द प्रायः ध्वन्यर्थक हैं। जिन्हें हम रूढार्थ शब्द कहते हैं अथवा जिनका संबंध अर्थ के साथ सीधे नहीं दिखाई देता उनका भी मूल विश्लेषण और वैज्ञानिक अध्ययन करने की आवश्यकता है।

अब प्रश्न उठता है कि हिंदी की ध्वनियाँ क्या क्या अर्थ देती हैं, हिंदी की आधारभूत ध्वनियों के अर्थों का परिमाण और ध्वनिसंगठन (अथवा शब्द) में उस अर्थ का वैविध्य कैसे विकसित होता है।

§ ६२३ जिस प्रकार वैज्ञानिकों ने पदार्थ का सूक्ष्म उत्पादक तत्व खोजते खोजते परमाणु की खोज कर ली है जो उस पदार्थ से भी अधिक महत्वपूर्ण और शक्तिशाली है, इसी प्रकार शब्दशास्त्री को भाषा का वह सूक्ष्म तत्व प्राप्त करना होता है जो अर्थ का प्राणाधार है। ऋग्वेद (१।१६४।३९) का वचन है कि ऋचाएँ परम अविनाशी शब्दमय अक्षर पर ठहरी हैं जो अर्थ का मूल है। इस लिये ऋचा के अर्थ को समझने के लिये अक्षरार्थ का जानना आवश्यक है। पतंजलि मानते हैं कि सभी वर्ण अर्थवान् होते हैं। एकाक्षरी कोशों और तंत्र बीज-मंत्रों से ज्ञात होता है कि प्रत्येक ध्वनि में अर्थ निहित रहता है, लेकिन उसकी अर्थशक्ति दूसरी ध्वनियों के मेल से प्रगट होती है, जैसे प्रत्येक शब्द का अर्थ तो होता है पर वाक्य और प्रसंग में प्रयुक्त होकर ही उसकी अर्थसंगति निश्चित होती है। 'तार' का अर्थ 'मुझे कलकत्ते से तार मिला', 'बिजली का तार', 'चाशनी का तार' और 'हे भगवान्, मुझे इस भवसागर से तार' में ही ठीक तरह से स्पष्ट होता है।

§ ६२४ आधारभूत ध्वनियों के अर्थों का परीक्षण निम्नलिखित आर्य (संस्कृत-हिंदी) शब्दों में कीजिए :

स्वरध्वनियाँ व्यंजनों की सहायता के लिये प्रयुक्त होती हैं। स्वतंत्र रूप से इ निकटता के अर्थ में और उ दूरी के अर्थ में आता है, जैसे :

इस इह इद इदं इतना इधर इमि; एवं उन, ऊंचा, उकसाना, उठाना, उदास, उचक्का, उछालना, उड़ना आदि। इत उत में अर्थ का अंतर स्पष्ट है। अ की स्थिति इन दोनों के बीच में है—उदासीन और शून्य। अभावसूचक अ और अन् उपसर्गों को ही देख लीजिए। अतिरिक्त उदाहरण–अस्तु, अकेला, अटकना, अड़ियल, अंत इत्यादि।

ए में अ+इ और ओ में अ+उ के अर्थों का संयोग होता है। अ के उदासीन होने पर ए में इ और ओ में उ के अर्थ ही की प्रधानता रहती है, बल्कि ए इ अथवा ओ उ का अर्थाभेद भी हो जाता है जैसे एतना, इतना, एधर (एहर-पूर्वीहिंदी) इधर; एषणा, इच्छा; ओखली, उखली; ओज, ऊर्ध्व; ओसारा, उसारा। अर्थ के आधार अ इ उ ही हैं।

§ ६२५ व्यंजनों में महाप्राण ध्वनियाँ स्पष्टतः अर्थगर्भित हैं। 'ख' का वैदिक में अर्थ है आकाश जिससे हिंदी में अर्थ विकसित हुए हैं—शून्य या खोखला और प्रकाशमान। उदाहरण :

खल खंब खोटा खोंच खंडहर
खोना खोदना खंक खंजरी खोल
खली खिल्ला खाद खान खड़क
राख कोख उखाड़ ओखली खचा
खपना खोपड़ी खादर खरा खिलना
खेलना खरसा खिजना खिड़की खीस
देख आँख इत्यादि।

'घ' से घर्षण और घुटन के अर्थ द्योतित होते हैं, जैसे :

घसीटना घमसान घबराना घपला घहराना
घमस घनघोर घाव घिसना घिन
घिरना घुँघरू घुमड़ना घूमना घूँट
घुटन घोलना मेघ अघाना ओघ
बाघ इत्यादि।

'छ' छेदन और आच्छादन का अर्थ देता है, जैसे :

छँटना छीजना छानना छेद छीज
छेनी छुरी छेड़ छोटा छोड़ना
मच्छर बाछें पोंछना बिच्छू; एवं छाज
छाँव छीमी छालदारी छाती छाता
छत छुपना छाल छावनी छिड़कना
मूँछ ओछा छूना छोप छिलका इत्यादि

'झ' शीघ्रता का भाव बतलाता है, जैसे :—

झट झंझट झँझोड़ना झक झखना
झटकना झड़ी झड़ना ओझड़ झपट
झपकना झलकना झोंकना झाड़ू आदि।

'ठ' विकृति तथा निश्चय दो अर्थ व्यक्त करता है, जैसे :

ठग ठठरी ठड्डी ठसकना ठोकर
ठिगना ठुंठ ठेस इठलाना, ऐंठना
ठीक ठाक ठनकना

'ढ' गति की मंदता का द्योतक है, जैसे :

ढकेलना ढलकना ढहना ढीठ ढेला
ढीला ढंढोरा ढाढ़स ढेकली ढोना
ढोर मेढ़क मेंढा बूढ़ा आढ़त आदि

'थ' स्थान (आधार आदि) का अर्थ देता है, जैसे :—

थंभ थपक थामना थल थवई
थाँग थाती थान थाना पथ
थाला थाह थेगली थैली साथी
हाथ माथा उथलना ।

कई अनुकरणात्मक शब्दों में इससे 'कंपन' का अर्थ भी मिलता है, जैसे :

थप्पड़ थरथराना थलकना थलकना मथना रथ

'घ' का अर्थ धारण करना है, जैसे :

धन धौंध धान्य धरना ध्यान
धुन आधार धातु धँसना बाधा
गीध बुद्धि मेधा अधर कंधा
दूध बेधना अधीन इत्यादि ।

अनुकरणात्मक शब्दों में ध 'भय' का अर्थ देता है, जैसे :

धमकी धप्पा धमाका धड़का धक्का
धौंस धुंध धुनना आदि ।

'फ' से टूटना और बढ़ना का अर्थ प्राप्त होता है, जैसे :

फटना फड़कना फण फल फरहरा
फलाँग फसकना फँसना फाड़ना फाड़ना
फोड़ा फिरना फुंसी फुर्ती फूलना
फूँक फैलना कफ डफ अफराव
उफनना इत्यादि ।

'भ' से धोखे या रहस्य की सूचना मिलती है, जैसे :

भँवर भकसी (अँधेरा कमरा) भकुआ भक्त
भगल भंग भागना भ्चक भटकना
भड़कीला भाँड भद्दा भय भविष्य
भामिनी भानमती भूलना भूत भैरव
भीम भोंदू गंभीर उभाड़ा गर्भ
नाभि प्रभु इत्यादि ।

§ ६२६ अल्पप्राण ध्वनियों में मूर्धन्य ध्वनियाँ विकृति और लघुता का बोध कराती हैं, जैसे ;

टंटा	टका	टट्टी	टट्टू	टपका
टिक्का	टिड्डा	टीका	टुंगा	टुकड़ा
टूटना	टेंट	टेढ़ा	टोटा	टोना
नाटा	काटना	छोटा	लोटा	लट्टू
गट्ठा	मीटा	कपट	छांट	चोट
च्यूंटी	रोटी	बेटा	हिरनौटा	लोटा इत्यादि में 'ट'।

'ड' में विकृति और लघुता के अतिरिक्त हिंसा का भी अर्थ होता है :

डंका	डंक	डंडा	डकर	डाका
डटना	डपटना	डूबना	डरना	डाकना
डाँट	डाँस	डाहना	डाढ़	डिगना
डोई	साँड	गुंडा	मेढ़	पिंड
सूँड	तुंड	झंडा	भोंडा आदि। एवं	
कूड़ा	चिड़िया	भिड़	गुड़	कीड़ा
जड़	तोड़ना	मुड़ना	पिंजड़ा	भिड़ना

आदि में 'ड़'।

§ १२७ र और ल से लालित्य और कोमलता का बोध होता है ल र की अपेक्षा अधिक मधुर होता है। उदाहरण—

रक्त	रक्षा	रचना	रत	रबड़ी
रसना	रस	रंग	रात	राबा
रास	वर	स्वर	द्वार	नर
नारा, एवं	लाल	लोभ	लार	लजा
लचक	लघु	लीला	लौ	लड़का
लोपना	दुबला	बिल्ली	हिलना	खेलना
मिलना	बोल इत्यादि।			

र ल प्रायः ड ड़ के समान व्यवहार करने लगते हैं, जैसे—

राक्षस	रंक	पिंजर	रार	राहु
रीछ	रेला	लूला	लौंदा आदि में।	

§ १२८ श, ष, स हिंदी की ध्वनियाँ नहीं हैं। संस्कृत में इनका अर्थ क्रमशः प्रकाश, ज्ञान तथा पूर्णता विभिन्नता बताया गया है।

स के दो अर्थ हैं—सह (साहचर्य) एवं सु (स्वच्छ तथा सुंदर), जैसे—

संग	संगीत	सरकना	साँकर	साथी
संग्राम	सकोड़ना	सजाना	सत्ता	सत्य

सदा आदि।

ह से विकलता और उल्लास का भाव व्यक्त होता है, जैसे—

हकला	हकारना	हक्का-बक्का	हाट	हहक
हड़बड़ाना	हाथ	हरा	हर	हरि
हर्ष	हँसी	हिलना	हानि	हुलसना आदि।

§ ६२६ क, ग और त, द अनेकार्थी ध्वनियाँ हैं : भाषा में इनका प्रयोग व्यापक और सामान्य रूप से होता है। साधारणतः हिंदी 'क' का अर्थ अत्यंत अनिश्चित और जटिल है—पकड़ में नहीं आ सका है।

'ग' गत्यर्थक है, जैसे—

गंगा	गज	गौ	गाड़ी	घागरा
गोदावरी	गंडक	गया	गाना	गँवाना
गधा	गप	गलना	गिरना	गली
गाली	मग	राग आदि।		

'त' तनाव या फैलाव के अर्थ में आता है, जैसे—

तंतु	तनना	तान	तकला	तागा
तम	तरना	तन	तरंग	तर्क
ताड़	तार	तुमा	तेल	सूत आदि में।

'द' के दो अर्थ हैं देना और चमकना, जैसे—

दिन	देव	दर्द	दक्ष	दक्षिणा
देना	दाँत	दमकना	दबदबा	दया
दर्शन	दहन	दूध	दायाँ	दाम
दामिनी	देखना	दीया	दीठ	दुःख
दूत	मोद	इंदु आदि में।		

'च' छोटाई, तुच्छता अथवा ह्रास के भाव व्यक्त करता है, जैसे—

चंड	चांडाल	चिड़िया	चंपा	चमेली
चक्कर	चतुर	चपत	चप्पा	चबूतरा
चाम	चातक	चिकना	चित्र	चित्त
चिथड़ा	चुटकी	चुंगी	चीरा	चोंच
लोच	कौंच	बच्चा	मोच	कोच

मचान आदि।

'ज' जन्म, रचना अथवा उत्थान के अर्थ में आता है, जैसे—

जननी	जाना	जग	जगना	जंगल
जंजाल	जाल	जड़	जटा	जड़ना
जन	जमघट	जमना	जय	जरा
जो	जाना	जीना	जीतना	जीभ
जेठ	जूड़ा	जेवड़ी	राज	खोज
सेज	सजाना	सूजना	आदि ।	

'प' पालन, पोषण और अवलंब का अर्थ देता है, उदाहरण—

पालना	पोषण	पेट	पेड़	पीना
पकड़ना	पकाना	पैर	पद	पगड़ी
पंजर	पट	पड़ाव	पता	पत्ता
पति	परिक्रमा	पलक	पिता	पास
पोत	रोपना	ताप	सूप आदि ।	

सं० व अथवा हिंदी ब वर्तुल गति के लिये प्रयुक्त होता है, जैसे :

बड़	बाँस	बाजा	बेर	बाट
बटना	बटोरना	बांधना	बँगला	बंडी
बकना	बखेड़ा	बगूला	बटवा	बतासा
बढ़ना	कंबु आदि ।			

§ ६१० अनुनासिक व्यंजनों में ङ ञ और ण का हिंदी में स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। पश्चिमी हिंदी प्रदेश में ण न का पर्याय होता है। न और म दोनों ही बहुर्थी ध्वनियाँ हैं। किंतु शब्द के आरंभ में म से स्थिरता अथवा संपूर्णता का और न से निषेध का अर्थ द्योतित होता है। उदाहरण :

(क) मंडन, मरना, माला, मँगनी, मंडी, मंदिर, मग्न, मिट्टी, मढ़ना मसान, महान्, मही, माता, मात्रा, मिटना, मुख, मुग्ध, मूर्ख आदि।

(ख) न, नरक, नाश, निकलना, निकृष्ट, निकम्मा, निंदा, नगण्य, नीरस, न्यून, नीचा इत्यादि।

§ ६११ अब प्रश्न यह उठता है कि हिंदी में मूल ध्वनियाँ तो केवल २६ हैं (अ इ उ, क ख ग घ, च छ ज झ, ट ठ ड ढ, त थ द ध न, प फ ब भ म, य र ल व स ह), इनसे २६ या कुछ अधिक अर्थ ही तो मिल सकते हैं; (क्योंकि यह संभव है कि कुछ ध्वनियों के अन्य अर्थ भी हों), तो फिर संसार भर के पदार्थों और व्यापारों के अर्थ किस प्रकार प्रगट हो जाते हैं ? इसका उत्तर यह

है कि २६ ध्वनियों से जिस प्रकार लाखों शब्द बन जाते हैं, इसी प्रकार इन २६ मूल अर्थों से लाखों अर्थ विकसित होते हैं। ध्वनियों के संचय-क्रमचय और हेरफेर से अर्थों में हेर फेर होता है। इस प्रक्रिया को रासायनिक नियमों की तुलना में समझा जा सकता है। प्रत्येक पदार्थ किसी एक तत्त्व से अथवा दो या अधिक तत्वों के मेल से बनता है। इनमें से प्रत्येक तत्व किन्हीं विशिष्ट गुणों से युक्त होता है। किसी मिश्रण की विशेषता यह होती है कि उसका प्रत्येक तत्व अन्य तत्वों के साथ मिश्रित रहने पर भी, अपने मूल गुणों को अक्षुण्ण रखता है। कोई तत्व दूसरे तत्व के गुणों को परिवर्तित नहीं करता। बालू के कण और आटा का संमिश्रण ऐसा ही होगा। दूसरे वे पदार्थ होते हैं जिनके विभिन्न तत्व परिवर्तित हो जाते हैं, जैसे समान मात्रा में दही और मधु मिलाने से विष हो जाता है। इसी प्रकार ध्वनिसंचय द्वारा दो तरह की प्रतिक्रियाएँ होती हैं—एक से ध्वन्यार्थक अर्थ अलग अलग प्रगट रहता है और दूसरी प्रतिक्रिया से नए अर्थ का जन्म होता है। प्रथम शब्दार्थ की प्रारंभिक अवस्था है और दूसरी उसके विकास की सीढ़ी है। 'मन' में म से स्थिरता और न के जोड़ से 'स्थिरता का निषेध' (अर्थात् चांचल्य) का अर्थ प्राप्त है, नग में ग से गति और न से निषेध (अर्थात् अचलता) द्योतित होता है। मन और नग में अपने अपने तत्वों के गुण अक्षुण्ण रहे हैं। यदि 'प' पालन के अर्थ में आता है तो फिर पीटना का अर्थ क्यों मेल नहीं खाता? यदि 'च' लघुता का द्योतक है तो फिर चंगा और चढ़ना में यह अर्थ क्यों नहीं घटता? इन अपवादों का समाधान अर्थविकास अथवा अर्थपरिवर्तन की दृष्टि से किया जा सकता है।। इसके अतिरिक्त यह बात भी उल्लेखनीय है कि कुछ ध्वनियाँ (जैसे महाप्राण और मूर्धन्य) इतनी प्रबल होती हैं कि शब्द में कहीं भी रहकर वे आगे पीछे की ध्वनि के अर्थ पर छा जाती हैं।

इस प्रकार २६ ध्वनियों के संचय, क्रमचय से लाखों शब्द बन सकते हैं, साथ ही किसी भी नए पदार्थ, भाव अथवा व्यापार के लिये बिलकुल नया शब्द गढ़ा जा सकता है। नए शब्द गढ़े अवश्य जाते हैं, भाषाओं में कम और बोलियों में कुछ अधिक। कुछ नए शब्द देशी विदेशी पदार्थों के साथ देश विदेश ही से आ जाते हैं। किंतु नए नए शब्दों की वृद्धि से भाषा कठिन और जटिल होती जाती है। क्योंकि इनसे स्मरण शक्ति पर अधिक बोझ पड़ता है।

अर्थविस्तार के उपाय

§ ४३२ भाषा के भांडार को बढ़ाने के लिये कुछ अन्य उपाय काम में लाए जाते हैं जो अधिक सुगम और सहज हैं: (१) कभी तो पुराने शब्दों को नए अर्थ दिए जाते हैं, जैसे तिल से तेल बना होगा पर अब सरसों, आँवला,

लौंग आदि से वैसा ही पदार्थ पाया गया तो वह भी तैल हुआ, यहाँ तक कि बालू से तेल निकालने का दावा भी होने लगा। अथवा प्रवीण वही था जो वीणा बजाने में चतुर था, पर अब किसी भी काम में कुशल हो तो प्रवीण कहा जाता है। (२) कभी दो शब्दों के जोड़ से (अर्थात् समास द्वारा) नया अर्थ निकाल लिया जाता है, जैसे चिड़ीमार, हथकड़ी, नैनसुख (कपड़ा), मोमबत्ती, पंचवटी, चौराहा, पंचांग, कालमुहा, गोधूलि, समाजवाद इत्यादि। (३) प्रायः वर्तमान शब्दों के साथ (आगे, पीछे बीच में) ध्वनियाँ जोड़कर शब्दविस्तार से अर्थविस्तार और शब्दपरिवर्तन द्वारा अर्थपरिवर्तन लाया जाता है। उदाहरण :

चंड	चंडी	चंडू	चांडाल	प्रचंड
चंट	चाँटा	तड़	तड़ातड़	तड़क
तड़का	तड़प	ताड़	तोड़,	नल
नली	नाल	नाला	नाली	नालकी
प्रणाली	नलका	नलुआ	नलिन	नलिनी
आलू	कचालू	सतालू	हिसालू	रतालू
पिंडालू	आलू बुखारा आदि।			

किसी भी भाषा में जब उक्त तीन प्रतिक्रियाएँ अबाध रूप में होती हैं तभी उसकी शक्ति बढ़ती है। अँगरेजी में इनके अनेक उदाहरण मिलते हैं, यद्यपि यह अवश्य है कि प्रत्ययों से बने शब्दों की प्रधानता पाई जाती है। जर्मन भाषा में भी तीनों प्रक्रियाएँ चलती हैं, लेकिन उसमें समासयुक्त शब्दों की प्रधानता है। संस्कृत में तीनों का संतुलन पाया जाता है। हिंदी से संबंध होने के कारण संस्कृत के उदाहरण यदि कुछ अधिक मात्रा में दिए जायँ तो अनुचित न होगा। बल्कि ऐसे उदाहरणों से प्रस्तुत प्रसंग अधिक स्पष्ट होगा।

§ ३११ केवल अर्थविस्तार

अंक (चिह्न, गिनती, कक्षर, गोद, नाटक का परिच्छेद),

अक्ष (पासे का खेल, गाड़ी का धुरा, पृथ्वी के बीचोबीच की कल्पित रेखा, ग्रहों के भ्रमण करने का मार्ग),

अन्वय (संबंध, वंश, संतान, शब्दक्रम),

अभिधान (कथन, शब्दकोश),

अर्घ्य (पूजा के योग्य, पूजापात्र),

असुर (देवता, राक्षस),

आगम (आगमन, आय, वर्णवृद्धि, शास्त्र),

आशा (दिशा, इच्छा),
आसन (स्थिति, बैठक, बैठने का ढंग, बैठने की वस्तु),
इड़ा (गाय, पृथ्वी, स्तुति, संतोष, बुद्धि),
उपदेश (परामर्श, दीक्षा, शिक्षा, हित की बात, मंत्र, कथन),
उर (वक्षस्थल, हृदय),
उल्का (ज्वाला, मशाल, टूटता तारा),
करण (कार्य, साधन, इंद्रिय, शरीर, व्याकरण में द्वारा अर्थ का कारक, वह संख्या जिसका वर्गमूल न निकाला जा सके),
कला (सौंदर्य, शिल्प, अंश, तीन का समय, ब्याज),
कांड (बाण, टुकड़ा, अध्याय, घटना),
काव्य (कविता, रसयुक्त वाक्य, कवितग्रंथ),
कूट (झूठ, छल, व्यंग्य, अग्रभाग, मुकुट, कंगूरा, पर्वतशिखर),
कोटि (नोक, धनुष का अगला भाग, तलवार की धार, करोड़, श्रेणी),
कोष (कली, म्यान, अंडा, पात्र, भांडार),
गुरु (भारी, बड़ा, आचार्य, अध्यापक, मंत्र का उपदेश देनेवाला, बृहस्पति),
घन (मेघ, समूह, विस्तार),
चक्र (पहिया, जाँता, चाक, बवंडर, मंडली, समूह),
चरण (पैर, चौथा भाग),
जटा (जड़ के सूत्र, उलझे बाल),
जलज (जल में उत्पन्न, कमल),
तंत्र (उपाय, तंतु, आगम, शासन),
तीर्थ (पुण्य, पुण्यस्थान),
तुला (सादृश्य, तराजू),
दंश (दाँत, दाँत का काटा, सर्पादि का काटा, वैर),
दक्षिण (दाहिना, निपुण, दक्षिण दिशा),
दंड (लाठी, दमन, शासन, सजा, घड़ी),
द्रव्य (पिघलनेवाला, पदार्थ, धन),
दव (वन, वनाग्नि),
दिव्य (प्रकाशमान, सुंदर, अलौकिक, स्वर्गीय),
दुर्भिक्ष (जब भिक्षा भी कठिनाई से मिले, अकाल),
प्रारब्ध (प्रारंभ किया हुआ, भाग्य),
द्वार (साधन, मार्ग, छेद, दरवाजा),
धर्म (नियम, पुण्य),

ध्वनि (नाद, गूढ़ार्थ),
नमन (झुकाव, प्रणाम),
पक्ष (पहलू, डैना, १५ दिन का काल, सेनादल),
पटल (परत, आवरण, छप्पर),
पद (पैर, प्रदेश, चिह्न, दर्जा, कविता का चरण, भजन),
परमार्थ (उत्कृष्ट पदार्थ, मोक्ष),
पशु (जीव, चार पैर का जीव),
प्रजा (संतति, जनसमूह),
प्रथा (ख्याति, रीति),
प्रांत (अंत, किनारा, दिशा, प्रदेश),
फल (वनस्पति का बीजकोष, लाभ, परिणाम),
बलि (चढ़ावा, बलि का पशु),
भव (जन्म, संसार, स्रष्टा),
भूत (अतीत, प्राणी, मृत प्राणी, पिशाच, प्रेत),
भेद (तोड़ फोड़, अंतर, प्रकार),
भ्रम (भ्रमण, संदेह),
मल (मैल, विकार, पाप),
माला (हार, पंक्ति),
मुद्रा (चिह्न, मोहर, सोने का सिक्का, अंगभंगी),
मृग (कोई पशु, जंगली पशु, हिरन),
योग (मेल, जोड़, उपाय, ध्यान),
रज (धूलि, पराग, मासिक धर्म),
रस (स्वाद, जलीय अंश, शरीरस्थ धातुविशेष, भस्म),
लोक (जन, प्रदेश, संसार),
वर्ण (रंग, जाति, अक्षर)
विग्रह (विभाग, कलह)
शकुन (पक्षी, शुभाशुभ लक्षण),
शीर्ष (सिर, चोटी, अगला भाग)
साधु (अच्छा, साधु पुरुष),
सार (जल, धन, बल, अभिप्राय, परिणाम),
सूत्र (तंतु, व्यवस्था, संक्षिप्त वाक्य)।

उल्लिखित उदाहरणों में सब प्रकार के अर्थपरिवर्तन मिलेंगे जो किसी भी भाषा के विकासक्रम में प्रायः होते हैं। इन परिवर्तनों का वर्गीकरण और विश्लेषण आगे चलकर किया जायगा। संस्कृत शब्दों का अर्थपरिवर्तन आधुनिक

आर्यभाषाओं में भी हुआ है। हिंदी में अनेक तत्सम शब्दों के मौलिक अर्थ नहीं रह गए। उदाहरण :—

अवकाश (सं० अवसर, अंतराल, हिं०, छुट्टी);
अंगार (सं० कोयला, हिं० जलता कोयला);
आभारी (सं० बोझ उठानेवाला, हिं० कृतज्ञ);
आंदोलन (सं० झूलना, हिं० हलचल);
उपन्यास (सं० धरोहर, प्रमाण, हिं० लंबी कथा);
उद्योग (सं० कार्य, श्रम हिं० शिल्पकार्य);
पट (सं० कपड़ा, हिं० परदा);
पाठक (सं० पढ़ानेवाला, हिं० पढ़नेवाला); इत्यादि।

समास द्वारा अर्थविस्तार

§ ६३४ ऐसे समासयुक्त पद जिनमें दो शब्दों के मेल से एक नए अर्थ की प्राप्ति होती है, विशेषतया उल्लेखनीय हैं। उदाहरण :—

अकर्म (पाप), अकाल (दुर्भिक्ष), अकिंचन (दरिद्र),
अग्निकोण (पूर्व और दक्षिण का कोण), अग्रजन्मा (ब्राह्मण),
अजीर्ण (अपच), अजगर (जो बकरियों को निगल जाता है, अजदहा)
अनंग (कामदेव), अंत्यज (शूद्र), अंतेवासी (शिष्य),
अलिजिह्वा (घंटी), इतिवृत्त (कथा), इंद्रजाल (बाजीगरी)
गजपुट (एक एक हाथ लंबा चौड़ा गहरा गड्ढा),
चक्रवाक (चकवा), चक्रवृद्धि (दर सूद), चतुरंग (शतरंज का खेल),
चंद्रहास (तलवार), जलकंटक (सिंघाड़ा), त्रिपथगा (गंगा),
दग्धाक्षर (पिंगल में झ ह, र, भ, ष), देवनागरी (एक लिपि),
नरक चतुर्दशी (कार्तिक बदी चतुर्दशी), पंचांग (पत्रा),
पदार्थ (वस्तु), पांडुलिपि (पहला लेख), प्रांतभूमि (सीढ़ी),
वनमानुष (एक प्रकार का बंदर), वलीमुख (बंदर),
राजद्वार (न्यायालय), रामफल (शरीफा),
रामरस (नमक), रामरज (लाल मिट्टी), लघुशंका (पेशाब)
षड्यंत्र (साजिश), हलधर (बलराम) इत्यादि।

उपसर्ग, अंतःसर्ग तथा प्रत्यय द्वारा अर्थविस्तार

§ ६३५ उपसर्ग, अंतःसर्ग और प्रत्यय द्वारा शब्दविस्तार करके अर्थविस्तार अति, अधि, अनु, अप, अपि, अभि, अव, आ, उद्, उप, दुर्, दुस्, निर्, निर्, निस्, परा, परि, प्र, प्रति, प्र, वि, सम्–संस्कृत के २१ उपसर्ग हैं। इनके

अतिरिक्त बहुत से गति शब्द हैं—सत्, असत्, साक्षात्, अंतः, आविः, प्रादुः, तिरः, पुरः आदि—जो धातुओं के पूर्व जुड़कर भिन्न भिन्न अर्थों की सृष्टि करते हैं। कुछ उपसर्ग अर्थ का विस्तार करते हैं और कुछ एक परिवर्तन ला देते हैं। उदाहरणः—

अति (उल्लंघन, अधिकता) अतिक्रम, अतिनिद्रा, परंतु अतिसार, अतीत। अधि (ऊपर), अधिराज, अधिकार, अधिपति ; परंतु अध्याय, अध्यापन। अनु (पीछे, साथ), अनुगामी, अनुज, अनुनासिक; परंतु अनुरोध, अनुवाद, अनुशीलन अप (दूर) अपहरण, अपयश, अपव्यय ; परंतु अपराध, अपवर्ग, अपादान। अपि (निकट) अपिकर्ण, अपिकक्ष ; परंतु अपिधान, अप्यर्ध। अभि (ओर) अभिगमन, अभिरुचि, अभिमत; परंतु अभ्यागत, अभिनय, अभियोग- अव (दूर, नीचे) अवतार, अवनति, अवरोध; परंतु अवसर, अवस्था, अवधि। आ (तक, कम) आजीवन, आमोचन ; परंतु आहार, आवेश, आज्ञा। उद् (ऊपर) उद्गम, उन्नति, उच्चारण ; परंतु उद्यान, उत्सव, उदाहरण, उत्कंठा उप (पास) उपासना, उपयोग, उपाख्यान ; परंतु उपक्रम, उपकंठ, उपहार। दुर् (बुरा) दुराचार, दुराग्रह, दुरुपयोग ; परंतु दुर्ग, दुर्भिक्ष। दुस् (कठिन) दुष्कर, दुष्काल, दुःसह ; परंतु दुश्चर्म (कोढ़ी), दुश्शंस। नि (नीचे आदि) निपात, निक्षेप ; परंतु निगम, निकाय, निधि, नियम। निर् (बाहर, बिना) निर्गम, निर्दोष, निर्झर ; परंतु निर्देश, निर्वंश। निस् (” ”) निष्कासन, निःशंक, निस्संदेह ; परंतु निश्चय, निष्ठा। परा (पीछे, उलटा) पराजय, पराकोटि ; परंतु पराभव, परामर्श। परि (चारों ओर) परिखा, परिचारिका ; परंतु परिवार, परिणाम, परिश्रम। प्र (अधिक) प्रणाम, प्रबोध, प्रच्छन्न ; परंतु प्रस्ताव, प्रधान, प्रवीण। प्रति (ओर, उलटे) प्रतिगमन, प्रत्यक्ष ; परंतु प्रतिमा, प्रतिज्ञा, प्रतिहारी। वि (विशेष, अलग) वियोग, विज्ञान, विकल ; परंतु विकार, विचार, वितरण। सम् (अच्छी तरह) संतुष्ट, संरक्षक ; परंतु संशय, संदेह, समाधि।

'गति' शब्दों के संयोग से भी अर्थविस्तार में सहायता ली जाती है। उदाहरण—

अंतर्हित	अंतःकरण	आविष्कार	आविर्भाव
तिरस्कार	तिरोभाव	पुरस्कार	पुरोहित
पुरातन	प्रादुर्भाव	प्राक्तन	प्राक्कथन
बहिष्कार	सहपाठी	सटीक	स्वयंवर
सत्कार	साक्षात्कार	स्वीकार	नमस्कार इत्यादि।

§ ६३६ अंतर्गत—द्वारा शब्दपरिवर्तन करके अर्थपरिवर्तन करने की प्रक्रिया काम उदाहरणों में प्राप्त होती है, जैसे निमिष (पलक मारना) से निमेष (पलक मारने का समय, क्षण); भव, चर, कर से भाव, चार, कार; सुहृद (मित्र) से सौहार्द (मैत्री); क्षत्र (क्षत्रिय) से क्षात्र (क्षत्रियोचित); अर्थात् प्रेरणार्थक अथवा सकर्मक क्रिया बनाने में तथा अञ्, ञ्, अण्, उण् और ण प्रत्यय लगाकर तद्धितांत शब्द बनाने में अंतर्सर्ग (गुणवृद्धि) लगता है। अन्य उदाहरण—

ओषधि	,	औषधि	;	कषाय	,	काषाय	;
कुतूहल	,	कौतूहल	;	ग्रीष्म	,	ग्रैष्म	;
चलति	,	चालयति	;	चरण	,	चारण	;
तपस्	,	तापस्	;	पंचाल	,	पांचाल	;
परिषद्	,	पारिषद्	;	बिल्व	,	बैल्व	;
पुत्र	;	पौत्र	;	पुष्यति	,	पोषयति	;
भरत	,	भारत	;	लिखति	,	लेखयति	;
लोह	,	लौह	;	वसुदेव	,	वासुदेव	;
व्याकरण	,	वैयाकरण	;	वसन	,	वासन इत्यादि।	

§ ६३७ संस्कृत में १०० से अधिक तद्धित प्रत्यय और लगभग इतने ही कृत् प्रत्यय हैं जिनकी सहायता से अर्थों का विस्तार होता है। इनके योग से संज्ञाएँ, विशेषण और क्रियाविशेषण ही नहीं बनते, बल्कि तद्धितांत शब्दों में अपत्य, संबंध, अधिकार, भाव, कर्म, गुण, रंग, सादृश्य, समूह, विकार, उत्पत्ति, परिमाण, मात्रा, संख्या, हित, काल, अतिशयता, बड़ाई, छोटाई, अनुकंपा, सत्ता, निवास, शील, मति, धर्म, योग्यता, संस्कार, क्रीड़ा, आदि एवं कृदंत शब्दों में कर्म की 'योग्यता', 'अपेक्षा', 'निष्ठा', (समाप्ति) 'विद्यमानता' आदि विशेषण रूप में; प्रयोजन और पूर्वकालिकता क्रियाविशेषण रूप में और कर्ता, भाव, शील, धर्म, साधुकारिता आदि संज्ञा रूप में प्राप्त होती है। इनके अतिरिक्त पुल्लिंग से स्त्रीलिंग एकवचन से द्विवचन और बहुवचन बनाने के प्रत्यय अलग हैं। संज्ञा, क्रिया, सर्वनामादि में कारक, कालादि के भेद दिखाने के प्रत्यय भी हैं।

§ ६३८ निम्नलिखित उदाहरणों से हिंदी शब्दभांडार के अर्थविकास पर भी प्रकाश पड़ेगा।

तद्धित प्रत्यय

अतिशयता-लघुतर, लघुतम, श्रेयस, श्रेष्ठ।

अनुकंपा-पुत्रक, भिक्षुक।

अपत्यार्थ–दाशरथि, भागिनेय, राजन्य, वासुदेव, सौमित्र ।
अधिकार–दंडी, रूपवान्, रसवती, श्रीमान्, श्रीमती ।
उत्पत्ति–प्राच्य, उदीच्य, पैतृक, मागध, मूलक ।
कर्म–कर्मण्य, कर्मण्यता, कर्मठ, कर्मकार, कर्मचारी ।
कर्म–काव्य, होत्र, अपूर्व, मौन ।
काल–मासिक, सायंप्रातिक, चैत्र, संध्या, अमावास्या; पौर्णमासी, चिरंतन ।
गुण–पैशुन्य, आधिपत्य, ब्राह्मणवत्, अश्वक ।
धर्म–पौरोहित्य, होत्र, माहिष, छांदोग्य ।
निवास–माथुर, भटनागर, शाक्य, काश्मीर्य ।
परिमाण–सेरमात्र, पंचमात्र, पौरुष (आदमी भर) ।
प्रयोजन–श्राद्ध, पार्थिव, आकालिका, स्वर्गीय ।
बड़ाई–कर्मठ, स्वामी, पचतिरूप ।
छोटाई–विद्वत्कल्प, शूद्रक, राधक, कुटीर ।
भाव–शिशुत्व, शिशुता, शैशव, गरिमा, शौच ।
मति–आस्तिक, शैव, गृहमेध्य ।
योग्यता–कर्मण्य, न्याय्य, दंड्य, भाग्य, अर्घ्य ।
रंग–काषाय, मांजिष्ठ, कार्दमिक, नील, पीतक, हारिद्र ।
विशेष–विशेषता, विशेषतः, विशिष्ट, वैशिष्ट्य, विशिष्टता ।
विकार–पैप्पल, भस्ममय, सुवर्णमयी, जीर्ण ।
शील–आपूपिक, तापस, चौर ।
संबंध–मौल, कालीन, ग्रैष्म, मार्त्तिकः (मिट्टी से बना) ।
समूह–बाक (बकों का समूह), गजता, ग्रामता, मायूर, पारात ।
सत्ता–दंत्य, रहस्य, वंश्य ।
संस्कार–तैलिक, भ्राष्ट्र ।
संख्या–द्वितय, त्रितय, चतुष्क, द्वितीय ।
सादृश्य–आंगुलिक, गौणिक, मौनिक, काकतालीय, पैत्रवत् ।
स्त्री (प्रत्यय)–अजा, मुषिका, कोकिला, कर्त्री, राज्ञी, किशोरी, नदी, नर्तकी, गोपालिका, इंद्राणी, ब्राह्मणी, मृगी ।
हित–दंत्य, गव्य, वत्सीय, सार्वजनिक, विश्वजनीन ।
क्रीड़ा–दांडा, मौष्टा ।
कृदंत शब्दों में अर्थवैविध्य के निम्नलिखित उदाहरण विचारणीय हैं :—

§ ६३६ भूतकालिक (हिंदी में इनका उपयोग क्रिया और विशेषण के रूप में किया जाता है)—पठित, स्नात, भूत, पतित, कृत, त्यक्त, तृप्त, शक्त, सिक्त

शीर्ण, जीर्ण, म्लान, गान, ख्यात, ध्यात, श्रुत, गत। इनसे इ प्रत्यय लगकर भाववाचक संज्ञाएँ बनती हैं—गति, धृति, श्रुति, शक्ति, तृप्ति, कृति, ख्याति इत्यादि।

वर्तमान और भविष्यत् काल के कृदंतों में कर्मवाच्य का हिंदी में उपयोग होता है—पठ्यमान, उड्डीयमान, क्रियमाण, गम्यमान, पठिष्यमान, करिष्यमाण इत्यादि।

हिंदी में संस्कृत के ढंग पर पूर्वकालिक क्रिया (गत्वा, दृष्ट्वा) अथवा नैमित्तिक क्रिया (गंतु, पठितुं) नहीं बनती।

कृदंतों के अन्य अर्थ नीचे दिए जा रहे हैं—

कर्ता नंदन, वर्धन, प्रियः, भारहार, जलचर, यशस्करी, दिवाकर, सेनानी जनमेजय।

भाव-लाभ, काम, भय प्रशंसा, निश्चय, स्तुति, विपत्, पिपासा, वेदना।

धर्म-भिक्षु, अध्यापक, त्यागी, यती।

निम्नलिखित छः सात धातुओं के साथ (उदाहरणार्थ) कृत प्रत्यय लगकर बने शब्दों को देखकर अनुमान किया जा सकता है कि अर्थविस्तार की प्रक्रिया किस प्रकार चलती है।

स्था – स्थित, स्थायी, स्थान, स्थेय, स्थापक, स्थातव्य, स्थाता, स्थाम, स्थाणु, स्थिर, स्थाल, स्थाली, स्थावर, स्थापक, स्थाप्य, स्थापना, स्थापनीय, स्थापिता, स्थापयिता, स्थविर, स्थविष्ठ, इत्यादि।

वस् - उषित, उष्ट, वसित्, उष्य, वस, वास, वासक, वासी, वास्य, वसन, वासन, वासनीय, वसति, वस्तु, वास्तव्य, वास्तु, वस्ता, वासयिता।

मुच्—मोच्य, मोचन, मोचनीय, मुक्ति, मोक्ष्य, मोक्षणीय, मुमुक्षु, मुमुक्षा, मोचयिता, मोचयितव्य।

धृ—धृत, धृत्य, धर, धरण, धरणीय, धरा, धरित्री, धर्ता, धरिता, धर्म, धार, धारक, धारी, धार्य, धारण, धारणीय, धीर, धुर, धृति, ध्रुव, दिधीर्षा, धारयता, धारयिष्णु।

जन्—जन, जात, जनक, जन्य, जनन, जाति, जनी, जनु, जंतु, जनितव्य, जातु, जाता, जनिता, जनित्र, जन्म, जनिष्ठ, जनिष्णु, जानि, जन्या, जानुक, जनयिता।

चर्—चरित, चीर्ण, चर्म, चर, चरा, चरक, चर्य, चर्या, चरण, चरणीय, चर्तव्य, चरितव्य, चरिता, चरित्र, चरिष्णु, चार, चारक, चारी, चार्य, चारण, चारणीय, चर्चर, चराचर।

कृ—कृत, कृत्य, कार, करण, करणीय, करिष्ठ, करिष्णु, करुण, कर्तव्य, कर्ता, कर्म, कर्बर, कारक, कारी, कार्य, कारण, कारणीय, कृत, कृत्या, कृति, कृतु, कृत्नु, कृत्रिम, क्रतु, क्रिया, चिकीर्षा, चिकीर्षु, कारयिता इत्यादि।

§ २४० हिंदी के लिये यह सौभाग्य की बात है कि उसे संस्कृत की यह संचित की हुई अधिकांश संपत्ति प्राप्त हुई है। २०वीं शती के उत्तरार्ध के प्रथम दशक में ही देखा जाय तो सहस्रों शब्द ज्ञान विज्ञान, कला, शासन आदि से संबंधित संस्कृत पदों में उपसर्ग, अंतःसर्ग और प्रत्यय जोड़कर बनाए गए हैं जिनके कारण हिंदी आज इतनी संपन्न और समर्थ हो गई है। वरना, खड़ी-बोली हिंदी के शब्दार्थ भंडार की परीक्षा की जाय तो ज्ञात होगा कि समास और उपसर्ग द्वारा शब्दनिर्माण की शक्ति तो उसमें नहीं के बराबर थी। अंतःसर्ग हिंदी में संस्कृत की अपेक्षा कुछ अधिक हैं। प्रत्यय हैं तो पर्याप्त मात्रा में, किंतु उनसे बननेवाले शब्द सीमित हैं—यह नहीं कि जिन धातुओं अथवा पदों के चाहो जोड़कर शब्दविस्तार कर लो।। अतः हिंदी के पास एक ही उपाय शेष था कि एक ही शब्द को कई कई अर्थ देकर काम चलाया जाय।

हिंदी ने संस्कृत के उपसर्गयुक्त शब्दों का विश्लेषण किए बिना उन्हें समूचे रूप में ग्रहण किया है, जैसे :—

सं० उत्खात, हिं० उखाड़, सं० उज्ज्वल, हिं० उजला;
सं० उपाध्याय, हिं० ओझा; सं० निष्कर्म, हिं० निकम्मा;
सं० अनुसार हिं० अनुहार; सं० अवगुण, हिं० औगुन;
सं० आशा, हिं० आसा, इत्यादि।

हिंदी शब्दों के साथ संस्कृत उपसर्गों का प्रयोग नहीं होता। हिंदी में अ- (और अन-), कु- (और क-), सु- (और स-) देशी और तद्भव शब्दों के साथ मिलते तो हैं पर ऐसे शब्दों की संख्या बहुत अधिक नहीं है। उदाहरण—

अकाज	अछूत	अटल	अथाह	अबेर
अनपढ़	अनजान	अनमोला	अनहोनी	अनगढ़
कुराह	कुचैला	कुपढ़	कुढंग	सपाट
सुघड़	सुडौल	सुढंग इत्यादि।		

अंतःसर्गों द्वारा शब्दविस्तार करके अर्थविस्तार करने की प्रक्रिया देशी भाषा की अपनी विशेषता है। इसके साथ ध्वनिपरिवर्तन को भी लिया जाय तो एक शृंखला सी बन जाती है :—

आगे,	आगा,	अगला,	अगाड़ी,	अगुआ,	अगोड़ी,
आलू,	आड़ू	कढ़ना,	कुढ़ना,	गैल,	गली,

कंकाल, कंगाल; ग्रंथ, गाँठ, गठ, गठन, गुँठली, गुँथना, गुथना, गौंठ, गोटी, गट्टा, गुट्टी, गुड्डा आदि. छुँटना, छड़ना, छींटा, छटना, छुटना, छूटना, छुट्टी, छोड़ना, छेड़ना, जटा, जूट; झाड़, झाड़ू, बड़, डला, डेला, ढेला; थान, थाना, ठाँव, थाँग, थाँभ, पुट, पुड़ा, पोठरी, पिटारी, पेट, पोटा; फट, फूट, फोड़, फांट, फुट; बनना, बनाना, बिनना, बुनना, शाल, सालू, साड़ी इत्यादि।

हिंदी प्रत्ययों के द्वारा अर्थसिद्धि

§ ६४१ हिंदी के प्रत्ययों का वर्गीकरण करके उनके द्वारा अर्थसिद्धि की प्रक्रिया को नीचे स्पष्ट किया जा रहा है—

संज्ञा बनानेवाले प्रत्यय— -आ, -ऐत, -ऐया, -आर कर्तृवाचक प्रत्यय हैं। इनमें -आ अभ्यस्त कर्ता का भाव व्यक्त करने में प्रयुक्त होता है, जैसे उचक्का, घुड़चढ़ा, बड़बोला, कटफोड़ा, रोना आदि में। -ऐत से 'मारने में दक्ष' अर्थ प्राप्त होता है जैसे लड़ैत, लठैत, बरछैत, भलैत, दंगैत, डकैत। -इया रोजगार करने वाला अर्थ देता है, जैसे जड़िया, धुनिया, लखिया। -आर (सं० कारः) भी इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है, जैसे सुनार, लोहार, चमार। -आरा और-आरी इसी प्रत्यय के विस्तार हैं—बनिजारा, घसियारा, भिखारी, कोठारी। -एरा भी इसी का एक रूप है—कमेरा, कसेरा, लुटेरा, ठठेरा, सँपेरा।

-आक, -अंकू -आका, -आकू एक ही प्रत्यय के विविध रूप हैं, जैसे उड़ाक, उड़ंकू, उड़ाका, उड़ाकू, लड़ाकू में। इनसे 'वाला' अर्थ की वृद्धि होती है। इसी अर्थ में भ्रष्टता प्रकट करने के लिये अक्कड़ प्रत्यय (जो -आक का विस्तार है) भुलक्कड़, कुदक्कड़, आदि शब्दों में मिलता है। -ऊ में घृणय भाव संमिलित है, जैसे रट्टू, उजाड़, फुसलाऊ, खाऊ, मारू आदि में। मछुआ में -उआ इसी ऊ का विस्तार है। -ई (सं०—इन्) और—वाला या—वाल (सं० पालकः पाल) अधिकार का भाव व्यक्त करते हैं। उदाहरण—तेली, ओझी, धोबी; टोपीवाला, कोठीवाला, कोतवाल, इत्यादि।

§ ६४२ भाववाचक संज्ञाएँ बनानेवाले प्रत्यय हैं -न (अथवा -ना), -ई, -आई, -आवट (अथवा-आहट), -आस, -प (अथवा पा, पन) -त (अथवा-ती) और -आवा (अथवा-आत)-न से कार्य, -ई से कार्य और स्थिति, -आवट से कर्म की स्थिति, -आस से कार्य की इच्छा, -प से गुण की स्थिति, -त से गुण और -आवा से प्रेरणा का भाव प्रकट होता है। उदाहरण—

देन	लेन,	मिलन,	खाना;	हँसी,	बोली,
करनी,	ठंढाई,	गरमी	चतुराई;	मिलावट,	सजावट,

घबराहट; प्यास, मिठास, उँघास, रुआस; मिलाप,
बुढ़ापा, बड़प्पन, लड़कपन; बचत, खपत, लागत,
बढ़ती घटती; बुलावा, बचाव, चढ़ावा, बहाव।

इनमें से कुछेक के द्वारा क्रिया से संबद्ध वस्तु का बोध भी होता है। यह इन शब्दों के अर्थविकास की दूसरी स्थिति है, जैसे—

भोजन ढुलाई रँगाई बचत लागत

–क (अथवा –का) और –ई समूहवाचक संज्ञाएँ भी बनाते हैं, जैसे चौक, इक्का, दुक्का, चौका; बत्तीसी, बीसी, पचीसी।

§ ६४३ करणवाची प्रत्यय हिंदी में वही हैं जो कर्तृवाचक, जैसे झाड़न, बेलन, छाजन, ओढ़ना, बेलना, कतरनी, धौंकनी, लेखनी; झाड़ू, चप्पू; झूला, ठेला, फाँसा, रेती, गाँसी, चिमटी आदि।

–न (अथवा –ना), –आना, –आड़ा (अथवा –आड़ी), –क (अथवा –का) और –औना (सं० पात्रकः) स्थानवाची संज्ञाएँ बनानेवाले प्रत्यय हैं, जैसे धरन, झरना, रसना, पालना; राजपूताना, गोंडवाना; पिछवाड़ा, पिछाड़ी, अगाड़ी; बैठक, फाटक, सड़क, मायका; कठौता, कजरौटा इत्यादि।

§ ६४४ संबंधवाची प्रत्ययों में स्त्रीप्रत्यय-ई (लड़की, ब्राह्मणी, काकी में), –इया (कुतिया, चुहिया, बँदरिया, बुढ़िया में), –इन (सुनारिन, घोबिन, बाघिन, दुल्हिन में), –नी और –आनी (मोरनी, ऊँटनी, नटनी, देवरानी, जेठानी में) और अपत्यवाची –जा (भतीजा, भानजा में), –एरा (ककेरा, चचेरा, ममेरा, मौसेरा में), और –ओटा अथवा –ओड़ा, ओला (बिलोटा, हिरनौटा, सँपोला आदि में) उल्लेखनीय हैं। अँगूठी और नकेल में भी संबंधवाची प्रत्यय हैं।

हीनता, लघुता और ऊनता के लिये भी स्त्री-प्रत्यय और अपत्यवाची प्रत्यय लगते हैं, जैसे—पहाड़ी, गोली, लुटिया, खटिया; रोंगटा, टुकड़ा, ब्राह्मणोटा, हियरा, सँपोला, नँटोला, खटोला आदि। इनके अतिरिक्त –ऊ अथवा –उआ (दब्बू, पेटू, बछुआ, टहलुआ) उल्लेखनीय हैं। यही प्रत्यय छोटों के प्रति स्नेहसूचक भी होते हैं जैसे - बाँकड़ा, शंकरा, हरिया, भइया, बिटिया, बच्चू। कभी कभी इनसे रोग की सूचना मिलती है जैसे नकड़ा, धनेला, गठिया, हलदिया।

§ ६४५ –ई बहुत ही समृद्ध प्रत्यय है जो कई प्रकार के अर्थों का बोध कराता है, जैसे - लड़की (स्त्री), पहाड़ी (लघु), हँसी (भाव), तेली (कर्ता),

हिंदुस्तानी (भाषा, निवासी, संबंध), बोली (कर्म) आदि में । -आ भी अनेकार्थी प्रत्यय है, जैसे भूँजा (कर्ता), पूजा (भाव), मेला (समूह), बाला (स्त्री), झूला (साधन) बलदेवा (लघुता) ।

-ई और -आ से विशेषण भी बनते हैं, जैसे—देशी, रूसी, सरकारी, सैलानी, भूखा, झूठा, प्यारा, ठंढा । अन्य विशेषण प्रत्ययों में -ऊ से प्रवृत्ति (खाऊ, बेचू, टिकाऊ), -इयल से हीनता (अड़ियल, सड़ियल, मरियल), -ओड़ा या -ओरा से लघुता (हँसोड़ा, भगोड़ा, चटोरा), -ना से स्वभाव (रोना, लदना, लड़ना, हँसना), -ला, -ईला, -एला आदि से 'भरा हुआ' (धुँधला, बावला, पनीला, गठीला, दँतैला, बनैला) -ओं से संख्यवाची पूर्णता (दोनों, चारों, सैकड़ों), -रा, ला और वाँ क्रम पहला, अगला, तीसरा, पाँचवाँ), -हरा से पर्त (इकहरा, दुहरा) -ऊ से घृणा (पेटू, नक्कू, बाजारू, झगड़ालू), -आल से उच्चता (दयाल, लठियाल, डढियाल) और -वाला से अधिकार (धोतीवाला, खानेवाला; बोलियों में -हार- होनहार) का बोध होता है ।

§ ६४६ शब्द में किसी प्रकार का विस्तार किए बिना अर्थविस्तार करना प्रत्येक विकासशील भाषा का स्वभाव है, और हिंदी का क्षेत्र तो इतना विस्तृत है कि उसके लिये यह प्रक्रिया अत्यंत आवश्यक और स्वाभाविक है । संस्कृत और हिंदी के अभिधानों का तुलनात्मक अध्ययन करने से ज्ञात होगा कि क्या तत्सम शब्द और क्या तद्भव-शब्द, प्रायः सबमें अर्थों की वृद्धि हुई है । नीचे वृहत् हिंदी कोश के केवल एक पृष्ठ के तत्सम शब्दों के उदाहरण ले लीजिए :—

गीति – (क) छोटा गीत, (ख) एक मात्रिक छंद;

गीथा —(क) गीत, (ख) वाणी;

गीर्ण—(क) निगला हुआ, (ख) वर्णित;

गीष्पति—(क) बृहस्पति, (ख) पंडित;

गुंज —(क) भौंरे की गुंजार, (ख) गुच्छा;

गुंज—(क) भौंरे की गुंजार, (ख) गुनगुनाना, (ग) कलरव;

गुंजा—(क) घुँघची, (ख) गुंजार, (ग) पटह, (घ) मदिरालय, (ङ) चिंतन,

(च) एक विषैला पौधा;

गुंठन—(क) ढकना, (ख) घूँघट, (ग) छिपाव, (घ) लेपन;

गुंडक– (क) तैलपात्र, (ख) धूल मिला आटा, (ग) मंद स्वर;

गुंफ—(क) गूँथना, (ख) सजावट, (ग) गलमुच्छा, (घ) बाजूबंद;

गुंफन—(क) गूँथना, (ख) सुंदर, (ग) अर्थानुकूल शब्दयोजना ।

एक अन्य पृष्ठ के तद्भव शब्दों के अर्थ उसी कोश में देखकर तुलना कीजिए —

दोगा—एक तरह का छपा हुआ लिहाफ, पानी में घुला हुआ चूना ;
दोच—क्लेश, असमंजस, दबाव ;
दोन—दोआब, दो पहाड़ों के बीच का भूभाग, संगम, दो वस्तुओं का मेल, अनाज की एक माप, काठ का स्तूप ,
दोह—दोहने की क्रिया, दूध, दुग्धपात्र, लाभ ,
दोहरा—दो परतोंवाला, दुगुना।

इस प्रकार शब्दो को अनेक अर्थछायाएँ देना प्रत्येक भाषा की स्वाभाविक और आवश्यक गति है। इससे स्मरणशक्ति पर बोझ नहीं पड़ता और शब्द के व्यवहार में लोच बनी रहती है।

§ ६४७ अर्थविकास की प्रक्रिया में कई बार शब्दार्थसंबंध में परिवर्तन हो जाता है, जैसे बसना (सं० वस्) से बसन का अर्थ वस्त्र और बासन का अर्थ बर्तन होता है, अथवा गोष्ठी वास्तव में गौओं का झुंड था बाद में मनोरंजन के लिये जुटे साथियों का समूह और अब कोई 'सभा' या 'बैठक' है। कभी तो शब्दार्थसंबंध मूल से भिन्न हो जाता है, जैसे अरबी में, 'खस्म' का अर्थ है 'शत्रु' पर हिंदी में 'पति, स्वामी' और कभी उस संबंध का पक्ष परिवर्तित हो जाता है, जैसे पाँच वट वृक्षों के समूह या स्थान को 'पंचवटी' कहा जायगा, लेकिन पंचवटी रामायणकाल से ही नासिक में उस स्थान का नाम है जहाँ वनवास में राम, लक्ष्मण और सीता रहे थे, भले ही आज वहाँ एक भी वट वृक्ष नहीं पाया जाता।

§ ६४८ इन परिवर्तनों में मुख्यतः तीन भेद किए जा सकते हैं—अर्थसंकोच, अर्थविस्तार और संबंधांतरण। संबंधांतरण के कई प्रकार हैं, जैसे अपकर्ष, उत्कर्ष, मूर्तिकरण, अमूर्तिकरण, अंगागी अंतरण, साहचर्यांतरण, सदांतरण, विकासमान अंतरण, व्याकरणगत अंतरण। इन सबकी व्याख्या आगे की गई है।

§ ६४९ अर्थसंकोच ध्वन्यात्मक शब्दों की रचना में हमने देखा कि श्रोता की कल्पना किसी वस्तु या व्यापार में किन्हीं ध्वनियों का संगठन मानकर उस वस्तु या व्यापार की संज्ञा निश्चित कर देती है। इसी प्रकार किसी वस्तु में कोई गुण या व्यापार देखकर उसका गुणवाची या व्यापारवाची नाम निर्धारित कर दिया जाता है। भले ही वह गुण या व्यापार अन्य वस्तुओं में भी पाया जाता है। अर्थात् शब्द का संबंध व्यापक रूप में अनेक पदार्थों के साथ जोड़ा जा सकता है, लेकिन शब्द की सृष्टि के दिन से ही उसका संबंध वस्तुविशेष अथवा व्यापारविशेष

के साथ जुड़ जाता है। निम्नलिखित शब्दों के यौगिक अर्थ और रूढ़ अर्थ की तुलना की जाय तो ज्ञात होगा कि आरंभ से ही अर्थसंकोच चला आ रहा है—

पावक (पवित्र करनेवाला), अग्नि ; मोदक (प्रसन्न करनेवाला), लड्डू ;
मौन (मुनि का गुण), चुप ; धान्य (धन से संबद्ध), अन्न ;
सर्प (जो सरकता है), साँप ; छंद (आनंददायक), कविता ;
कुंजर (जो कुंज में चलता है), हाथी ; बाढ़ (बढ़ने की क्रिया), जलावेग ;
लगान (जो लगाया गया), कर ; इत्यादि।

§ ६५० प्रायः उपसर्ग अथवा प्रत्यय ऐसे हैं जो अर्थसंकोच ला देते हैं। संस्कृत और हिंदी के निम्नलिखित उदाहरण स्पष्ट हैं—

वृह (बढ़ना) से ब्रह्म, ब्रह्मी, ब्राह्मी, ब्राह्मण ;
भू (होना) से भाव, प्रभाव, भवन, भव्य ;
हृ (ले जाना) से आहार, प्रहार, उपहार ;
भ्रम (घूमना) से भ्रमर ;
(अथवा, मांस, मसूड़ा, मस्सा ;
सेंदुर (लाल सीसा), सेंदुरी (लाल गाय), सेंदुरिया
(लाल फूलोंवाला पौधा) ;
पुंज (ढेर), पूँजी (मूलधन) ;
पियर (पीला), पियरी (पीले रंग की धोती) ; इत्यादि।

विभिन्न उपसर्ग प्रत्यय लगाकर, तत्सम तद्भव रूपों में रहकर, देशी विदेशी के प्रचलन से, अथवा किन्हीं अन्य कारणों से जब भाषा में समानार्थक शब्द जमा होने लगते हैं, तो उनमें कभी कभी अर्थभेद आवश्यक हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप युगल शब्दों में एक का अर्थसंकोच हो जाता है। उदाहरण—

प्रसार और अभिसार ; भावक (प्रभावशील), भाविक (सहज), भावुक (भावावेगयुक्त) ; भात (उबला चावल) और भत्ता (दाल चावल के लिये अतिरिक्त व्यय) ; गर्भिणी (गर्भवती) और गाभिन (गर्भवती गाय भैंस) ; चूर्ण (पीसा हुआ पदार्थ) और चून (आटा) ; संस्करण (एडीशन, आवृत्ति) संस्कार (परिष्कार) ; दूध और खीर (सं० क्षीर से) ; बीज और दाना (फा० से) ; वैद्य, हकीम और डाक्टर।

§ ६५१ अर्थविकास नानार्थी शब्द कभी कभी अपनी अस्पष्टता के कारण भाषा को असह्य होने लगते हैं और उनमें अर्थवैशिष्ट्य आवश्यक हो जाता है, तो अन्य अर्थ लुप्त हो जाते हैं। जैसे—सं० उष्ट्र (भैंसा, ऊँट), हिं० ऊँट (एक ही अर्थ रह गया है) ; सं० ऋक्ष (नक्षत्र, रीछ, ऋषि), हिं० रीछ ; सं० गो (इंद्रिय, पृथ्वी, गाय इत्यादि), हिं० गो (गाय) ; सं० आदर्श (दर्पण, प्रति-

लिपि, टीका, अनुकरणीय बात), हिं० आरसी (दर्पण), आदर्श (अनुकरणीय बात); सं० आशा (दिशा, इच्छा), हिं० आशा अथवा आस (इच्छा) सं० अवतार (उतार; रूप, उत्थान, अड्डा, लक्ष्य, भूमिका, अनुवाद, देवता का जन्म), हिं० अवतार (देवता का जन्म); सं० अवधि (ध्यान, सीमा, समय, विभाग, गड्ढा, पड़ोस), हिं० अवधि (काल की सीमा) इत्यादि । इस प्रकार एक शब्द के विभिन्न अर्थों में से एक प्रचलित अर्थ सुनिश्चित हो जाता है और अन्य अर्थ विलुप्त हो जाते हैं ।

§ ६५२ कुछ शब्द पहले पूरी जाति के लिये प्रयुक्त होते थे, समय पाकर वे उस जाति के एक वर्ग अथवा एक भाग के लिये प्रयुक्त होने लगते हैं। संबंध संकोच के ये उदाहरण स्पष्ट हैं —

मृग—(सं० पशु) हिं० हिरन ; मुरगा (फा० पक्षी), हिं० कुक्कुट ; मदक—(सं० नशीला), हिं० अफीम और पान का मिश्रण ; खाजा—(सं० खाद्य) हिं० एक मिठाई ; मंड (सं० मैल), हिं० माँड़ का मेल ; अन्न—(सं० अद् खाना से), हिं० चना, गेहूँ आदि ; सं० लोह (धातु) हिं० लोहा । हलुवा –(अरबी मिठाई), हिं० मिष्ठान्न विशेष ।

§ ६५३ कभी कभी एक शब्द अपने आस पास के संदर्भों को आत्मसात् कर लेता है । इस प्रकार समास के एक अवयव, विशेषण, विशेष्य आदि के लोप से अर्थसंकोच की यह प्रक्रिया सहज और सामान्य रूप से चलती रहती है ।

(क) पत्र = समाचारपत्र ; संपादक = पत्रसंपादक ;
सामग्री = हवनसामग्री ; मंजन = दंतमंजन ;
जन्माष्टमी = कृष्णजन्माष्टमी ; मानस = रामचरितमानस ; इत्यादि

(ख) लगन = शुभ लगन ; मुहूर्त = शुभ मुहूर्त ;
चाल = खोटी चाल ; गंध = बुरी गंध ;
ढंगी = टेढ़ा ढंगी ; चलित्तर = दूषित चरित्र ; इत्यादि ।

(ग) दुलड़ा = दोलड़ा हार ; मध्यमा = मध्यमा परीक्षा ;
तिपौलिया = तिमंजिला मकान ; गाढ़ा = गाढ़ा (मोटा) कपड़ा ;
इटालियन = एक विशेष इटालियन कपड़ा ;

अरबी = अरबी घोड़ा ; खरी - खरी = खरी खरी बातें इत्यादि ।

इसी प्रक्रिया के कारण बहुत से विशेषण संज्ञा के रूप में प्रयुक्त होने लगते हैं, जैसे बाँझ = बाँझ औरत ; सती = सती स्त्री ; छोटे-बड़े = छोटे बड़े आदमी ; रूसी = रूसी भाषा ; इत्यादि ।

§ ६५४ प्रत्येक व्यवसाय, प्रत्येक वर्ग और प्रत्येक विशेषज्ञ अर्थसंकोच करके अपनी पारिभाषिक शब्दावली सिद्ध करता है । 'गोली' तो कोई गोल

वस्तु हो सकती है, लेकिन दर्जी, क्रिकेट के खिलाड़ी और शिकारी या सैनिक के लिये इसका संबंध सीमित और विशिष्ट वस्तु से होता है। बोली का अर्थ साधारण व्यक्ति के लिये, भाषावैज्ञानिक के लिये और नीलाम करनेवाले के लिये अपनी अपनी सीमा के अंतर्गत विशिष्ट होता है। पुस्तकसंपादक, पुजारी, चेचक से ग्रस्त व्यक्ति और विवाहार्थी के लिये 'टीका' शब्द का अर्थ संकुचित होता है। अर्थसंकोच अर्थवैविध्य का एक कारण और किसी भी भाषा की संपन्नता का परिचायक होता है। सामान्य बोलचाल और विद्वानों की भाषा से कुछ और उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

भाँवरी (घुमाव) = वर वधू द्वारा अग्निपरिक्रमा।

मुँहदिखाई (मुँह दिखाने की क्रिया)—वर के संबंधियों द्वारा वधू को मुँह दिखाने का उपहार।

लाठ—(सं० यष्टि, लकड़ी) गन्ना पेरने की मशीन या कोल्हू का रौलर।

गौना (सं० गमन)—विवाह के कुछ काल बाद दुलहिन का ससुराल जाना।

पाटी (सं० पट्टिका, लकड़ी का टुकड़ा)—चारपाई की दोनों बगल की लकड़ियाँ।

पाँस (सं० पांशु, धूल)—राख, गोबर आदि की खाद, कुएँ के नीचे की बलुई मिट्टी।

जीभी (सं० जिह्वा)—ताँबे पीतल आदि का पत्तर जिससे जीभ साफ की जाती है।

विग्रह (फूट)—राजनीति में 'युद्ध' और व्याकरण में 'शब्दविश्लेषण'।

संधि (जोड़)—राजनीति में 'शांति' और व्याकरण में 'ध्वनिसंहति'।

पटल (आवरण)—चिकित्साशास्त्र में 'आँखों का एक रोग' और शरीर-रचना शास्त्र में तिल या ऐसा 'चिह्न', लेखनकला में 'अध्याय', फोटोग्राफी में झिल्ली।

लिंग (चिह्न)—व्याकरण में 'स्त्रीपुरुषादि भेद'; शैवमत में 'देवमूर्ति'; न्यायशास्त्र में 'साधक हेतु' इत्यादि। प्रायः पारिभाषिक शब्द इसी कोटि के हैं।

§ ६५५ धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में प्रायः शब्दों का अर्थसंकोच हुआ है, जैसे श्राद्ध, लीला, यात्रा, मंदिर, संकीर्तन, मुहूर्त, प्रसाद, संध्या, यज्ञ, एवं मुंडन, गौना (सं० गमन), बरसी (सं० वार्षिकी), क्रिया कर्म, बरत (सं० व्रत = प्रतिज्ञा), द्वाराचार, सगाई, शादी (फा० प्रसन्नता) इत्यादि।

§ ६५६ सांप्रदायिक क्षेत्रों में सीमित होने के कारण कभी कभी शब्दार्थ-संबंध संकुचित हो जाता है। महाराजा और बादशाह का एक ही अर्थ है, लेकिन नेपाल के शासक महाराजा हैं, अफगानिस्तान के बादशाह। इसी प्रकार लिपि

और तारीख, उपवास (व्रत) और रोजा, उपासना, और नमाज, आदि के अर्थ की सीमा है।

§ ६५७ जातिवाचक संज्ञा का व्यक्तिवाचक संज्ञा बन जाना भी अर्थसंकोच का ही निदर्शन है; जैसे दीवाली (दीपों की पंक्ति), दशहरा (दसवाँ दिन), हिजरी (छोड़ा हुआ), गदर (विद्रोह), लखदाता (लाख का दान करनेवाला), बीकानेर (सुंदर नगर), वंशीधर (बाँसुरी धारण करनेवाला) आदि। देवी-देवताओं के नाम, कवियों के उपनाम और कुछ महापुरुषों की उपाधियाँ व्यक्तिवाचक हो जाती हैं। उदाहरण —

शिव	गौरी	पार्वती	भगवती	लंबोदर
संकटमोचन	कुंभकर्ण	गिरिधारी	कृष्ण	हलधर
हनुमान	गोपाल	निराला	सुमन	बच्चन
पंत	नलिन	सितारेहिंद	भारतेंदु	विक्रमादित्य
अकबर	शाहजहाँ इत्यादि।			

अर्थविस्तार

§ ६५८ ऋषि वात्स्यायन का कथन है कि सभी शब्द मूलतः वर्ग या जाति के द्योतक होते हैं, उनका सापेक्षिक प्रयोग उनके संबंध को सीमित कर देता है। इस बात को यों कहा जा सकता है कि भाषा में सापेक्षता और सुनिश्चितता लाने के लिये अर्थसंकोच की प्रवृत्ति बढ़ती रहती है। विकासशील भाषा में अर्थसंकोच आवश्यक भी है। जिस प्रकार किसी भी भाषा मे विशेषणों की अधिकता उसकी संपन्नता का परिचय देता है (और विशेषण विशेष्य के संबंध को संकुचित और सुनिश्चित करते हैं), उसी प्रकार अर्थसंकोच से उस भाषा का व्यवहार स्थिर और समृद्ध होता है। अतः अर्थसंकोच की अपेक्षा अर्थविस्तार की प्रक्रिया कम होती है; क्योंकि भाषा का लक्ष्य विचारों को अधिक से अधिक स्पष्ट रूप में व्यक्त करना होता है। अब भी हमारी भाषा में ऐसे कई शब्द हैं जिनका संबंध व्यापक है, जैसे वस्तु (चीज), आदमी, बात, बहुत अच्छा आदि। साहित्यिक भाषा की अपेक्षा बोलचाल में ऐसे शब्दों का आधिक्य होता है, और उनका प्रयोग भी सुलभ और व्यापक होता है। साहित्यिक भाषा ठीक ठीक अर्थ के द्योतक शब्दों का चुनाव करती है।

§ ६५९ लेकिन, जैसा पहले कहा जा चुका है, भाषा नए भावों, पदार्थों और व्यापारों के लिये सदा नए शब्द नहीं गढ़ती। कई बार वह पुराने शब्दों से अपना काम निकाल लेती है। जैसा कि 'ग्राम' शब्द का उच्चारण

और प्रयोग सीख जाता है तो अमरूद, नारंगी, सेब, नाशपाती, माल्टा, सबको 'आम' कहता फिरता है। पानी के लिये जब 'मम्मा' या 'माई' का शब्द प्रयोग करने लगता है तो तेल, दूध इत्यादि अनेक द्रव पदार्थों के लिये 'माई' ही कहता है। बाद में वह आम, अमरूद, नारंगी और पानी, दूध तथा तेल का भेद जान लेता है तो उनके लिये विशिष्ट शब्दार्थ संबंध निश्चित कर लेता है; किंतु चिरकाल तक वह अपने इने गिने शब्दों का अर्थविस्तार ही करता रहता है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से शब्दो की यह वृत्ति अनेक अवस्थाओं की भाषाओं में पाई जाती है। रूप, कार्य अथवा संबंध की यथार्थ अथवा कल्पित समानता के कारण कोई शब्द दूसरे पदार्थों अथवा व्यापारों के लिये प्रयुक्त होने लगता है। 'टिकट' रेलवे टिकट, पास, स्टैंप, रसीद, बल्कि किसी भी पुर्जे के लिये प्रयुक्त होने लगा है। 'काँटा', पेड़, तराजू तथा मछली के काँटे के लिये समान रूप से चलता है, बल्कि बाधा भी काँटा है।

अन्य उदाहरण—

कुर्सी बनाना, बाल बनाना, काम बनाना, किसी को बनाना में 'बनाना';
काम करना, साफ करना, पार करना, राज करना, रोटी करना और घर करना मे 'करना';

दूध, पशुओं का दूध, पौधों का सफेद रस;
वर (चुना हुआ) पति, दूल्हा,
श्वसुर (पति का पिता, पति अथवा पत्नी का पिता;

आँख, प्राणी, गन्ने और आलू तक की मान ली गई है, बल्कि कोई छिद्र हो अथवा कोई उसी तरह का चिह्न हो, जैसे मोरपंख पर, तो भी वह आँख है। चूहा, बिल्ली, घोड़ा, तोता आदि कई पदार्थों के नाम भी हैं।

§ ६६० कुछ शब्द आलंकारिक प्रयोग द्वारा अर्थविस्तार पाते हैं, जैसे ऊपर के उदाहरणों में आँख और काँटा।

अन्य उदाहरण—

चूडामणि (सिर का भूषण), सर्वोत्तम,
चप्पा (चार अंगल), थोड़ी जगह;
चोला (कुरता), शरीर;
लाठी (लकड़ी), सहारा;
घट (घड़ा), शरीर, हृदय;
चंद्र (चाँद), सुंदर इत्यादि।

§ ६६१ कभी कभी शब्दों में अर्थ को सीमित करने का जो विशेषण भाव होता है उसका लोप हो जाने से अर्थ को व्यापकता प्राप्त हो जाती है, जैसे घोटक (अरियल घोड़ा), घोड़ा ; गवेषणा (गाय की खोज), खोज ; गोष्ठी (गायों का जमाव), जमाव ; स्थाली (मिट्टी का बर्तन), थाली ।

§ ६६२ कई व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ जातिवाचक हो जाती है, जैसे 'यशोदा हमारे घर की लक्ष्मी है' में लक्ष्मी का अर्थ 'सौभाग्य लानेवाली' ; 'कलियुग में भीम' में भीम का अर्थ वीर । इसी प्रकार विभीषण = द्रोही ; मजनूँ = दुबला-पतला आदमी ; शंकराचार्य = शंकर द्वारा चलाए गए पंथ के मुखिया । राम, कृष्ण, हरि, मोहन, गंगा, राधा आदि विशिष्ट देवी देवताओं के नाम सामान्य व्यक्तियों के नाम होकर अर्थविस्तार पा गए हैं। दामाशाह, शेखचिल्ली, लालबुझक्कड़ आदि लोकवार्ताओं के व्यक्तिवाचक नाम भी इसी कोटि में आते हैं। इसी प्रकार के कुछ जातीय नाम हैं जो भ्रांति के कारण अन्य जातियों पर भी लागू होते हैं, जैसे फिरंगी (मूलतः फ्रैंक), यवन (मूलतः यूनानी), बनिया (मूलतः व्यापारी चमारों की एक जाति) इत्यादि । कई शब्द किसी वर्ग के एक विभाग से संबद्ध होते हुए भी संपूर्ण वर्ग के लिये प्रयुक्त होने लगते हैं, जैसे माई (सं० मातृ, माँ), महिला ; दाम (फा० से, ताँबे का एक सिक्का), मूल्य ; रुपया (१०० पैसे का सिक्का), धन ; भाई (सं० भ्रातृ), मित्र, संबंधी ; (फा० स्याह, काला) किसी भी रंग की मसि ।

संबंधांतरण

§ ६६४ अपकर्षोत्कर्ष—शब्दार्थसंबंध का अंतरण इसलिये स्वाभाविक रूप से हो जाता है कि कार्य और कारण, पूर्ण और अंश, स्थान और उसकी उपज आदि का परस्पर घनिष्ठ संबंध है। दो समान विचारों अथवा एक ही विचार के दो पहलुओं में अर्थांतरण हो जाता है। संगति का प्रभाव भी शब्दार्थ पर पड़ता है। अच्छी संगति से शब्द का अर्थ अच्छा और बुरी संगति से बुरा हो जाता है। इसी कारण अर्थोत्कर्ष और अर्थापकर्ष होता है। कृष्ण, कान्ह का अर्थ तो है 'काला', लेकिन भगवान् कृष्ण के संबंध से लोग कृष्णदास और कान्ह-चंद (काले चाँद) बनने में गर्व मानते हैं। भीष्म और भीम का अर्थ तो है 'भयानक', लेकिन महापुरुषों की संगति के कारण इनका अर्थ योद्धा और दृढ़प्रतिज्ञ किया जाता है। धर्म के प्रभाव से भी शब्द में उत्कर्ष आता है, जैसे जाप, मंदिर, पाठ, कलश, कुंभ, मुक्ति, ग्रंथ आदि में।

गालियों के स्नेहपूर्ण व्यवहार से 'बुद्धू' और 'पागल' जैसे शब्दों में अपमानित का भाव नहीं रह गया है ।

विशेषक शब्द का लोप होने पर भी, विशेषक भाव विद्यमान रहने से अनेक साधारण शब्दों में अर्थोत्कर्ष पाया जाता है। मंदिर का मूल अर्थ है घर, पर देवमंदिर के 'देव' शब्द का लोप हो जाने के उपरांत भी देवमंदिर का भाव बना रहा है। इस प्रकार महल = राजमहल ; प्रासाद = राजप्रासाद ; त्यौहार = शुभ त्यौहार ; मुहूर्त = शुभ मुहूर्त ; कुलीन = उच्च कुल का ; केशिनी = बड़े केशोंवाली ; नाम = अच्छा नाम, यश ; आदि।

इनकी तुलना उन शब्दों से की जा सकती है जिनमें का हीन विशेषण लुप्त हो जाने से अर्थोत्कर्ष आ गया है, जैसे—भांडा (मूलतः मिट्टी का बर्तन), बर्तन; गिलास (काँच का बर्तन), किसी धातु का गिलास ; कपड़ा (सं० कर्पट, पुराना कपड़ा), वस्त्र ; इत्यादि।

§ ६६५ जिस प्रकार मनुष्य पर बुरी संगति का प्रभाव जल्दी पड़ता है, उसी प्रकार शब्दों पर भी। भाषा में अर्थोत्कर्ष की अपेक्षा अर्थापकर्ष के उदाहरण बहुत अधिक मिलते हैं। जयचंद, विभीषण आदि के पीछे एक इतिहास की परंपरा है। 'अंत्यज' के यौगिक और रूढ़ अर्थ में कितना अंतर है। 'दासता' शब्द का जो अर्थ है उसके पीछे दासवृत्ति से संबद्ध अनेक संगतियाँ हैं। राष्ट्रपति कहते हैं कि मैं जनता का 'दास' हूँ, और रोम में भी 'दास' होते थे, भारत में पठान बादशाहों के 'दास' भी थे। सब में अर्थ का भेद है। छोकरा का अर्थ तो है लड़का, लेकिन नौकरों चाकरों के प्रति प्रयुक्त होते रहने के कारण 'अरे छोकरे, ओ लड़के' में कितनी हीनार्थता आ गई है। तिरस्कार और हीनता के द्योतक अनेक शब्द अनैतिकता और भ्रष्टता के द्योतक बन जाते हैं, जैसे सुअर (दुष्ट), गुंडा (गोंड से), दरिद्र (हिं० दलिद्दर), हेठा, घटिया (मूलार्थ 'कम') चांडाल, चमार (जैसे चोर चमार में), इत्यादि।

जीवन में कुछ ऐसे व्यवसाय और परिस्थितियाँ हैं जिनमें पड़कर बड़े बड़े लोग क्षुद्र माने जाते हैं और उनसे संबद्ध शब्द भी क्षुद्र अर्थ देने लगते हैं, जैसे जंगली, देवदासी चौबे, पाडे (जैसे रेलवे स्टेशनों पर पानी पाडे), महाजन (= बनिया), गँवार, देहाती, इत्यादि।

अशिक्षित वर्ग के अनेक शब्द शिक्षित समाज द्वारा असभ्य माने जाते हैं, जैसे लंड, घंटा, पादना, झाड़ा, इत्यादि।

'पाखंड' शब्द की कहानी बड़ी रोचक है। पूर्वकाल में बौद्ध संन्यासियों का एक संप्रदाय पाखंड (पाषंड) कहलाता था। सम्राट् अशोक ने उन्हें यह नाम प्रदान किया था तथा वे इन लोगों को राज्य की ओर से विशेष सहायता भी देते थे। मनु ने इस शब्द का प्रयोग अ-ब्राह्मण के अर्थ में किया। कालांतर

में वैष्णवों ने इसका प्रयोग अपने से भिन्न मतवालों के लिये करना प्रारंभ किया। अब इसका सामान्य अर्थ ढोंगी, अविश्वासी, पापी, दुष्ट हो गया है।

* कभी कभी विशेषक के लुप्त हो जाने पर भी उसका भाव शब्द में संमिलित कर लिया गया है, जैसे चाल (गति)=टेढ़ी चाल ;

गंध; बू=दुर्गंध या बदबू, ढंगी = चालबाज, लती (अरबी, आदी)= शरारती, संसर्ग=संभोग ; पीना=मदिरा पीना ; इत्यादि।

कुछ शब्दों में, हमारी सांस्कृतिक चिंतनप्रणाली के फलस्वरूप अपकर्षण हो गया है। पुरुष का वास्तविक अर्थ है 'आत्मा', भूत का अर्थ है बीता हुआ, प्राणी ; प्रेत का अर्थ है 'मृत' और कृपण का मूल अर्थ 'दयनीय' तथा अराति का 'अनुदार' है। अनेक शब्द अमंगल माने गए हैं। 'मर गया' कहने के बजाय 'गत हो गया', 'स्वर्ग को चला गया', 'उसके प्राण निकल गए' आदि भाषित प्रयुक्त होते हैं। कई स्थानों के नाम लेना वर्गविशेष में निषिद्ध है।

अनेक विदेशी शब्दों का अर्थापकर्ष देखने में आता है, जैसे चालाक= चालबाज ; खलीफा=नाई ; बावरची=रसोइया ; जमादार=भंगी ; दारोगा= थानेदार ; दलाल (मूलतः मैनेजर); कानूनगो (मूलतः वकील)=देहाती अधिकारी ; वकील (मूलतः दंडाधिकारी) ; खानकी (मूलतः घर की)=वेश्या।

प्रायः नौकरों और कर्मियों से काम निकालने के लिये उन्हें खुशामदी नाम दिए गए हैं। ऐसे नाम भी अपने स्थान से भ्रष्ट हो गए हैं, जैसे रसोइया के लिये महाराज (सम्राट्) ; प्रत्येक पुरुष के लिये श्रीमान् (लक्ष्मीवान्), चाहे बेचारे के पास दो कौड़ी भी न हों ; नाई के लिये राजाजी ; सभा में बैठे ऐरे-गैरे सबके लिये देवियो और सज्जनो !

विनोद के लिये प्रयुक्त शब्द भी इसी कोटि में आते हैं, जैसे हजरत (=बदमाश) ; राय साहब ; (=चापलूस) ; भगत जी (=चालबाज) ; इत्यादि।

दलबंदी, जातीय विद्वेष, धार्मिक सांप्रदायिकता और स्वार्थों में पड़कर कई शब्द अर्थापकर्ष को प्राप्त होते हैं। उदाहरण—मुस्लिमलीगी, हबशी, यवन, बर्बर, दस्यु, गोरा, टामी, फिरंगी, हिंदू (फारसी शब्दकोश में=चोर) जापानी माल, लाहौरी ठग, बनारसी ठग, चार्वाक (मूलतः वाक्पटु), साम्राज्यवाद, फैसिज्म, नाजीज्म, बोल्शेविज्म आदि।

अतिशयोक्ति से शब्दों की शक्ति हीन हो जाती है। विराट् सभा, सर्वोत्तम, उत्कर्ष, अत्यंत, अतीव, भव्य, अद्भुत, अपूर्व, अनुपम आदि शब्दों का अर्थ मानों कुंठित हो गया है।

व्यंग्य के कारण भी अर्थापकर्ष होता है, जैसे सदासुहागिन (=वेश्या); वारांगना (=वेश्या); भोला =(मूर्ख); सीधा (बुद्धू)।

पिछले प्रकरण में कहा जा चुका है कि—ऊ, ड़ा आदि प्रत्यय भी अर्थ में अपकर्ष ला देते हैं, जैसे बातूनी, दब्बू लँगड़ा इत्यादि।

§ ६६६ **मूर्तीकरण-अमूर्तीकरण**—मूर्त वस्तुओं और व्यापारों से संबद्ध शब्दों को अमूर्त भावों और व्यापारों के लिये प्रयुक्त करने की प्रवृत्ति भाषा के आदि काल से चली आ रही है। कुछ भाषाशास्त्रियों का विचार है कि भाषा की प्राथमिक अवस्था में हमारा शब्दभांडार मूर्त वस्तुओं से संबद्ध होता है; अमूर्त की कल्पना ही किसी जाति या समाज के सांस्कृतिक विकास की परिचायक है, अतः अमूर्त भावों और व्यापारों से संबद्ध शब्दावली का विकास बाद में होता है। इसी विकासक्रम में अनेक मूर्त अर्थों का अमूर्तीकरण होता है। शूल का मूल; 'काँटा', 'फल का' 'बीजकोष', पक्ष का 'पंख', आग का 'अग्नि', जी का 'जीव', लाठी का 'लकड़ी' है, अमूर्तीकरण होकर इनका क्रमशः 'पीड़ा' 'लाभ या परिणाम', 'और', 'शरारत', 'अभिलाषा' और 'सहारा' हो गया है।

कई मूर्त शब्दों का आलंकारिक प्रयोग उनके अर्थ में अमूर्तता ला देता है उदाहरण :—निमग्न (डूबा हुआ)=व्यस्त ; भार (बोझ)=उत्तरदायित्व ; पारा (पारद धातु)=क्रोध ; गधा (गर्दभ)=मूर्ख ; डाह (जलना)=ईर्ष्या पूँछ=उपाधि ; छाँह=आश्रय ; इत्यादि।

अमूर्तीकरण बहुधा मुहावरों में प्राप्त होता है, जैसे :–

आँख दिखाना	सिर फिरना	कान लगाना
दिल देना	हाथ मारना	माथा ठनकना
पाँव भारी होना	उँगली दिखाना	दाँत निकलना
पानी पानी होना	आग बरसना	लहू पसीना एक करना
तारे गिनना	हाथों के तोते उड़ना	जामे से बाहर होना

इत्यादि।

कई क्रियापद मूर्त और अमूर्त दोनों अर्थ देते हैं, जैसे—
छानना=बीनना, खोजना ; मारना=पीटना, पचा जाना ; उलझना=फँसना झगड़ना ; पिसना=कुचला जाना, कष्ट पाना ; उजाड़ना=उखाड़ना, नष्ट करना;

इसी प्रकार खाना, बैठना, बनना, चलना, दबाना, देखना, गिनना आदि पदों के मूर्त और अमूर्त अर्थों पर विचार कीजिए।

जो संज्ञापद विशेषण बन जाते हैं, उनका भी तो अमूर्तीकरण हो जाता है। उदाहरण—

पवित्र (मूलतः मंत्र, देवता), शुद्ध ; कंगाल (सं० कंकाल, ढाँचा), दरिद्र ; खिलपट (सं० शिलापट्ट) बराबर, चौरस ;

मूर्त पदार्थ जब प्रतीक के रूप में प्रयुक्त होते हैं, तब भी अर्थ में अमूर्तता आ जाती है, जैसे हल कृषि का, दंड न्याय का, श्वेत बाल बुढ़ापे का, वेदी धार्मिक पुष्टि का, कपाल सौभाग्य का, छाती साहस का प्रतिनिधित्व करती है। छायावादी रहस्यवादी कविता में विशेषतः इस प्रकार के अमूर्तीकरण के उदाहरण भरे पड़े हैं। देखिए—

अंधकार = निराशा, अज्ञान ; जुगनू = बुद्धि, चेतना ;
तरी = जीवन ; तारे = लौकिक भाव ;
दीपक = आत्मा ; पतवार = साहस ;
पतझर = दुःख ; वीचियाँ = भावनाएँ ;
मधु = प्रेम, सुख ; रश्मि = ज्ञान, आशा ; सुखस्मृति ;
वीणा के तार = हृदय के भाव ; शलभ = सांसारिक मोह ;
समुद्र = आत्मा इत्यादि ।

§ ६६७ उच्च और सांस्कृतिक स्तर पर विशेषतः और साधारण बोलचाल में कभी कभी शब्दों के अमूर्त संबंध में मूर्तीकरण भी पाया जाता है : निम्नलिखित शब्दों के मूल अर्थ और प्रचलित अर्थ की तुलना कीजिए—

उपन्यास = कथन, किस्सा कहानी की पुस्तक ;
सुहाग = सौभाग्य, पति, विवाहगीत ;
सामग्री = संचय, वस्तु, सामान ;
परिवार = आच्छादन, कुटुंब ।

कभी कभी अमूर्त भावों एवं वस्तुओं का मानवीकरण हो जाता है और कभी पदार्थीकरण, जैसे मौत आ गई, मौत ने आ घेरा, प्रेम में पड़ गया, 'धर्म एव हतो हंति' आवाज बैठ गई, इज्जत खो गई, बात उड़ाना, विचार बिखर गए, हक मारना, इत्यादि में ।

इन्हीं के साथ रूपक समासों को भी लिया जा सकता है—विरहाग्नि, विचारधारा, विद्याधन, प्राणपखेरू इत्यादि ।

कभी कभी व्यक्ति अथवा वस्तु के लिये गुण का प्रयोग होता है, अर्थात् भाववाचक संज्ञा जातिवाचक हो जाती है, जैसे—

देवता (मूलतः देवत्व), देव ; जनता (जन का भाव), लोग ;
बिरादरी (भ्रातृत्व), भाई बंधु ; सफेदी (श्वेतता), चूना ;
सब्जी (हरियाली), तरकारी ; जाति (उत्पत्ति), कुल ;

कई व्यापारवाची संज्ञाएँ कर्ता अथवा कर्म के अर्थ में प्रयुक्त होती हैं। उदाहरण—

कतरनी, कैंची ; सवारी, गाड़ी ; सवारी, सवार ; भेंट, उपहार ; खाना, खाद्य ; नेउता (निमंत्रण), भोज, भिक्षा, (माँगना), माँगा हुआ पदार्थ ; पहुँच (प्राप्ति), रसीद ; फटकन (फटकने की क्रिया), फटकने से बची वस्तु ।

कुछ व्यापारवाची शब्द पारिश्रमिक का अर्थ भी देते हैं, जैसे—उतराई (उतरने की क्रिया भाव), उतरने का किराया, इसी तरह धुलाई, रँगाई, कटाई सिलाई, बनवाई, पिसाई इत्यादि ।

कुछ व्यापार स्थान का अर्थ देकर मूर्त रूप मे प्रगट होते हैं, जैसे पालना (झूला), निकास (निकलने की जगह), प्रवेश (प्रवेशद्वार) ।

विशेष्य का लोप हो जाने पर विशेषण अथवा और विशेष्य का स्थान लेकर मूर्त हो जाता है। उदाहरण—

चैती (चैती फसल) कच्ची (कच्ची रसोई), पियरी (पीली धोती) साधु (साधु पुरुष), गुह्य (गुह्य पदार्थ), रहस्य (रहस्य बात), छोटा (छोटा लड़का) ।

§ ६९८ **अंगांगी अंतरण**—इससे तात्पर्य यह है कि वे शब्द जो एक दूसरे में अंगागी संबंध से संमिलित हैं, परस्पर परिवर्तित हो जाते हैं। कभी एक अंग पूरे अंगी का, अर्थात् एक भाग संपूर्ण वस्तु का अर्थ देता है और कभी संपूर्ण अंगों से केवल उसके किसी अंग का अर्थ सूचित होता है। बाजार मंदा का अर्थ अपने अपने व्यापारक्षेत्र में इतना भर हो है कि गेहूँ या सोना या चीनी या कोई अन्य द्रव्य मंदे भाव में बिक रहा है। जलपान का अर्थ पानी मात्र पीना नहीं है, इसमें मिठाई, नमकीन, फल आदि संमिलित हैं।

पूर्ण से अंश का अर्थ - मकान खुला है का अर्थ यही है कि मकान के द्वार खुले हैं, मुझे दर्द है का अर्थ है मेरे पेट में या सिर में दर्द है।

§ ६९९ **अंश से पूर्ण का अर्थ**—जैसे रोटी बनाना, नहा धोकर। हनुमान का यौगिक अर्थ है ठोडीवाला, नाहर का अर्थ है नखवाला; इसी तरह के शब्द है सुग्रीव, पक्षी, हाथी, इत्यादि। गाय पकड़वाकर फाटक में बंद करवा दो का अर्थ है काँजीहाउस भेज दो। बत्ती का अर्थ पूरा दीपक और हथकड़ी का अर्थ जंजीर सहित हाथ की कड़ी है।

एकवचन में बहुवचन का संकेत (जैसे, आम महँगा है, उसके पास बहुत रुपया है, मेले में कितना आदमी था, कपड़ा सस्ता बिक रहा है) और बहुवचन से एकवचन का संकेत (जैसे, पिताजी आए, घर के लोग अर्थात् पत्नी) इसी प्रक्रिया के अंतर्गत आता है।

§ ३७० भिन्न संबंधपरिवर्तन—इसके अंतर्गत शब्दार्थ अंतरण की वे प्रक्रियाएँ आती हैं जिनके द्वारा (१) कार्य कारण के लिये अथवा कारण कार्य के लिये, (२) आधार आधेय के लिये अथवा आधेय आधार के लिये, (३) स्थान उपज के लिये अथवा उपज स्थान के लिये, (४) लेखक अपनी कृति के लिये अथवा कृति लेखक के लिये, (५) चिह्न चिह्नित के लिये अथवा चिह्नित चिह्न के लिये प्रयुक्त होते हैं। उदाहरण—

(१) कारण कार्य के लिये—खाक डालना (छिपाना), कोहनी मारना (ढकेलना), गाँठ काटना (धोखे से लेना), आँखों में धूल डालना (धोखा देना) सिर काटना (मारना), खाक या मिट्टी में मिलना (नष्ट होना) आदि आदि। कार्य कारण के लिये—गाल पिचकना (कमजोर होना), गर्दन हिलाना (इनकार करना), खून सूखना (डरना), सिर पकड़ना (निरुपाय होना), नाक टेढ़ी करना (चिढ़ना), दाँत पीसना (क्रोध करना), पीला पड़ना (घबराना) आदि।

(२) आधार आधेय के लिये—थाली परोसो (खाना परोसो), मैं गाय दुहता हूँ (दूध दुहता हूँ), घर सँभालिए (घर का सामान सँभालिए), कचहरी की आज्ञा है (कचहरी के अधिकारी की आज्ञा है), कुआँ सूख गया है (पानी सूख गया है), दीया जलता है (तेल या बत्ती जलती है)।

आधेय आधार के लिये—गोंडा (सं० गोवृंद), चरागाह; सभा को जा रहा है (सभा के भवन को जा रहा है)।

(३) स्थान उपज के लिये—
सिरोही (राजस्थान में एक स्थान), तलवार;
कश्मीरा (सबसे पहले कश्मीर में बना), ऊनी कपड़ा;
बीदर (दक्षिण में एक स्थान), बर्तन;
साँची (भोपाल के पास एक प्राचीन स्थान), पान;
कालीन (आरमेनिया में एक स्थान), गलीचा;
काफी (अबीसीनिया में एक स्थान), एक पेय;
कोख (गर्भ, गोद), बाल बच्चे।

उपज स्थान के लिये—

पंचवटी (पाँच वट वृक्ष) नासिक के पास एक स्थान;

(४) कृति लेखक के लिये—

रामायण कहती है, वेदों की आज्ञा है—

लेखक कृति के लिये—

आपने कालिदास पढ़ा है। सूर और तुलसी में देख लो।

(५) चिह्न चिह्नित के लिये--

चोटी और दाढी (हिंदू और मुसलमान) का मेल न होगा ;
लाल पगड़ी (सिपाही) ;
बड़े पेटवाले (अमीर लोग)

इसी के अंतर्गत नाम आते हैं जो हैं तो ध्वनि के, पर प्रयुक्त होते हैं ध्वनि करनेवाले के लिये, जैसे हुद्हुद्, गुड़गुड़ी (हुक्का), झुनझुना, छछूँदर, फटफटा, घूँघरू।

कई प्रदेशों में दूसरे प्रदेश के लोगों की भाषा से कोई शब्दविशेष लेकर उन लोगों को चिढ़ाने के लिये चल पड़ते हैं, जैसे--

मोशे (महाशय) – बंगाली ;
भय्यन (भय्या लोग) – बंबई में ग्वालों के लिये ;
ऐली गैली (आया गया)—बिहार के लोग ;
हाँ हुजूर - खुशामदी ; कंख—गढ़वाली।

चिह्नित का प्रयोग चिह्न के लिये —

यह हिरण है—यह हिरण का चित्र है ;

(६) कभी कभी शब्दार्थ संबंध बड़ी विचित्र रीति से अंतरित हो जाता है। कहीं कहीं तो वस्तु स्वयं अपना रूप बदलती रही है, अतः उससे संबद्ध शब्दों का अर्थ भी बदला है, जैसे घड़ी (तुलना कीजिए पानी के घड़े से), बंशी (बाँस की), गिलास (मूलतः काँच का), टीन (मूलतः एक धातुविशेष), तार (तुलना कीजिए उस कागज से जिसे तार कहा जाता है), दुपट्टा (मूलतः दो पट का), इत्यादि।

कभी यह संबंध किसी न किसी भ्रांति के कारण अंतरित कर लिया जाता है। इसमें भी प्रायः सादृश्य के कारण अर्थ की विस्तृति होती है।

उदाहरण :—

सं० काष्ठा, समय की माप, हिं० कट्ठा, अनाज की माप;
प्रा० खटक्किआ, पीछे का दरवाजा, हिं० खिड़की;
सं० परशु, फरसा, हिं० फरुआ, हँसिया;
सं० कर्चूर, हल्दी, हिं० कचूर;

सं० मर्कट, बंदर हिं० मकड़ा, मकड़ी;

सं० चिल्लट, एक सरकनेवाला कीड़ा, हिं० चिल्लड, जूं;

सं० पष्ठवः, चार वर्ष का बैल, हिं० पाठा, हाथी, भैंसा आदि। इत्यादि।

परिवर्तन बाहुल्य

§ ६७१ अपनी भाषा के कोश को देखने से ज्ञात होगा कि प्रायः शब्दों के अनेक अर्थ होते हैं। यदि एक ही अर्थ हो तो जाना जा सकता है कि या तो शब्द का मूल अर्थ सुरक्षित है या परिवर्तित अर्थ ने मूल अर्थ की जगह ग्रहण कर ली है। यदि दो अर्थ हों तो भी दो संभावनाएँ हैं—या तो दो भाषाओं अथवा एक ही भाषा के दो शब्दों में एक उच्चारण आ गया है, जैसे उत्तर (जवाब, और पहाड़ की दिशा), दल (सेना और पत्ता), घन (बादल, बड़ा, हथौड़ा); काम (वासना, कर्म), बेर (बदरीफल और बारी) सोना (नींद लेना और स्वर्ण); बटन (ऐंठन, अंग्रेज़ी बटन), कूचा (गली और कूर्च); और या एक शब्द के मूल और विस्तृत अर्थ अथवा दोनों परिवर्तित अर्थ हो सकते हैं, जैसे दंड (डंडा, सजा), नाक (नाक, इज्जत), भभूत (धन, राख—दोनों मूल से भिन्न अर्थ), महरी (महिला, चौका-बर्तन करनेवाली)। कई शब्द ऐसे हैं जिनके दो से अधिक अर्थ हैं। 'हिंदी शब्दसागर' देखिए, बहुत से शब्द ऐसे मिल जाएँगे जिनके १०-१०, १५-१५, २०-२० अर्थ हैं। कोई अर्थ मूल से संकोच के कारण, कोई विस्तार के कारण, कोई अपकर्ष और कोई मूर्तीकरण के कारण तथा कोई किसी और प्रक्रिया के कारण आ जाता है। इस प्रकार एक मूल से अनेक परिवर्तित अर्थों के विकास की प्रक्रिया के कारण इसे 'विकिरण' कहते हैं। जिस
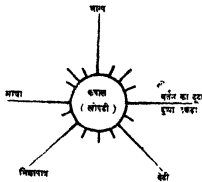
अर्थ की शाखाएँ

प्रकार सूर्य से अनेक किरणें फूटती हैं, उसी प्रकार एक शब्दार्थसंबंध से अनेक अर्थ विकिरित होते हैं। 'कपाल' शब्द का मूल अर्थ है खोपड़ी। इससे एक अर्थ

माथा, दूसरा अर्थ भाग्य, तीसरा भिक्षापात्र, चौथा बर्तन का टूटा हुआ टुकड़ा और पाँचवाँ वेदी निकला। ये सब एक ही अर्थ की अनेक शाखाएँ हैं। पक्व के अर्थ पक्का, पका हुआ, बलवान, सफेद (बाल) परिवर्तन-बाहुल्य अथवा विकिरण की उक्त प्रक्रिया से प्राप्त हुए हैं। निम्नलिखित उदाहरणों की परीक्षा इसी दृष्टि से कीजिए—

कर्म = काम, इससे कारीगरी, व्यापार, उपयोगिता।

निशान = चिन्ह, इससे पता, वाद्ययंत्र, झंडा।

देखना = दृष्टि डालना, इससे ध्यान से देखना, परीक्षण करना, पढ़ना, ढूँढना, सोचना, समझना, अनुभव करना ठीक करना।

चलना — जाना, इससे चलना, बढ़ना, आगे होना, टिकाऊ होना, फुटना, उपयोग में आना।

पूँछ = दुम, इससे अनुगामी, अंत, उपाधि।

§ ९७२ अर्थपरिवर्तन में कभी कभी एक शृंखला सी बन जाती है। एक अर्थ से दूसरा बना, दूसरे से तीसरा, तीसरे से चौथा, इत्यादि क्रम से अर्थ अपने मूल से हटता जाता है, और एक ऐसी स्थिति आ जाती है कि शब्द के अंतिम विकसित अर्थ और मूल में कोई संबंध ही नहीं जान पड़ता। यह प्रक्रिया कुछ इस प्रकार चलती है :—
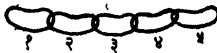
इसमें १, २, ३, ४, ५, आदि अर्थ की अवस्थाएँ हैं। 'शकुन' का अर्थ है (१) पक्षी इससे (२) शुभ पक्षी, बाद में (३) शुभ, फिर (४) शुभ लक्षण और अब (५) लक्षण जो शुभ भी हो सकता है और अशुभ भी।

निम्नलिखित शब्दों के अर्थक्रम की शृंखला देखिए :—

रूमाल—(फा०) मुंह पोंछने की कोई वस्तु, मुंह पोंछने का कपड़ा, वर्गाकार कपड़ा। तुलना कीजिए रूमाली (लँगोटी)।

देवर—(सं०) द्विवर (दूसरा पति), मृत पति का भाई, पति का भाई, पति का छोटा भाई।

राजपूत—राजपुत्र, राजवंश का आदमी, एक जाति। अब राजपूत को राजपुत्र होना आवश्यक नहीं और न ही प्रत्येक राजपुत्र को राजपूत कह सकते हैं।

रामकहानी—रामकथा, लंबी कथा, व्यर्थ की लंबी कथा।

चीन—चीन देश, चीन का रेशम, रेशमी कपड़ा, पताका।

नाक—अवयवविशेष, प्रतिष्ठा, प्रतिष्ठा बढ़ानेवाला व्यक्ति, प्रधान व्यक्ति।

धक्का—दबाव, टक्कर, हानि (घाटा), विपत्ति, मार्मिक पीड़ा।

छूत—स्पर्श, स्पर्शदोष, स्पर्शरोग लगना, रोग का विष, बिगाड़।

§ ६७३ कभी कभी ऐसा भी होता है कि विकिरण और शृंखला की प्रक्रियाएँ एक ही शब्द के विभिन्न अर्थों में देखी जा सकती हैं। यह क्रम कुछ इस प्रकार से होता है :
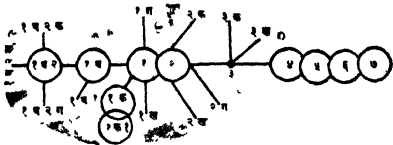
रेखाएँ विकिरण की और कड़ियाँ या छल्ले शृंखला की प्रक्रिया को प्रगट करते हैं। उदाहरण के लिये दंड शब्द लीजिए। 'हिंदी शब्दसागर' में इसके निम्नलिखित अर्थ दिए गए हैं :

(१) डंडा, लकड़ी अथवा खंभा; (२) डंडे की तरह की कोई वस्तु; (३) एक प्रकार की कसरत, दंड पेलना; (४) प्रणाम; (५) जुर्माना; (६) किसी प्रकार की सजा; (७) हानि; (८) एक प्रकार का विन्यास; (९) अधिकार; (१०) झंडे की डंडा; (११) माप; (१२) मूठ; (१३) मस्तूल; (१४) हल; (१५) दो गज के बराबर की माप; (१६) यम (जो दंड देता है); (१७) विष्णु, शिव; (१८) सेना; (१९) घोड़ा; (२०) २४ मिनट का समय; (२१) पूर्व और उत्तर का आँगन (२२) तद्भव डंडा, घेरा; (२३) तद्भव डाँड (बुनकर का औजार) (२४) पंक्ति; (२५) रोक; (२६) सीमा; (२७) ढेर; (२८) नदी का रेतीला किनारा।

उपर्युक्त प्रक्रियाओं का क्रम इस प्रकार निश्चित किया जा सकता :

इससे जाना जा सकता है कि 'दंड' शब्द से कितने अर्थ फूटे, 'सजा' से विकिरण और शृंखला बनने में क्या अर्थ निकले, 'अधिकार' और 'माप' से शृंखलाबद्ध कौन कौन अर्थ विकसित हुए और 'सीमा' का विकिरण होकर क्या क्या अर्थ प्राप्त हुए।

§ ६७४ निम्नलिखित शब्दों के अर्थों पर इसी दृष्टि से विचार कीजिए :

अंक—चिह्न, संख्या का चिह्न, संख्या, कलंक, डिठौना, वक्र रेखा, मोड़, हुक, एक भूषण, नाटक का एक खंड, नकली लड़ाई, पाप, गोद, बगल, स्थान।

अंग—अवयव, देह, भाग, (व्याकरण में) सप्रत्यय शब्द का प्रत्ययरहित भाग, (नाटक में) संधियों का एक उपविभाग, अप्रधान रस, नायक के सहायक पात्र ; गौण वस्तु।

अड्डा—इकट्ठा होने की जगह, डेरा, इक्के टाँगों के रुकने का स्थान, केंद्रस्थान, पिंजरे मे चिड़िया के बैठने की लकड़ी, कबूतरों की छतरी, जुलाहे का करघा, छीपी का गद्दा, जाली काढने का चौखटा, पोलीस चौकी।

उड़ना—पंख के सहारे जाना, वायुयान में यात्रा करना, डोलन (पत्ते आदि का) बिखरना, लहराना, लुप्त होना, कटकर अलग होना, खर्च होना, फीका पड़ना, छलाँग मारना, इतराना, भागना ; धोखा देना।
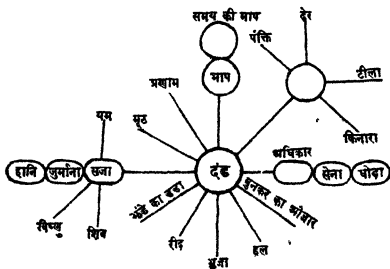
उतारना—ऊपर से नीचे लाना, पहनी हुई चीज को अलग करना, दूर करना, निकालना (मलाई आदि), घटाना (साँचे पर), तैयार करना, पका लेना, खींचना, नकल करना, (ऋण) चुकाना, पार पहुँचाना, तौल में पूरा करना, ठहराना, न्योछावर करना, (आरती) घुमाना, तोड़ना आदि।

कच्चा—अनपका, साफ न किया हुआ, मिट्टी का बना हुआ, अधिक दिन न टिकनेवाला, (कच्चा रंग), अनुभवहीन, कमजोर, अनाड़ी, तकली, जो प्रामाणिक या नियमित न हो (रसीद), जो अंतिम न हो (मसौदा)।

काँटा—कंटक, कील, चँटिया, मछली की बारीक हड्डियाँ, तराजू की सुई, तराजू, घड़ी की सुई, किसान का औजार, नाक की कील, हुक, खाना खाने का औजार।

खुलना—आवरण हटना, बंधन छूटना, फटना, छेद होना, प्रगट होना, बताना, निकलना, जारी होना, छूटना (रेल का), उघड़ना, खिलना, साफ साफ कहना, भाग्य जगना, इत्यादि।

जमाना—गाढ़ा होना, देर तक बैठना, टिकना, दृढ़ होना, उगना, (तलछट) नीचे जमा होना, (भीड़) इकट्ठा होना, सज जाना, ठीक आना, चल निकलना (दुकान का), अड़ना, इत्यादि।

दम—साँस, क्षण, हुक्के का कश, समय, जान, जोर, धीमी आँच पर रखने की क्रिया, पानी का घूँट, धोखा; नेजे की नोक, तलवार की धार।

दाना—अनाज का कण, बीज, भोजन (अन्न), मनका, संख्या, रवा, फुंसी।

पट्टी—तख्ती, पाठ, सीख, पाटी, कपड़े का लंबा टुकड़ा, पत्थर का पतला टुकड़ा, भजी, नाव के बीचोबीच का तख्ता, तिलपपड़ी, बालों की तह, पाँत, बल्ली, बिल्लियों की पाँत, पत्ती, भूभाग, इत्यादि।

हवा—वायु, साँस, भूत, धुन, साख, अफवाह, चकमा, आडंबर, लालच, इत्यादि।

अर्थपरिवर्तन के कारण

§ ३७५ शब्दार्थ विज्ञान से संबंधित सबसे कठिन और गूढ़ प्रश्न है—शब्दार्थपरिवर्तन क्यों और किन परिस्थितियों में होते हैं? पश्चिमी विद्वानों ने कई कारण गिनाए हैं। इन सबको समेटकर डा० आई० जे० तारापुरवाला ने एक विस्तृत सूची प्रस्तुत की है।[1] उन्होंने निम्नलिखित कारण दिए हैं—

१—आलंकारिक प्रयोग,

२—वातावरण में परिवर्तन—भौगोलिक, सामाजिक, भौतिक;

३—संभाषण में नम्रता;

४—मंगलभाषित प्रयोग;

५—व्यंग्य;

६—भावावेश;

७—अनभिज्ञता;

८—शब्दों के अनिश्चित अर्थ;

९—समझ का स्तर;

१०—गौण अर्थ का अनजाने मेल;

११—संपूर्ण के लिये उसके अंश का प्रयोग;

१ आई० जे० सी० तारापोरवाला : भाषाविज्ञान के तत्व (अंग्रेजी), अध्याय ६।

१२–एक तत्व का अत्यधिक प्रभाव जैसे कांस्टेबुल के लिये 'लाल पगड़ी'।

इनमें १०, ११, १२ कार्य हैं, कारण नहीं है, और साथ ही १० को तो ७ में संमिलित किया जा सकता है। ३, ४, ५, ६ को १ के अंतर्गत लेना अच्छा होगा। ७, ८, ६, एक ही बात है।

§ ६७६ भाषा का संबंध व्यक्ति और समाज दोनों से है, अतः भाषा संबंधी कोई भी प्रक्रिया (वा उच्चारण संबंधी, व्याकरण संबंधी अथवा अर्थ-संबंधी) व्यक्ति से उठती है और समाज में ग्राह्य होकर व्यापक होती है। अर्थ-परिवर्तन भी प्रमुखतः वैयक्तिक और सामाजिक प्रक्रिया है। ऐतिहासिक और सांस्कृतिक घटनाओं, राष्ट्रीय मान्यताओं, वैयक्तिक और सामाजिक मनोविज्ञान, आलंकारिकता, तार्किक परिस्थितियों, और भाषावैज्ञानिक संगतियों के कारण शब्दार्थसंबंध में हेरफेर हो जाता है।

भारतीय सभ्यता और विचारधारा के विकास में नाना ऐतिहासिक घटनाओं का गहरा प्रभाव रहा है। भारत पर विदेशी तथा खानाबदोश जातियों के आक्रमण, आर्यों और आदिवासियों का संपर्क, यूनानी और ईरानी सभ्यता का प्रभाव, हिंदू साम्राज्यवाद का उदय, अरबी-फारसी-तुर्की विधि विधानों की स्थापना, पश्चिमी भौतिकवाद, अँग्रेजी भाषा और साहित्य, संस्कृत का पुनरुत्थान, आधुनिक युग की बदलती हुई परिस्थितियाँ, सामाजिक और राष्ट्रीय जागरण इत्यादि अनेक बातें हैं जिनका भारतीय संस्कृति के विकास में योग रहा है। यदि हम केवल विभिन्न युगों में संचालित भारत के धार्मिक आंदोलनों को ही लें तो हम भली भाँति कल्पना कर सकेंगे कि हमारी चिंतनप्रणाली में कितने नवीन विचारों और मान्यताओं ने अपना स्थान बना रखा है। विचारों का वाहन तो भाषा ही है। अतः भाषा में एक प्रकार की उथल पुथल मचना स्वाभाविक है।

कोई भी साधारण शब्द किसी ऐतिहासिक घटना, व्यक्ति अथवा स्थान से संबद्ध होकर अपने अर्थ में वैशिष्ट्य वा संकोच और कभी कभी सांकेतिक अमूर्तीकरण ले आता है। 'विदेह' का अर्थ तो है 'शरीरहीन' पर इसका संबंध राजा जनक और फिर उनके राज्य 'मिथिला' से है। इसी से 'वैदेही' शब्द बना जिसका साधारण अर्थ है 'विदेह राज की कन्या' अथवा 'विदेह राजा की कन्या'। पर इतिहास में इसका रूढ़ अर्थ है 'सीता'। 'वैदर्भी' का भी अर्थ है 'विदर्भ देश की कन्या', पर इतिहास में रूढ़ हो जाने के कारण इसका अर्थ है 'दमयंती अथवा रुक्मिणी'। 'बीड़ा उठना' (पान उठाना) का अर्थ राजपूती प्रथा के कारण 'उत्तरदायित्व लेना' प्रचलित है। 'चाम के दाम' का साधारण अर्थ है 'चमड़े का सिक्का' पर हुमायूँ के शासनकाल में जिस भिश्ती ने चार दिन राज्य किया उसके

साथ संबंध होने के कारण इसका अर्थ है 'अनधिकृत शासन'। अन्य उदाहरण जिनमें भिन्न प्रकार के अंतरण मिलते हैं—

अंगराज	औरंगजेबी फोड़ा	काला पहाड़
कौरव	घर का भेदी	जयचंदी मनोवृत्ति
नादिरशाही	नेता की महाभारत	मार्शल ला
रामराज्य	लखदाता	सत्याग्रह
सिखाशाही।		

§ ६७७ सांस्कृतिक परिस्थिति बदलने पर भी शब्दार्थपरिवर्तन होते हैं। 'पंडित' का अर्थ था 'विद्वान्'। क्रमशः इसका अर्थ 'ब्राह्मण' हो गया। सामाजिक परिस्थिति ही ऐसी थी कि विद्वान् लोग ब्राह्मण कहे जाते थे अथवा ब्राह्मणों ही में पंडित होते थे, अतः ब्राह्मण और पंडित पर्याय हो गए। 'खत्री' शब्द संस्कृत के 'क्षत्रिय' से व्युत्पन्न है। पंजाब में अब भी खत्री सैनिक जातियों में गिने जाते हैं। पर उत्तर प्रदेश में ऐसे खत्री आ बसे जो व्यापार ही करते थे, अतः यहाँ पर 'खत्री' से 'व्यापारी या वैश्य' समझा जाता है। 'वर' का अर्थ है 'चुना हुआ'। किसी समय मे पति कन्या द्वारा चुना जाता था। अब वह चुना नहीं जाता, तो वर का अर्थ भी है केवल 'दूल्हा'। पितृकर्म या श्राद्ध का अर्थ है माता पिता की सेवा, उनके प्रति श्रद्धा। धार्मिक विचारों में परिवर्तन आ जाने के कारण, इन शब्दों का अर्थ अंतिम संस्कार अथवा पूर्वजों को दिया जानेवाला पिंडदान हो गया है। इस प्रकार, शब्दों के बदलते हुए अर्थों मे बदलती हुई संस्कृति पूरी तरह परिलक्षित होती है। कुछ शब्दों द्वारा हमारे तथा हमारे पूर्वजों के जीवन की तुलना हो सकती है। अन्य उदाहरण—

सं० उपाध्याय (अध्यापक), हिं० ओझा (भूत प्रेत उतारनेवाला);
सं० आचार्य (महापंडित), हिं० अचारज (महाब्राह्मण);
सं० ग्रंथ (गाँठ दिया हुआ), हिं० ग्रंथ (जिल्दवाला मोटा पोथा, विशेषतः धार्मिक ग्रंथ),

कुछ शब्द सांस्कृतिक कारणों से हीनार्थी हो गये हैं, जैसे कोठेवाली (घरवाली), वेश्या; महाजन (बड़ा आदमी), बनिया, टट्टी (आड़), पाखाना।

§ ६७८ निम्नलिखित शब्दों के अर्थपरिवर्तन में रीति-रिवाजों, विश्वासों और प्रथाओं की भूमिका स्पष्ट दिखाई देती है :

अऊत (सं० अपुत्र, पुत्रहीन), भाग्यहीन, मूर्ख;
बाधित (मूलतः पीड़ित), मजबूर;

सनीचरा (शनिवार से संबंधित), अभागा ;
रंडी (सं० रंडी, विधवा), वेश्या ;
वामा (मूलतः बाईं ओर रहनेवाली), स्त्री, पत्नी ।

हमारे रीति रिवाजों और विश्वासों को जाने बिना कोई व्यक्ति निम्नलिखित शब्दों के रूढ़ अर्थों को जान ही नहीं सकता :

पर्वतारि, इंद्र ;	गिरधारी , कृष्ण ;
नीलकंठ, महादेव ;	चक्रपाणि , विष्णु ;
मुँहकाल, बदनामी ;	एकवेणी , विधवा ;
हुक्कापानी, सामाजिक संबंध ;	भाँवरी , विवाह कार्य ;
रक्षाबंधन, राखी ;	

कुछ रिवाज देखने में नहीं आते, लेकिन तद्विषयक शब्दों से जाना जा सकता है कि प्राचीन काल में ऐसी प्रथा रही होगी। प्रहर, पहर, पहरा ; इसी से प्रहरी जो संभवतः प्रहर भर रहता था ; चौकी, लकड़ी का आसन, पुलिस का नाका, हो सकता है कि आरंभ में पुलिसवाले मचान बनाकर अपनी नौकरी पर रहते हों, अथवा केवल चौक में पुलिस का थाना हो।

सूत्रपात, डोरे का गिराना, आरंभ। संभवतः कभी सूत्र डालकर कार्य का आरंभ किया जाता रहा हो, जैसे मकान की नींव डालने में।

षड्यंत्र, छह यंत्र, कपटायोजन। न जाने षड्यंत्र करनेवाले किन छह यंत्रों से काम लेते थे।

हरकारा (फा०) शब्द से लगता है कि यह व्यक्ति या राजपुरुष मालिक का सब काम करता था। आज वह केवल डाक ढोता है।

पट्टा (अधिकारपत्र) शब्द से संकेत मिलता है कि किसी जमाने में सरकारी या गैर सरकारी अधिकार पट्टा या पाटी पर लिखकर या उत्कीर्ण करके दिया जाता था।

संस्कृति के प्रसार से अर्थों का विस्तार होता है। अनेक क्षेत्रों में एक ही शब्द से जो विविध पारिभाषिक अर्थ ग्रहण किए जाते हैं, उनके मूल में विविध व्यवसायों, उद्योगों, स्वार्थों और मान्यताओं को अपनी अपनी आवश्यकता है। 'कील' शब्द को ही देखिए। खीला, खूँटी, सिटकनी, धुरा, फँसी का सिरा, स्तंभ, नाक का भूषण, इत्यादि अर्थ सांस्कृतिक आवश्यकताओं के कारण विकसित हुए हैं। जिस भाषा के बोलनेवालों का सांस्कृतिक स्तर जितना ऊँचा होगा, उतना ही अर्थविस्तार उसकी शब्दावली का होगा। इसी को भाषा की समृद्धि कहा जाता है।

§ ६७६ राजनीतिक परिवर्तनों के कारण भी शब्दार्थ परिवर्तन में विविधता आती है। राजनीति के हेरफेर से विधि विधान बदल जाते हैं और साथ ही इनसे संबद्ध शब्द और उनके अर्थ भी। कोतवाल (कोटपाल) किसी युग में सैनिक अधिकारी होता था, परंतु आजकल एक पुलिस अधिकारी को कोतवाल कहा जाता है। इसका कारण यह है कि मध्ययुग में सैनिक और असैनिक अधिकार संमिलित होते थे, एवं जो दुर्गपाल था, वही नगर का प्रबंधक भी था। 'फौजदारी' फौजदार (सेनापति) के कार्य अथवा कार्यालय से संबंधित है, परंतु मुगलों के शासनकाल में फौजदारों के जिम्मे शासन-प्रबंध और दंडविधान का कार्य भी होता था। फौजदार मजिस्ट्रेट भी था। अतः फौजदारी का अर्थ दंडविधान हो गया। पटवारी (पट्टधारी) कार्यालय का चपरासी होता था। तुलना कीजिए गुजराती 'पटावाळो' (चपरासी)। अंगरेजी शासनप्रणाली में पटवारी गाँव का एक पदाधिकारी हो गया। अब भी वह यत्र तत्र पट्ट धारण करनेवाला गाँव का पुलिस अधिकारी भी है। अरबी 'तहसीलदार' का वही अर्थ है जो अँगरेजी 'कलक्टर' का। किंतु अब दोनों के अर्थ में अत्यंत भिन्नता है एवं न तो तहसीलदार और न ही कलक्टर केवल भूमिकर जमा करता है, उसके जिम्मे फौजदारी और दूसरे बीसियों काम हैं। पंचायत का अर्थ है 'पाँच का समूह' लेकिन हमारी व्यवस्था में पंचायत के सदस्य अधिक भी होते हैं; और वह समूह मात्र ही नहीं है, मुख्यतः वह गाँव की निर्णयसमिति है। 'नायक' के मूल अर्थ से जान पड़ता है कि वह सेना का नेता रहा होगा, लेकिन अँगरेजों ने भारतीय सैनिक का पद घटाकर अपने देशवासियों को ऊँचे ऊँचे पदों पर बिठाया तो नायक सेना का सबसे छोटा पदाधिकारी रह गया।

§ ६८० आर्थिक विकास की कहानी कई शब्दों में रखी हुई है। पत्र-पत्रा, चिट्ठी (जो पहले संभवतः पत्ते पर ही लिख दी जाती थी), कागज, समाचारपत्र।

भारतीय तौलों के कुछ नाम वास्तव में बीजों के नाम हैं, जैसे रत्ती, माष, जौ। इनसे हमारी प्राचीन आर्थिक व्यवस्था का परिचय मिलता है। व्यवसाय की विभिन्नता के कारण शब्दार्थ में भी विभिन्नता आ जाती है। दर्जी, डाक्टर शिकारी और हाकी के खिलाड़ी के लिये 'गोली' के अर्थों में कितना अंतर है। 'तार' का अर्थ हलवाई, बजाज या दर्जी, लोहे के व्यापारी, सितार और वायलिन बेचनेवाले और दलाल के लिये अलग अलग है।

निम्नलिखित आर्थिक शब्दावली के परिवर्तित अर्थों पर विचार कीजिए— 'टंक', संस्कृत कोशों में चाँदी का सिक्का है, बँगला भाषा में अब भी

'टाका' रुपये के लिये चलता है। हिंदी में 'टका' दो पैसे के बराबर है, जब कि अब भी इसका एक अर्थ रुपया है। 'टंक' संस्कृत कोशों में ४ माशे के बराबर बताया गया है, परंतु हिंदी में छटाँक (छटाँक) २४ माशे का नहीं, बल्कि ६० माशे का तौल है।

§ ६८१ कुछ शब्दार्थशास्त्रियों का कहना है कि किसी प्रकार का अर्थ-परिवर्तन वस्तुतः एक मनोवैज्ञानिक वृत्ति है। वैसे तो भाषा भी एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है और यह विषय विचारणीय है कि भाषा के बिना विचार नहीं होते और विचार के बिना भाषा नहीं होती। यह आवश्यक नहीं है कि विचार प्रदान करनेवाला जिस अर्थ को प्रेषित करना चाहता है आदान करनेवाला नितांत उसी अर्थ अथवा उस अर्थ के उतने ही अंश को ग्रहण कर ले। प्रदाता और आदाता की मनःस्थितियों में अंतर हो सकता है। किसी शब्द को कुछ का कुछ सुना जा सकता है, कुछ का कुछ समझा जा सकता है। प्रायः कहने समझने में भूलें हो जाया करती हैं। शिथिल प्रयोग से अर्थ पूर्णतया व्यक्त नहीं होता। प्रत्येक शब्द का अपना संदर्भ होता है— आदाता और प्रदाता के इस संदर्भ में भेद उपस्थित हो सकता है। किसी भी शब्द में अर्थ के कई तत्व निहित होते हैं। समय, स्थान और अवस्था में परिवर्तन हो जाने पर एक तत्व प्रधान हो जाता है। दूसरे, तत्व भुलाए जा सकते हैं। इस प्रकार अर्थपरिवर्तन कई मनोवैज्ञानिक परिस्थियों के कारण होते हैं।

असावधानी, अज्ञान और मानसिक उलझन से शब्दार्थ संबंध में अस्पष्टता रहती है। मनुष्य प्रायः शब्दों के संबंध को अपने पड़ोसियों, सहयोगियों और गुरुजनों से जानता है। उनका सुनिश्चित अर्थ जानने के लिये वह न किसी विद्वान् से पूछने जाता है और न ही शब्दकोश अथवा व्याकरण की सहायता लेता है। वह विश्वास के साथ उनका प्रयोग करने लगता है। इससे शब्दार्थ में कभी कभी स्थानीय भेद उपस्थित हो जाते हैं। 'ठाकुर', 'काका', 'घर', 'मकान', 'साग' आदि अनेक शब्द हैं जिनके अर्थ पूर्वी और पश्चिमी हिंदी प्रदेश में ही नहीं बल्कि किन्हीं दो स्थानों से ऐसे शब्द संगृहीत किए जा सकते हैं जिनके अर्थों में भिन्नता है।

§ ६८२ किसी भी वस्तु को भली भाँति जान लेने से पहले लोग उसके नाम जान लिया करते हैं, जैसे बम, स्पुतनिक, यू-बोट, पनडुब्बी आदि को हम लोगों में से कितनों ने देखा है? ऐसे शब्दों का प्रयोग भी प्रायः शिथिल और अस्पष्ट रहता है एवं मूल अर्थ से भिन्न हो जाता है। उदाहरण :

खस (फा० तिनका), एक सुगंधित घास ;
गिरदावर (मूलतः घुमक्कड़), ग्रामाधिकारी ;

डोंग (संथाली लकड़ी, नाली), डोंगा, नाव ;
ज़र (फा० सोना), धन ;
तहसील (अ० रसीद), ज़िले का विभाग ;
दफ्तर (कागजों का ढेर), कार्यालय ;
बही (अ० ईश्वरीय ज्ञान), हिसाब किताब की पंजी ;
बहार (फा० वसंत), आनंद ;
सवारी (फा० सवार होने की क्रिया), गाड़ी, सवार ;
हलवा (अ० मिठाई), मोहनभोग ;

§ ६८३ मितभाषिता भी मनोवैज्ञानिक शिथिलता का रूप है। प्रायः समासयुक्त शब्दों में अंगच्छेद करके काम चला लिया जाता है, और प्रयुक्त शब्द में अर्थसंकोच आ जाता है ; जैसे—

पुरी = जगन्नाथपुरी ; पत्र = समाचारपत्र ;
पत्रा = पंचांग-पत्रक ; पत्री = जन्मपत्री ;
समाज = आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज ; संघ = जनसंघ ;
लीग = मुसलिम लीग ; संमेलन = हिं० सा० संमेलन ;
सभा = नागरीप्रचारिणी सभा ; मंदिर = देवमंदिर ;
संवत् = विक्रमी संवत् ; इत्यादि ।

इसी तरह के लोप के कारण कुछ शब्द हीन भाव के और कुछ उच्च भाव के द्योतक बन जाते हैं, जैसे :—

चाल = बुरी चाल, धोखा ; चलित्तर = दूषित चरित्र ;
मुहूर्त = शुभ मुहूर्त ;
'नजर लग गई' में नजर का अर्थ 'बुरी नजर' है ।

लोप के कारण अर्थसंकोच, अर्थविस्तार और अर्थांतरण भी होता है। इसके उदाहरण पिछले प्रकरण में दिए जा चुके हैं।

§ ६८४ प्रत्येक शब्द अपने संदर्भ अथवा प्रसंग में ही अर्थवान् होता है। बजाजी और लोहे की दुकान पर 'चद्दर' का अर्थ भिन्न भिन्न होगा। 'घोड़ा' का अर्थ अस्तबल, शतरंज और बंदूक के संदर्भ में भिन्न होगा। 'चाल' का अर्थ चलने में गति, शतरंज में दाँव और समाज में प्रथा होता है। 'दाँव' का अर्थ जुए, दंगल, शिकार, और जीवन के संदर्भ में भिन्न भिन्न होगा। जब हम किसी वाक्य को पढ़ते या सुनते हैं तो उसमें प्रयुक्त शब्द अपने संदर्भ में रहने के कारण अपरिचित होते हुए भी सुबोध हो जाते हैं। संभवतः प्रथम कल्पित अर्थ ठीक न हो, लेकिन उसमें सुधार की संभावना बनी रहती है ; क्योंकि वही शब्द

अन्य वाक्यों में और विभिन्न प्रसंगों में बार बार प्रयुक्त होकर स्पष्ट हो जाता है। परंतु प्रसंग में आने से प्रायः अर्थसंकोच होता है :

दाना (अनाज), 'माला का एक एक दाना' में मनका ;

पंथ (रास्ता), 'नानक पंथ, दादू पंथ' में संप्रदाय ;

बाँह (भुजा), 'कोट की बाँह में आस्तीन', 'मेरा मित्र मेरी बाँह है' में सहायक ;

पूरा (पूर्ण), 'पूरे नौ' में ठीक ठीक ; 'काम पूरा' में समाप्त ;

घर (गृह), हमारा घर (देश) पंजाब में है ; ऐनक का घर (खोखा), मेढ़िए का घर (माँद) ;

§ ६८५ संदर्भों की विविधता अर्थवैविध्य का प्रमुख कारण है। संदर्भ के कारण ही नागर का अर्थ चतुर, गँवार का मूर्ख, जंगली का असभ्य और पत्र (पत्ता) का अर्थ कागज हो गया है। संदर्भ की हीनता के फलस्वरूप जंगल का अर्थ पाखाना, देवदासी का मंदिर की वेश्या, छकना नशे में धुत होना, और बू का बदबू होता है। विरोधी शब्द भी संदर्भ से ही विकसित होते हैं, जैसे अधर, सधर ; समास, व्यास ; इत्यादि।

कभी कभी शब्दार्थ का एक तत्व दूसरे तत्व की अपेक्षा प्राधान्य प्राप्त कर लेता है। व्रत का मूल अर्थ तो है प्रतिज्ञा, परंतु धार्मिक अनुष्ठानों में किसी भी व्रत के लिये व्रतधारी को अनशन करना पड़ता था, अतः कालांतर में अनशन की बात प्रधान बन गई है। व्रत का अर्थ भी अनशन हो गया। द्रोण पहले लकड़ी की प्याली थी बाद में लकड़ी के बजाय पत्तों की भी होने लगी, देखिए हिं० 'दोना'। वास्तव में प्रधानता लकड़ी की अपेक्षा प्याली की हो गई। अन्य उदाहरण—

गूजर (सं० गुर्जर), दूधवाला ;

संस्कार (सं० सँवारना), अनुष्ठान ;

संस्करण (पवित्रीकरण), मुद्रावृत्ति ;

बाली (अनाज की फली), कानों का आभूषण ;

कसोरा (काँसे का पात्र), पात्र ;

कलश (घड़ा), पूजापात्र ; इत्यादि।

§ ६८६ आलंकारिक तथा साहित्यिक प्रयोग भी अर्थपरिवर्तन का महत्व-पूर्ण कारण है। वेद में पर्वत, अद्रि आदि शब्द बादलों के लिये भी प्रयुक्त हुए हैं। वर्तमान हिंदी में ऐसे शब्द पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं जिनमें सादृश्य के कारण एक अर्थ दूसरी वस्तु पर आरोपित कर दिया जाता है। उदाहरण—

छछूँदर—छछूँदर, आतिशबाजी ;
स्कंध—कंधा, शाखा, सर्ग, नेता ;
सूरजमुखी—एक फूल, एक प्रकार का पंखा, पटाखा ;
सर्पिणी—लता, साँपिन ;
शबनम—ओस, एक प्रकार का कपड़ा ;
मोरनी—मयूरी, एक प्रकार का आभूषण ;
वंश—बाँस, रीढ़, बाँह की हड्डी ;
दाँवनी—दामिनी (बिजली), सिर का आभूषण ;
अंबर—बादल, आकाश, वस्त्र ;

इसी संबंध में सोच और अध्ययन के साथ 'गहरा' का विचार, चरित्र तथा शब्द के साथ 'ऊँचा' का, गर्व के साथ 'तोड़ना' का और बुद्धि के साथ 'पैंठना' का प्रयोग विचारणीय है। एक क्षेत्र के बहुत से शब्द इसी प्रकार सादृश्य के नाते दूसरे क्षेत्र में आने लगते हैं।

मनुष्यों, पशुओं और वस्तुओं के गुणात्मक नाम प्रायः सादृश्यमूलक होते हैं। मनुष्य के लिये सूअर, कौवा या गधा का प्रयोग क्रमशः शरारती, ढीठ और मूर्ख के अर्थ में होता है। अन्य उदाहरण—

वह शेर है, साँड़ (उच्छृंखल युवक), कुत्ता (दास), इत्यादि।

मोरपंखी, सूरजमुखी, रुद्राक्ष, हंसपदी, हस्तिदंतक, कुक्कुटशिखा, कलगा आदि पौधों के नाम इसी आधार पर रखे गए हैं। निम्नलिखित शब्दों के सादृश्यमूलक अर्थ बड़े रोचक हैं—

घोड़ी—भवननिर्माण में प्रयुक्त लकड़ी का ढाँचा ;
कुत्ता—कुएँ के चक्कर की रुकावट ;
तोता—आलमारियों और दरवाजों पर लगनेवाली लकड़ी की रोक ;
घोड़ा—बंदूक का चालक पुर्जा ;
भौंरा—कठपुतली, पालने का खीला ;
बुढ़िया का काला—एक तरह की मिठाई ;
पंखा—हवा करने का पंख ,
चंपाकली—एक आभूषण ;
शेरपंजा—एक अस्त्र;
झालर—एक तरह की मिठाई ;
इसी आधार पर ये शब्द भी बने हैं—
घड़े की गर्दन बोतल का गला

कथामुख	पहाड़ की चोटी
कुर्सी की पीठ	नदी की शाखा

§ ६८७ कभी कभी यह अर्थांतरण अमूर्त पदार्थों और भावों में ही हो जाता है, जैसे —

अवलंब (मूलतः लटकना), सहारा, आश्रय ;
मग्न (मूलतः डूबा हुआ), प्रसन्नता, आत्मविस्मृत ;
सड़ना (जलना, गंदा होना), तंग हालत में होना ;
सूल (काँटा, भाला), दर्द ।

रूपक में आकर शब्दों में अर्थपरिवर्तन होता ही है—

जीवन की लहर	जगनाटक
अखिलता	चरणकमल
भवसागर	शांतिसुधा
कड़ी धूप	गरम बाजार
कड़ुवे वचन	मीठी छुरी

आदि ।

§ ६८८ अनेक विदेशी शब्दों को जो लोकव्युत्पत्ति प्राप्त होती है, उसके मूल में भी सादृश्य की कल्पना काम करती है । उदाहरण—

अहिफेन शब्द से लगता है कि यह अफीम या अफयून का संस्कृत रूप बना लिया गया है । सं० वत्सनाभ से हिं० बच्छनाग में नाम के स्थान पर नाग का प्रयोग उसके विषैलेपन के कारण हुआ है । तंबाकू का संस्कृत रूप ताम्रकूट इसलिये बन गया है कि इसका स्वरूप भी ताँबे की चूर की तरह होता है । म्युनिसिपलटी की जगह लोगों ने 'मुंशीपाल' बना लिया है क्योंकि वे देखते हैं कि वहाँ कई मुंशी पलते हैं । चुकंदर को हाथीचोख (हाथी की आँख) कहा गया है जब कि अँगरेजी शब्द है आर्टीचोक । फा० वस्मा (खिजाब) को भस्मा कहा गया है क्योंकि वह राख की तरह होता ही है ।

§ ६८९ शब्दार्थपरिवर्तन का एक और कारण है वक्रोक्ति जिसमें किसी वस्तु को उसके यथार्थ नाम के बजाय दूसरे मंगलसूचक, अथवा (कभी कभी) अमंगल सूचक और कभी हेरफेर के शब्द से पुकारा जाता है । उदाहरण—

शौच (स्वच्छता), पाखाना ;
स्वर्गवास, मृत्यु ;
गंगालाभ, मृत्यु ;
सूरदास, अंधा ;

सीधासादा, मूर्ख ;

महामांस, गोमांस ;

मालिक, पति ;

मेरा आदमी, पति ;

श्रीमती, पत्नी ;

§ ६६० कई शब्द अधिक शिष्टता और नम्रभावना के कारण व्यापक रूप से भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होने लगते हैं, जैसे —

दास — मैं ;

पानपत्ता—उपहार ;

पधारिए—(पाँव धरिए) आइए, बैठिये।

लघुशंका—पेशाब ;

कडुवापानी—शराब ;

मासिक धर्म रजस्वला होना ;

छाती—स्तन ; इत्यादि।

§ ६६१ कोई कोई शब्द व्यवहार में बड़े भीषण और घृणित हो जाते हैं। इनके स्थान पर बहुधा निर्दोष और साधारण शब्दों को अर्थांतरित करके प्रयुक्त किया जाता है, जैसे—

कीरा (कीड़ा) – साँप ;

माता—चेचक ;

देवी—हैजा ;

आगा (मालिक)—पठान बनिया ; इत्यादि।

अच्छी वस्तुओं को बुरे नामों से संबंधित करने में उन्हें देवताओं और लोगों की कुदृष्टि से बचाने का प्रयास रहता है। बच्चों को कभी कभी इसी तरह नाम दिए जाते हैं, जैसे —

फेंकारू—फेंका गया ;

नष्टारू—नष्ट ;

गोबर, कूड़ामल, कल्लू, घिनऊ, इत्यादि।

मांगलिक अवसरों पर 'घी' के स्थान पर 'पानी' शब्द का प्रयोग सुनने में आता है।

सांप्रदायिक घृणा से भी अमंगलभाषित प्रचलित होते हैं, जैसे—

काफिर	कटहुला
म्लेच्छ	फिरंगी
गोरा	पाखंडी।

§ ९९२ सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक और आलंकारिक परिस्थितियों के अतिरिक्त अर्थपरिवर्तन भाषा की अपनी आवश्यकता के कारण भी होते रहते हैं। शिशु अथवा बर्बर मानव का शब्दभांडार तो सीमित होता है, परंतु यदि वह शब्दार्थसंबंधों को भी सीमित रखे तो उसका काम नहीं चलता। वह अपने शब्दों को कभी संकुचित अर्थ में और कभी विस्तृत अर्थ में प्रयुक्त करता है। शिशु सोफे को कुर्सी और छाते को डंडा कहकर अपना मतलब हल कर लेता है। अनेक शब्दों और उनके अर्थों को हम शिशुओं, देहातियों, जंगलियों, स्त्रियों, बूढ़ों, वैज्ञानिकों, शिक्षकों, विचारकों और भाषाक्षेत्र के अन्य लोगों से ग्रहण करते रहते हैं। सभी के योगदान से भाषा का भंडार भरता है। पिछले प्रकरण में हमने देखा कि आवश्यकता पड़ने पर लोग भाषा संबंधी अनेक प्रक्रियाओं द्वारा अर्थों को तोड़ते मरोड़ते, घटाते बढ़ाते रहते हैं, जैसे ध्वनिपरिवर्तन करके, संबद्ध भाव का विस्तार करके, ध्वनि का काल्पनिक अनुकरण करके नए शब्द गढ़के, इत्यादि।

बड़बड़ाना, हड़बड़ाना, भड़भड़ाना, गड़गड़ाना, कड़कड़ाना, तड़तड़ाना, हहराना; फटकना, पटकना, भटकना, गटकना, खटकना, चटकना, झटकना, मटकना, सटकना, हटकना; दर, दार, दरी, दराड़; मल, मैल, मलीन; भार (बोझ, उत्तरदायित्व), जीव (आत्मा, प्राण, प्राणी), फूल (पुष्प, अस्थिशेष, कांस्य), आदि शब्द भाषा संबंधी आवश्यकता के कारण अस्तित्व में आये हैं।

§ ९९३ कभी कभी एक ही मूल शब्द से दो शब्द निकालकर भिन्न अर्थ दे दिए जाते हैं, जैसे—

सं० पाद हिं० पाव (एक चौथाई), पाँव (पैर);
सं० वत्सर हिं० बछड़ा (गाय का बच्चा), बछेरा (घोड़ी का बच्चा।)
सं० पंजर हिं० पिंजर और पिंजड़ा;
सं० कोष्ठ हिं० कोट (किला), कोठा;
सं० जुष्ट हिं० जूठा और झूठा;

§ ९९४ ऐसे युग्मक शब्दों में उनको भी लिया जा सकता है जिनमें एक तत्सम है और दूसरा उसका तद्भव रूप, जैसे—

पृष्ठ (कागज का पन्ना, पीठ) पीठ;
पल्लव (पत्ता), पल्ला (कपड़े का छोर);
दंड (डंडा, सजा), डंडा;
जटा (उलझे बाल), जड़;
पक्ष (पार्श्व), पंख; इत्यादि।

§ ६६५ कभी कभी व्याकरण के प्रयोग द्वारा भी अर्थ में भिन्नता आ जाती है। देखिए—

जायगा—वह कलकत्ता जायगा ;

हमसे यह दुःख न सहा जायगा ;

खेल—मेरे साथ खेल (क्रि॰) ;

दुनिया का खेल (संज्ञा)।

गंगा—गंगा आ गया ;

गंगा आ गई।

खोज—(स्त्रीलिंग)—अन्वेषण।

(पुल्लिंग)—पता।

तुलना कीजिए—इतना और इतने, सारा और सारे, और (संयोजक) और और (विशेषण), कहाँ (किसी जगह) और कहीं (कभी), इत्यादि।

§ ६६६ बहुधा भाषाशास्त्रियों का कहना है कि भाषा संबंधी और सांस्कृतिक परिस्थियों के पीछे भी मनोवैज्ञानिक कारण होते हैं। परंतु वे ही विद्वान् जब इस बात की व्याख्या करने लगते हैं तो तार्किक, मनोवैज्ञानिक और वैयाकरणिक पक्षों की समीक्षा अलग अलग करते हैं। एक समय था जब तर्कशास्त्र और मनोविज्ञान एक माने जाते थे, लेकिन आज दोनों में भेद करके इन्हें पृथक् विषय स्वीकार किया गया है। तार्किक परिस्थितियों के कारण शब्दार्थपरिवर्तन मनोवैज्ञानिक परिस्थिति से भिन्न होता है। उदाहरणस्वरूप जब विशिष्ट अर्थ सामान्य और सामान्य विशिष्ट अर्थ ग्रहण करता है तब तर्कबुद्धि की प्रक्रिया अपना कार्य करती है, चाहे वह अवचेतन रूप से ही क्यों न हो। अर्थों का विकास तर्कसंगत होता है।

सं॰ सिंधु का अर्थ 'समुद्र' के अतिरिक्त भारत की सबसे बड़ी नदी के लिये हो गया है, अथवा फा॰ दरिया का अर्थ 'समुद्र' की जगह 'नदी' है, अथवा पक्ष के अर्थ पहलू, पंख, चांद्र मास के दो भाग आदि हैं तो इसमें एक तर्कसंगति दिखाई देती है। कोश में किसी भी शब्द के अर्थों को पढ़िए, उनकी विविधता में एक तर्क रहता है। कई कोशकार अपने अर्थों को एक सुनिश्चित तार्किक संबंध में जोड़कर क्रमबद्ध करते हैं, इससे अर्थविकास की प्रक्रिया पर प्रकाश पड़ता है। निम्नलिखित नए उदाहरणों में अर्थों का तार्किक संबंध विचारणीय है :

छुट्टी—अवकाश, छुटकारा ;

छींट—बूँद, रंगदार बूँदोंवाला कपड़ा ;

अर्चना—सत्कार, पूजा ;

आखु—चूहा, चोर ;
उजाला—प्रकाश, दिन ;
उफान—उबाल, फेन ;
ऊपरी—ऊपर का, बाहर का, दिखावटी, बनावटी ;
एक्का—अकेला; एक पहिएवाली गाड़ी, एक ही बूटीवाला ताश का पत्ता ;
औंधा—(सं० अवमूर्ध) सिर के बल, मुँह के बल, उलटा, टेढ़ा ;
कच्चा—अपक्व, हरा, अपूर्ण, नियमरहित, अनभ्यस्त ।

§ ६६७ जिस शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, उसका संबंध निश्चय ही तार्किक शब्दक्रम से होता है । सैंधव के संस्कृत मे दो अर्थ हैं—सिंधुदेश का घोड़ा और सेंधा नमक । खाने पर बैठे हो और पहला ही कौर मुँह में डालने पर कहा जाए कि 'सैंधवमानय', तो नौकर घोड़ा नहीं लायगा, नमक ही लायगा । 'तुलसी' का अर्थ 'तुलसीदल' और 'तुलसीकृत रामायण' में स्पष्ट है । 'काम' का अर्थ अपने तर्कसंगत क्रम—कामवासना और काम समाप्त कर लिया—में निश्चित हो जाता है ।

§ ६६८ पर्यायवाची शब्दों के अर्थों का अलगाव भी तार्किक प्रक्रिया से होता है और एकता मे अनेकता ला दी जाती है । 'कथा' और 'कहानी' है तो एक ही, पर तार्किक संगति के नाते कथा का संबंध धार्मिक कहानी से अधिक रहा है । व्यापार और वाणिज्य में वही अंतर आ गया है जो अँगरेजी ट्रेड और कामर्स में है । अर्थशास्त्र का धनविद्या के लिये और अर्थविचार का शब्दार्थ विज्ञान के लिये प्रयोग तार्किक अलगाव का फल है । 'देश', 'प्रदेश' और 'प्रांत' में अंतर मान लिया गया है । इसी प्रकार निम्नलिखित पर्यायों के अर्थ के विशिष्टीकरण पर विचार कीजिए—

कर्तव्य (ड्यूटी),	कृत्य (फंक्शन) ;
लेख (राइट),	लेख्य (डाक्युमेंट) ;
अन्यदेशीय (एलीन),	विदेशी (फारेन) ;
हित (बेनीफिट),	लाभ (प्राफिट) ;
परिषद् (कौंसिल),	समिति (कमेटी) ;
पान (बीटेल लीफ),	पन्ना (लीफ) ;
पृष्ठ (पेज बैक),	पीठ (बैक) ;
संबंधी (रिलेटिव),	समधी (चाइल्ड्स-फादर-इन-ला);

इत्यादि ।

शब्दों को पारिभाषिक अर्थ देने में भी यही तार्किक विशिष्टीकरण की प्रक्रिया काम करती है।

समासयुक्त शब्द के किसी एक अंग का लोप हो जाने पर पूरे अर्थ का आभास प्राप्त कराना भी तर्कबुद्धि का काम है।

§ ६६६ यह मानी हुई बात है कि वाक्य में शब्दों का क्रमनिश्चय प्रत्येक भाषा के अपने तर्क पर निर्भर है। और यह भी सच है कि इस क्रम में किसी तरह का व्यतिक्रम वाक्य तथा शब्द के अर्थ को परिवर्तित कर देता है। उदाहरणार्थ तुलना कीजिए—

१—क्या वह चित्र बनाता है ?
   वह क्या चित्र बनाता है ?

२—बंदर घोड़ा लाया ;
   घोड़ा बंदर लाया ।

३—आकर ले ;
   लेकर आ ।

———

खंड ४

वाक्य तथा हिंदी वाक्यरचना

वाक्य तथा हिंदी वाक्यरचना

वाक्यविचार

भाषा का मुख्य उद्देश्य संप्रेषणीयता है अर्थात् वक्ता जिन भावों या विचारों से श्रोता को अवगत कराना चाहता है, वे उसी रूप में श्रोता तक पहुँच जाएँ, वह उनको उसी रूप में समझ ले। वक्ता का मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि वक्ता अपने श्रोता को अपनी वाणी द्वारा प्रभावित भी करना चाहता है। इसीलिये भाषा के अभ्यास तथा विद्वान् मित्रों के संसर्ग की आशंका की गई है। इसी में वाणी की शक्ति निहित है, जिसपर मुग्ध होकर वाणी की वंदना की गई है, उसके गुण गाए गए हैं तथा उसके महत्व को प्रकट किया गया है।

भाषा की संप्रेषणीयता को दृष्टिगत रखते हुए वाक्य का निम्नलिखित रूप में विवेचन किया गया है—

'वाक्य उस पदसमूह को कहते हैं जो (श्रोता के प्रति) वक्ता के वक्तव्यभाव के बोधन में समर्थ हो।'[1]

'वाक्य बोली का एक अंश है अर्थात् श्रोता के समक्ष अभिप्रेत को, जो सत्य है, प्रस्तुत किया जाता है।'[2]

अस्तु। अभिप्रेत अथवा वक्तव्य का प्रस्तुतीकरण वाक्य का भी मुख्य उद्देश्य रहा। उसका क्या रूप होगा, क्या गठन होगा आदि (या न भी होगा—संकेत, हाव भाव आदि से भी संप्रेषण होता है) तथ्य तो स्वतःसिद्ध होते हैं। संभवतः यही सोचकर उपर्युक्त परिभाषाओं में इन तथ्यों की ओर संकेत नहीं किया गया है। साथ ही, इन तथ्यों का सीधा संबंध भी संप्रेषणीयता से न होकर वाक्य की अभिव्यक्ति से है जिसको संप्रेषणीयता का आधार कह सकते हैं।

§ १००२ अभिव्यक्ति की पृष्ठभूमि मे भारतीय मनीषियों ने 'वाक्यस्फोट' की उद्भावना की है। स्फोट का अर्थ होता है 'स्फुटति अर्थोऽस्मात्' अर्थात् जिससे अर्थ प्रस्फुटित हो। स्फोट नित्य, अखंड तथा एकरस होता है। स्फोट में लघुता, महत्ता आदि गुण नहीं होते। ध्वनि, जो स्फोट का गुण है, अनित्य तथा

[1] देखिए—हिंदी व्याकरण तत्त्वबोध, माधवप्रसाद पाठक, १९०६, पृष्ठ ४८।

[2] देखिए—कार्ल एफ० हुंबजन : लिंग्विस्टिक थ्योरी ऐंड पर्सेस आफ द सेंटेंस, एडी. ४, पृष्ठ ४०।

लघुता महत्ता आदि से युक्त होती है। पतंजलि ने स्फोट और ध्वनि का अंतर स्पष्ट करते हुए भेरी के शब्द का उदाहरण देकर बताया है कि भेरीध्वनि दूरी के अनुपात में मंद होती जाती है, किंतु स्फोट (शब्द) एकरस रहता है। वाक्य की अखंडता का सिद्धांत उसी रूप में ग्राह्य है जिसमें पदों की सत्ता भेरी की ध्वनि के समान नित्य तथा अखंड है। वाक्य एक अखंड इकाई होता है। भारतीय मनीषियों के बीच यह एक बड़ा विवादास्पद विषय रहा है, जिसका समाधान अंत में इसी निश्चय के साथ हुआ कि वाक्य की अखंड सत्ता है, पदों की सत्ता तो अविद्वानों को ज्ञान कराने के हेतु रखी गई है।[1] वास्तव में वाक्य की अखंडता के संबंध में हमारी एकमात्र कठिनाई उस समय प्रकट होती है जब हम लिखते हैं, अन्यथा साधारणतया बिना किसी कठिनाई के बोले जाने वालों में पूर्ण इकाई होती है। लिखते समय हमको अन्यान्य बातों को ध्यान में रखना पड़ता है, जिससे हम किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं।[2]

निम्नलिखित ऋचा में भी वाक्यस्फोट का प्रतिपादन हुआ है —

'यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति'[3]

व्यापक दृष्टि से देखें तो स्फोट चराचर जगत् में व्याप्त है तथा जगत् की गत्यात्मकता का आधार है। बाह्य जगत् से इतर अंतर्जगत् में मन के स्फोट का रूप ध्यान है जो वाणी के रूप मानसिक स्थिति में अभिव्यक्त होता है।[4] अ

§ १००३ वाक्य की अभिव्यक्ति वस्तुतः वक्ता की विभिन्न मानसिक स्थितियों की ध्वन्यात्मक अभिव्यंजना है। वह क्रुद्ध है, जिज्ञासु है, श्रद्धा अथवा द्वेष के भावों से अभिभूत है, आदि आदि मानसिक स्थितियों का सहज प्रकटीकरण वाक्य द्वारा होता है।[4] ब यदि मानसिक स्थितियों का विश्लेषण करके देखें तो हमें

[1] (क) देखिए—वाक्यपदीय २।५८ तथा १।७३ (ख) जे० वेंड्रीज : लग्वेज ५२ पृ० ४८
(ग) बाबूराम सक्सेना—हिंदुस्तानी, भाग १, अंक २, अप्रैल, ३१ में प्रकाशित लेख 'ध्वनिविज्ञान में प्रयोग'।

[2] देखिए—यजुर्वेद का ब्राह्मण।

[3] देखिए—एफ० जी० बाल्काट, सी० डी० थारपे, एस० पी० सेवंजी : थ्रोथ इन थाट ऐंड एक्सप्रेशन प्लो०, ४०, पृष्ठ ३४।

[4] 'अ' स्वाभाविक एवं सहज रूप में मन में जो विचार उठते हैं, उन्हीं का प्रकटीकरण वाणी द्वारा होता है, किंतु सभ्यता के विकास के साथ उपार्जित व्यवहार संभव हो गया है और फलस्वरूप मन में कुछ रखना है और वाणी से प्रकट करते हैं कुछ—मन में देते हैं गाली और वाणी से करते हैं प्रशंसा तथा खुशामद।

[4] 'ब' वाक्य वाणी की अभिव्यक्ति है और वाणी वक्ता की अनुभूति की अभिव्यक्ति। अतएव वाक्य का मूल रूप भावपूर्ण, संक्षिप्त तथा आवेगपूर्ण होता है। इसलिये कुछ वैयाकरणों ने वाक्यार्थ की समावना भावना से की है।

दो प्रकार की मानसिक स्थितियाँ मिलेंगी—प्रवृत्यात्मक और निवृत्यात्मक। मनुष्य कुछ काम करने के लिये प्रवृत्त होता है और कुछ को नहीं करना चाहता तथा उनसे निवृत्त होता है। इसी प्रवृत्ति निवृत्ति अथवा राग द्वेष के अंतर्गत मनुष्य की मानसिक स्थिति तथा व्यवहार का प्रकटीकरण होता है जिसकी अभिव्यक्ति वाक्य द्वारा होती है। यह वाक्य लिखित वाक्य की भाँति स्थिर नहीं होता प्रत्युत स्फोट के अनुकूल गत्यात्मक होता है। उदाहरणस्वरूप एक दो वाक्यों का यहाँ उल्लेख किया जा सकता है—

लिखित रूप—मैं पाठशाला जाता हूँ।

उच्चरित विभिन्न रूप—मैं पाठशाला जाता हूँ।

मैं पाठशा। ला। जाता हूँ।

मैं पाठशाला | जा | ता हूँ।

मैं पाठशाला जाता | हूँ। |

बाबूराम सक्सेना ने भी इसी प्रकार अवधी के 'तुम जाइ आएउ' के सुर की प्रतीति का निर्देश ग्राफ पेपर पर खींची गई वक्र रेखाओं से किया है तथा इस एक ही वाक्य के चार रूपों का अध्ययन किया है।[1] १—वर्णनात्मक, २—आज्ञात्मक, ३—प्रश्नात्मक तथा ४—विस्मयात्मक।

उच्चरित वाक्यों की इन तथा इस प्रकार की अन्य विशेषताओं को सुर या स्वरों का आरोह-अवरोह, बलाघात ह्रस्व दीर्घ मात्राएँ, विराम आदि' नामों से अभिहित किया गया है। जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है, इन तत्वों का सीधा संबंध वक्ता की मानसिक स्थिति अथवा उसके राग द्वेष या प्रवृत्ति निवृत्ति से है। इसलिये संभवतः विश्वनाथप्रसाद ने इन तत्वों को रागात्मक तत्त्व नाम देना उपयुक्त समझा है।

इन तत्वों की ओर भाषाविशेषज्ञों का ध्यान गया है तथा विभिन्न चिह्नों के द्वारा उच्चरित वाक्यों की इन विशेषताओं को लिखित रूप देने के प्रयत्न चल रहे हैं। उच्चरित भाषा को इन विशेषताओं के आधार पर ही जीवित भाषा कहा जाता है तथा लिखित भाषा को इसकी छाया मात्र।

§ १००४ अभिव्यक्ति के अंतर्गत दो बातों पर और विचार कर लेना आवश्यक है और वे हैं—(१) अभिव्यक्ति की परिस्थिति, एवं (२) अभिव्यक्ति की परिसीमा।

[1] वही, देखिए ६ (ग) के अंतर्गत उद्धृत।

अभिव्यक्ति की परिस्थिति – विशेष होती है। कल्पना कीजिए कि एक मनुष्य का समाज से दूर ऐसे वातावरण में पालन पोषण हुआ है, जहाँ वह एकाकी रहा है तथा किसी अन्य प्राणी से संपर्क करने का अवसर उसे नहीं मिला। उसके लिये वाणी के प्रयोग का प्रश्न ही नहीं उठता। समाज में मनुष्य विभिन्न प्राणियों के संपर्क में आता है तथा उनसे प्रभावित होता या उनको प्रभावित करता है अथवा यह कहना चाहिए कि समाज में विभिन्न व्यक्तियों का द्वंद्व चलता है जिसके फलस्वरूप मानसिक स्थितियाँ, प्रवृत्ति निवृत्ति वा रागद्वेष के अवसर प्रकट होते हैं। इन अवसरों को वक्ता की परिस्थिति कह सकते हैं। ये परिस्थितियाँ आगे चलकर एक दूसरे से अनुबंधित हो जाती हैं तथा पूर्वापर संबंध अथवा प्रसंग का सृजन करती हैं। एक बार की बातचीत दूसरे अवसर पर पुनः दुहराई नहीं जाती, प्रत्युत पूर्वसंदर्भ का काम देती है और दूसरे अवसर पर उससे आगे बातचीत होने लगती है। वाक्य की अभिव्यक्ति में इस प्रसंगपरिस्थिति का महत्वपूर्ण हाथ होता है। ऐसे वाक्यों को लिखित रूप में प्रकट करना कठिन होता है क्योंकि लिखित रूप में प्रसंग और परिस्थिति का अभाव ही रहता है। फलस्वरूप उच्चरित वाक्यों के दो एक उदाहरण यहाँ उद्धृत किए जा रहे हैं –

'मीठी मीठी हमें बहुत अच्छी लगेंगी।'

'कहो, साब' 'ठीक है जी'।

अभिव्यक्ति की परिसीमा – अभिव्यक्ति की दृष्टि से बातचीत को दो रूपों में विभाजित किया जा सकता है –

(१) श्वास वर्ग (२) बोध वर्ग।

वक्ता अपना अभीष्ट एक श्वास में प्रकट नहीं कर पाता। उसे बीच बीच में विश्राम लेने के लिये श्वास लेना पड़ता है। इस अवधि में प्रकट वाक्य श्वास वर्ग के अंतर्गत आते हैं। जब अर्थ को प्रकट करने के लिये श्वास लेने की आवश्यकता न प्रतीत होते हुए भी पदों की घनिष्टता दिखाने के लिए श्वास लिया जाता है तो उसके अंतर्गत प्रकट ध्वनिसमुदाय बोधवर्ग कहलाता है। बोधवर्ग को साधारणतया अर्धविराम (,) से प्रकट किया जाता है। वाक्य की परिसीमा का प्रश्न इस प्रसंग में विचारणीय है। इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए वैयाकरणों ने निम्नलिखित विचार प्रकट किए हैं –

§ १००६ 'पूर्ण विचारद्योतक पदों के समूह को वाक्य कहते हैं।' यह परिभाषा १०० ई० के लगभग पाश्चात्य विद्वानों द्वारा दी गई थी।[1] भाषा-

[1] देखिए—फ्राइज द स्ट्रक्चर आफ इंग्लिश, पृ० ९।

विज्ञान के शब्दकोष, पादरी एथरिंगटन तथा कामताप्रसाद गुरु के व्याकरण में भी इसी प्रकार की परिभाषाएँ दी गई हैं।[1]

शिवप्रसाद सितारेहिंद ने पूर्ण अर्थ को पूर्ण तृप्ति कहा है—

'यौगिक चाहे दो शब्दों से बना हो चाहे अधिक से, उपयोगी होगा या अनुपयोगी। उपयोगी वह है जिसका सुननेवाला पूरा तृप्त हो जाय और कुछ सुनने की उसे आकांक्षा न रहे।[2]

पूर्ण विचार की पहचान के लिये वाक्यों को स्वयं ज़ोर से पढ़ने तथा अनुभव करने के लिये कहा गया, जिससे पूर्ण विचार के अनुसार उचित विराम चिह्न आदि लगाए जा सकें तथा एक वाक्य को दूसरे से पृथक् किया जा सके।[3]

इसी संदर्भ में वाक्य में अर्थ या विचार की पूर्णता का रहस्य प्रकट करते हुए बताया गया कि पहले से हम सदा किसी वस्तु स्थान या व्यक्ति का नाम लेते हैं और फिर बाद में उस वस्तु, स्थान या व्यक्ति के बारे में कुछ कहते हैं। जब तक हम ये दो बातें नहीं कर लेते इस पूर्ण वाक्य नहीं बना सकते।[4]

वाक्य की परिसीमा का विवेचन करते हुए इस प्रकार पूर्ण विचार या पूर्ण अर्थ को आधार बनाया गया है, किंतु किसी भी एक वाक्य का उदाहरण लेकर देखा जा सकता है कि यह आधार भ्रमपूर्ण है। जैसे कहें—'राम गंगास्नान को जा रहा है' तो विचार या अर्थ को पूर्णता इसके साथ कौन सा राम, मेरा भतीजा राम या सोहन का भाई राम, कब जा रहा है, कब वापस आएगा, आदि अन्यान्य प्रश्नों का उत्तर प्राप्त होने पर ही घटित हो सकेगी।

वास्तविकता यह है कि वैयाकरणों की दृष्टि वाक्य के लिखित रूप तक सीमित थी और इसलिये पूर्ण अर्थ या पूर्ण का उनका तात्पर्य सीमित अर्थ में ग्राह्य रहा है। लिखित रूप की सीमाओं को दृष्टिगत रखते हुए व्याकरण के उपर्युक्त विवेचन के अंतर्गत वाक्य को एक क्रिया की समाप्ति तक पूर्ण माना जाता है। अतएव उपर्युक्त इस रूप में पूर्ण है कि इसमें राम एक कर्ता है जो गंगास्नान जाने का कार्य कर रहा है।

[1] देखिए—पाई डिक्शनरी आफ लिंग्विस्टिक्स, ५४, पृष्ठ १६४।
[2] ,, — भाषाभास्कर—एथरिंगटन, पैरा २५४।
,, व्याकरण—कामताप्रसाद गुरु, पैरा ६७७।
,, ,, शिवप्रसाद सितारेहिंद—हिंदी व्याकरण, १८७६, पैरा १४०।
[3] ,, डब्ल्यू० टी० एस०—ग्रोथ इन थाट ऐंड एक्सप्रेशन, ४०, पृ० ३१, ३५, ३७।
[4] वही, पृ० ६१, ६२।

§ १००७ आधुनिक भाषाविशेषज्ञ इस प्रकार की परिभाषा तथा इस प्रकार की व्याख्या से संतुष्ट नहीं हैं। वे देखते हैं कि इस प्रकार की व्याख्या का आधार विरामचिह्न है। जहाँ पूर्ण विराम चिह्न लगा दिया जाय वहीं वाक्य पूर्ण समझ लिया जा सकता है और विरामचिह्न लगाने में सब एकमत नहीं हो सकते। उदाहरणस्वरूप आचार्य शुक्ल जी के दो वाक्यों को यहाँ ले सकते हैं[1]। इन दोनों वाक्यों को अन्य विद्वान् एक वाक्य के रूप में लिखना अधिक पसंद करेंगे—

'विद्वत्ता किसी विषय की बहुत सी बातों की जानकारी का नाम है।'

'जिसका संचय बहुत कष्ट, श्रम और धारणा से होता है।'

वक्ता की बातचीत की ओर ध्यान दें तो एक तथ्य प्रकट होता है। वक्ता अपने मौनभंग से लेकर पुनः मौन होने तक जो कुछ कहता है, उसमें एक सतत संबंध होता है। इसमें कई श्वास वर्ग और बोध वर्ग आ सकते है। वक्ता बीच में श्रोता द्वारा रोका भी जा सकता है और इस प्रकार उसके कथन का दूसरा सिरा व्याघात पर समाप्त हो जाता है, अथवा वह श्रोता के व्याघात का समाधान करके आगे बढ़ जाता है और अपना कथन जारी रखता है। वक्ता के इस कथन में तीन रूप मिलते हैं जिनको कथन के अंश कह सकते हैं[2]—

(१) एक न्यूनतम स्वतंत्र कथन—केवल एकशब्द वाक्य—जाओ,

(२) एक न्यूनतम स्वतंत्र कथन, विस्तृत (न्यूनतम नहीं)—एक से अधिक शब्द एक इकाई के रूप में—लो, मैं तो चला।

(३) दो या अधिक स्वतंत्र कथनों का एक क्रम—एक से अधिक शब्द विभिन्न इकाइयों के रूप में—

मोहन तो गया, जाने दो, उसको। हमें और तुम्हें क्या करना है, चलना या नहीं

स्वतंत्र कथन की विधा पर आगे विचार करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि स्वतंत्र कथन के निर्णायक तत्व 'उत्तेजना समाधान' या 'व्यवहार प्रतिक्रिया' सिद्धांत हैं।

§ १००८ वाक्य की अभिव्यक्ति जैसा, ऊपर देख चुके हैं, स्फोट, प्रवृत्ति, निवृत्ति अथवा राग द्वेष के अंतर्गत होती है, जिसको उत्तेजना समाधान भी कह सकते हैं। वक्ता की आंतरिक उत्तेजना वाक्य के रूप में प्रकट होती है। यह वाक्य वक्ता की आंतरिक उत्तेजना का समाधान होता है, क्योंकि इस वाक्य की अभिव्यक्ति के पश्चात् वक्ता की उत्तेजना शांत हो जाती है, किंतु वक्ता का यही

[1] 'चिंतामणि', इंडियन प्रेस, प्रयाग ५६, पृ० २६।

[2] देखिए—फ्राइस : द स्ट्रक्चर आफ इंग्लिश, हारकोर्ट बी०—क्र० ४५, पृ० १५।

समाधान उच्चरित या अभिव्यक्त वाक्य श्रोता की उत्तेजना बन जाता है और श्रोता उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप जो कार्य करता है या जो उत्तर देता है, वह उसका समाधान होता है।

इसको निम्नलिखित रेखाचित्र द्वारा दिखलाया जा सकता है—

वक्ता		श्रोता	
उ →	→ स →	→ उ →	→ स
परिस्थितियाँ जो उत्तेजना उत्पन्न करती हैं	उच्चरित शब्द	श्रुत शब्द	कृतकार्य या उत्तर
	विशेष शब्द जो श्रोता के लिये उत्तेजना बन जाते हैं		
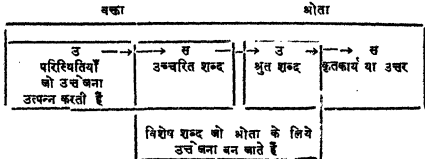
इस प्रकार उत्तेजना से समाधान तक—(उ)—स—उ—(स) तक एक वाक्य की सीमा होती है। निर्णायक आधार उत्तेजना के समाधान होंगे। यह संभव है कि वक्ता को एक के स्थान में एक क्रम में दो उत्तेजनाएँ हों और वह उनका समाधान कर ले, जैसा दो या अधिक स्वतंत्र कथनों के क्रम के अंतर्गत दिए गए उदाहरण से प्रकट है।

वक्ता		वक्ता ही	
उ	स	उ	स
(मोहन को जाता देखकर)	मोहन तो गया, तो जाने दो उसको	(मोहन के साथ के अभाव में)	हमें और तुम्हें क्या करना है, चलना है कि नहीं?

भाषा की स्वाभाविक प्रवृत्ति का अध्ययन करते हुए बाबूराम सक्सेना ने वाक्य की परिसीमा पदों की संख्या में भी आबद्ध की है।[1]

विज्ञान की दृष्टि से हम लोग वाक्य ही बोलते हैं, ये वाक्य प्रायः पाँच छह शब्दों से अधिक के नहीं रहते। लंबे-लंबे वाक्य जो हमें साहित्यिक भाषा में मिलते हैं, स्वाभाविक नहीं, कृत्रिम हैं।

ये पाँच छह शब्द कौन से होंगे, यहाँ यह जिज्ञासा स्वाभाविक है, जिसका समाधान वाक्य के रूप पर विचार करके किया जा सकता है।

[1] बाबूराम सक्सेना - सामान्य भाषाविज्ञान, २०१६, हि० सा० स०, प्रयाग।

वाक्य के रूप का विवेचन करते हुए मुख्य रूप से वाक्य का गठन सामने आता है। वाक्य के रूप को दृष्टिगत रखते हुए भाषाओं को दो वर्गों में विभाजित किया गया है—

(१) संश्लेषणात्मक, (२) विश्लेषणात्मक

भारत यूरोपीय-परिवार की भाषाएँ धीरे धीरे संश्लेषणात्मक से विश्लेषणात्मक होती जा रही हैं[1] जिसके कारण वाक्यगठन अथवा पदक्रम की महत्ता बढ़ती जा रही है। संश्लेषणात्मक भाषाओं में पदक्रम का कोई महत्व नहीं होता, किंतु विश्लेषणात्मक भाषाएँ मूलतः पदक्रम पर आधारित होती हैं।

§ १००९ वाक्यगठन प्रत्येक भाषा का अपना अलग होता है तथा उसके अनुरूप वाक्यरचना से ही वाक्य की अभिव्यक्ति संभव है। वाक्यगठन में पदों के विशेष क्रम तथा विशेष स्थान—ये दो तथ्य विशेष रूप से अवलोकनीय हैं। विशेष क्रम के अंतर्गत पदों का एक क्रम निश्चित होता है। उससे इतर क्रम से अर्थ में व्यवधान पड़ जाता है। विशेष स्थान के अंतर्गत वाक्य में पदों के विशेष स्थान निश्चित होते हैं जहाँ आसीन होने पर पद तदनुकूल अर्थ की व्यंजना करने लगते हैं। इन दोनों तथ्यों के साथ विशेष पदों की अनिवार्यता पर भी विचार किया गया। इस प्रकार वाक्यगठन के अंतर्गत निम्नलिखित तीन तत्वों पर विचार किया गया है—

१. विशेषक्रम २. विशेषस्थान ३. विशेषपदों की अनिवार्यता।

§ १०१० विशेषक्रम का उल्लेख प्रायः व्याकरणों में किया गया है। व्याकरण का प्रारंभिक ज्ञान कराने के लिये वाक्यरचना की इस विशेषता की ओर छात्र का ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक होता है। हिंदी के वैयाकरणों द्वारा दिए हुए कतिपय उदाहरण यहाँ द्रष्टव्य हैं—

'वाक्य रचना की साधारण रीति यह है कि पहले कर्ता तब यथायोग्य स्थान में करणादि (कारक), तत्पश्चात् कर्म और तदनंतर क्रिया रखी जावे।'[2]

'वाक्य में साधारणतया सबसे पहले कर्ता, फिर कर्म तथा अंत में क्रिया रहती है। विशेषण संज्ञा या सर्वनाम के पहले या बाद को रखा जाता है। क्रियाविशेषण क्रिया के पहले आता है।'[3]

[1] संश्लेषणात्मक—संस्कृत, विश्लेषणात्मक—हिंदी, अंग्रेजी।
[2] माधवप्रसाद पाठक—हिंदी व्याकरण तत्वबोध, १९०६, पृ० ४४।
[3] धीरेंद्र वर्मा : ब्रजभाषा व्याकरण, १९३७, पृ० १२६।

यहाँ उच्चरित वाक्य की पद-क्रम-गत विशेषता की ओर ध्यान देना आवश्यक है। उच्चरित वाक्य के गठन अथवा पदक्रमयोजना का मूल प्रेरक तत्व वक्ता की आतरिक मानसिक स्थिति होती है। वक्ता अपने अभीष्ट के उस अंश को पहले रखता है, जिसको वह महत्वपूर्ण समझता है—महत्वपूर्ण इस दृष्टि से कि वक्ता की अपनी परिस्थितियों में अपने अभीष्ट के जिस अंश को वह श्रोता को विशेष रूप से सुनाना या बताना चाहता है। उच्चरित वाक्यों के कतिपय उदाहरण प्रस्तुत करके इस तथ्य को स्पष्ट किया जा रहा है—

'मथुरा मे ऐसी दाल नहीं होती थी कभी।'

'दो बज जाय तो बता देना हमें।'

'एक बाल तो गेहूँ की नहीं निकाल सकते हैं आप।'

'चाबी तो नहीं पड़ी है वहाँ।'

'हे दो देर हो रही है जल्दी।'

'मैं आशा करता हूँ कि हम और आप सहयोग करेंगे दुनिया में शाति का कार्य बढ़ाने के लिये।'

उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह है कि उच्चरित रूप में लिखित रूप के लिये निश्चित पदक्रम अथवा गठन महत्व नहीं रखता। वक्ता अभिव्यक्ति को अपनी मानसिक स्थिति के अनुकूल मोड़ लेता है। यह अवश्य है कि निकटतम पदानुशीलन के अध्ययन के अतर्गत वाक्यों के ऐसे रूपों की खोज हो सकेगी जिनमें निकटतम पदो की अनिवार्यता अपेक्षित होगी।

इसी प्रकार के विश्लेषण के आधार पर लिखित रूप के पदक्रम की उद्भावना की जाती है। भाषा विकसित होती रहती है। इसी कारण एक अवधि के पश्चात् लिखित तथा उच्चरित रूप के पदक्रम मे अतर आ जाता है। आजकल यदि उच्चरित रूप का विश्लेषण किया जाय तो ज्ञात होगा कि विशेष स्थितियों में कर्म को क्रिया के पीछे रखने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है जैसा कि उपर्युक्त उच्चरित भाषा के दिए गए उदाहरणों से प्रकट है। लिखित रूप में भी यह प्रवृत्ति बढ़ रही है। संभव है कि भविष्य में हिंदी के अब तक के निश्चित पदक्रम कर्ता, कर्म, क्रिया में वैयाकरणों को परिवर्तन करना पड़े।' (अ)

§ १०११ विशेष स्थान का महत्व वाक्यगठन के स्वरूप से संबंधित है। इसको समभिव्याहार भी कहा गया है और समभिव्याहार की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

[1] (अ) ह्वाट इज़ राग टुडे मे बिकम परफेक्टली करेक्ट ग्रामर—तारापुरवाला।

'बिना किसी व्यवधान के सरलतापूर्वक अभीप्सित वाक्यार्थबोध के लिये वाक्यगत पदों की क्रमयुक्त स्थिति को समभिव्याहार कहते हैं''' बिना इसके अर्थ का अनर्थ होना सहज है। पदस्थिति में व्यत्यय या जिसके द्वारा सर्वथा विपरीत अर्थबोध होना कोई असंभव बात नहीं है। जैसे कोई कहना चाहता है—'साहु ने चोर को पकड़ा'। यदि वह इस वाक्य के पदों में कुछ व्यत्यय करके 'साहु' के स्थान पर 'चोर' और 'चोर' के स्थान पर 'साहु' को रखें तो अर्थ सर्वथा विपरीत होकर 'चोर ने साहु को पकड़ा' हो जायगा।'[1] (ब)

§ १०१२ विशेष पदों की अनिवार्यता के संबंध में भी वैयाकरणों ने अपना निश्चय प्रकट किया है जो कई दृष्टियों से भ्रांत प्रमाणित होते हैं क्योंकि आज यह धारणा बल पकड़ चुकी है कि किसी विशेष पद की अनिवार्यता वाक्य की अभिव्यक्ति के लिये आवश्यक नहीं हो सकती। वाक्य विभिन्न परिस्थितियों में चाहे जिस पद से बन सकता है। यह धारणा वाक्य के बाह्य रूप को देखते हुए संगत है, जैसा निम्नलिखित विवेचन से स्पष्ट है :

प्राचीन आचार्यों ने क्रिया की अनिवार्यता पर बड़ा बल दिया है। उन्होंने वाक्य की परिभाषा देते हुए 'क्रिया को ही वाक्य' बताया।[2]

'वाक्य में कम से कम एक क्रिया अवश्य होती है। उसके बिना वाक्य बन नहीं सकता।'[3] कुछ अन्य वैयाकरणों ने कर्ता और क्रिया की अनिवार्यता पर बल दिया।

'वाक्य में प्रत्येक कारक नहीं चाहिए, परंतु कर्ता और क्रिया के बिना वाक्य नहीं बनता।'[4] 'वाक्य दो शब्दों से कभी कम नहीं होगा और उन दो में से एक का क्रिया और दूसरे का कर्ता होना भी अवश्य होगा।'[5]

कर्ता और क्रिया को दूसरे शब्दों से अभिहित करते हुए यही विचार अन्य वैयाकरणों ने इस प्रकार प्रकट किए हैं—

पूर्ण विचार को व्यक्त करने के लिये दो बातें आवश्यक हैं—

(१) उद्देश्य जो किसी वस्तु या भाव का नाम होता है तथा जिसके संबंध में कोई बात कही जाय।

[1] (ब) शिवनाथ एम० ए०—हिंदी कारकों का विकास, प्रथम सं०, पृ० १२।
[2] आख्यातं सविशेषणम् (पत० महा० २, १, १)।
[3] किशोरीदास वाजपेयी—ब्रजभाषा व्याकरण, २०००, पृ० २३।
[4] एथरिंगटन—भाषा भास्कर, १८७१, पैरा ३५४।
[5] शिवप्रसाद सितारेहिंद—हिंदी व्याकरण, १८७६—पृ. १४०—१४१।

(२) विधेय, जो उद्देश्य के संबंध में कोई बात कहे।'[1]

साहित्यदर्पणकार ने किसी भी पद की अनिवार्यता आवश्यक नहीं समझी और कहा कि 'प्रसिद्धि आदि के आधार पर वाक्य के स्थान पर वाक्यांश, पद के स्थान में पदांश का प्रयोग किया जा सकता है'।[2]

पदों की अनिवार्यता के संबंध में एक मुख्य बात यहाँ समझ लेनी चाहिए। वाक्य में प्रवृत्ति निवृत्ति अथवा उत्तेजना समाधान के रूप में वक्ता के विचारों की अभिव्यक्ति होती है। इस अभिव्यक्ति का विश्लेषण करने से ज्ञात होगा कि उत्तेजना और समाधान में कारण-कार्य-संबंध होता है। अतएव क्रिया किसी न किसी रूप में अनिवार्य रहती है। यह अवश्य है कि कुछ परिस्थितियों में क्रिया प्रत्यक्ष रूप में न तो प्रकट ही होती है और न उसकी उस रूप में आवश्यकता ही होती है। उसका स्वतः ही अध्याहार हो जाता है। जैसे, संबोधन में मोहन कहके पुकारना पर्याप्त है, 'आओ' क्रिया का अध्याहार तो स्वयं हो जाता है। इस प्रकार वाक्य के बाह्य रूप को देखते हुए स्पष्टतः ही पदों की अनिवार्यता का प्रश्न निरर्थक है, किंतु वाक्य के अर्थ तथा प्रयोजन को दृष्टिगत रखते हुए वाक्य के लिये क्रिया का अध्याहार आवश्यक एवं अनिवार्य है।

§ १०१३ वाक्य के रूप का विचार कर लेने के साथ वाक्य की अभिव्यक्ति का प्रश्न समाप्त नहीं होता। एक महत्वपूर्ण अंग, जो वाक्य की अभिव्यक्ति से संबद्ध है, अभी विचारणीय रह गया है। हम अब तक के विवेचन के आधार पर एक इस प्रकार का वाक्य बना सकते हैं: राम ने अपने खेत को आग से सींचा। यह वाक्य ठीक न होगा क्योंकि आग में सींचने की योग्यता नहीं है। प्रसंग और परिस्थिति योग्यता का आधार होती है। यदि कहें कि 'जल से सींचा' तो यह वाक्य ठीक होगा क्योंकि जल में सींचने की योग्यता है। प्रसंग और परिस्थिति योग्यता का आधार होती है। इसीलिये हम यह कहते हैं कि 'राम ने अपनी बेटी को कुएँ में ढकेल दिया,' और प्रसंग और परिस्थिति के अंतर्गत इसका ठीक अर्थ समझ लिया जायगा कि अच्छे घर विवाह नहीं किया। साथ ही, ऐसी परिस्थिति भी हो सकती है जिसके अंतर्गत इस वाक्य का अभिधागत रूप ही अभीष्ट हो। अर्थात् जब किसी ने वास्तव में अपनी बेटी को कुएँ में ढकेल दिया हो (चरित्र आदि के संदेह से क्षुब्ध होकर)।

वाक्य की अभिव्यक्ति में एक रूप ऐसा हो सकता है कि हम एक शब्द कहकर मौन हो जायँ—जैसे 'पुस्तक'। पर यह बात अपूर्ण रही। इसके साथ में

[1] कैलाश—हिंदी व्याकरण, १८७४, पैरा ८५०

[2] दृश्यंते हि वाक्येषु वाक्यैक देशा—प्रयुज्यमाना पदेषु पदैकदेशान्' (सहा० २।१।७४)

हमको कहना होगा 'लाओ या पढ़ो' आदि। यहाँ पुस्तक को दूसरे शब्द की आकांक्षा है। इसलिये इस तत्व को आकांक्षा कहा गया। परिस्थिति और प्रसंग इस तत्व के लिये भी विकल्प उपस्थित कर सकते हैं। संबोधन के शब्द तो विकल्प हैं ही। साथ ही किसी मित्र के प्रश्न 'क्या चाहते हो' के उत्तर में 'पुस्तक' मात्र ही पर्याप्त समझा जायगा और किसी अन्य शब्द की आकांक्षा न होगी।

§ १०१४ वाक्य की अभिव्यक्ति में एक रूप और विचारणीय है। हम वाक्य के एक पद को बोलकर मौन हो जायँ और विलंब के पश्चात् दूसरे पद को बोलें तो वाक्य का अभिप्राय श्रोता की समझ में न आएगा। इसलिये पदों की आसक्ति या संनिधि की आशंका की गई है। उच्चरित वाक्यों में मूल रूप में पदों में ही नहीं प्रत्युत वाक्यों मे भी आपस में संनिधि का एक रूप रहता है या एक वाक्य दूसरे से गुंफित रहता है। हर वाक्य में पूर्ववर्ती वाक्य का कुछ न कुछ अंश दुहराया जाता है और कुछ नया अंश जोड़ दिया जाता है। आज इस स्वाभाविक भाषा को हम भूल सा समझ बैठे हैं, जैसे—भाई, एक थे राजा, वह राजा रोज सबेरे उठें, उठें तो रोज देखें एक सोने का महल। महल देखकर खुशी से फूल उठें...[१]

योग्यता, आकांक्षा तथा आसक्ति इन तीन तत्वों का विचार हमारे यहाँ बहुत पहले संस्कृत के आचार्यों द्वारा हो चुका था। अतएव ये तत्व वाक्य के साथ अनिवार्य तथा सहज समझे गए। वाक्य कहते समय यह सोच लिया गया कि इन तीन तत्वों को तो परिभाषा के साथ संलग्न समझा ही जायगा। इससे आगे और कुछ कहना हो तो परिभाषा में कहा जाय। इसीलिये अन्यान्य परिभाषाओं में इनकी चर्चा नहीं की गई। साथ ही सार्थकता एक दूसरा शब्द प्रयुक्त होने लगा जिसके व्यापक अर्थ में इन सभी तत्वों का समावेश हो गया। इसलिये सार्थक पदयोजना मात्र कहना पर्याप्त समझा जाने लगा।

§ १०१५ सार्थकता के अंतर्गत पूर्ण विचार आवश्यक बताया गया, जिसका विवेचन हम कर चुके हैं। दूसरा तथ्यपूर्ण अर्थ है जिसकी ओर भी कुछ वैयाकरणों ने ध्यान आकृष्ट किया है। अर्थविचार पर विचार करने से पूर्व यह आवश्यक है कि अर्थविवक्षा को संक्षेप में समझ लिया जाय। अर्थविवक्षा विवादास्पद रही है। इस संबंध में मीमांसकों के प्रसिद्ध दो मत रहे हैं—[३]

[१] मम्मट काव्यप्रकाश।
[२] देखिए, सक्सेना—सामान्य भाषा विज्ञान, द्वि० सा० सं०, प्रयाग २०१३।
[३] देखिए, साहित्यदर्पण २, १ 'वाक्यं स्याद्योग्यताकांक्षासक्तियुक्तः पदोच्चयः'।

(१) अभिहितान्वय पक्ष (२) अन्विताभिधान पक्ष

कुमारिल भट्ट के अनुयायी 'अभिहितान्वयवाद' को मानते हैं और प्रभाकर (गुरु) के अनुयायी 'अन्विताभिधानवाद' को मानते हैं।

अभिहितान्वय का अर्थ है 'अभिहितानाम् पदार्थानाम् अन्वयः' अर्थात् जो अर्थ शब्दों के द्वारा कहे जा चुके हैं, उनका परस्पर अन्वय। इससे इस पक्ष का मत है कि प्रत्येक पद केवल अपने अपने पदार्थ का बोध कराते हैं। पदार्थों का पद से बोध होने पर उनका आकांक्षा, योग्यता, आसक्ति के आधार पर परस्पर अन्वय (समन्वय) हो जाता है, जिससे अर्थ का बोध होता है। पदार्थ से विलक्षण तात्पर्यार्थ निकलता है, जो वाक्यार्थ कहलाता है।

अन्विताभिधान का अर्थ है 'अन्विताना (पदार्थानाम्) अभिधानम्'। इस पक्ष का मत है कि प्रत्येक पद केवल अपने पदार्थ का ही बोध नहीं कराता है अपितु समन्वययुक्त पदार्थों का बोध भी पद कराते हैं, अन्यथा पदों का वाक्य नहीं हो सकता।

दोनों मतों द्वारा अर्थप्राप्ति की विधा को निम्नलिखित रूप में दिखा सकते हैं—

अभिहितान्वय पक्ष	अन्विताभिधान पक्ष
राम पुस्तक पढ़ता है	राम पुस्तक पढ़ता है
अर्थ	अर्थ

अर्थविवक्षा के विस्तार की आवश्यकता नहीं है। उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन का तात्पर्य यह था कि अर्थविचार की दृष्टि से वाक्य के स्वरूप पर किस रूप में आचार्यों[1] ने विचार किया है। साथ ही यह तो स्पष्ट हो गया कि लिखित भाषा के वाक्य के स्वरूप का आंतरिक पक्ष अर्थविचार पर ही आधारित है। सार्थकता एक बड़ा व्यापक शब्द है। उसके अंतर्गत अर्थप्रक्रिया आ जाती है। किंतु सार्थकता जिन तत्वों के आधार पर खड़ी होती है, यह ज्ञात होता है कि अर्थ-विचार से, जिसके संबंध में भारतीय मनीषियों ने बड़े विस्तार से विवेचन किया है।

अर्थविचार की दृष्टि से ही लिखित भाषा के वाक्यों का स्वरूप उच्चरित भाषा के वाक्यों के स्वरूप से भिन्न हो जाते हैं। उच्चरित रूप में वाक्यों के साथ वक्ता के हाव भाव तथा रागात्मक तत्व मुख्यतः संप्रेषणीयता में सहायक होते हैं। लिखित रूप में केवल शब्दावली रह जाती है जो अपने मूल रूप में भावों का

[1] अर्थविज्ञान और व्याकरणदर्शन, पृ० सं० ३९७।

अपेक्षित संप्रेषण नहीं कर पाती। अतएव लिखित भाषा में अर्थविचार प्रमुखता प्राप्त कर लेता है। लेखक का प्रयत्न उच्चरित भाषा के भावों के निकटतम पहुँचने की ओर रहता है। वह इस प्रयत्न में कहाँ तक सफल होता है, इसी में उसकी कला और सफलता निहित है। इसीलिये कहा गया है—'नयं कवीना निकषं वदंति'।

वाक्य के संबंध में किए गए उपर्युक्त विवेचन के आधार पर वाक्य का यह लक्षण स्वीकार किया जा सकता है—'वाक्य सार्थक पदयोजना के अंतर्गत अखंड इकाई में मानश विचारों की अभिव्यक्ति है।'
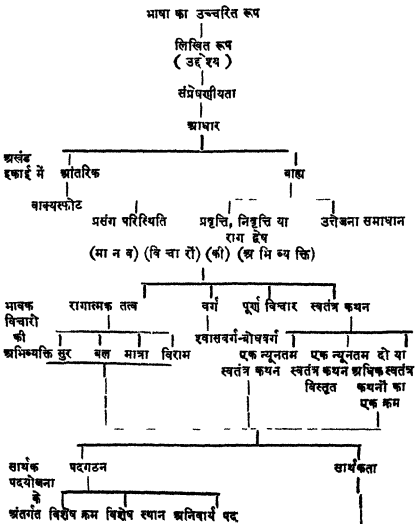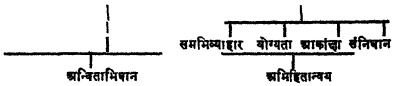
वाक्यभेद

§ १०१७ वाक्यविन्यास की दृष्टि से वाक्य भेद महत्वपूर्ण विषय है। व्याकरण में पदविभाजन के पश्चात् वाक्य का महत्व कम हो गया तथा प्रमुखता प्राप्त करने के कारण पदविभाजन ही विवेच्य विषय बन गया। वाक्य को पद-समुदाय की परिभाषा देकर पदमहत्ता की आशा भी करनी चाहिए थी, किंतु वाक्यविन्यास की दृष्टि से वाक्यभेद का विवेचन अपना महत्व रखता है और यह विवेचन अपेक्षी है।

वाक्य, जैसा कि पहले कह चुके हैं, एक अखंड इकाई है। पद की सत्ता उसकी अखंडता में बाधक न होकर साधक होती है। इसी लिये जहाँ वाक्य की पूर्णता के लिये विभिन्न विशेषताओं का उल्लेख किया गया है, वहाँ आकांक्षा का भी महत्व बतलाया गया है। एक पद को दूसरे पद की आकांक्षा होती है, यह कथन पद के महत्व को प्रकट करने के साथ वाक्य की अखंडता की ओर भी संकेत करता है। पदों की आकांक्षा में ही वाक्य की अखंडता निहित है। वाक्य का एक राग होता है जो वाक्य के प्रारंभ से अंत तक के पदों को अपने में समाहित करके एक ओर अखंडता की ओर अग्रसर होता है तो दूसरी ओर बोधगम्यता का भी कारण बनता है। यह तो पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि पदमात्र की स्थिति वाक्य की अनुभूति नहीं करा सकती। भेदकातिशयोक्ति की भाँति वाक्य की बोधगम्यता का आधार पद से 'इतर' कुछ और ही होता है और यह 'कुछ और' वाक्य का रागात्मक स्वरूप है जो भाषा का प्राण है जिसको प्राप्त करने के लिये लिखित भाषा अनेक प्रयत्न करती है और अपने प्रयास में पूर्णता प्राप्त नहीं कर पाती। अतएव वाक्यभेद का प्रश्न मूलतः रागभेद का प्रश्न है। यह विषय कदाचित् इसीलिये अभी तक अपेक्षाकृत उपेक्षा का विषय बना रहा है। अब तक वाक्यभेद का जो विवेचन हुआ है वह प्रायः भावरचना, रूप आदि पर ही आधृत रहा है। यहाँ पहले इन्हीं की चर्चा की जायगी।

§ १०१८ वाक्यभेद का विषय मूलतः न्यायदर्शन के[1] विवेचन से प्रारंभ

[1] देखिए, न्यायदर्शन, अध्याय २, सूत्रसंख्या १११ से १२६ तक।

प्रारंभ होता है। न्यायदर्शन के अंतर्गत अनुमान का विवेचन करते हुए वाक्य-भेद का संक्षेप मे उल्लेख हुआ है। वहाँ शास्त्रीय वाक्यों के तीन भेद किए गए हैं[1]—

(१) विधि वाक्य (२) अर्थवाद वाक्य (३) अनुवाद वाक्य

अर्थवाद के भी चार भेद किए गए हैं:—(१) स्तुति, (२) निंदा, (३) परकृति (४) पुराकल्प।

न्यायदर्शन का उपर्युक्त वाक्य विभाजन भाव से ही संबंधित है। न्यायदर्शन के लिये यह अवांतर विषय था तथा अनुमान के विवेचन के अंतर्गत संदर्भ रूप मे ही इस विषय पर प्रकाश डाला गया है। अनुमान के संदर्भ में होने के कारण इस विवेचन को सर्वांगीण अथवा पूर्ण नहीं कह सकते, न इस कमी के लिये न्यायदर्शनकार को दोषी ही सिद्ध कर सकते हैं।

§ १०१६ मनोविज्ञान के संदर्भ में भाव या अर्थ की दृष्टि से वाक्य के निम्नलिखित भेद[2] हो सकते हैं, जिनका विवेचन प्रायः वैयाकरणों ने किया है—

[1] विधिवाक्य—विधायक अर्थात् आज्ञा करनेवाला—जैसे स्वर्ग की इच्छा करनेवाला अग्निहोत्र करे।

अर्थवाद—अर्थ का कथन अर्थवाद है।

स्तुति—विधि वाक्य के फल कहने से प्रशंसा को स्तुति कहते हैं।

देवों ने इस यज्ञ को करके सबको जीता।

निंदा—अनिष्टफल का कथन यज्ञों के बीच में ज्योतिष्टोम पहिला है, इसको न करके जो अन्य यज्ञ करता है, वह गढ़े में पड़ता है।

परकृति—जो मनुष्यों के कर्मों में परस्पर विरोध दिखाए।

पुराकल्प—इतिहासयुक्त विधि—ब्राह्मणों ने सामस्तोत्र की स्तुति की, इसलिए हम भी यज्ञ का विस्तार करें।

अनुवाद—विधि में जो विधान किया गया, उसका अनुवचन अनुवाद कहलाता है। अन्न पकाने की आज्ञा के अनुपालन में—आप पकाइए, पकाइए, शीघ्र पकाइए, हे प्यारे पकाओ।

(२ अ) यहाँ न्यायदर्शन के परकृति, पुराकल्प तथा अनुवादवाक्य का अंतर्भाव नहीं हुआ, ऐसा प्रतीत हो सकता है। अतएव इन पदों पर पुनः विचार कर लेना आवश्यक है। परकृति परस्पर विरोधी तत्वों को प्रकट करनेवाले वाक्य होते है। 'राम गया, मैं तो न जाऊँगा, इस प्रकार के वाक्य विधिवाक्यों के अन्तर्गत आते हैं। रचना की दृष्टि से उपर्युक्त सभी वाक्यों (संकेतार्थक को छोड़कर जो मिश्र वाक्य में ही प्रकट होता है) के साधारण, मिश्र, संयुक्त भेद हो सकते हैं। पुराकल्प वाक्य भी इसी प्रकार विधि वाक्य का संयुक्त रूप है। अनुवाद वाक्य कदाचित् न्यायशास्त्र के समय विशेष रूप से प्रचलित रहे हों। इस प्रकार के वाक्य आज्ञा वाक्य के अंतर्गत आ जाते हैं।

१—विधि वाक्य या विधानार्थक वाक्य—जिन वाक्यों के द्वारा किसी बात का होना पाया जाय, जैसे 'वह आता है।'

२—इच्छाबोधक या स्तुति वाक्य—जिन वाक्यों के द्वारा इच्छा, आशीष या स्तुति का विधान हो, जैसे 'आप शतायु हों।'

३—निषेधवाचक या निंदावाक्य—जिन वाक्यों के द्वारा निषेध या निंदा का भाव प्रकट हो जैसे 'मैं नहीं जाऊँगा।'

४—विस्मयादिबोधक—जिन वाक्यों से विस्मय, आश्चर्य, हर्ष, शोक आदि भावों का बोध हो, जैसे 'अरे, वह अनुत्तीर्ण हो गया।'

५—आज्ञार्थक—जिन वाक्यों के द्वारा आज्ञा दी जाय, जैसे 'आओ'।

६—प्रश्नार्थक—जिन वाक्यों के द्वारा प्रश्न किया जाय, जैसे 'आप कौन हैं?'

७—संदेहात्मक—जिन वाक्यों से किसी कार्य के होने का संदेह प्रकट हो, जैसे 'वह आता होगा।'

८—संकेतार्थक—जिन वाक्यों के द्वारा संकेत अथवा अपेक्षा प्रकट हो, जैसे यदि वह प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुआ तो आगे पढ़ेगा।'

(१ आ) इन आठ प्रकार के वाक्यों की आवृत्ति का अध्ययन करते हुए निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—

आवृत्ति		आवृत्ति का आधार है—
१—विधिवाक्य	६७ प्रतिशत	(१) प्रसाद—स्कंदगुप्त
२—इच्छाबोधक	१ ,,	(२) प्रेमचंद—गोदान
३—निषेधवाचक	१५ ,,	(३) निराला—प्रबंध पद्म
४—विस्मयादिबोधक	२ ,,	(४) महादेवी—दीपशिखा
५—आज्ञार्थक	७ ,,	(५) निष्कर्ष २—
६—प्रश्नार्थक	५ ,,	(६) आलोचना १ · ३, जुलाई, १९५७
७—संदेहात्मक	२ ,,	(७) मधु—सागर, लहरें और मनुष्य
८—संकेतार्थक	१ ,,	(८) धीरेंद्र वर्मा—मेरी डायरी
	———	(९) द्विवेदी—अशोक के फूल
	१०० प्रतिशत	(१०) नगेंद्र—रीतिकाल की भूमिका

यह निष्कर्ष हिंदी के वाक्यों की प्रवृत्ति का संकेत मात्र है। इसको अकाट्य अथवा पूर्णतया प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। इसका कारण यह है कि विशेष विषयों के लिये विशेष प्रकार के वाक्य ही प्रयोज्य हैं, अन्य प्रकार के वाक्यों का प्रयोग वहाँ नहीं होता, जैसे आलोचना विषयक पुस्तकों में विधि अथवा निषेधवाचक या कतिपय प्रश्नवाचक वाक्यों का ही बाहुल्य रहता है। विस्मयादिबोधक जैसे वाक्यों की तो संभावना भी नहीं है।

§ १०२. रचना[1] के अंतर्गत क्रिया को आधार मानकर विभाजन किया गया है। क्रिया के दो रूप यहाँ अभीष्ट हैं : १–मुख्य क्रिया, २–आश्रित क्रिया

एक मुख्य क्रिया की रचना —साधारण वाक्य

एक मुख्य क्रिया तथा एक या अधिक आश्रित क्रियाओं—मिश्र वाक्य की रचना

दो या दो से अधिक मुख्य क्रियाएँ आश्रित क्रियाओं के साथ अथवा एकाकी— संयुक्त वाक्य

इस विभाजन को साधारण और असाधारण के अंतर्गत इस प्रकार रख सकते हैं –
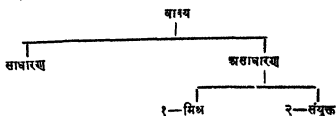
साधारणतया वक्ता की अभिव्यक्ति साधारण वाक्यों में होती है। लंबे लंबे, मिश्र या संयुक्त वाक्य हम प्रायः नहीं बोलते। उच्चरित भाषा में इसीलिये मिश्र एवं संयुक्त वाक्यों का अभाव रहता है। यों साधारण तथा असाधारण वाक्यों में विन्यास के विस्तार के अंतर्गत असाधारणता तो है ही, साथ ही भावगत भी अंतर

[1] रचना की दृष्टि से किए गए परंपरानुगत विभाजन के अतिरिक्त इस विषय पर इस प्रकार भी विचार कर सकते हैं—रचना की दृष्टि से वाक्य के दो भेद—

(अ) वाक्य की अंतःरचना—जिसके अंतर्गत पदक्रम तथा पदों का एक दूसरे से संबंध आता है, जिसका विचार पृथक् से किया गया है।

(आ) वाक्य की बाह्य रचना—जिसके अंतर्गत हम समस्त वाक्य को इकाई समझते हैं तथा उसकी अंतःरचना की चिंता नहीं करते। इस स्थिति में पूरा वाक्य (या उपवाक्य) एक पद की भाँति अन्य वाक्यों (या उपवाक्यों) से संबंधित हो जाता है—

मैंने देखा कि आप सो रहे थे।

मैंने आपको देखा या मैंने आपको सोता देखा।

आगे अतएव यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार पद आपस में एक दूसरे से मिलते तथा एक संश्लिष्ट योजना प्रस्तुत करते हैं, उसी प्रकार वाक्य (उपवाक्य) एक दूसरे से मिलते तथा मुख्य एवं आश्रित उपवाक्यों का सर्जन करते हैं जो संज्ञा, विशेषण, क्रियाविशेषण के कार्य को करते हुए इनकी संज्ञा प्राप्त करते तथा 'संज्ञा उपवाक्य' आदि कहलाते हैं। [क्रमशः]

होता है। इसी लिये वाक्यों का रूपांतर—साधारण से मिश्र तथा मिश्र से संयुक्त आदि—मूल भाव की क्षति के बिना संभव नहीं होता।

(क) मैं खाना खाकर सोता हूँ। साधारण वाक्य

(ख) मैं जब खाना खाता हूँ तब सो जाता हूँ। संयुक्त वाक्य

छात्रों को साधारण, मिश्र तथा संयुक्त वाक्यों के अंतर को स्पष्ट करने की दृष्टि से उपर्युक्त रूपांतर का अभ्यास कराया जाता है, अन्यथा यह स्पष्ट है कि प्रथम साधारण वाक्य का अर्थ द्वितीय संयुक्त वाक्य में अपरिवर्तित नहीं रहा।

यह बात रूढ़िगत लोकोक्तियों आदि के संबंध में तो और भी शंकारहित है। 'जैसी करनी तैसी भरनी' का रूपांतर संभव नहीं है।

§ १०२१ रूप की दृष्टि से वाक्य का विभाजन दो प्रकार से हो सकता है—

(क) वाक्य में पदों की संख्या

(ख) पदों की रूपरचना—(१) आंतरिक रूप (२) रागात्मक रूप

वाक्य में पदों की संख्या—वाक्य में पदों की संख्या की दृष्टि से न्यूनतम संख्यावाले पदों का रूप होगा—

(क) एकाक्षरी वाक्य—जैसे 'न', 'हाँ', 'जी' आदि।

(ख) एकपदीय वाक्य—जैसे 'आओ', 'बैठो', 'आऊँगा' आदि।

इसी क्रम में दोपदीय, तीनपदीय, चारपदीय आदि संख्या में वाक्यों का विभाजन हो सकता है। इस प्रकार के विभाजन के दो रूप होंगे—

(१) रूढ़िगत, जिसके अंतर्गत रूढ़ि के कारण पदसंख्या निश्चित होती है।

(२) सामान्य, जिनके अंतर्गत सामान्यतः शेष सभी प्रकार के वाक्य आते हैं। इस प्रकार के वाक्यों में पदसंख्या संभव नहीं हो सकती है। प्रसंग, परिस्थिति के अनुकूल उनकी पदसंख्या में अंतर आ सकता है।

इस प्रकार अधिकतम पदीय वाक्य के रूप की निश्चित कल्पना नहीं की जा सकती। बाणभट्ट की कादंबरी में एक वाक्य अनेक पृष्ठों में चलता चला जाता है। ऐसी प्रवृत्ति यद्यपि हिंदी में नहीं है तथापि हिंदी में भी अधिकतम पदों की सीमा-रेखा खींचना कठिन ही है। यहाँ यह स्मरण करा देना आवश्यक है कि इसी प्रकार के वाक्य भाषा की मूल प्रकृति के अनुकूल तथा वाक्य की परिभाषा की परि-सीमा में नहीं आते। उच्चरित भाषा में साधारणतया अधिक से अधिक ५-६ पदों के वाक्यों का प्रयोग होता है। अतएव लिखित भाषा में इससे अधिक पदों

हिंदी वाक्यों में पदसंख्या

	क	ख	ग	घ				
१—१०	१०	२५	४०	२१	=	१०४	—	२६%
११—२०	३६	२५	२२	३८	=	१३२	—	३३%
२१—३०	३०	१५	१८	२१	=	८४	—	२१%
३१—४०	१४	११	७	८	=	४०	—	१०%
४१—५०	८	६	६	४	=	२४	—	६%
५१—६०	×	३	१	×	=	४	—	१%
६१—७०	२	४	२	×	=	८	—	२%
७१—८०	×	×	×	×	=	०	—	०%
८१—९०	×	१	२	१	=	४	—	१%
९१—१००	×	×	×	×	=	०	—	०%

के वाक्यों की कल्पना वाक्य के मूल स्वरूप को ही भ्रांतिपूर्ण बना सकती है। इसलिये ऐसे वाक्यों को 'कृत्रिम' संज्ञा[1] दी गई है।

सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि किसी एक साधारण वाक्य में एक क्रिया तथा उसके साथ कतिपय कारकों का प्रयोग होता है। किसी वाक्य मे समस्त कारकों का प्रयोग संभव हो किंतु प्रयोगसंमत नहीं होता। आठ कारकों में से साधारणतया तीन और अधिक से अधिक पाँच कारकों का प्रयोग देखा गया है। इस प्रकार क्रिया को मिलाकर एक वाक्य में साधारणतया ६-७ पद होते हैं। नाम और आकथात के विस्तार को संमिलित करके पदों की संख्या ११-२० रहती है तथा ऐसे वाक्यों की सबसे अधिक आवृत्ति है।*

§ १०२२ पदों के आतरिक रूप के विचार से वाक्यों का विभाजन इस प्रकार से हो सकता है—

(१) अयोगात्मक (२) प्रश्लिष्टयोगात्मक (३) अश्लिष्टयोगात्मक (४) श्लिष्टयोगात्मक
(व्यासप्रधान) (समासप्रधान) (प्रत्ययप्रधान) (विभक्तिप्रधान)

अयोगात्मक अथवा व्यासप्रधान रचना में पद का स्थान निश्चित होता है तथा उनमें परिवर्तन होने पर अर्थ में अंतर आ जाता है। हिंदी इसी रूप के वाक्य को प्रश्रय देती है।

प्रश्लिष्ट योगात्मक अथवा समासप्रधान-वाक्य के विभिन्न पदों का एक पद बन जाता है। वाक्य एक समस्त पद का रूप ले लेता है। विभिन्न अर्थों के पदों के अंश लेकर इस समस्त पद की रचना होती है। मैक्सिकन भाषा में इस प्रकार की वाक्यरचना पाई जाती है। (नेवत्ल-मैं, नेकत्ल-मांस, क-खाना, इनसे वाक्य बना नीनकक—मैं मांस खाता हूँ।)

अश्लिष्ट योगात्मक या प्रत्ययप्रधान—प्रत्यय के योग से वाक्यरचना होती है। शब्द और प्रत्यय का अर्थ स्पष्ट होता है तथा प्रत्यय मिलाकर पद तथा वाक्य बना लिए जाते हैं। तुर्की भाषा इस प्रकार की वाक्यरचना के लिये प्रसिद्ध है (एव-घर), एवलेर-अनेक घर, एवलेरिम-मेरे घर)

(†) अंग्रेजी के प्रभाव के कारण इधर रचना की दृष्टि से कतिपय विशेष प्रकार के वाक्य भी बनने लगे हैं—

(क) कथात्मक (पैरेन्थॉटिक)—मैं इस पुस्तक को, मै समझता हूँ, दो दिन में समाप्त कर दूँगा।

(ख) सूचना वाक्यांश—रसेल का मत है—

(ग) शुभेच्छा वाक्य—आप अपने कार्य में सफलता प्राप्त करेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

[1] देखिये सामान्य भाषा विज्ञान। डा० बाबूराम सक्सेना, पृ० २६, सं० २०१३

* देखिए संकलन प्रसाद 'हिंदी वाक्य में पद संख्या'।

श्लिष्ट योगात्मक या विभक्तिप्रधान—प्रत्यय अपना अस्तित्व पृथक् न रखकर धातु की प्रकृति में ही समाविष्ट हो जाते हैं। संस्कृत में इस प्रकार की वाक्य-रचना मिलती है।

§ १०२३ राग की दृष्टि से वाक्यभेद—वाक्य का राग साधारणतया दो रूपों में प्रकट होता है—

(१) निम्न स्वरगामी रूप

(२) उच्च स्वरगामी रूप

इन दोनों भेदों का वाक्य की बोधगम्यता से भी निकट संबंध है।

हिंदी वाक्यों का अध्ययन करते हुए यह देखा जा सकता है कि बोधगम्यता की दृष्टि से निम्न स्वरगामी और उच्च स्वरगामी वाक्यों का राग अपना महत्व रखता है। साधारणतया कहा जा सकता है कि—

निम्न स्वरगामी वाक्यों से विधि, इच्छा, निषेध, संदेह एवं संकेत आदि भाव प्रकट होते हैं। तथा उच्च स्वरगामी वाक्यों से आज्ञा, जिज्ञासा, विस्मय, आश्चर्य, उल्लास आदि के भाव प्रकट होंगे।

इस प्रकार राग की दृष्टि से वाक्य के दो स्थूल भेद हुए। इनको वाक्य के राग की दो लय कह सकते हैं। लयसंख्या (१) निम्न स्वरगामी। लयसंख्या (२) उच्च स्वरगामी।

इन भेदों से इतर अन्यान्य भेद दो प्रकार से संभव हैं—

(अ) इन्हीं दो भेदों की आवृत्ति

(आ) पदों पर बल का प्रयोग

(अ) इन्हीं दो भेदों की आवृत्ति के निम्नलिखत और रूप हो सकते हैं—

(i) लय संख्या १ की आवृत्ति

(ii) लयसंख्या २ की आवृत्ति

(iii) लयसंख्या १ की अनुवर्ती लयसंख्या २

(iiii) लयसंख्या २ की अनुवर्ती लयसंख्या १

(आ) पदों पर बलप्रयोग द्वारा अर्थ में विशेषता आ जाती है और इस दृष्टि से वाक्य के प्रत्येक पद पर बल देकर वाक्य के अनेक भेद हो सकते हैं। वाक्यविचार के अंतर्गत लिखित और उच्चरित रूपों का विवेचन करते हुए वाक्य के बल के कारण संभावित विभिन्न अर्थों पर प्रकाश डाला गया है।

वाक्य में पदों पर बल के कारण संभावित विभिन्न अर्थों की अभिव्यक्ति में लिखित भाषा असफल रही है। भाषा में प्रचलित विरामचिह्न आदि एक सीमा

तक इस दिशा में योग देते हैं। आगे चलकर उनकी भी गति नहीं रहती। यही कारण है कि भाषा का लिखना लिखित साधनों से भले ही सीख लिया जाय किंतु बोलना सीखने के लिये और विशेषकर भाषा की अर्थसत्ता से परिचित होने के लिये जीवित भाषा का संपर्क अनिवार्य है। इस संदर्भ में ही भाषा के दो रूप—लिखित तथा उच्चरित—में उच्चरित का महत्व प्रतिपादित होता है।

§ १०२४ वाक्यभेद को रेखांकित द्वारा संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं—

———
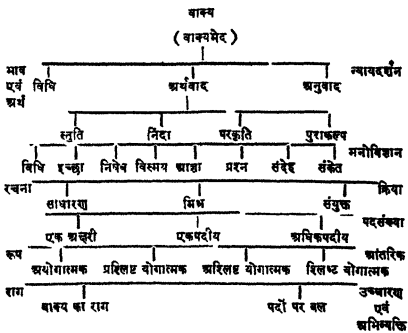
हिंदी वाक्यरचना

§ १०२५ वाक्यरचना का संबंध पदविन्यास से है। पदविन्यास अथवा वाक्य में पदों का यथास्थान स्थापन ही वाक्यरचना का अभीष्ट है। पद संज्ञा ही उस शब्द को दी जाती है जो संबंधतत्त्व के योग में विकारी बनकर वाक्य में स्थापन के योग्य बन जाता है। वाक्य का पदस्थापन कार्य पदों की इसी योग्यता के आधार पर संभव है। इसलिये पदों के पारस्परिक संबंधों की व्याख्या में ही वाक्यरचना का रहस्य निहित है।

वाक्यरचना की दृष्टि से पदविन्यास की निम्नलिखित विशेषताओं पर विचार कर सकते हैं—

(१) पदसमता।

(२) पदसमीपता।

(३) पदक्रम।

(४) पदान्वय।

(१) पदसमता

§ १०२६ पद समता या पद समानता का आधार पदों का रूपात्मक अध्ययन है। विशेष परिस्थितियों में एक पद का रूप संबंधित दूसरे पद के रूप के समान होता है। ये परिस्थितियाँ लिंग और वचन के अंतर्गत उत्पन्न होती है। फलस्वरूप लिंग और वचन की समता का प्रश्न उठता है।

§ १०२७ लिंग समता—

लिंगसमता निम्नलिखित रूप में अपेक्षित है—

(अ) विशेषण विशेष्य पद।

(आ) संबंधवाचक संबंधवाची पद।

(इ) कर्ता क्रिया पद।

उपर्युक्त तीन रूपों में से अंतिम रूप 'कर्ता क्रिया पद' का विचार पदान्वय के अंतर्गत करेंगे। शेष दो रूपों का विचार यहाँ किया जाता है—

विशेषण विशेष्य पद—

(अ) अकारांत संस्कृत विशेषणों का रूप हिंदी में अविकृत रहता है। विशेष्य के लिंग के साथ उसका परिवर्तन नहीं होता।

सुंदर लड़का / सुंदर लड़की।

(आ) हिंदी आकारांत विशेषणों का रूप कतिपय अपवादों को छोड़कर विशेष्य के लिंग के साथ परिवर्तित होता है—

अच्छा लड़का / अच्छी लड़की ।

(अपवाद—गवैया पिता, विदेशी-आवारा, उम्दा आदि)

(इ) कतिपय अपवादों को छोड़कर ईकारांत हिंदी विशेषणों का रूप अपरिवर्तित रहता है—

बनारसी साड़ी / साफा, जंगली गाय / घोड़ा आदि ।

(अपवाद—घमंडी / घमंडिन, अनाड़ी / अनाड़िन आदि)

(ई) ऊकारांत विशेषण अपरिवर्तित रहते हैं—

टिकाऊ घड़ी / बर्तन, घरेलू काम / बात ।

(उ) संख्यावाचक विशेषण अपरिवर्तित रहते हैं किंतु क्रमवाचक में परिवर्तन होता है—

एक लड़की / लड़की, तिगुना दूध / तिगुनी दाल ।

(ऊ) सार्वनामिक विशेषण—'कैसा' को छोड़कर अन्य सार्वनामिक विशेषण अपरिवर्तित रहते हैं—

कौन लड़का / लड़की, क्या दिन / रात ।

किंतु कैसा लड़का / कैसी लड़की ।

(ए) कतिपय विशेषण एकलिंगी विशेष्य के साथ ही प्रयुक्त होते हैं—

ऋतुमती / अंतर्वंती / गर्भवती (महिला), कपिला (गाय), अदना (आदमी) । कतिपय विशेषण रूढ़ हो गए हैं—महाप्राण निराला ।

संबंधवाचक एवं संबंधवाची पद—

(अ) संबंधवाचक सर्वनाम—

संबंधवाचक सर्वनाम संबंधित पदों के लिंगों के साथ परिवर्तित होते हैं—

मेरा लड़का // मेरी लड़की ,

तेरा लड़का // तेरी लड़की ,

उसका लड़का // उसकी लड़की ,

इसी प्रकार अन्य रूप भी परिवर्तित होते हैं—आपका / आपकी, इसका / इसकी, जिसका / जिसकी, किसका / किसकी आदि ।

(आ) संबंधवाचक संज्ञा—

संबंधवाचक संज्ञा 'का', 'की', परसर्गों के साथ प्रयुक्त होती है—

राम की पुस्तक // राम का लेख

§ १०२८ वचनसमता—

वचन समता भी निम्नलिखित रूप में अपेक्षित है—

(अ) विशेषण विशेष्य पद।

(आ) संबंधवाचक एवं संबंधवाची पद।

(इ) क्रिया कर्ता पद।

लिंगसमता के समान 'कर्ता क्रिया पद' का विचार पदान्वय के अंतर्गत किया जायगा। शेष दो रूपों का विचार यहाँ किया जाता है—

विशेषण विशेष्य पद—

(अ) अकारांत संस्कृत विशेषणों का रूप अविकृत रहता है—

सुंदर लड़का / सुंदर लड़के

(आ) हिंदी आकारांत विशेषण—

पुल्लिंग के रूप परिवर्तित होते हैं—

अच्छा लड़का / अच्छे लड़के / अच्छे लड़कों

स्त्रीलिंग के रूप अपरिवर्तित रहते हैं—

अच्छी लड़की / अच्छी लड़कियाँ

(इ) ईकारांत विशेषणों के रूप अपरिवर्तित रहते हैं—

बनारसी // साड़ी साड़ियाँ साफा / साफे / साफों

(ई) ऊकारांत विशेषण के रूप अपरिवर्तित रहते हैं—

टिकाऊ // घड़ी / घड़ियाँ / बर्तन / बर्तनों

(उ) संख्यावाचक विशेषण 'एक' विशेषण पद को छोड़कर दोनों रूपों में- विकारी और अविकारी में प्रयुक्त होते हैं—

दो लड़के / दोनों लड़के, चार लड़कियाँ / चारों लड़कियाँ।

क्रमवाचक विशेषणों के रूप परिवर्तित होते हैं किंतु स्त्रीलिंग विशेषणरूप अपरिवर्तित रहते हैं -

दुगना दाम / दुगने दामों किंतु दुगुनी बात / बातें

(ऊ) सार्वनामिक विशेषणों के रूप 'कौन', 'क्या', को छोड़कर अन्य के रूप परिवर्तित होते हैं किंतु स्त्रीलिंग रूप अपरिवर्तित ही रहते हैं—

कैसा लड़का / कैसे लड़के किंतु कैसी लड़की / लड़कियाँ

(ए) कतिपय रूढ़ प्रयोग (विशेष वचनों में) प्रचलित हैं—

संबंधवाचक तथा संबंधवाची पद—

सार्वनामिक पद—
पुल्लिंग पदों के साथ परिवर्तन होता है—
मेरा लड़के / मेरे लड़के
स्त्रीलिंग पदों के साथ परिवर्तन नहीं होता—
मेरी लड़की / लड़कियाँ
संज्ञापद—
पुलिंग पदों के रूपों में परिवर्तन होता है—
राम का लड़का / राम के लड़के
स्त्रीलिंग पदों के रूपों में परिवर्तन नहीं होता—
राम की लड़की / लड़कियाँ

(२) पद समीपता

§ १०२६. पदसमीपता पर दो दृष्टियों से विचार कर सकते हैं—

(१) उच्चारण के अंतर्गत पदों की समीपता अथवा विलंबरहित स्थिति।

(२) एक पद के समीप दूसरे पद की स्थिति।

पदों के उच्चारण में अनावश्यक विलंब लगने से अर्थबोध में बाधा उपस्थित हो जाती है। इस दृष्टि से विचार करते हुए भारतीय मनीषियों ने पदों के लिये आसत्ति या सन्निधि की आवश्यकता प्रकट की और वाक्य के उच्चारण के लिये इस तथ्य का महत्व प्रतिपादित किया। उदाहरणस्वरूप यदि वक्ता एक पद कहने के पश्चात् मौन हो जाता है और विलंब से दूसरे पद का उच्चारण करता है तो श्रोता को अर्थबोध में बड़ी कठिनाई होगी। इसलिये वक्ता को एक पद के उच्चारण करने के पश्चात् दूसरे पद का उच्चारण करना चाहिए। साथ ही एक पद और दूसरे पद के उच्चारण में बोधवर्ग की दृष्टि से कुछ विलंब भी आवश्यक होता है किंतु यह विलंब अर्थबोध के लिये ही होता है। यदि इस विलंब की अवहेलना की जायगी तो पदों का सामूहिक उच्चारण समस्त वाक्य को एक पद का रूप दे देगा और अर्थबोध में बाधा होगी। कतिपय भाषाएँ ऐसी हैं जिनमें समस्त वाक्य एक पद बन जाता है किंतु हिंदी भाषा की ऐसी प्रवृत्ति नहीं है।

§ १०३०. एक पद के समीप दूसरे पद की स्थिति का महत्व कम उल्लेखनीय नहीं है। हिंदी की माध्यमिक कक्षाओं में पदसमीपता के अभ्यास दिए जाते हैं। एक वाक्य ऐसा दे दिया जाता है जिसमें पदों की समीपता छिन्न भिन्न कर दी गई हो। उस वाक्य को छात्र पदसमीपता की दृष्टि से शुद्ध करके लिखते हैं—

है रेलगाड़ी पर स्टेशन खड़ी / रेलगाड़ी स्टेशन पर खड़ी है।

वह है

पदसमीपता का निर्णय इस प्रकार पद समुदाय के स्थान पर न्यूनतम पद की स्थापना द्वारा हो जाता है। पद समुदाय के अंतर्गत प्रकट विभिन्न पद, जो न्यूनतम पद की स्थापना में परिवर्तन हो सकते हैं, एक दूसरे की समीपता के अपेक्षी होते हैं। इनकी अव्यवहित समीप स्थिति अनिवार्य होती है। इसलिये इनको 'अव्यवहित समीपतर पद' संज्ञा दी जा सकती है।

पदक्रम के अंतर्गत व्याकरणिक पदों के क्रम का अध्ययन किया जायगा—कर्ता, कर्म, करण तथा क्रिया आदि में पदस्थापना का, क्या क्रम रखा जायगा किंतु प्रस्तुत प्रसंग में इन व्याकरणिक पदों की आंतरिक रचना विधान अथवा समीपता पर विचार किया जायगा। विवेचन की सुविधा के लिये प्राचीन पारिभाषिक नामों का प्रयोग उपयुक्त होगा। पदों का वर्गीकरण करते हुए यास्क ने 'नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च' कहकर पदों के चार भेद किए हैं—१. नाम, २ आख्यात, ३ उपसर्ग, ४. निपात।

इन चार पदों में व्याकरणिक पद कर्ता, कर्म, करण, सर्वनाम, विशेषण आदि का समाहार नाम में तथा क्रियाविशेषण, क्रिया आदि का समाहार आख्यात में हो जाना है। उपसर्ग पृथक् पद की गणना में नहीं आते तथा निपात अविकारी होते हैं। इसलिये प्रस्तुत प्रसंग में इनको छोड़कर नाम और आख्यात के संबंध में पदसमीपता की दृष्टि से विचार कर सकते हैं।

जैसा कि इससे पहले विचार कर चुके हैं कि पदसमीपता का प्रश्न उसी समय उठता है जब नाम या आख्यात एकाकी अथवा एकपदीय न होकर विस्तृत किंवा बहुपदीय होते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो कह सकते हैं कि नाम और आख्यात के विस्तार में पदसमीपता का ध्यान रखा जाना आवश्यक है।

'राम पुस्तक पढ़ता है' इस वाक्य में विचारणीय विषय पदसमीपता का नहीं प्रस्तुत पदक्रम का है। इसी वाक्य को विस्तार के साथ लिया जाय तो पदसमीपता का प्रश्न उठेगा—

मेरा छोटा भाई राम कहानियों की पुस्तक

राम पुस्तक

बड़ी रुचि से पढ़ता है।

पढ़ता है।

विस्तार की सामान्य विशेषताएँ—

§ १०३१ हिंदी में विस्तार की स्वाभाविक प्रवृत्ति बाईं ओर जाने की है। कतिपय ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमें विस्तार की दिशा परिवर्तित हो जाती है और विस्तार दाईं ओर होता है। नामविस्तार के संबंध में दो प्रकार की संभावनाएँ रहती हैं—

१ नामविस्तार का विधेयात्मक प्रयोग।

२. बलाघात आदि के संदर्भ में विशेष प्रयोग।

विधेयात्मक प्रयोग—लड़का सुंदर है।

—→ ←—

बलाघात आदि (अ) माली कमबख्त क्या करता रहता है?

—— ←——

चाह गरम।

—— ←—

(आ) हमारे यहाँ नाम के साथ आस्पद का प्रयोग 'परप्रयोग' की रूढ़ि को प्राप्त हो चुका है अन्यथा अंग्रेजी में आस्पद का पूर्वप्रयोग ही मान्य है। उपाधियों का तो हिंदी अंग्रेजी दोनों में समानरूप से परप्रयोग ही रूढ़ है।

आख्यातविस्तार में बलाघात के अंतर्गत इस प्रकार के उदाहरण मिलते हैं जिनमें विस्तार बाईं ओर के स्थान में दाईं ओर को होता है—

वह घर में है क्या ? तुम पढ़ते क्यों नहीं ?

— ←— —— ←—— —

§ १०३२ नामविस्तार अथवा आख्यातविस्तार के अंतर्गत विस्तार की सीमा का भी अध्ययन किया जा सकता है। विस्तार के अंतर्गत दो या तीन पदों का प्रायः समावेश होता है। नामविस्तार की दृष्टि से अधिकतम विस्तार-पद-संख्या का जो वाक्य मुझे अभी तक प्राप्त हुआ है, उसमें विस्तार-पद-संख्या पाँच है—

उन्हीं की भावकल्पना की मूर्ति को संगठित, सुसज्जित, अलंकृत, मोहक, शाश्वत सुंदर वेश में उपस्थित करना है। ('आजकल' मार्च ५८)

इस दिशा में खोज करने पर और उदाहरण मिल सकते हैं किंतु मैं समझता हूँ कि विस्तार पद-संख्या ०—५/६ के बीच ही रहेगी और इस प्रकार पदों की

अधिकतम संख्या जो विस्तार के अंतर्गत संभव है ५/६ होगी। यहाँ यह तथ्य भी स्मरण रखना चाहिए कि श्रोता का अभीष्ट विस्तार नहीं होता और जब विस्तार मूल पद के लिये दूरी बन जाता है तब तो अर्थबोध में भी बाधा होने लगती है। साथ ही हिंदी वाक्यों में ऐसे वाक्यों का ही बाहुल्य है जिनमें पदसंख्या १-१० तथा ११ से २० के बीच गतिशील रहती है। इसलिये साधारणतया हिंदी वाक्यों में विस्तार के लिये अधिक विस्तार की गुंजाइश नहीं रहती और यही कारण है कि हिंदी के बहुप्रयुक्त वाक्यों में विस्तार के अंतर्गत दो या तीन पदों का ही समावेश रहता है।

§ १०३३ विस्तार के प्रयोग के संबंध में सावधानी आवश्यक है जो सतत अभ्यास के पश्चात् ही संभव होती है। यहाँ कतिपय उदाहरण देखे जा सकते हैं—

सुंदर बहुप्रचलित शब्द है। आँख बंद करके इसका प्रयोग चाहे जहाँ कर लेते हैं - सुंदर लड़का / लड़की / पुस्तक / गेंद / टोपी / रोटी आदि। किंतु इसका प्रयोग अरुचिकर वस्तुओं अथवा परिस्थितियों के लिये नहीं कर सकते—

सुंदर हत्या / लूट / डाका / मारपीट आदि कहना अनुपयुक्त होगा।

इसी प्रकार मोटा आदमी होता है, मोटी रोटी होती है, यही क्यों मोटी अक्ल भी होती है किंतु दाल गाढ़ी ही होती है, मोटी नहीं।

लक्षणा व्यंजना के अंतर्गत तो हम विस्तार से अर्थसत्ता की और भी अपेक्षा करते हैं। 'लड़का तो बहुत सुंदर है, क्या कहने हैं!' इस कथन में लड़के की कुरूपता का ही विस्तार हुआ है, सुंदरता का नहीं।

§ १०३४ विस्तार जहाँ विशेषता का सूचक है तथा नाम या आख्यात की विशेषता को प्रकट करता है वहाँ विस्तार का प्रयोग वक्ता के दृष्टिकोण से भी संबंधित है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वक्ता की रुचि का प्रभाव भी विस्तार पर पड़ता है। इसी लिये विस्तार के रूप में विशेषताएँ आ जाती हैं—

(अ) अनुप्रासप्रियता—

नीरस नीरव शून्य में
कर्कश कठोर अट्टहास में···
सोने से सपने···

अंत्यानुप्रास—यह अविचारी दुर्बल नारी

(आ) उन्हीं शब्दों की आवृत्ति—

मोटी मोटी रेशमी डोरियाँ, उसने रोते रोते कहा···
ऊँचे से ऊँचे कुल में

(इ) रूढ़िगत प्रयोग—

शत-शत प्रणाम······

दो चार, दस बीस···

(ई) साभिप्राय विस्तार का प्रयोग—

· हे अशोक तरु हरु मम शोका।

§ १०१५ विस्तारक्रम—विस्तार का क्रम पदसमीपता का मुख्य विवेच्य है। विस्तारक्रम में सावधानी न रखने से भ्रांतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। एक दो उदाहरण यहाँ अवलोकनीय हैं—

मेरे जीवित रहते / आर्य समुद्रगुप्त के स्वर्गीय गर्व को इस तरह पददलित न होना पड़ेगा। (प्रसाद—स्कंदगुप्त)

हमारे भारत के अमेरिका के लिये / प्रस्थान करने के पूर्व···

(सा० हि० १० अगस्त ५८)

विस्तारक्रम साथ ही लेखक की तर्कबुद्धि से जितना संबंधित है, उससे कहीं अधिक उसकी रुचि और भावुकता से भी संबंधित रहता है, इसी लिये विस्तारक्रम या पदसमीपता के अंतर्गत जो निर्णय लिये जाते हैं, वे अपवादरहित नहीं हो सकते। यहाँ कतिपय निर्णय दिए जा रहे हैं—

नामविस्तारक्रम—

(१) नाम के साथ प्रयुक्त परसर्ग उसके पश्चात् ही प्रयुक्त होते हैं, पूर्व नहीं—राम ने, मोहन से आदि।

(२) संबंधवाचक (भेदक) तथा विशेषण के योग में संबंधवाचक को प्राथमिकता दी जाती है—मेरी लाल गाय (लाल मेरी गाय नहीं)।

(३) व्यक्तिगत अथवा जातुगत विशेषता नाम के समीप रहती है—मोटी रेशमी डोरी···

(४) संख्यावाचक तथा अन्य विशेषताओं के योग में संख्यावाचक विस्तार को विशेषता दी जाती है—एक बुद्धिजीवी व्यक्ति।

(५) विस्तार की विशेषता प्रकट करनेवाले पद विस्तार से पूर्व प्रयुक्त होते हैं—विशुद्ध अभिकुल संभूत···

(६) संकेतवाचक विस्तार को प्राथमिकता दी जाती है—इस प्रथम संग्रह के लिये···

(७) रूढ़िगत क्रम अपरिवर्तित रहता है—सीधासादा व्यक्ति, साफसुथरी बात, दस बीस रुपये···

(८) संख्यावाचक विस्तार के योग में छोटी संख्या पहले तथा बड़ी संख्या बाद में प्रयुक्त होती है—

दो चार, दस बीस, चार पाँच

(९) लघुपदीय विस्तार को दीर्घपदीय विस्तार पर विशेषता दी जाती है—
दीन, दुःखी, अपाहिज

(१०) सजातीयता का ध्यान रखा जाता है—
खूबसूरत लड़का // सुंदर शिशु···

(११) नाम की विशेषता का विकासक्रम भी दृष्टिगत रहता है—
उन्हीं की भावकल्पना की मूर्ति को संगठित, सुसज्जित, अलंकृत, मोहक, शाश्वत, सुंदर वेश में···

§ १०३६ आख्यातविस्तारक्रम—

(१) सहायक क्रिया का परप्रयोग होता है—
वह पढ़ता है ।

(२) सामान्यतः आख्यात का विस्तार आख्यात के पूर्व प्रयुक्त होता है—

(३) न' का प्रयोग (आग्रह के विवेयात्मक अर्थ में) आख्यात के पश्चात् होता है तुम चलो न, आइए न। आइए न।
(प्राचीन प्रयोग—'न क्यों आये ?—नीलदेवी)

प्रश्नात्मक रूप में भी न का प्रयोग इसी प्रकार से होता है—चलोगे न ?
(न साधारणतया सामान्य वर्तमान, अपूर्ण तथा पूर्णभूत कालों में प्रयुक्त नहीं होता)

(४) 'नहीं' प्रश्नात्मक रूप में 'न' के समान परप्रयुक्त होता है—
तुम आओगे नहीं ? तुम आए नहीं ?

'नहीं' साधारणतया दो पदों के बीच प्रयुक्त होता है। ये दो पद क्रिया तथा उसकी सहायक क्रिया हो सकते हैं अथवा क्रिया तथा क्रिया से पूर्वप्रयुक्त पूरक आदि हो सकते हैं।

प्रश्न नहीं उठाया गया, हर्षध्वनि नहीं की, कुछ नहीं कहा, बंद नहीं हुई। दो क्रियापदों के बीच की स्थिति—जब आख्यात में दो से अधिक पद होते हैं तो 'नहीं' प्रायः बाईं ओर के पद के पास या उससे भी पूर्व रखा जाता है और इस प्रकार दो क्रियापदों की बीच की स्थिति पदसंख्या की दृष्टि से १ और २ या ३ आदि होती है—

स्वीकार नहीं की जाएँगी,

निर्विरोध रूप से नहीं चुन लिए जाते हैं।

('नहीं' प्रायः संभाव्य भविष्यत्, विधि, संकेतार्थ कालों तथा क्रियार्थक संज्ञा एवं कृदंतों के साथ प्रयुक्त नहीं होता)।

(५) 'मत' का प्रयोग न अथवा नहीं के स्थान में केवल विधिकाल में होता है; आजकल न का भी प्रयोग होने लगा है—

वहाँ मत जाओ / वहाँ न जाओ, उसको मत / न बुलाओ।

(६) आख्यात पदसमुदाय में बल देने के लिये 'तो', 'भी', 'ही' आदि का प्रयोग होता है। ये पद प्रायः आख्यात के प्रथम पद के पश्चात् या उससे भी पूर्व प्रयुक्त होते हैं और नहीं के संयोग में उससे भी पूर्व प्रयुक्त होते हैं—

वह आता तो है / वह आता तो नहीं है।

राम आया भी नहीं, सोहन से ही तो बोलने को कहा गया।

(१) पदक्रम

§ १०३७ हिंदी पदक्रम का साधारण रूप इस प्रकार है—

कर्ता कर्म क्रिया।

कर्ता करण कर्म क्रिया।

हिंदी परसर्गों के कारण पदक्रम में व्यतिक्रम होने पर असुविधा नहीं होती। यही कारण है कि हिंदी वाक्यों के रूपों में पदक्रम की दृष्टि से आज विशेष अंतर आ गया है जिसका कारण वक्ता की असावधानी ही नहीं है प्रत्युत बलाघात के कारण भी व्यतिक्रम संभव हो गया है। अप्रत्यय रूपों के साथ यह शंका हो सकती है कि पदक्रम में व्यतिक्रम होने पर अर्थबोध में कठिनाई होगी किंतु पदों की योग्यता आदि के अंतर्गत वस्तुतः ऐसा होता नहीं। 'पुस्तक राम पढ़ता है' कथन में पुस्तक और राम अप्रत्यय रूप में प्रयुक्त हुए हैं किंतु पुस्तक में पढ़ने की योग्यता का अभाव तथा राम में पढ़ने की योग्यता का सभाव अर्थबोध की कठिनाई को दूर कर देता है।

§ १०३८ पदक्रम और बलाघात—वक्ता की दृष्टि साधारणतया भाव की ओर अधिक और भाषा के व्याकरणिक क्रम की ओर कम रहती है। अपने भाव के बोधक पद का उच्चारण वक्ता सर्वप्रथम करना चाहता है। यही कारण है कि पदक्रम में अंतर आने लगता है तथा पद आगे को खिसकने लगते हैं। दूसरी ओर उन पदों को जो व्याकरणिकक्रम में प्रथमस्थानीय हैं, अप्रत्याशित स्थिति में रखने से बलाघात अथवा श्रोता का ध्यान आकर्षित करना संभव हो जाता है। इसलिये 'तुम आ गए' के स्थान पर वक्ता 'आ गए तुम?' कहकर संतुष्ट होता

है। इस प्रकार पूर्वनिर्धारित क्रम में प्रथमस्थानीय पद पीछे की ओर सरकने लगते हैं और इन दोनों प्रवृत्तियों के फलस्वरूप पदक्रम में व्यतिक्रम संभव हो जाता है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि साधारणतया व्याकरणिक क्रम सुविधाजनक सिद्ध होता है क्योंकि इस क्रम के संस्कार बन चुके होते हैं और यह क्रम संस्कृत माना जाता है। यही कारण है कि भावावेश दशा को छोड़कर साधारण परिस्थितियों में वक्ता व्याकरणिक क्रम के लिये और लिखित भाषा में विशेषकर आग्रह करते हैं। इस प्रक्रिया में लिखित भाषा व्याकरणिक क्रम के प्रति आग्रह करती हुई तथा उच्चरित भाषा उसके प्रति यथावसर अवहेलना करती हुई दिखलाई देती है। उच्चरित भाषा ही लिखित भाषा की प्रवृत्तियों और गतिविधियों का निर्देशन करती है। इसलिये कालान्तर में उच्चरित भाषा में प्रचलित पदक्रम (जो लिखित भाषा के लिये अपवादक्रम रहता है) लिखित भाषा के लिये भी ग्राह्य हो जाता है।

पदक्रम की विभिन्न परिस्थितियों और रूपों के अंतर्गत पदक्रम के विभिन्न प्रकार या रूप संभव होते हैं—

व्याकरणिक पदक्रम, अपवाद पदक्रम, उग्र पदक्रम, शीर्ष पदक्रम, पुच्छल पदक्रम, समानांतर पदक्रम, एकांतर पदक्रम, संयुक्त पदक्रम, वियुक्त पदक्रम, पूर्व पदक्रम, पर पदक्रम आदि।

हिंदी पदक्रम

§ १०३१ हिंदी गद्य के प्रारंभकाल में पदक्रम का दृढ़तापूर्वक पालन कदाचित् आवश्यक नहीं समझा गया जिसका कारण जैसा कि इससे पूर्व स्पष्ट कर चुके हैं, हिंदी पदों के सप्रत्यय रूप हैं जिनसे पदक्रम में व्यतिक्रम होने पर भी अर्थबोध में कोई कठिनाई उपस्थित नहीं होती। गद्य के प्रारंभिक लेखकों ने इस दिशा में व्याकरणिक क्रम के प्रति विशेष आग्रह प्रकट नहीं किया—

(:) सिर झुकाकर नाक रगड़ता हूँ (२) उस अपने बनानेवाले के सामने··· (१) (रानी केतकी)

(::) क्या अर्जुन को (२) तैनें (१) दूर गया जाना···(प्रेमसागर)

(:::) चंद्रावती (२) मेरा नाम है। (१) (नासिकेतोपाख्यान)

१४०० से १७०० वीं शती का दक्खिनी गद्य साहित्य हिंदी के प्रारंभिक गद्य को

विशेष प्रभावित किया है। दक्खिनी गद्य मे वाक्य ऐसी दो शैलियों में मिलते हैं जिनमें हिंदी गद्य के प्रारंभिक वाक्य मिलते हैं। ये दो शैलियाँ हैं[१]—

१. तुकांत शैली।

२. गद्यपद्यमिश्रित शैली।

इन शैलियों के अनुकरण के कारण ही ऐसा लगता है कि हिंदी के प्रारंभिक गद्यलेखकों ने व्याकरणिक क्रम के प्रति उदासीनता दिखलाई। तुकांत शैली में व्याकरणिक क्रम का अनुकरण संभव नहीं हो पाता। इसलिये उसमें व्यतिक्रम आवश्यक हो गया। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि हिंदी पदों के सप्रत्यय रूप ने व्याकरणिक क्रम के व्यतिक्रम के लिये सुविधा प्रदान की तो दक्खिनी गद्य की शैलियों ने प्रेरणा दी। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इस प्रकार की प्रवृत्ति की कड़े शब्दों में भर्त्सना की और व्याकरणिक क्रम के प्रति आग्रह एवं अनुरोध किया। कतिपय लेखकों को उन्होंने आज्ञा भी दी और इस प्रकार सब प्रकार से गद्य को संस्कृत एवं व्याकरणसंमत रूप देने की चेष्टा की। आज की परिस्थितियों मे पुनः व्याकरणिक क्रम की ओर उदासीनता दिखलाई देने लगी है। उच्चरित भाषा में तो यह प्रवृत्ति विशेषरूप से द्रष्टव्य है। कुछ उदाहरण देखे जा सकते हैं—

बिल्कुल काली नहीं है चाय।

जब बुलावें तुम्हें तब आना।

दे दो जल्दी देर हो रही है हमको।

नामपदक्रम की आवृत्ति —

§ १०४० नामपदक्रम की आवृत्ति का अध्ययन करते हुए निम्नलिखित निष्कर्ष[२] प्राप्त होते हैं—

न १	न २	न ३	न ४	न ५	न ६	न ७	न८
६२०	४४०	८१	६८	५६	४२८	३७६	३
.	..				..	...	

इस प्रकार आवृत्ति का क्रम है—

न १, न २, न ६, न ७, न ३, न ४, न ५, न ८

न ६ विशेषण की भाँति संबंधी पद के पूर्व प्रयुक्त होता है। इसलिये

[१] राजकिशोर पांडेय, रीडर हिंदी विभाग उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद द्वारा प्राप्त।

[२] विभूति: रामकुमार वर्मा, भाप के पत्र, दीपशिखा, सागर लहरें और मनुष्य तथा नवभारत टाइम्स दिनांक २२-२-६१ के १००० वाक्यों के अध्ययन के आधार पर प्राप्त।

संबंधी पद के साथ इसका समाहार हो जाता है। इस प्रकार शेष नामपदक्रम की आवृत्ति ही विवेचन अपेक्षी है। शेषचनाम पदक्रम की आवृत्ति इस प्रकार है—

(नाम के संदर्भ में)

१ / २ , ७ , ३ / ४ , ५ , ८

नाम पद्क्रम की प्रवृत्तियाँ

§ १०४१ नामपरसर्ग व्यत्यय—

नामपदक्रम	मूलपरसर्ग		परसर्ग व्यत्यय
१	ने	३—से	तुमसे न होगा।
		४—को	उसको पढ़ना चाहिए।
		७ पर	रामराम, इतनी मार किसपर सही जायगी।
२	को	५—से	मुझसे कहा था।
		६—के	महादेव के नाती हुआ है।
			लोग कहै पोचु सो न सोचु संकोचु मेरे।
		७—पर	पाप छिपाए थोड़े ही छिपता है, एक दिन समाज पर प्रकट हो ही जाता है।
३	से, द्वारा	४—को	दुखिया मूवा दुख को।
		६—का	रुपए पैसे का हमें क्या करना है?
		७—पर	इस तरह पर अनेक प्रकार की
		मे	बातचीत··· अपने ढंग में बोलते हुए अजीब लगते हैं।
			अधिक लाड़प्यार में रखने से बच्चे बिगड़ ··
४	को, के लिए	३ से	वह किसी काम से आया होगा।
		७—पर	किस बात पर नाराज हो रहे हो···
			'अब कापर हम करब सिंगारा।'
५	से	६—के	क्या यदि तुम चुटकी काटो तो हम लोगों के खून न निकले।
		७—में	सारा गाँव इस कौड़े में आग लेने आता था।

६	का, की, के	२—को	इस कालेज में काम करते हुए उसको दूसरा साल है।
		३—से	'साईं सूं सनमुख रहै।'
		४—को	जी को जी से मिलाप है।
		५—से	धनिया का घमंड तो उसके संभाल से ··
		७—में	आपके मुकद्दमे में सच्चेपन से ··पैरवी···
७	में, पे पर,	२—को	'दोनों ही ··भाग्य को रो रही थीं। राम पाठशाला को गया।
		३—से	तुम्हारे दरबार से इसका फैसला होना चाहिए।
		४—को	सारा गाँव खड़ी ऊख बेचने को तैयार हो गया।
		५—से	कुछ भी उसके जी से दया न उपजी —(नासिकेतो०)।
		६—को	आज ' होता तो तुम्हारे रूप और गुण दोनों की बलिहारी होता (श्यामा०)

नामपदक्रम में दो परसर्गों की संभावना

२/६ बँसोर से लड़ने का उसे / उसका क्या प्रयोजन था।

३/६ उसके मन में इन बातों का / से बड़ा खेद रहा।

४/६ मैं तुम्हारे भले के लिये / की कहता हूँ।

५/६ सीहोर भोपाल से / के निकट है।

७/६ ·· तुम्हारे रूप और गुण दोनों पर / की बलिहारी होता।

२/७ भाग्य को / पर रो रही थी। तुम दिन को / में सोते हो।

३/७ तुम्हारे दरबार से / में इसका फैसला होना चाहिए।

४/७ धनिया बुढ़ी है, तेरी कुठाई को / पर।

५/७ सारा गाँव इस कौड़े से / में आग लेने आता था।

नामपदक्रम व्यत्यय—

§ १०४२ नामपदक्रम अपना स्थानीय महत्व रखता है तथा नामपदक्रम व्यत्यय की संभावना नहीं रहती और विशेषकर बिना अर्थव्यवधान की संभावना

के। फिर भी कतिपय ऐसे उदाहरण मिल सकते हैं जिनमें पदक्रमव्यत्यय संभव हो सकता है[1]। एक दो उदाहरण यहाँ देखे जा सकते हैं। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि व्यत्यय पदसमीपता के संदर्भ में ही संभव है।

१/७/१ वंशी देखने में / देखने में वंशी बहुत सुंदर नहीं थी।
१/३/१ फल चाकू से / चाकू से फल काट लो।
१/७/१ रात के अँधेरे में चोर गली से / गली से चोर निकल भागा।
२/अ/२ उसने दो तीन साँसें जोर से / जोर से दो तीन साँसें लीं।
वाक्यांश शंका भी थी, आशा भी थी, शंका अधिक थी, आशा कम। (मूल)
आशा भी थी, शंका भी थी, आशा कम थी, शंका अधिक।

§ १०४३ नामपदक्रम के विशेष रूप—

आदि प्रथमस्थानीय प्रयोग के रूप—

न—१—राधे ने कहा।
२—मोहन को बुलाओ।
३—तुम्हारे बाण से मरा, नहीं, मेरे से मरा है।
४—कहने के लिये दो शरीर हैं, वरना दोनों में भेद तो नाममात्र को नहीं।
५—आदर्शनगर से आगे चलकर एक छोटी सी पहाड़ी दिखलाई पड़ती है—डूँगरी।
६—उसकी बन आई। मेरी पूछिए...
७—ससुराल में भी तो कोई जवान साली सलहज नहीं बैठी है...
८—विजया। आकाश के सुंदर नक्षत्र देखे ही जाते हैं...

पू-क्रि (पूर्वकालिक क्रिया)—जाकर सीसे में मुँह देखो।
आ— जाओ। है भी यह काव्य का अनिवार्य साधन।
वि—तीनों बचपन में ही चल बसे।

अव्यय तथा अन्य—जब और जहाँ जहाँ यह मनुष्य का ऐश्वर्य काव्य में......
प्रकट हुआ।
—हाँ, तो उसी बहुत बहुत पुराने जमाने में...

[1] नामपदक्रम व्यत्यय प्रयोग के विविध प्रचार एवं प्रसार के कारण संभव होते हैं, अन्यथा कुशल लेखकों की रचनाओं की विशेषता ही यह होती है कि उनमें नामपदक्रम व्यत्यय संभव ही नहीं होता।

—बीती हुई कई सदियों के इतिहास में···

—क्या भाषा, विचारों और···शांत हो सकते हैं।

—यहाँ तो अबतक क्या ··जग जाती थीं।

—विश्वास करना और देना, इतने ही लघुव्यापार से···सब समस्याएँ···

—परंतु तुम लोगों से···न करूँगी।

—अस्तु, भावों और विचारों की प्रधानता···

—पहिले सुनिए अनीता तलवार का गाया हुआ एक भक्ति गीत

अंतस्थानीय प्रयोग के रूप—(पुच्छलक्रम की विशेष प्रवृत्ति)

न—१—क्या समझ रखा है आजकल के इन लौंडे लौंडियों ने।

२—···होलर ने याद दिलाई बात। बनाव रखूल चाहिए, रखूल।

३—हाँ, हो सकता है—परिचय से, सान्निध्य से।

" हृदय पर जो प्रभाव·············वह उक्ति ही के द्वारा।

४—जो रोक लेंगे···कुछ पूछने के लिये। मैं अकेला काफी हूँ वहाँ के लिये।

५—···बेचारी जान लेकर भागी वहाँ से।

६—हाथों में बागड़वा (कड़ा) सोने की। कुछ ठिकाना है इस बेतुकेपन का।

७—···कोई देगा भीख में। नाम और पता लिखा है इसमें।

८—तू कौन है रे! क्या करें? मजबूर हैं बेचारे!

आ—वह गया।

पू-आ—अब चाटो मेरा मकान लेकर।

वि—काले गोरे से क्या करना, दिल का तो है साफ।

अव्यय तथा अन्य—आपका कोई काम नहीं है यहाँ।

—पानी तो रख देना था भीतर।

—तब तुम्हारा सिर हाँ, नहीं तो।

—उसके लिये इतनी खुशामद क्यों?

—सब सबके लिये नहीं होते शायद।

—आगे पीछे से क्या लेना देना है भला।

—कविता ही न। आइए न।

—कार्यों का प्रवाह एक ओर जा रहा है और उनके साहित्य का दूसरी ओर।

अंग्रेजी की छाप—मैं इस मार्च में कमला की शादी करके छोड़ूँगा एट एनी कास्ट।

परसर्ग—इसी तरह संतसाहित्य के मूल्यांकन में। यह सब ऐतिहासिक दृष्टि के नाम पर।

पूरक—कौन होता है कोई उसके बीच में बोलनेवाला।

इस समय···कपोलों पर कितनी लज्जा, ओठों पर कितनी सत्प्रेरणा।

§ १०४४ नामपदक्रम पूरक के रूप में—

न—१—मैं एक अध्यापक हूँ।

२—मैं उसको पुस्तक देता हूँ।

३—मैंने उससे बच्चों की कुशलक्षेम पूछी।

४—मैं पढ़ाने के लिये आया हूँ।

५—फल पेड़ से गिरता है।

६—मेरा विचार नौकरी करने का है।

७—अब यह पुस्तक दो रुपये में मिलेगी।

§ १०४५ नामपदक्रम पूर्वकालिक क्रिया के पूर्व—

न—१—शेर ने दहाड़कर सबको भयभीत कर दिया।

२—टहनियों को काटछाँटकर ठीक करना माली का काम है।

३—भय से मुक्त होकर जीवनयापन करना कठिन नहीं है यदि···

४—भूखों के लिये भोजन लाकर ही उसे संतोष हुआ।

५—झुरमुट से निकलकर लोमड़ी ऐसी तेजी से भागी कि हम लोगों की नजर भी··

६—······

७—सामान्य पाठक को विचार में रखकर······

§ १०४६ नामपदक्रम और शिष्टाचार—

अ—अहंसूचक 'मैं' पद का त्याग—

हम प्रयत्न करेंगे, हमारा ऐसा विचार है।

आ—प्रश्नकर्ता द्वारा संमान—	उत्तरदाता द्वारा विनम्रता—
आपका शुभनाम ?	दास को ''कहते हैं।
आपका शुभस्थान ?	मेरी कुटिया···है।

इ—परिचय कराते हुए—

यह आपका मकान है।	(मेरे मकान के लिये)

यह आपकी बहू है। (मेरी पत्नी के लिये, इसी लिये 'पत्नी' नहीं)

यह आपका लड़का है। (मेरे पुत्र के लिये, इसी लिये 'पुत्र' नहीं)

ई—पत्रलेखन की प्राचीन प्रणाली में प्रशस्ति तथा अंत का विशेषरूप—
प्रशस्ति में श्री की निश्चित संख्या—६ श्री गुरु को, ५ स्वामी को, ४ शत्रु को, ३ मित्र को, २ भाई को, १ पुत्र तथा स्त्री को।

आजकल अंग्रेजी के प्रभाव से प्रिय शब्द का प्रयोग होने लगा है। प्रियमहोदय, प्रिय सुरेश (मित्र, भाई, पुत्र आदि), प्रिये (स्त्री), आज भी प्राचीन परंपरा में श्रद्धावान् व्यक्ति गुरु को प्रिय न लिखकर पूज्य आदि शब्दों का ही प्रयोग करते हैं। अंत में तो सर्वत्र 'आपका' और 'भवदीय' बहुप्रचलित है।

§ १०४७ नामपदक्रम के साथ आख्यात के रूढ़ प्रयोग—

अ—पशुपक्षी तथा उनकी बोलियाँ—घोड़ा हिनहिनाता है, गदहा रेंकता है, मक्खियाँ भनभनाती हैं, कुत्ता भौंकता है, आदि।

आ—अन्य नामपद—

अकाल पड़ना, आसमान गड़गड़ाना, आँसू डबडबाना, केश सँवारना, पौदे लहलहाना, गीत गुनगुनाना, आदि।

इ—नामपद के विशेष विस्तार—

सफेद—धपाधप , अंधकार—घटाटोप , वर्षा—मूसलाधार।

ई सर्वनाम युग्म—जो—वह, जे—सो, जिस—तिस, जितना—उतना

§ १०४८ स्वतंत्र पदक्रम—आज की विशेष प्रवृत्ति का अवलोकन स्वतंत्र पदक्रम के अंतर्गत किया जा सकता है। ऐसे पद जो वाक्य की समाप्ति के पश्चात् रखे जाते हैं, तथा वाक्य के अन्य पदों से अन्वयगत कोई संबंध नहीं होता, स्वतंत्र पदक्रम की श्रेणी में आते हैं। एक दो उदाहरण यहाँ अवलोकनीय हैं—

—आदर्शनगर से आगे चलकर एक छोटी सी पहाड़ी दिखाई पड़ती है—मोती डूँगरी। सुडौल, नुकीली, उन्नत।

—साधारण रीति से साँस लेते समय वह ढीली पड़ी रहती है, बिल्कुल निस्पंद, निष्क्रिय।

—जैसे मेरे चारों ओर हर चीज मर गई थी, बेजान जैसे पत्थर।

स्वतंत्र पदक्रम रचना—आज कतिपय ऐसे भी उदाहरण मिलेंगे जिनमें व्याकरण के अन्वय की ओर ध्यान नहीं दिया गया है। नई कविता की भाँति नए गद्य के यह उदाहरण उच्चरित भाषा की समीपता प्राप्त करने के प्रयत्न

कहे जा सकते हैं। व्याकरण की दृष्टि से इस प्रकार की रचना को असंबद्ध तथा भ्रांतिपूर्ण ही कहा जावेगा—

यूनिवर्सिटी का ताजा दिमाग—हर वक्त स्ट्राइक, भूख हड़ताल और क्लास में जूता घिसने के अंदाज में जो जिंदगी को सोचता है, उसे यह मालगोदाम की क्लर्की कुछ जमी नहीं।

§ १०४६ निक्षिप्त पदक्रम—

भाषा के विकास तथा अंग्रेजी के प्रभाव के कारण निक्षिप्त पदक्रम का रूप हिंदी में प्रचलित हो गया है तथा इस प्रकार के पदक्रम कई रूपों में प्राप्त होते हैं। निक्षिप्त पदक्रम प्रायः वाक्य के बीच में रखा जाता है जब कि स्वतंत्र पदक्रम वाक्य के अंत में। किंतु स्वतंत्र पदक्रम के समान ही वाक्य में इसकी पृथक् स्थिति ही रहती है।

—थोड़ी देर के लिये, उदाहरणार्थ हम मुसलमानों को ले सकते हैं।

—बहुत छोटे बच्चे को, जिसे यह निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती, भय कुछ भी नहीं होता।

—इसके बिना—दृढ़ बंधुत्व के बिना दोनों की गुलामी के पाश कट नहीं सकते, खासकर ऐसे समय जब कि फूट डालना शासन का प्रधान सूत्र है।

—पुरानी चढ़ाइयों की लूटपाट का सिलसिला आक्रमणकाल तक ही—जो बहुत दीर्घ नहीं हुआ करता था—रहता था।

—यह विवादग्रस्त विषय है—आँसू में प्रदर्शित प्रेम का स्वरूप-आचार्य शुक्ल कहते हैं।

—हृदय के उद्गार—चाहे वे रूखे उद्गार हो हों—उसमें भरे हैं।

§ १०५० उह्य पदक्रम—

प्रसंग, परिस्थिति एवं संदर्भ के अंतर्गत वाक्य के उन पदों का अनुमान पाठक को सहज ही हो जाता है जिनको ऐसे स्थलों पर लेखक द्वारा छोड़ दिया जाता है। ऐसे पदों को उह्य पदक्रम की संज्ञा दी जाती है। नाटक अथवा उपन्यास आदि में ऐसे स्थल भी होते हैं जहाँ लेखक साभिप्राय उह्य पदक्रम की योजना करता है तथा पाठक की कल्पना के लिये अनेक पदों में से एक का चुनाव करना छोड़ देता है। यहाँ एक दो उदाहरण देख लिये जायँ। कहना न होगा कि प्राय' आख्यात उह्यपदक्रम में रखी जाती है—

कहाँ यह सब मजाक, कहाँ विरह वेदना।

—न भक्तों के राम और कृष्ण उपदेशक, न उनके अनन्य भक्त तुलसी और सूर।

—श्रद्धा का मूल तत्त्व है दूसरे का महत्त्व स्वीकार।

— यहाँ एक बात और।

—चाहे वह न भी सोचे किंतु घर के अन्य जन ?

—जाड़ों में देखता हूँ दर्द-देव जल्द जल्द आते हैं, गरमियों में अंतराल लंबेकर।

§ १०५१ रूढ़ पदक्रम—

लोकोक्ति तथा कहावतों के अतिरिक्त सूचनार्थक उपवाक्य भी रूढ़ पदक्रम की श्रेणी में आते हैं। इनमें परिवर्तन नहीं होता।

अपनी करनी पार उतरनी, अपनी अपनी डापुली अपना अपना राग, आम के आम गुठली के दाम, आप काज महाकाज आदि।

सूचनार्थक—सूचित किया जाता है, निवेदन करता हूँ, सच पूछिए तो, आदि।

क्रियाओं की विशेष विशेषताएँ—

आँसू गिरना— टपटप करके,

काँपना — थरथर

खाना — ठूँसठूँसकर

रोना — या दहाड़ मारकर,

हँसना — खिलखिलाकर आदि।

§ १०५२ विशेष पदविन्यास—

आजकल वाक्यरचना के अंतर्गत विशेष पदविन्यास के भी दर्शन होते हैं। कतिपय उदाहरण यहाँ दिए जा रहे हैं—

—कोई होता है, जो आकलन की प्रतिमा रखता है, सौंदर्य की आड़ी तिरछी रेखाओं सहज ही परख लेता है, वह एक दिलीप ही होता है शायद।—(निकष २)

—मैं कुनीन और गीता दोनों को पढ़ता हूँ, ऐंड वेट दे आर दी सेम थिंग टू मी तुम्हारी फिलासफी; तुम्हारा सिद्धांत।—(निकष २)

—फिर क्या था, नायिकाओं के पैरों में मखमल के सुर्ख बिछौने गड़ने लगे। व्यर्थ पद—'क्या नाम करके', 'जो है सो' आदि।

आजकल उपन्यास तथा कहानियों के कथोपकथनों में उच्चरित भाषा के वास्तविक रूप की अभिव्यक्ति की ओर विशेष आग्रह प्रकट किया जा रहा है। अतएव उच्चरित भाषा की कतिपय विशेषताएँ यहाँ अवलोकनीय हैं—

अ—अंग्रेजी पदों का हिंदी वाक्यों के साथ वाक्यरचनागत प्रयोग—
जैसा कि एक उदाहरण अभी दे चुके हैं।

आ—पदों का क्रिया के बाद प्रयोग—

१. विधि क्या है भाषा के संबंध में। २. उसको व्यवहार कह लीजिए आप, उसको उपचार कह लीजिए आप ......। ३. केवल क्रिया है हमारे सामने। ४. केवल एक कनवेन्शन है शिष्ट समाज का। ५. जरूरी है यह तो।

इ—विशेषण का वियुक्त एवं परप्रयोग—
मैंने समय आपका काफी ले लिया।
३ १ २
व्याख्यान नहीं है, बात कहनी है दो-तीन। बिल्कुल काली नहीं है चाय।

ई—वियुक्त पदक्रम—
आशा हम और आप करें ... तो आप हमको सुनाने।
देखा आपने यह शैतानी है आपके लड़के की।

उ—अनावश्यक पदों का प्रयोग—
जो है सो यह कहना है। समझे साब। आई मीन टू से. मैं समझता हूँ।

ऊ—लोकप्रचलित मार्मिक लोकोक्तियों का बहुल प्रयोग (जिनमें से अधिकांश साहित्य में प्रवेश नहीं पा सकी हैं)—भाग्य लूटना, बिल्ली बकमें चूहा खैर मनाने, लुढ़क जाना (फेल होना, पान खाना थूक देना, लादना पलादना, लुटिया लगना, मूँड़ चीरना, माफिक बैठना, कील काँटे से तैयार, भगवान का नाम, बोर होना—बोरियत होना, पटरी न बैठना आदि।

ए—प्रतिध्वनित नाम की प्रवृत्ति—
रोटी-फोटी, चाय-फाय,

§ १०५१ पदक्रम के प्रचलित रूप—

नीचे पदक्रम के बहुप्रचलित रूप सूत्रों में दिए जा रहे हैं—सूत्रसंकेत इस प्रकार हैं—

न—नाम न १—कर्ता, न २—कर्म, न ३—करण, न ४—संप्रदान, न ५—अपादान, न ६—संबंध, न ७—अधिकरण, न ८—संबोधन, न ९—

वि—विशेषण

आ—आख्यात (क्रिया)

नि—निपात (अव्यय)

पू—आ—पूर्वकालिक क्रिया।

नाम के साथ नामविस्तार का समाहार कर दिया गया है। वियुक्त रूप में प्रयुक्त होने पर ही उसका उल्लेख आवश्यक समझा गया है। न ६ नामविस्तार के रूप में प्रयुक्त होता है। इसलिये न ६ का पृथक् उल्लेख नहीं किया है। इसी प्रकार आख्यात के विस्तार का आख्यात के साथ समाहार कर दिया है।

(१) पदरूपात्मक वाक्य — अ—आ - आओ।

आ—न १, न २, न ३, न ४ आदि। राम ने।

(१)—नि—हाँ, नहीं।

(२) न १ I आ — राम गया।

(३) न १ I न २ I आ। —राम ने मोहन को बुलाया।

(४) न १ I न ३ I आ। - उनके हाथ सफेद दस्ताने से ढके थे।

(५) न ६ I नि I न १ I न २ I आ —महारानी का सबसे पहले राष्ट्रपति ने स्वागत किया।

(६) न १ I न ६ I आ। —श्रीफिलिप की पोशाक गहरे भूरे रंग की थी

(७) न १ I न ७ I आ। —आईजन का बचपन मास्को में बीता।

(८) न ७ I न १ I आ। —सिरपर हरीऔर आसमानी रंग की टोपी थी

(९) न २ I न १ I आ। —महारानी के अंग्रेजी भाषण का हिंदी अनुवाद ब्रिटिश हाई कमिश्नर की एक महिला ने किया।

(१०) न १ IविIनि७Iन२, न३I आ —(भारत में अर्जेंटाना के नए राजदूत) डा० आर० एम० इस्टमैन ने आज प्रातः राष्ट्रपति भवन में डा० राजेंद्रप्रसाद को अपना प्रमाणपत्र दिया।

(११) न १ I न ७ I न २ I आ। —पुलिस ने रामथापुर गाँव में इन डाकुओं को घेर लिया।

(१२) न १ I न २ I न ७ I आ। —हमने उन्हें युगांतकारी कवि, क्रांतिद्रष्टा विचारक और महामानव के रूप में देखा।

(१३) न ७ I न १ I न २ I आ। —आकर्षक ढंग से सजे मंचपर कलकत्ता के बालकलाकारों ने दर्शकों का मन मोह लिया।

(१४) न ५ I न ७ I न १ I न २ I आ स्वागत के मंच से महारानी और राष्ट्रपति के भाषणों के बाद २० मोटरगाड़ियों का जलूस ,राष्ट्रपति भवन', रवाना हुआ।

(१५) न १ I न ५ I आ। —(संशोधन में कहा गया है कि) चीन भारत में आक्रांत किए हुए क्षेत्र से हट जाय।

(१६) न ४ I न १ I आ। —ब्रिटेन के मंडप के लिये ५० हजार वर्ग फुट का क्षेत्र ले लिया गया है।

(१७) न १ I न ४ I न २ I आ। —स्थानीय नगरपालिका ने खिलाड़ियों के लिये एक स्टेडियम तथा रेस्टहाउस बनाने का निश्चय किया है।

(१८) न १ I न ३ I न २ I आ। —बच्चों ने बैंडबाजों, फूलों और सांस्कृतिक कार्यक्रमों से अपने अतिथियों का स्वागत किया।

(१९) न ७ I न ७ I न १ I आ। —पिछले दो दिनों में इटावा फर्रुखाबादरोड पर लूटमार होने की यह दूसरी घटना है

(२०) न ७ I न २ I न ३ I न १ I आ—प्रतियोगिता में सर्वश्रेष्ठ दस कलाकारों को ललितकला अकादमी की ओर से प्रो० हुमायूं कबीर ने पुरस्कार दिए।

(२१) न ७ I न २ I न १ I आ। —उस असेंबली के चुनाव में श्रीकेशा को सबसे अधिक मत मिले।

(४) पदान्वय

§ १०५४ पदान्वय के अंतर्गत एक पद का दूसरे पद से संबंध अवधारण विचारणीय होता है। संस्कृत में पदान्वय के अंतर्गत कारकों पर विचार किया गया है तथा कारक उस शब्द को माना गया है जिसका वाक्य में क्रिया शब्द के साथ साक्षात् संबंध हो। इस दृष्टि से संस्कृत में ६ कारकों—कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान और अधिकरण को क्रिया से संबंधित माना गया है। संबंध कारक का तथा संबोधन कारक क्रिया से साक्षात् संबंध नहीं होता, इसलिये इन दोनों कारकों को पदान्वय के अंतर्गत नहीं रखा गया है।

क्रिया से साक्षात् संबंध का विचार करते हुए प्राचीनों की दृष्टि अर्थ पर ही विशेष रूप से रही है किंतु अर्थ के साथ रूपगत संबंध भी होता है। इस दृष्टि से पदसमानता के अंतर्गत विवेचन होना चाहिए किंतु पदसमानता से भी कदाचित् अधिक संबंध इस विषय का पदान्वय से है। इसीलिये इस प्रसंग में कर्ता, कर्म तथा क्रिया पदों की समानता का विचार करने के पहले वचन दिया गया है।

§ १०५५ कर्ता और कर्म का क्रिया से जो संबंध विचारणीय होता है उसमें रूपात्मक विकार का अपना महत्वपूर्ण योग है। इसलिये यहाँ रूपात्मक विकार पर भी प्रकाश डाला जायगा। इस दृष्टि से कर्ता और कर्म को निम्नलिखित रूपों में देख सकते हैं—

(१) अप्रत्यय कर्ता	अप्रत्यय कर्म	क्रिया।
(२) अप्रत्यय कर्ता	सप्रत्यय कर्म	क्रिया।
(३) सप्रत्यय कर्ता	अप्रत्यय कर्म	क्रिया।
(४) सप्रत्यय कर्ता	सप्रत्यय कर्म	क्रिया।
(५) अनेक कर्ता		क्रिया।
(६)	अनेक कर्म	क्रिया।

§ १०५६ अप्रत्यय कर्ता अप्रत्यय कर्म क्रिया—

अ—क्रिया कर्ता के लिंग वचन के अनुसार विकारी रूप धारण करती है।

राम पुस्तक पढ़ता है / राधा पुस्तक पढ़ती है।

लड़के / बालक पुस्तक पढ़ते हैं / लड़कियाँ पुस्तक पढ़ती हैं।

आ—अप्रत्यय कर्ता प्रायः अकर्मक क्रियाओं के साथ आता है।

सकर्मक क्रियाओं में वर्तमान काल तथा भविष्यत् काल की क्रियाओं के साथ अप्रत्यय कर्ता आता है।

राम आता है। / लड़के आते हैं।
राधा आती है। / लड़कियाँ आती हैं।
मोहन मुझे बुलावेगा / राधा तुम्हें बुलावेगी।
हम उन्हें बुलावेंगे / वे उन्हें बुलावेंगी।

§ १०५७ अप्रत्यय कर्ता सप्रत्यय कर्म—

इ—अप्रत्यय कर्ता के साथ अप्रत्यय कर्म अथवा सप्रत्यय कर्म आ सकता है। क्योंकि कर्म के रूपविकार का क्रिया पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।
राम पुस्तक पढ़ता है / राम पुस्तक को पढ़ता है।
लड़के पुस्तक पढ़ते हैं / लड़के पुस्तक को पढ़ते हैं।

ई—अप्रत्यय कर्ता के साथ कर्म के लिंग वचन का भी कोई प्रभाव क्रिया पर नहीं पड़ता है—

लड़का पुस्तक पढ़ता है / लड़का पुस्तकें पढ़ता है।

लड़का डायरी लिखता है / लड़का डायरियाँ लिखता है।

उ—अप्रत्यय कर्ता के साथ प्रायः *अप्राणिवाची कर्म के अप्रत्यय प्रयोग की परंपरा है। यथास्थान सप्रत्यय कर्म के कतिपय उदाहरण भी मिलते हैं। इस संबंध में आगे विवेचन किया जायगा।

§ १०५८ सप्रत्यय कर्ता अप्रत्यय कर्म क्रिया—

कर्ता के साथ ने प्रत्यय का प्रयोग होता है और कर्ता का यह सप्रत्यय रूप क्रिया के भूतकालिक कृदंती रूप के साथ प्रयुक्त होते हैं—

राम ने पुस्तक पढ़ी।
मोहन ने रोटी खाई।

इस प्रकार के विन्यास में क्रिया का अन्वय कर्म के साथ होता है। कर्म के लिंगवचन के साथ क्रिया के लिंगवचन आदि में विकार होता है—

/ राम ने पत्र लिखा // चिट्ठी लिखी।
मोहन ने दही खाया // दाल खाई।
राम ने पुस्तकें भेजीं // पत्र भेजे।

* अप्राणिवाची कर्म के अंतर्गत पशुपक्षी भी लिए जावेंगे।

§ १०५९ सप्रत्यय कर्ता सप्रत्ययकर्म क्रिया—

सप्रत्यय कर्ता और सप्रत्यय कर्म होने पर भूतकालिक कृदंती रूप की क्रिया कर्ता और कर्म किसी से भी प्रभावित न होकर एक रूप रखती है—

अन्यपुरुष पु० एकवचन, (भूतकालिक कृदंती रूप)
राधा ने / राम ने मोहन को / राधा को बुलाया।
बालकों ने / लड़कियों ने लड़कियों को / बालकों को बुलाया।

§ १०६० प्रस्तुत प्रसंग में डब्ल्यू० एस० एलन के लेख 'हिंदी वाक्य-रचना के विश्लेषण का एक अध्ययन' की ओर ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है। (यह लेख एक्टा लिंग्विस्टिका १९५१ में प्रकाशित हुआ है।)

इस लेख में एलन ने अप्राणिवाचक कर्म के अप्रत्यय तथा सप्रत्यय रूप को लेकर हिंदी वाक्यरचना का विश्लेषण किया है तथा वाक्यरचना के इसी आधार पर अनिश्चित तथा निश्चित दो रूपों की कल्पना की है। उदाहृत वाक्य हैं—

अपूर्ण—अनिश्चित	निश्चित
लड़का कुत्ता देखता है।	लड़का कुत्ते को देखता है।
लड़का बिल्ली देखता है।	लड़का बिल्ली को देखता है।
लड़का कुत्ते देखता है।	लड़का कुत्तों को देखता है।
लड़का बिल्लियाँ देखता है।	लड़का बिल्लियों को देखता है।
लड़की कुत्ता देखती है।	लड़की कुत्ते को देखती है।
लड़के कुत्ता देखते हैं।	लड़के कुत्तों को देखते हैं।
लड़कियाँ कुत्ता देखती हैं।	लड़कियाँ कुत्तों को देखती हैं।

पूर्ण—अनिश्चित	निश्चित
लड़के ने कुत्ता देखा है।	लड़के ने कुत्ते को देखा है।
लड़की ने कुत्ता देखा है।	लड़की ने कुत्ते को देखा है।
आदि आदि	आदि आदि।

अपने अध्ययन के अंतर्गत क्रिया तथा कर्ता एवं कर्म में संभव विकारों का भी एलन ने अनुशीलन किया है जो संलग्न चार्ट से स्पष्ट है।

एलन का यह प्रयास निश्चित ही महत्वपूर्ण और विश्लेषण की दिशा में मार्गनिदर्शक है किंतु मैं समझता हूँ कि हिंदी वाक्यों में अनिश्चित और निश्चित प्रयोग की उपर्युक्त बात कदाचित् अर्थ अथवा प्रयोग की दृष्टि से प्रचलित नहीं है। उपर्युक्त वाक्यों को एलन ने 'ए' और 'दी' आर्टीकल के साथ अंग्रेजी के समान अभिव्यक्ति दी है।

लड़का कुत्ता देखता है।
द ब्वाय सीज ए डाग

लड़का कुत्ते को देखता है।
द ब्वाय सीज द डाग

संकेत—

⊙ अविकारी—प्रत्यक्ष रूप में। × अविकारी-निर्णय रूप में।

[ ] सीमित रूप में प्रयुक्त
न १—कर्ता
न २—कर्म

आख्यात क्रिया का विकार (सहायक क्रिया का इस अध्ययन में कोई विकारी प्रभाव नहीं होता इसलिये छोड़ दी गई है)

—(अ)— अपूर्ण

		न १	न २ मुख्य	न २ गौण	आख्यात	
ए० व०	पुं०	—⊙	—⊙	—⊙ए+को	—आ	
	स्त्री०	—⊙	—⊙	⊙+को	—ई	
ब० व०	पुं०	—⊙ —ए	—⊙ —ए			
	स्त्री०	[-⊙][-एँ] [याँ]	[-⊙] [-एँ] [याँ]	—ओ +को —ओं +कों	—ए —ईं	
		—(ब)—	पूर्ण			
ए० व०	पुं०	-×- ए +ने	-⊙	—×ए+को	आ	आ
	स्त्री०	× + ने	-⊙		ई	आ
ब० व०	पुं०	—ओं + ने	—⊙ —ए	— × +को ओं + को	ए	आ
	स्त्री०	—ओ + ने	[-⊙] [-ए] -यों	ओं +को	ईं	आ

§ १०६१ एलन द्वारा निर्दिष्ट अनिश्चित और निश्चित वाक्यरचना का रूप अप्राणिवाचक कर्म के साथ ही संभव है। कहना यह चाहिए कि कर्म के अप्रत्यय तथा सप्रत्यय दोनों रूपों का विकल्प इसी प्रसंग में संभव है। अन्यत्र यह विकल्प संभव नहीं होता। इसलिये इस संदर्भ में प्रवृत्ति के रूप में कोई निर्णय लेना संगत प्रतीत नहीं होता। यह अवश्य है कि एलन के उपर्युक्त लेख में इस विभाजन को विशेष महत्व नहीं दिया गया है और 'ए' और 'दी' आर्टीकल्स द्वारा समकक्ष अभिव्यक्ति को भी अनुवाद अथवा पर्याय नहीं कहा गया है।

एलन द्वारा विश्लेषण के आधार पर प्रस्तुत निष्कर्ष विशेष रूप से उल्लेखनीय और अनुकरणीय हैं। उनको यहाँ संक्षेप म दिया जा रहा है—

अ—अपूर्ण

(१) उद्देश्य जो प्रत्यक्ष कारक में है, लिंग और वचन का कोई विकार ग्रहण नहीं करता। चारो दशाओं में उसका रूप ⊙ रहता है।

(२) उद्देश्य के लिंगवचन का प्रकटीकरण क्रिया के विकार द्वारा होता है – जिसके रूप हैं—आ, इ, ए, ई।

(३) कर्म यदि अनिश्चित रचना अथवा प्रत्यक्ष कारक में है तो लिंग-वचन का कोई विकार प्रकट नहीं करता। जब कर्म निश्चित रचना अथवा तिर्यक् कारक में होता है (× या ओ + को) तो वचन-विकार को प्रकट करता है फिर भी लिंगविकार को नहीं।

ब—पूर्ण

(१) उद्देश्य जो तिर्यक्कारक रचना में है (× या ओं + ने) तो वचनविकार को प्रकट करता है किंतु लिंगविकार को नहीं।

टि०—क्रिया के सकर्मक और अकर्मक रूप के विचार से पदान्वय से संबंधित निम्नलिखित तथ्य उल्लेखनीय हैं—

कर्तृप्रधान १—अकर्मक क्रिया का अन्वय सदा कर्ता के साथ होता है चाहे क्रिया भूतकालिक कृदंती रूप की भी हो जैसे, वह गया। गई किंतु सप्रत्यय कर्ता के साथ तटस्थ रहती है।

२—कृदंती रूप की क्रिया को छोड़कर अन्य क्रियाओं के साथ क्रिया का अन्वय कर्ता के साथ ही होता है।

कर्मप्रधान—१—दो कर्मवाली सकर्मक क्रिया का अन्वय मुख्य कर्म से होता है।

२—कर्मणिप्रयोग में क्रिया का अन्वय कर्म के साथ होता है, कर्ता पद करण के रूप में 'से' अथवा 'द्वारा' (अथवा कर्ता उत्त भी रहता है) के साथ आता है।

३—जब कर्ता पद के साथ को अथवा ए परसर्गों का प्रयोग होता है तो क्रिया का अन्वय कर्म के साथ होता है—राम को बुखार चढ़ा है। मोहन को भूख लगी है।

(२) अनिश्चित कर्म के लिये क्रिया (लिंग और) वचन का संकेत करती है ।

(३) निश्चित कर्म तिर्यक् कारक रचना में वचनविकार को स्वयं ही प्रकट करता है तथा क्रिया में इस विकार (तथा लिंग भी) का विलीनीकरण हो जाता है । क्रिया सभी रूपों में 'आ' विकार को ग्रहण करती है ।

§ १०६२ इन निष्कर्षों के आधार पर इस प्रकार की वाक्यरचना के संबंध मे निम्नलिखित निर्णय ले सकते हैं—

१ – लिंग की अपेक्षा वचनविकार का समानरूप से प्रकटीकरण वचन अपरिहार्य रूप से 'अ' रचना में क्रिया द्वारा तथा 'ब' रचना में स्वयं उद्देश्य द्वारा । लिंग इसी प्रकार अपरिहार्य रूप से प्रकट नहीं किया जाता है । उसकी स्थिति वैकल्पिक रहती है ।

२—क्रिया का रूपविन्यास ऐसा है कि लिंग वचन से संबंधित हो जाता है ।

३ —इस प्रकार इन विकारों के प्रयोग में मितव्ययिता हिंदी को अपनी विशेषता है । इसी कारण ऐसी रचना भी संभव है जहाँ क्रिया एक रूप का आग्रह करती है और कर्ता कर्म में आवश्यकतानुसार विकार होता रहता है ।

§ १०६३ अनेक कर्ता —एवं अनेक कर्म —

अनेक कर्ता अथवा कर्ता के स्थान पर अनेक पदों का प्रयोग पदान्वय में कठिनाई उत्पन्न कर देता है । इसलिये आजकल अनेक कर्तापदों के अव्यवहित परप्रयोग में सब, दोनो, आदि समानाधिकरण पदों का प्रयोग करके इस कठिनाई से बचने का प्रयत्न देखा जाता है । यही दशा अनेक कर्मपदों के प्रयोग के साथ है ।

साधारणतया निम्नलिखित मान्यताएँ इस प्रसंग में अवलोकनीय हैं—

अ— एक से अधिक कर्ता या कर्म के साथ क्रिया कर्तृप्रधान अथवा कर्मप्रधान रचना में ब० व० में प्रयुक्त होती है—

मोहन और सोहन तो गए । उससे गीता, रामायण और बाइबिल मिली ।

भावप्रधान (तटस्थ क्रिया)—भूतकालिक कृदंती रूप को क्रिया के साथ सप्रत्यय कर्म की स्थिति में क्रिया सदा पुं० एकव० अन्य पु० में आती है इस तथ्य को इस प्रकार भी कह सकते हैं कि अपूर्ण सकर्मक क्रिया का कर्म को सहित आता है और क्रिया तटस्थ रहती है ।

आ—यदि अनेक कर्ता या कर्म पद एक ही लिंग के हों तो क्रिया का भी वही लिंग रहेगा। मोहन, सोहन और महादेव आए / राधा, सीता और सावित्री गईं।

इ—भिन्नलिंगी पदों के साथ प्रायः पुं० ब० व० क्रिया का प्रयोग होता है। राम, सीता और लक्ष्मण गए। राधा, श्याम और ललिता आए। मोहन और माधुरी अच्छे हैं।

ई—सब, दोनों आदि समानाधिकरण पदों के साथ प्रायः क्रिया पुं० ब० व० रहती है। यदि इन पदों से पूर्व प्रयुक्त सभी पद स्त्रीलिंग में हैं, तो क्रिया भी स्त्रीलिंग की होगी।

उ—यदि दो या अधिक सर्वनामों का प्रयोग होता है तो मान्यता है—उत्तम पुरुष के योग में अन्य पुरुषों की उपेक्षा तथा क्रिया—उत्तम पुरुष में। मध्यम तथा अन्य पुरुष के योग में इसी प्रकार क्रिया—मध्यम पुरुष में। हम और तुम पढ़ेंगे, तुम और वह आओगे ?

ऊ—कहना न होगा कि कर्तृप्रधान रचना में अनेक कर्मपदों तथा कर्मप्रधान रचना में अनेक कर्तापदों के लिंगवचन आदि का कोई प्रभाव क्रिया पर नहीं पड़ता।

ए—एक ही व्यक्ति को सूचित करनेवाले अनेक पदों के होने पर भी क्रिया ए० व० में रहती है—लोकप्रिय नेता तथा विश्व के मान्य राजनीतिज्ञ पं० नेहरू देश का शासक है, यह स्पष्ट ही हमारे गर्व का विषय है।

ऐ—विभाजक पदों द्वारा संयुक्त अनेक कर्ता या कर्म पदों में अंतिम पद के साथ क्रिया का अन्वय होता है—

राम या राधा कहती थी, यह मुझे ज्ञात नहीं।

ओ—तटस्थ क्रिया रूप—ए० व०, पुं०, अ० पु०—सप्रत्यय कर्ता के साथ अकर्मक क्रिया तथा सप्रत्यय एवं अप्रत्यय कर्म के साथ भूतकालिक कृदंती क्रिया।

१०—विभिन्न परसर्गों के प्रयोग से क्रिया में जो विकार उत्पन्न होते हैं, उन्हें संक्षेप में हम यहाँ एक वाक्य के उदाहरण में देख सकते हैं—

आज हिंदी	ने	वैसी कुछ स्थिति		प्राप्त की है।
,, ,,	को	,, ,, ,, ,,		प्राप्त हुई है।
,, ,,	के लिये	,, ,, ,, ,,		आ गई है।
,, ,,	की	,, ,, ,, ,,		हुई है।
,, ,,	में	,, ,, ,, ,,		आई है।
,, ,,	सरे (से)	,, ,, ,, ,,		हुई है।

उसको जाना था। मैंने नहा लिया।

राजा ने मंत्री को सेनापति बनाया।

§ १०६४ कारकों के अर्थ और प्रयोग—

कर्ता और कर्म कारक—इन दोनों कारकों के संबंध में इससे पूर्व अन्वय के अंतर्गत पर्याप्त कहा जा चुका है। यहाँ संक्षेप में उनपर अर्थ और प्रयोग की दृष्टि से विचार किया जायगा।

कर्ता और कर्म दोनों प्रधान और अप्रधान अथवा प्रमुख एवं गौण दो रूपों में प्रयुक्त होते हैं जिनको रूप की दृष्टि से अप्रत्यय तथा सप्रत्यय कह सकते हैं।

कर्ता कारक—उद्देश्य के अर्थ में प्रयुक्त होता है और विशेषकर सप्रत्ययकर्ता इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। राधे ने पुस्तक पढ़ी। मोहन गया।

रूढ़ प्रयोग—पुं० में बरसों बीत गए।

पूरक के अर्थ में प्रयुक्त मोहन अच्छा लड़का है।

§ १०६५ ने का प्रयोग—'ने' के प्रयोग की परंपरा को कदाचित् प्राचीनतम गद्य में खोजा जा सकता है। गुरु ने अपने व्याकरण में अनु० ५१७ में इस संबंध में यद्यपि आशंका नहीं की है—'प्राचीन हिंदी के पद्य में और बहुधा गद्य में भी सप्रत्यय कर्ता कारक का प्रयोग बहुत कम मिलता है।' पद्य के लिये गुरु का कथन युक्तियुक्त है किंतु गद्य में तो सप्रत्यय यथास्थान प्रायः प्राप्त होता है—

'याही तें सब लोगन ने वाको नाम खंडन'''', 'वैष्णवन ने कही''''',

'तोहूँ वाने मानी नहीं''''', 'तब चार जनेन ने कही''''' आदि

'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता के एक वार्ता के एक पैरा से प्राप्त'।

इस प्रकार १६वीं शताब्दी में प्राप्त गद्य में भी ने का बहुत प्रयोग हुआ है और संभावना यह है कि इस काल से भी पूर्व ने का प्रयोग किसी न किसी रूप में था।

ने का प्रयोग कर्ता के साथ सकर्मक क्रियाओं के भूतकालिक कृदंत से बने हुए कालों में होता है।

उसने कहा। मोहन ने पत्र डाला होगा। यदि उसने मुझे बुलाया होता तो मैं उसके लड़के के विवाह में अवश्य उपस्थित होता।

अकर्मक क्रियाओं में नहाना, छींकना आदि कुछ क्रियाओं के साथ भी ने का प्रयोग हो जाता है—उसने नहा लिया। मैंने नहीं छींका।

लाना, भूलना, आदि कुछ क्रियाओं के साथ सकर्मक होते हुए भी ने का प्रयोग नहीं होता। इनको अपवाद कह सकते हैं।

देना, चाहना सहायक क्रियाओं के योग से बनी हुई सकर्मक संयुक्त क्रियाओं के साथ ने का प्रयोग होता है-मैंने उसे देखने दिया। राम ने कुछ कहना चाहा।

§ १०६६ कर्म कारक—कर्म के विभिन्न अर्थों में प्रयोग होता है—

गौण एवं मुख्यकर्म—राम ने सीता को बनवास दिया।

कर्मपूर्ति—मैंने उसको अपना मित्र समझा।

अनिश्चित एवं निश्चित कर्म—मोहन बिल्ली देखता है।

मोहन बिल्ली को देखता है।

सप्रत्ययकर्म का प्रयोग—

कर्म के बहुवचनपद जिनका अंत 'ओं' में होता है। (अंतवाले पद विकल्प से) कुत्ते को मारो, बालकों को बुलाओ। दोनो लिपियाँ सीखें लिपियों को सीखें।

कर्म के वे पद जिनके पूर्व (अव्यवहित पूर्व) में ब०व०सूचक संबंध-वाचक या विशेषण होते हैं—मेरे पुत्र को नहीं चाहिए...अपने युग को

संज्ञा के समान प्रयुक्त विशेषणों के साथ जब वे कर्मपद हों—

दीनानाथ कभी दीन को भूलेंगे ?

तटस्थ क्रिया—ए० व०, पुं०, अ० पु० के कर्म के साथ—

राम ने सोहन को जगाया।

रूढ़ प्रयोग—मरे को क्या मारे। कवि बेचारे को।

—रात को (में के अर्थ में) पानी बरसा। मैं मंगल को आ सकूँगा।

§ १०६७ करण कारक—

से, द्वारा आदि का प्रयोग—

कारण प्रकट करने के अर्थ मे—बेचारी अपनी लज्जा और दुःख से आप ही दबी हुई है ··

माध्यम के अर्थ में—कला की सहायता से हम···,सुराज मिलेगा चरम से···

प्रणाली अथवा प्रकार के अर्थ में—नहीं. इस प्रकार से पढ़ो।

परिवर्तन के अर्थ में- राजा से रंक और रंक से राजा होते कोई देर···

प्रकृति, स्वभाव, दशा आदि प्रकट करने के लिये—स्वभाव से ही सरल, बाहर से कठोर पर भीतर से कोमल···

समतासूचक रूप में रूढ़ प्रयोग—हीरों के से उज्ज्वल हृदय···

को के अर्थ में—मैंने उससे मन की कही।

लोप तथा ब० व० में पद—जाड़ों मरने से तो···

विशेष प्रयोग एक से एक सुंदर, ईमान से, बला से, एक एक कौड़ी को
दाँत से पकड़ो।

विशेष क्रिया—ईश्वर से प्रार्थना, मुक्ति पाना (कष्ट से), डरना
(बदनामी से) आदि।

कर्ता—मुझसे तो न होगा।

§ १०६८ संप्रदान कारक—

को, के लिये आदि का प्रयोग—

हेतु अथवा निमित के अर्थ मे—मोहन खेलने को गया।
अरे, धन के लिये प्राण दे रहे हो / मरे जाते हो।

सामर्थ्य, योग्यता, आदर्श के अर्थ में—मुझे गाना नहीं आता।
ऐसा अनाचार तो आपके लिये कलंक बन गया।
हमको चाहिए कि ··

प्रयोजन के अर्थ—तुम्हे क्या चाहिए।

में रूढ प्रयोग विशेष क्रियाओं के साथ—
रुचना, लगना, होना आदि
मुझे तुम्हारी ये बातें न रुचीं। तुमको कैसा लगा ?
अरे उसे क्या हुआ !
अभिवादन, धन्यवाद अथवा भर्त्सना आदि में—
गुरुजी को प्रणाम, उन्हें आशीर्वाद। आपको
हार्दिक बधाइयाँ। अरे धिक्कार है उन पामरों को···

§ १०६९ अपादान कारक—

से का प्रयोग—पृथकता के अर्थ में—आम से फल गिरा।
वह दिल्ली से आया।
वह मुझसे अलग अलग सा रहता है।
बीच सड़क से हटकर चलो।

उत्पत्ति के अर्थ मे—मनु से मानव की सृष्टि हुई।
दूध दही से अनेक पदार्थ बन सकते हैं।

भिन्नता एवं तुलना—तीन लोक से मथुरा न्यारी।
सचमुच तुमसे बढ़कर दुःखी इस समय कौन है।
इनमें से कोई एक चीज आप चुन लें।

रूढ़प्रयोग—राम से राम और सीता सी सीता।
बरसों से, महीनों से···

§ १०७० संबंध कारक संबंध कारक से विभिन्न प्रकार के संबंधों को प्रकट किया जाता है। संबंध कारक विशेषण की भाँति ही कार्य करता है। इसी लिये कारकों में इसकी गणना भी नहीं की जाती। विशेषण की भाँति संबंध कारक में लिंग के अनुसार विकार भी होते हैं—राम की पुस्तक, राम का घोड़ा।

स्वामित्व, अंगांगि, जन्यजनक, कर्तृकर्म, कार्यकारण, आधारआधेय स्वयं-सेवक, गुण गुणी, वाह्य वाहक, संबंध संबंधी, प्रयोजन प्रयोज्य आदि अनेक भावों का प्रकटीकरण संबंध कारक द्वारा होता है, जैसे—

मिल का मालिक, हाथ की अँगुली, मेरा पुत्र, प्रसाद की कामायनी, सोने की अँगूठी, शहर के लोग, राजा का चाकर, ग्राम की लुटाई, बैलों की गाड़ी, मोहन का भाई, सोने का कमरा आदि आदि।

रूढ़प्रयोग—आम के आम गुठली के दाम, दूध का दूध और पानी का पानी, कान का कच्चा, गाँठ का पूरा आदि।

क्रियार्थक संज्ञा मे परप्रयोग—मेरा विचार परीक्षा देने का नहीं है। (परीक्षा देने का मेरा विचार नहीं है।)

पूर्ति में परप्रयोग—यह किताब तो मेरी है तुम्हारी कहाँ है?

शिष्टाचार में विलोम अर्थ—यह आपका लड़का है। (मेरा)

रे का विशेष प्रयोग—का / की के समान लिंग से अप्रभावित रहता है मेरे दो भाई / बहिनें हैं।

साथ ही—मेरे एक बहिन है / मेरी एक बहिन है। विकल्प भी संभव होता है जो बहुवचन में रे विकार में समाहित रहता है। दूसरे उदाहरण में संबंधवाचक का पूर्व (विशेषण समान) प्रयोग चलता है—मेरी एक बहिन है / मेरा एक भाई है।

§ १०७१ अधिकरण कारक—में, पै, पर परसर्गों का प्रयोग।

में तथा पै या पर परसर्गों का प्रयोग पृथक् पृथक् अर्थों में रूढ़ हो चुका है। इसलिये ऐसे कम ही उदाहरण है जिनमें दोनों का विकल्प संभव हो। जहाँतक कारक के अर्थ एवं भाव का प्रश्न है दोनों ही परसर्ग विभिन्न आधारों को ही प्रकट करते हैं।

स्थान, समय, दशा के अर्थ में—बाग में, घर में, बरसात में, रात्रि में, उसके हाथ में, चितवन में, अंगों के विलास में, दुःख में, सुख में आदि।

व्याप्ति, औपश्लेष, वैषयिक आधार में—दाल में नमक, फूलों में सुगंध,
शहर में रहना, संदूक में किताब, खेल में रुचि,
देखने में सुंदर आदि।

मूल्य के निर्देशन में—कबल बीस रुपये में आया। (बीस रुपये का मिला)
(अन्य परसर्गों से विकल्प)

निश्चय अथवा निर्णय—भारतीय ढंग के संगीत में तानसेन ''
गाने में अद्वितीय थे ही, कलावंत और संगीतकारों
मे, बल में औरो से बढकर।

रूढ—कतिपय क्रियाओं के साथ—
उत्तीर्ण—परीक्षा मे उत्तीर्ण
समाना—उनके चित में समाई क्या है ?
छाना—समस्त वायुमंडल में (पर का विकल्प) छा गई।
डालना—अपनी स्थिति को जोखिम में ड लेगा।
निवेदन—सेवा में निवेदन है। आदि आदि।

पद का प्रयोग

समीपता दूरी, एक स्थानीय प्रयोग के अर्थ में—
सड़क पर ही घर है। थोड़ा आगे बढ़ने पर। सौ मील की
पर राजा दूरी हाथी पर सवार है। मेज पर क्यों बैठे हो ?

स्थान, समय, दशा के अर्थ में—मेज पर पुस्तक रखी है। वहाँपर क्यों
गए ? चार बजकर पाँच मिनट पर लड़का हुआ।
दोनों की दशा पर दया करो।

कारण, आदि—छोटी छोटी बातो पर झगड़ना अच्छा नहीं।
अपनी बात पर तो जमते।

प्रवृत्ति, विरोध, प्रतिक्रिया—खाना खाने पर एक पान जरूरी हो गया है।
मेरे इतने कहने सुनने पर भी वह कुछ न कर सका।
विष खा लेने पर क्या होगा, यह तो सोच लेना।

रूढ प्रयोग के रूप में—
दिन पर दिन महगाई होती जा रही है।
चिट्ठी पर चिट्ठी आ रही है।

क्रिया प्रभाव—हृदय पर जो प्रभाव पड़ता है...
चढना—ऊँचे आसन पर चढ़कर ..
छोड़ना—आप पर पढ़ाई का भार छोड़ देने पर...
आदि-आदि।

§ १०७२ संबोधन कारक—हे, रे, अरे।

पुकारने, सावधान करने अथवा सामान्य व्यवहार में संबोधित करने में इस कारक का प्रयोग होता है।

इस कारक का प्रयोग प्रायः वाक्य के प्रारंभ में ही होता है किंतु अब वाक्य के अंत में तथा कहीं कहीं वाक्य के मध्य में भी इसका प्रयोग देखा जाता है। पदक्रम के अंतर्गत इस तथ्य पर प्रकाश डाल चुके हैं।

संबोधनसंकेत हमारी संस्कृति के सूचक हैं। साथ ही दैनिक व्यवहार एवं कार्यकलाप में जीवन के आवश्यक अंग हैं। इसीलिये इधर कुछ समय से संबोधनसंकेतों पर शोधपरक लेख भी प्रकाश में आए हैं।

संबोधन कारक के साथ विस्मयादिबोधक का भी प्रयोग होता है। कुछ पद रूढ़ भी हो गए हैं—

राम राम, हरे हरे, शिव शिव आदि।

अनुक्रमणिका

हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

अनुक्रमणिका

[व्यक्ति, काल, ग्रंथ, पत्रपत्रिकाएँ तथा संस्थाएँ]

अ

आ

थ

द

ध

न

ब

भ

म

व

श

स

— — —